श्रीहरिः

महाभारत सम्बन्धी
कुछ लेख

महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

वर्ष ३

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या ११

ॐ श्रीपरमात्मने नमः
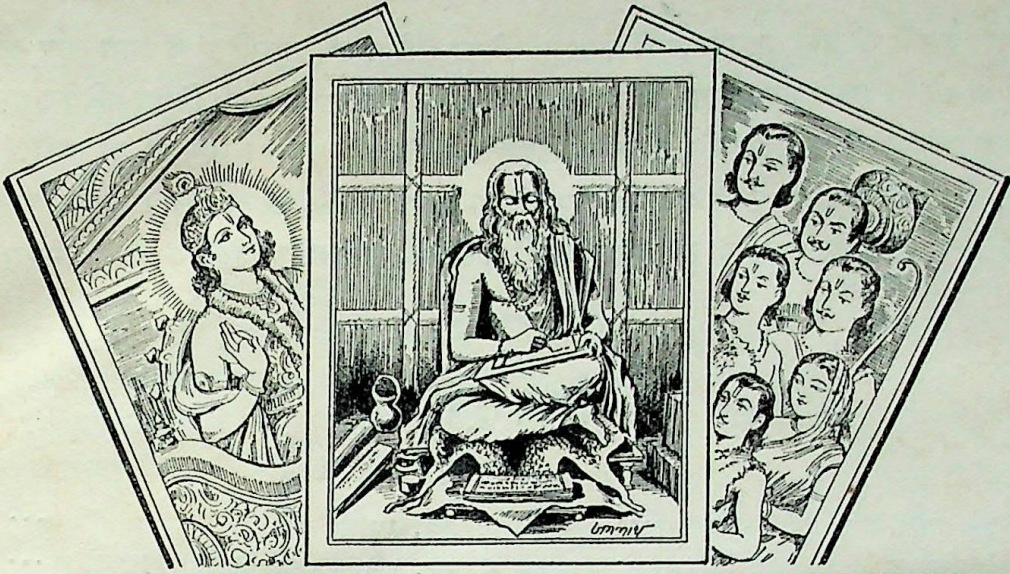
महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष ३ } गोरखपुर, श्रावण २०१५, अगस्त १९५८ { संख्या १० पूर्ण संख्या ३४

श्रीनन्दनन्दनकी शरण

सर्वेश्वरं सकलदुःखहरं रमेशं
वृन्दावनेशमखिलज्ञमुदारमूर्तिम् ।
श्रीनन्दनन्दनमखण्डसुखैकराशिं
सद्भक्तवत्सलमहं शरणं प्रपद्ये ॥

जो सबके सम्पूर्ण दुःखोंको हर लेनेवाले और भगवती लक्ष्मीके स्वामी हैं, वृन्दावनके अधीश्वर हैं, स्वरूपसे ही उदार हैं तथा अनन्त सुखकी एकमात्र राशि हैं, उन सर्वज्ञ, सर्वेश्वर तथा सद्भक्तवत्सल श्रीनन्दनन्दनकी मैं शरण लेता हूँ ।

श्रीहरिः

महाभारतके पाठकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

इस दसवीं संख्यामें 'महाभारतकी नामानुक्रमणिका संक्षिप्त परिचयसहित' के साथ-साथ कुछ लेख भी दिये जा रहे हैं, इससे महाभारतके महत्त्वपूर्ण विषयों तथा पात्रोंका पाठकोंको विशेष परिचय प्राप्त होगा तथा 'अनुक्रमणिका' में रस प्राप्त न करनेवाले पाठकोंको संतोष भी रहेगा। आगामी दो अङ्कों (११ वीं तथा १२ वीं संख्या) में भी इसी प्रकार 'अनुक्रमणिका' तथा 'लेख' दोनों ही रहेंगे। दोनोंकी फार्मसंख्या तथा पृष्ठसंख्या अलग-अलग रहेगी। आशा है इससे पाठकोंको प्रसन्नता ही होगी। —सम्पादक

विषय-सूची

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें २०)
विदेशमें २६॥)
(४० शिलिंग)

सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

एक प्रतिका
भारतमें २)
विदेशमें २॥)
(४ शिलिंग)

महाभारतके प्रधान पात्र

[महाभारतके सोलह प्रधान पात्रोंका संक्षिप्त परिचय इस लेखमें दिया गया है । भीष्मपितामह, धर्मराज युधिष्ठिर, कृष्णसखा अर्जुन, भगवान् वेदव्यास, महात्मा विदुर, दिव्यचक्षु संजय, पतिभक्ता गान्धारी, कुन्तीदेवी, देवी द्रौपदीका परिचय श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका लिखा हुआ है और शेष सात पात्रोंका परिचय पं० श्रीगौरीशंकर-जी द्विवेदी महोदयने लिखा है ।

—सम्पादक]

भीष्मपितामह

महात्मा भीष्म प्रसिद्ध कुरुवंशी महाराज शान्तनुके पुत्र थे । ये गङ्गादेवीसे उत्पन्न हुए थे । वसु नामक देवताओंमें 'द्यौ' नामके नवम वसु ही महर्षि वशिष्ठके शापसे भीष्मके रूपमें अवतीर्ण हुए थे । इन्होंने कुमारावस्थामें ही साङ्गोपाङ्ग वेदोंका अध्ययन तथा अस्त्रोंका अभ्यास कर लिया था । अस्त्रों-का अभ्यास करते हुए इन्होंने एक बार अपने बाणोंके प्रभावसे गङ्गाकी धाराको रोक ही दिया था । इन्हें बचपनमें लोग देव-व्रत कहते थे ।

एक दिन राजर्षि शान्तनु वनमें विचर रहे थे । उनकी दृष्टि एक सुन्दरी कैवर्तराजकी कन्यापर पड़ी, जिसका नाम सत्यवती था और उसपर वे आसक्त हो गये । उन्होंने उससे विवाह करना चाहा । सत्यवती थी तो एक राजकन्या, परंतु वह कैवर्तराजके घर पली थी । उसके पिता कैवर्तराजने उसके विवाहके लिये राजाके सामने यह शर्त रक्खी कि उसके गर्भ-से जो पुत्र हो, वही राजका अधिकारी हो । राजाने उसकी यह शर्त मंजूर नहीं की; परंतु वे उस कन्याको भी न भुला सके । वे उसीकी पानेकी चिन्तामें उदास रहने लगे । देव-व्रतको जब उनकी उदासीका कारण ज्ञात हुआ तो वे स्वयं कैवर्तराजके पास गये और उससे अपने पिताके लिये कन्या-की याचना की । उन्होंने उसकी शर्त मंजूर करते हुए सब-के सामने यह प्रतिज्ञा की कि 'इसके गर्भसे जो पुत्र होगा, वही हमारा राजा होगा ।' परन्तु कैवर्तराजको इतनेपर भी संतोष नहीं हुआ । उसने सोचा कि देवव्रतका वचन तो कभी अन्यथा नहीं होनेका, परंतु इनका पुत्र राज्यका अधिकारी हो सकता है । बुद्धिमान् देवव्रत उसका अभिप्राय समझ गये । उन्होंने उसी समय यह दूसरी कठिन प्रतिज्ञा की कि 'मैं आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा ।' कुमार देवव्रतकी इस भीषण-प्रतिज्ञाको सुनकर देवताओंने पुष्पवर्षा की और तभीसे इन्हें लोग 'भीष्म' कहने लगे । भीष्मने सत्यवतीको ले जाकर अपने पिताको सौंप दिया । भीष्मका यह दुष्कर कार्य सुनकर राजा शान्तनु बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने पुत्रको इच्छा-मृत्युका वरदान दिया । इस प्रकार भीष्मने जीवनके आरम्भमें ही पिताकी इच्छा पूर्ण करने-के लिये संसारके सामने अलौकिक त्यागका आदर्श स्थापित किया । जिस राज्यके लिये उनकी दो ही पीढ़ी बाद उन्हीं-के बेटों-पोतोंमें तथा उन्हींकी मौजूदगीमें भीषण संहारकारी महायुद्ध हुआ, उसी राज्यको उन्होंने बात-की-बातमें अपने पिताकी एक मामूली-सी इच्छापर न्यौछावर कर दिया । जिन कामिनी-काञ्चनके लिये संसारके इतिहासमें न जाने कितनी बार खून-खराबा हुआ है और राज्य-के-राज्य ध्वंस हो गये हैं, उनका सदाके लिये तृणवत् परित्याग कर उन्होंने एक विरक्त महात्माका-सा आचरण किया । धन्य पितृभक्ति !

सत्यवतीके गर्भसे महाराज शान्तनुके दो पुत्र हुए । बड़ेका नाम था चित्राङ्गद और छोटेका विचित्रवीर्य । अभी चित्राङ्गद जवान नहीं हो पाये थे कि राजा शान्तनु इस लोकसे चल बसे । चित्राङ्गद राजा हुए, परंतु वे कुछ ही दिन बाद गन्धर्वोंके साथ युद्धमें मारे गये । विचित्रवीर्य भी अभी बालक ही थे, अतः वे भीष्मकी देख-रेखमें राज्यका शासन करने लगे । कुछ दिन बाद भीष्मको विचित्रवीर्यके विवाहकी चिन्ता हुई । उन्हीं दिनों काशीनरेशकी तीन कन्याओं-का स्वयंवर होने जा रहा था । भीष्म अकेले ही रथपर सवार हो काशी पहुँचे । इन्होंने अपने भाईके लिये बलपूर्वक कन्याओंको हरकर अपने रथपर बिठा लिया और उन्हें हस्तिनापुर ले चले । इसपर स्वयंवरके लिये एकत्र हुए सभी राजालोग इनपर टूट पड़े, परंतु उनकी एक भी न चली । इन्होंने अकेले ही सबको परास्त कर दिया और कन्याओंको लाकर विचित्रवीर्यके सुपुर्द कर दिया । उस समय संसारको इनके अलौकिक पराक्रम तथा अस्त्रकौशलका प्रथम बार परिचय मिला ।

भीष्म काशिराजकी तीन कन्याओंको हरकर ले आये थे । उनमें सबसे बड़ी कन्या अम्बा मन-ही-मन राजा शाल्वको वर चुकी थी । भीष्मको जब यह मालूम हुआ, तो उन्होंने अम्बाको वहाँसे विदा कर दिया और शेष दो कन्याओंका विचित्रवीर्यसे विवाह कर दिया । परंतु विचित्रवीर्य अधिक दिन जीवित न रहे । विवाहके कुछ ही वर्ष बाद वे क्षयरोगके शिकार हो इस संसारसे चल बसे । उनके कोई संतान न थी । फलतः कुरुवंशके उच्छेदका प्रसङ्ग उपस्थित हो गया । भीष्म चाहते तो वे आसानीसे राज्यपर अधिकार कर सकते थे । प्रजा उनके अनुकूल थी ही । वंशरक्षाके लिये विवाह करनेमें भी अब उनके सामने कोई अड़चन नहीं थी । परन्तु बड़े-से-बड़ा प्रलोभन तथा आवश्यकता भी भीष्मको अपने

वचनसे नहीं डिगा सकती थी। सत्यवतीके पितासे की हुई प्रतिज्ञाको दुहराते हुए एक समय उन्होंने कहा था—'मैं त्रिलोकीका राज्य, ब्रह्माका पद और इन दोनोंसे अधिक मोक्षका भी परित्याग कर सकता हूँ, पर सत्यका त्याग नहीं कर सकता। पाँचों भूत अपने-अपने गुणोंको त्याग दें, चन्द्रमा शीतलता छोड़ दे; और तो क्या, स्वयं धर्मराज भले ही अपना धर्म छोड़ दें; परंतु मैं अपनी सत्यप्रतिज्ञा छोड़नेका विचार भी नहीं कर सकता।' प्रतिज्ञाका पालन हो तो ऐसा हो।

इधर, अम्बाको शाल्वने स्वीकार नहीं किया। वह न इधरकी रही, न उधरकी। लज्जाके मारे वह पिताके घर भी न जा सकी। अपनी इस दुर्दशाका कारण भीष्मको समझकर वह उन्हें मन-ही-मन कोसने लगी और उनसे बदला लेनेका उपाय सोचने लगी। अपने नाना राजर्षि होत्रवाहनकी सलाहसे वह जमदग्निनन्दन परशुरामकी शरणमें गयी और उनसे अपने दुःखका कारण निवेदन किया। भीष्मने परशुरामसे अस्त्रविद्या सीखी थी। उन्होंने भीष्मको कुरुक्षेत्रमें बुलाकर कहा कि 'इस कन्याका बलपूर्वक स्पर्श करके तुमने इसे दूषित कर दिया है; इसीलिये शाल्वने इसे स्वीकार नहीं किया। अतः अब तुम्हींको इसका विधिपूर्वक पाणिग्रहण करना होगा।' भीष्मने उनकी बात स्वीकार नहीं की। उन्होंने कहा कि 'इस कन्याने ही मुझसे कहा था कि मैं शाल्वकी हो चुकी हूँ। ऐसी हालतमें मैं उसे कैसे रख सकता था। जिसका दूसरे पुरुषपर प्रेम है, उसे कोई धार्मिक पुरुष कैसे रख सकता है। अब तो परशुराम आगबबूला हो गये। उन्होंने कहा—'भीष्म! तुम जानते नहीं कि मैंने इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन कर दिया था!' भीष्मने कहा—'गुरुजी! उस समय भीष्म पैदा नहीं हुए थे।' यह सुनकर उन्होंने भीष्मको युद्धके लिये ललकारा। भीष्मने उनकी चुनौती स्वीकार कर ली। फिर तो गुरु-शिष्यमें भयङ्कर युद्ध छिड़ गया। तेईस दिनतक लगातार युद्ध होता रहा। परंतु किसीने भी हार नहीं मानी। अन्तमें देवताओंने तथा मुनियोंने बीचमें पड़कर युद्ध बंद करा दिया। इस प्रकार भीष्मने परशुरामकी बात भी न मानकर अपने सत्यकी रक्षा की तथा अपने अद्भुत पराक्रमसे परशुराम-जैसे अद्वितीय धनुर्धरके भी छक्के छुड़ा दिये। सत्यप्रतिज्ञा और वीरताकी पराकाष्ठा हो गयी।

भगवान् वासुदेव जब कौरवसभामें सन्धिका प्रस्ताव लेकर गये और सभामें अपना वक्तव्य सुनाया तो भीष्मजीने दुर्योधनको समझाते हुए कहा था कि, 'श्रीकृष्ण हम सबके सुहृद् हैं, हमारा कल्याण चाहते हैं, अतएव अभिमान छोड़कर इनकी बात माननी चाहिये। हे तात! यदि महापुरुष श्रीकृष्णकी बात नहीं मानोगे तो कदापि तुम्हारा कल्याण न होगा और न तुम सुख प्राप्त कर सकोगे।' * यही नहीं भीष्मने दुर्योधनको बारंबार सत्यका उपदेश दिया, बराबर पाण्डवोंसे मिल-जुलकर रहनेके लिये कहा; परन्तु दुर्योधनने उनकी एक न मानी और अन्तमें दुर्योधनकी हठधर्मीसे महाभारतका युद्ध आरम्भ हुआ।

महाभारत-युद्धमें कौरवपक्षके सर्वश्रेष्ठ योद्धा भीष्म ही थे। अतएव कौरवदलके प्रथम सेनानायक होनेका गौरव इन्हींको प्राप्त हुआ। पाण्डव एवं कौरव दोनोंके पितामह होनेके नाते इनका दोनोंसे ही समान प्रेम एवं सहानुभूति थी तथा ये दोनोंका ही समानरूपमें हित चाहते थे। फिर भी, यह जानकर कि धर्म एवं न्याय पाण्डवोंके ही पक्षमें है, ये पाण्डवोंके साथ विशेष सहानुभूति रखते थे और हृदयसे उनकी विजय चाहते थे; परन्तु हृदयसे पाण्डवोंके पक्षपाती होनेपर भी इन्होंने युद्धमें कभी पाण्डवोंके साथ रियायत नहीं की, और प्राणपणसे उन्हें जीतनेकी चेष्टा की।

भीष्मका यह ढंग महाभारतकारको नहीं रुचा। इसलिये भीष्मके मुखसे कहलाया—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

---

* अकृत्वा वचनं तात केशवस्य महात्मनः।
श्रेयो न जातु न सुखं न कल्याणमवाप्स्यसि॥
(उद्योग० १२५। ३)

भगवान् श्रीकृष्णने जब सन्धिका प्रस्ताव किया, तो भीष्मने उसे स्वीकार करनेके लिये दुर्योधनको बहुतेरा समझाया, पर वह न माना। तब पितामह अत्यन्त खिन्न होकर बोले—

शुश्रूषमनसूयं च ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम्।
प्रतियोत्स्यामहे पार्थमतो दुःखतरं नु किम्॥
(उद्योग० १३९। ३)

'सदा सेवा करनेवाले, किसीसे द्वेष न करनेवाले, सत्यवादी, धर्मात्मा युधिष्ठिरके विरुद्ध मुझे युद्ध करना पड़ेगा, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है।'

भीष्म जानते थे कि वासुदेव श्रीकृष्ण स्वयं नारायण ही हैं, और वे सन्धिका प्रयास करने आये हैं। दुर्योधन उनकी बातोंकी उपेक्षा कर रहा है, अतः इसका सर्वनाश निश्चित है। उद्योगपर्वके ४९वें अध्यायमें पहले ही भीष्मने दुर्योधनको यह रहस्य बतलाया था कि अर्जुन और श्रीकृष्ण नर-नारायणके अवतार हैं। अतएव दुर्योधनका विपरीत हठ करके श्रीकृष्णके वचनकी अवज्ञा करना सर्वनाशका कारण था, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु दुर्योधनके सर्वनाशको सामने देखते हुए भीष्मको पाण्डवोंके विरुद्ध युद्ध करना बहुत दुःखदायी जान पड़ा।

'पुरुष अर्थका दास हैं, पर अर्थ किसीका दास नहीं है। हे महाराज! यह सत्य है। कौरवोंने मुझे अर्थसे बाँध लिया है।'

युद्धके अठारह दिनोंमेंसे दस दिनोंतक अकेले भीष्मने कौरवोंका सेनानायकत्व किया और इस बीचमें पाण्डव-पक्षकी बहुत-सी सेनाका संहार कर डाला। वृद्ध होते हुए भी युद्धमें इन्होंने ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया कि दो बार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनकी रक्षाके लिये शस्त्र न लेनेकी प्रतिज्ञा होते हुए भी इनके मुकाबलेमें खड़ा होना पड़ा। अर्जुनका बल क्षीण होते देख एक बार तो वे चक्र लेकर इसके सामने दौड़े और दूसरी बार चाबुक लेकर उन्होंने भीष्मको ललकारा और इस प्रकार एक भक्तके प्राणोंकी रक्षा करते हुए दूसरे भक्तके गौरवको बढ़ाकर अपनी उभयतोमुखी भक्तवत्सलताका परिचय दिया। पश्चात् भीष्म रणकर्कश होकर पाण्डव सेनाका संहार करने लगे। उस समयका वर्णन करते हुए सञ्जय कहते हैं कि, 'अन्तमें पाण्डवोंने जब देखा कि भीष्मके रहते कौरवोंपर विजय पाना असम्भव-सा है, तब उन्होंने स्वयं पितामहसे उनकी मृत्युका उपाय पूछा और उन्होंने दया करके बताया कि 'द्रुपदकुमार शिखण्डी स्त्रीरूपमें जन्मा था; इसलिये यद्यपि वह अब पुरुषके रूपमें बदल गया है, फिर भी मेरी दृष्टिमें वह स्त्री ही है। ऐसी दशामें उसपर मैं शस्त्र नहीं उठा सकता। वह यदि मेरे सामने युद्ध करने आयेगा तो मैं शस्त्र नहीं चलाऊँगा। उस समय मुझे अर्जुन मार सकता है।' क्षत्रिय-धर्मके पालन और वीरताका उदाहरण इससे बढ़कर क्या होगा?

जिस समय युद्धमें मर्माहत होकर भीष्म धराशायी हुए, उस समय उनका रोम-रोम बाणोंसे बिंध गया था। उन्हीं बाणोंपर वे सो गये, धरतीसे उनका स्पर्श नहीं हुआ। उस समय सूर्य दक्षिणायनमें थे। दक्षिणायनको देहत्यागके लिये उपयुक्त काल न समझकर वे अयन-परिवर्तनके समयतक उसी शरशय्यापर पड़े रहे; क्योंकि पिताके वरदानसे मृत्यु उनके अधीन थी। भीष्मजीके गिरते ही उस दिन युद्ध बंद हो गया। कौरव तथा पाण्डव वीर भीष्मजीको घेरकर उनके चारों ओर खड़े हो गये। भीष्मजीका सारा शरीर बाणोंपर तुला हुआ था, केवल उनका सिर नीचे लटक रहा था। उसके लिये उन्होंने कोई सहारा माँगा। लोगोंने उत्तमोत्तम तकिये लाकर उनके सामने रख दिये, परंतु उन्हें वे पसंद नहीं आये। तब उन्होंने अर्जुनसे कहा—'बेटा! तुम क्षत्रियधर्मको जानते हो, तुम मेरे अनुरूप तकिया लाकर दो।' अर्जुन उन वीरशिरोमणिके अभिप्रायको समझ गये। वीरोंके इशारे वीर ही समझ सकते हैं। उन्होंने बाण मारकर भीष्मजीके मस्तकको ऊँचा कर दिया, उन बाणोंपर उनका मस्तक टिक गया। इधर दुर्योधनने बाण निकालनेमें कुशल वैद्योंको भीष्मजीकी चिकित्साके लिये बुलवाया, परन्तु पितामहने उन सबको सम्मानपूर्वक लौटा दिया। उस वीरगतिको पाकर उन्होंने चिकित्सा कराना अपना अपमान समझा। सब लोग उनकी असाधारण धर्मनिष्ठा और साहस देखकर दंग रह गये। उस समय भी युद्ध बंद कराने तथा दोनों पक्षोंमें शान्ति स्थापन करानेकी इन्होंने पूरी चेष्टा की; परंतु उसमें ये सफल नहीं हुए। दैवका ऐसा ही विधान था। उसे कौन टाल सकता था।'

बाणोंकी असह्य वेदनासे भीष्मजीका गला सूख रहा था, उनका सारा शरीर जल रहा था। उन्होंने पीनेके लिये पानी माँगा। लोगोंने झारियोंमें भरकर शीतल और सुगन्धित जल उनके सामने उपस्थित किया। भीष्मने उसे लौटा दिया। उन्होंने कहा कि 'पहले भोगे हुए मानवीय भोगोंको अब मैं स्वीकार नहीं कर सकता; क्योंकि इस समय मैं शरशय्यापर पड़ा हूँ।' तब उन्होंने अर्जुनको बुलाकर कहा—'बेटा! तुम्हीं मुझे विधिवत् जल पिला सकते हो।' अर्जुनने 'जो आज्ञा' कहकर अपने भाथेमेंसे एक दमकता हुआ बाण निकाला और उसे पर्जन्यास्त्रसे संयोजितकर भीष्मके बगल-वाली जमीनपर मारा। उसी समय सबके देखते-देखते पृथ्वीमेंसे दिव्य जलकी एक धारा निकली और वह ठीक भीष्मजीके मुखपर गिरने लगी। उस अमृतके समान जलको पीकर भीष्मजी तृप्त हो गये और अर्जुनके उस कर्मकी उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसी समयसे भीष्मजीने अन्न-जलका त्याग कर दिया और फिर जितने दिन वे जीवित रहे, बाणोंकी मर्मान्तक पीड़ाके साथ-साथ भूख-प्यासकी असह्य वेदना भी सहते रहे। इस प्रकार उन्होंने वीरताके साथ-साथ धैर्य एवं सहन-शक्तिकी पराकाष्ठा दिखा दी।

महामना भीष्म अखण्ड ब्रह्मचारी, आदर्श पितृभक्त, आदर्श सत्यप्रतिज्ञ एवं आदर्श वीर ही नहीं थे, वे शास्त्रोंके महान् ज्ञाता, धर्म एवं ईश्वरके तत्त्वको जाननेवाले एवं महान् भगवद्भक्त भी थे। उनके अगाध ज्ञानकी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने प्रशंसा की और यहाँतक कह दिया कि 'आपके इस लोकसे चले जानेपर सारे ज्ञान लुप्त हो जायँगे; संसारमें जो संदेहग्रस्त विषय हैं, उनका समाधान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है' इत्यादि। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणा एवं शक्तिसे इन्होंने युधिष्ठिरको लगातार कई दिनोंतक वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, मोक्षधर्म, श्राद्धधर्म, दान-धर्म, स्त्रीधर्म आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंपर उपदेश दिया, जो महाभारतके शान्तिपर्व तथा अनुशासनपर्वमें संगृहीत है। साक्षात् धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए तथा धर्मकी प्रत्यक्ष मूर्ति महाराज युधिष्ठिरकी धर्म-विषयक शङ्काओंका निवारण करना भीष्मका ही काम था। इनका उपदेश सुननेके लिये व्यास आदि महर्षि भी उपस्थित हुए थे।

भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्य एवं प्रभावका ज्ञान जैसा भीष्मको था, वैसा उस समय बहुत कम लोगोंको था। धृतराष्ट्र एवं दुर्योधनको इन्होंने कई बार श्रीकृष्णकी महिमा सुनायी थी। राजसूय यज्ञमें जब महाराज युधिष्ठिरने पितामहसे पूछा कि यहाँ सबसे पहले किसको अर्घ्य निवेदन करना चाहिये, तब भीष्मजीने उत्तर दिया—

> एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
> मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
> असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
> भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥
> (सभा० ३६। २८, २९)

ये भगवान् श्रीकृष्ण इन सब राजाओंके बीचमें अपने तेज, बल और पराक्रमके द्वारा इस प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे ग्रह-नक्षत्रोंमें सूर्यनारायण। जैसे अन्धकारपूर्ण स्थान सूर्यके उदयसे आभासित होता है, जैसे निर्वात स्थान पवनके झोंकेसे आह्लादित हो उठता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके द्वारा हमारी यह सभा आभासित और आह्लादित हो रही है।

भीष्मजीके इस कथनके उपरान्त श्रीकृष्णकी सर्वप्रथम पूजा की गयी। इसपर शिशुपाल बिगड़ गया, तब भीष्मजीने उसको फटकारते हुए कहा—

> नास्मै देयो ह्यनुनयो नायमर्हति सान्त्वनम्।
> लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते॥
> अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि।
> न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा॥
> न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः।
> त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः॥
> तस्मात्सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान्।
> एवं वक्तुं न चार्हसि त्वं मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी॥
> (सभा० ३८। ६, ८, ९, ११)

'इस शिशुपालको सान्त्वना देना या समझाना-बुझाना ठीक नहीं है, जो सम्पूर्ण जगत्‌में सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्णकी अग्रपूजामें असम्मति प्रकट करता है। राजाओंकी इस सभामें एक भी राजा ऐसा नहीं दिखलायी देता जो युद्धमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णके तेजसे परास्त न हुआ हो। महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे ही लिये परम पूजनीय नहीं हैं। ये तो तीनों लोकोंमें अभिवन्दनीय हैं। श्रीकृष्णने संग्राममें अनेकों क्षत्रियशिरोमणि राजाओंको परास्त किया है। यह सम्पूर्ण जगत् पूर्णतः वासुदेव श्रीकृष्णमें प्रतिष्ठित है।' बाणशय्या-पर पड़े-पड़े भीष्म भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते रहते थे। इन्होंने भरी सभामें श्रीकृष्णकी महिमा गायी थी और उन्हें साक्षात् ईश्वर बतलाया था।

श्रीकृष्ण जब अर्जुनकी ओरसे चक्र लेकर इनके सामने दौड़े तो इन्होंने उनके हाथसे मरनेमें अपना गौरव समझकर शस्त्रोंके द्वारा ही उनकी पूजा करनेके लिये उनका आवाहन किया। इन्होंने युधिष्ठिरको भगवान् विष्णुका जो सहस्रनाम-स्तोत्र सुनाया, उससे इनकी भगवद्भक्ति तथा भगवत्तत्त्वका ज्ञान टपका पड़ता है।* इनकी भक्तिका ही यह फल था कि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने अन्त समयमें इन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान, सदाचार—जिस ओरसे भी हम भीष्मके चरित्रपर दृष्टि डालते हैं, उसी ओरसे हम उसे आदर्श पाते हैं। भीष्मकी कोटिके महापुरुष संसारके इतिहासमें बिरले ही पाये जाते हैं। यद्यपि भीष्म अपुत्र ही मरे, फिर भी सारे त्रैवर्णिक हिंदू आजतक पितरोंका तर्पण करते समय इन्हें जल देते हैं। यह गौरव भारतके इतिहासमें और किसी भी मनुष्यको प्राप्त नहीं है। इसीलिये सारा जगत् आज भी इन्हें पितामहके नामसे पुकारता है। भीष्मकी-सी अपुत्रता बड़े-बड़े पुत्रवानोंके लिये भी ईर्ष्याकी वस्तु है।

धर्मराज युधिष्ठिर

महाराज युधिष्ठिर भी भीष्मकी ही भाँति अत्यन्त उच्च कोटिके महापुरुष थे। ये साक्षात् धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए थे। ये धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप थे। इसीसे लोग इन्हें धर्मराजके नामसे पुकारते थे। इनमें धैर्य, स्थिरता, सहिष्णुता, नम्रता, दयालुता और अविचल प्रेम आदि अनेकों लोकोत्तर गुण थे। ये अपने शील, सदाचार तथा विचारशीलताके कारण बचपनमें ही अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे। जब ये बहुत छोटे थे, तभी इनके पिता महात्मा पाण्डु स्वर्गवासी हो गये। तभीसे ये अपने ताऊ धृतराष्ट्रको ही पिताके तुल्य मानकर उनका बड़ा आदर करते थे और उनकी किसी भी आज्ञाको टालते न थे। परंतु धृतराष्ट्र अपने कुटिल स्वभावके कारण इनके गुणोंकी प्रशंसा सुन-सुनकर मन-ही-मन इनसे कुढ़ने लगे। उनका पुत्र दुर्योधन चाहता था कि किसी तरह पाण्डव कुछ दिनके लिये हस्तिनापुरसे हट जायँ तो उनकी अनुपस्थितिमें उनके पैतृक अधिकारको छीनकर स्वयं राजा बन बैठूँ। उसने अपने अंधे एवं प्रज्ञाहीन पिताको पट्टी पढ़ाकर इसके लिये राजी कर लिया। धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको बुलाकर उन्हें मेला देखनेके बहाने वारणावत भेजनेका प्रस्ताव रक्खा। उन्होंने उनकी आज्ञा समझकर उसपर कोई आपत्ति नहीं की और चुपचाप अपनी माता कुन्तीके साथ पाँचों भाई वारणावत चले गये। इन्हें जला डालनेके लिये वहाँ दुर्योधनने

* आज भी उस विष्णुसहस्रनामका भक्तोंमें बड़ा आदर है। भगवान् शंकराचार्यने गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रोंकी भाँति उसपर भी विस्तृत भाष्य लिखा है।
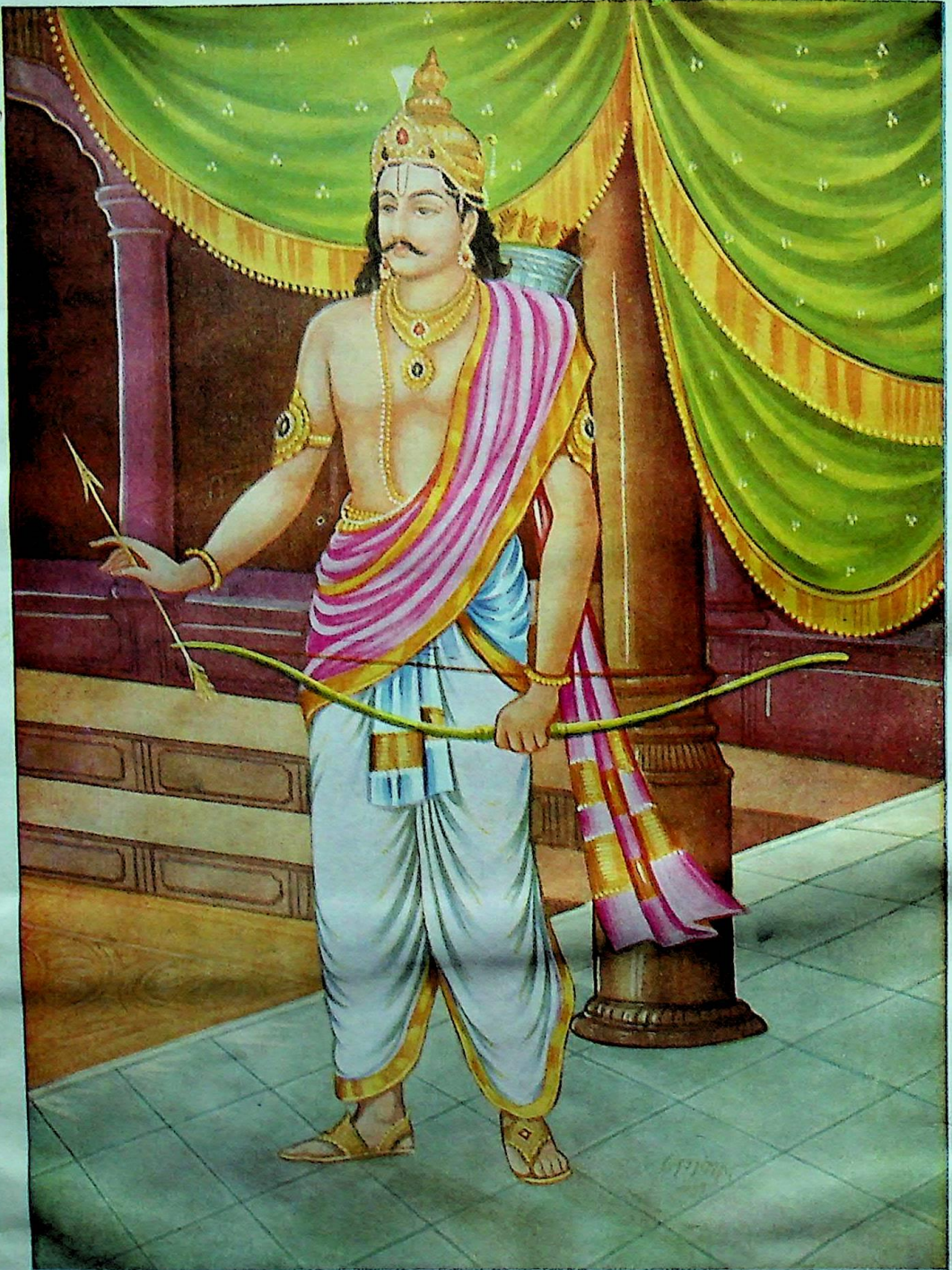
धर्मराज युधिष्ठिर

एक लाक्षाभवन तैयार कराया था। उसीमें इन्हें रहनेकी आज्ञा हुई। परंतु पाण्डवोंको इसका सुराग लग गया और—चाचा विदुरकी सहायतासे ये लोग वहाँसे किसी प्रकार अपने प्राण बचाकर भागे और जंगलकी शरण ली। पीछेसे धृतराष्ट्रके पुत्रोंने इन्हें मरा समझकर हस्तिनापुरके राज्यपर चुपचाप अधिकार कर लिया।

कुछ दिनोंके बाद द्रौपदीके स्वयंवरमें जब पाण्डवोंका रहस्य खुला,तब धृतराष्ट्रके पुत्रोंको यह पता लगा कि पाण्डव अभी जीवित हैं। तब तो धृतराष्ट्रने विदुरको भेजकर पाण्डवोंको हस्तिनापुर बुलवा लिया और अपने पुत्रोंके साथ उनका झगड़ा मिटा देनेके लिये आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थमें रहनेका प्रस्ताव उनके सामने रक्खा। युधिष्ठिरने उनकी यह आज्ञा भी स्वीकार कर ली और वे अपने भाइयोंके साथ खाण्डवप्रस्थमें रहने लगे। वहाँ इन्होंने अपनी एक अलग राजधानी बसा ली, जिसका नाम इन्द्रप्रस्थ रक्खा गया। वहाँ इन्होंने एक राजसूय यज्ञ किया, जिसमें बड़े-बड़े राजाओंने आकर इन्हें बहुमूल्य उपहार दिये और इन्हें अपना सम्राट् स्वीकार किया।

परंतु धृतराष्ट्रके पुत्रोंने वहाँ भी इन्हें नहीं रहने दिया। दुर्योधन इनके वैभवको देखकर जलने लगा। उसने एक विशाल सभाभवन तैयार कराके पाण्डवोंको जुएके लिये आमन्त्रित किया। जुएको बुरा समझते हुए भी धृतराष्ट्रकी आज्ञा मानकर युधिष्ठिरने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और वहाँ दुर्योधनके मामा शकुनिकी कपटभरी चालोंसे अपना सर्वस्व हार बैठे। यहाँतक कि भरी सभामें राजरानी द्रौपदीकी बड़ी भारी फजीहत की गयी। फिर भी धृतराष्ट्रके प्रति युधिष्ठिरका यही भाव बना रहा। धृतराष्ट्रने भी उन्हें उनका सारा धन और राज्य लौटा दिया और उन्हें वापस इन्द्रप्रस्थ भेज दिया। परंतु दुर्योधनको यह सहन नहीं हुआ। उसने धृतराष्ट्रको समझा-बुझाकर इस बातके लिये राजी कर लिया कि पाण्डवोंको दूत भेजकर फिरसे बुलाया जाय और उनसे वनवासकी शर्तपर पुनः जुआ खेला जाय। युधिष्ठिर जुएका दुष्परिणाम एक बार देख चुके थे तथा कौरवोंकी नीयतका भी पता उन्हें चल गया था। फिर भी अपने ताऊकी आज्ञाको वे टाल नहीं सके और बीचमेंसे ही लौट आये। अबकी बार भी युधिष्ठिर ही हारे और फलतः उन्हें सब कुछ छोड़कर अपने भाइयों तथा राजरानी द्रौपदीके साथ बारह वर्षके वनवास तथा एक वर्षके अज्ञातवासके लिये जाना पड़ा। ताऊके आज्ञापालनरूप धर्मके निर्वाहके लिये उन्होंने सब कुछ चुपचाप सह लिया!

महाराज युधिष्ठिर बड़े ही धर्मभीरु एवं सहनशील थे। वे सब प्रकारकी हानि सह सकते थे, परंतु धर्मकी हानि उन्हें सह्य नहीं थी। प्रथम बार जुएमें जब वे अपने चारों भाइयोंको तथा अपने-आपको एवं द्रौपदीतकको हार गये और कौरवलोग भरी सभामें द्रौपदीका तिरस्कार करने लगे, उस समय भी धर्मपाशसे बँधे रहनेके कारण उन्होंने चूँतक नहीं किया और चुपचाप सब कुछ सह लिया। कोई सामान्य मनुष्य भी अपनी आँखोंके सामने अपनी स्त्रीकी इस प्रकार दुर्दशा होते नहीं देख सकता। उन्हींके भयसे उनके भाई भी कुछ नहीं बोले और मन मसोसकर रह गये। ये लोग चाहते तो बलपूर्वक उस अमानुषी अत्याचारको रोक सकते थे। परंतु यही सोचकर कि धर्मराज द्रौपदीको स्वेच्छासे दाँवपर रखकर हार गये हैं, ये लोग चुप रहे। जिस द्रौपदीको इनके सामने कोई आँख उठाकर भी देख लेता तो उसे अपने प्राणोंसे हाथ धोने पड़ते, उसी द्रौपदीकी दुर्दशा इन्होंने अपनी आँखोंसे देखकर भी उसका प्रतिकार नहीं किया। युधिष्ठिर यह भी जानते थे कि शकुनिने उन्हें कपटपूर्वक जीता है, फिर भी उन्होंने अपनी ओरसे धर्मका त्याग करना उचित नहीं समझा। उन्होंने सब कुछ सहकर भी सत्य और धर्मकी रक्षा की। धर्मप्रेम और सहनशीलताका इससे बड़ा उदाहरण जगत्‌में शायद ही कहीं मिले।

जब पाण्डवलोग दूसरी बार भी जुएमें हार गये और वनमें जाने लगे, उस समय हस्तिनापुरकी प्रजाको बड़ा दुःख हुआ। सब लोग कौरवोंको कोसने लगे और नगरवासी बहुत बड़ी संख्यामें अपने घर-परिवारको छोड़कर इनके साथ चलनेके लिये इनके पीछे हो लिये। उस समय भी धर्मराजने कौरवोंके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा और सब लोगोंको किसी प्रकार समझा-बुझाकर लौटाया। फिर भी बहुत-से ब्राह्मण जबर्दस्ती इनके साथ हो लिये। उस समय धर्मराजको यह चिन्ता हुई कि 'इतने ब्राह्मण मेरे साथ चल रहे हैं, इनके भोजनकी क्या व्यवस्था होगी?' इन्हें अपने कष्टोंकी तनिक भी परवा नहीं थी, परंतु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकते थे। अन्तमें इन्होंने भगवान् सूर्यकी आराधना करके उनसे एक ऐसा पात्र प्राप्त किया, जिसमें पकाया हुआ थोड़ा-सा भी भोजन अक्षय हो जाता। उसीसे ये वनमें रहते हुए भी अतिथि-ब्राह्मणको भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करते। वनवासके कष्ट भोगते हुए भी इन्होंने आतिथ्य-धर्मका यथोचित पालन किया। महाराज युधिष्ठिरके इसी धर्मप्रेमसे आकर्षित होकर बड़े-बड़े महर्षि इनके वनवासके समय इनके पास आकर रहते और यज्ञादि नाना प्रकारके धर्मानुष्ठान करते।

महाराज युधिष्ठिर अजातशत्रुके नामसे प्रसिद्ध थे। उनका वास्तवमें किसीके साथ वैर नहीं था। शत्रुओंके प्रति भी उनके हृदयमें सदा सद्भाव ही रहता था। शत्रु भी उनकी दृष्टिमें सेवा और सहानुभूतिके ही पात्र थे। अपकार

करनेवालेका भी उपकार करना—यही तो संतका सबसे बड़ा लक्षण है । 'उमा संत कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ॥'—गोस्वामी तुलसीदासजीकी यह उक्ति महाराज युधिष्ठिरमें पूरी तरह चरितार्थ होती थी । एक बारकी बात है—जब पाण्डव द्वैतवनमें थे, घोषयात्राके बहाने राजा दुर्योधन अपने मन्त्रियों, भाइयों, रनिवासकी स्त्रियों तथा बहुत बड़ी सेनाको साथ लेकर वनवासी पाण्डवोंको अपने वैभवसे जलानेके पापपूर्ण उद्देश्यसे उस वनमें पहुँचा, वहाँ जलक्रीडाके विचारसे वह उस सरोवरके तटपर पहुँचा, जहाँ महाराज युधिष्ठिर कुटी बनाकर रहते थे । सरोवरको गन्धर्वोंने पहलेसे ही घेर रक्खा था । उनके साथ दुर्योधनकी मुठभेड़ हो गयी । बस, दोनों ओरसे बड़ा भीषण और रोमाञ्चकारी युद्ध छिड़ गया । विजय गन्धर्वोंकी ओर रही । उन लोगोंने रानियोंसहित दुर्योधनको कैद कर लिया । जब महाराज युधिष्ठिरको यह समाचार मिला तो उन्होंने अपने भाइयोंको आज्ञा दी कि 'तुम सब लोग जाकर बलपूर्वक राजा दुर्योधनको छुड़ा लाओ । माना कि ये लोग हमारे शत्रु हैं, परंतु इस समय विपत्तिमें हैं । इस समय इनके अपराधोंको भुलाकार इनकी सहायता करना ही हमारा धर्म है । शत्रु हैं तो क्या आखिर हैं तो हमारे भाई ही । हमारे रहते दूसरे लोग इनकी दुर्दशा करें, यह हमलोग कैसे देख सकते हैं ।' भीमसेनको समझाते हुए उन्होंने कहा कि 'भाई-बन्धुओंमें मतभेद और झगड़े होते ही रहते हैं इससे आत्मीयता नहीं चली जाती ।' बस, फिर क्या था । अर्जुनने अपनी बाणवर्षासे गन्धर्वोंके छक्के छुड़ा दिये और दुर्योधनको भाइयों तथा रानियोंसहित उनके चंगुलसे छुड़ा लिया । दुर्योधनकी दुरभिसन्धिको जानकर देवराज इन्द्रने ही दुर्योधनको बाँध ले आनेके लिये गन्धर्वोंको भेजा था । महाराज युधिष्ठिरके विशाल हृदयको देखकर वे सब दंग रह गये । धन्य अजातशत्रुता !

एक समयकी बात है, द्रौपदीको आश्रममें अकेली छोड़कर पाण्डव वनमें चले गये थे । पीछेसे दुर्योधनका बहनोई सिन्धुराज जयद्रथ उधर आ निकला । द्रौपदीके अनुपम रूपलावण्यको देखकर उसका मन बिगड़ गया । उसने द्रौपदीके सामने अपना पापपूर्ण प्रस्ताव रक्खा, किंतु द्रौपदीने उसे तिरस्कारपूर्वक ठुकरा दिया । तब तो उसने द्रौपदीको खींचकर जबर्दस्ती अपने रथपर बिठा लिया और उन्हें ले भागा । पीछेसे पाण्डवोंको जब जयद्रथकी शैतानीका पता लगा तो उन्होंने उसका पीछा किया और थोड़ी ही देरमें उसे जा दबाया । पाण्डवोंने बात-की-बातमें उसकी सारी सेनाओंको तहस-नहस कर डाला । पापी जयद्रथने भयभीत होकर द्रौपदीको रथसे नीचे उतार दिया और स्वयं प्राण बचाकर भागा । भीमसेनने उसका पीछा किया और थोड़ी ही देरमें उसे पकड़कर धर्मराजके सामने ला उपस्थित किया । धर्मराजने उसे सम्बन्धी समझकर दयापूर्वक छोड़ दिया और इस प्रकार अपनी अद्भुत क्षमाशीलता एवं दयालुताका परिचय दिया ।

महाराज युधिष्ठिर बड़े भारी बुद्धिमान्, नीतिज्ञ और धर्मज्ञ तो थे ही; उनमें समता भी अद्भुत थी । एक समयकी बात है—जिस वनमें पाण्डवलोग रहते थे, वहाँ एक ब्राह्मणके अरणिसहित मन्थनकाष्ठसे, जो किसी वृक्षकी शाखापर टँगा हुआ था, एक हरिन अपना सींग खुजलाने लगा । वह काष्ठ उसके सींगमें फँस गया । हिरन उसे लेकर भागा । मन्थनकाष्ठके न रहनेसे अग्निहोत्रमें बाधा आती देख ब्राह्मण पाण्डवोंके पास आया और उनसे वह मन्थनकाष्ठ ला देनेकी प्रार्थना की । धर्मराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको साथ लेकर मृगके पीछे भागे, परंतु वह देखते-देखते उनकी आँखोंसे ओझल हो गया । पाण्डव बहुत थक गये थे । प्यास उन्हें अलग सता रही थी । धर्मराजकी आज्ञा पाकर नकुल पानीकी तलाशमें गये । थोड़ी ही दूरपर उन्हें एक सुन्दर जलाशय मिला । उसके समीप जाकर ज्यों ही वे जल लेनेके लिये झुके कि उन्हें यह आकाशवाणी सुनायी दी—'पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो तब जल पीना ।' परंतु नकुलको बड़ी प्यास लगी थी । उन्होंने आकाशवाणीकी कोई परवा नहीं की । फलतः पानी पीते ही वे निर्जीव होकर जमीनपर लोट गये । पीछेसे धर्मराजने क्रमशः सहदेव, अर्जुन और भीमसेनको भेजा; परंतु उन तीनोंकी भी वही दशा हुई । अन्तमें धर्मराज स्वयं उस तालाबपर पहुँचे । उन्होंने भी वही आवाज सुनी और साथ ही अपने चारों भाइयोंको निश्चेष्ट होकर जमीनपर पड़े देखा । इतनेमें ही उन्हें एक विशालकाय यक्ष दीख पड़ा । उसने युधिष्ठिरको बतलाया कि 'मेरे प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही जल पीनेके कारण तुम्हारे भाइयोंकी यह दशा हुई है । यदि तुम भी ऐसी अनधिकार चेष्टा करोगे तो मारे जाओगे ।' युधिष्ठिर उसके प्रश्नोंका उत्तर देनेको तैयार हो गये । यक्षने जो-जो प्रश्न युधिष्ठिरसे किये, उन सबका समुचित उत्तर देकर युधिष्ठिरने यक्षका अच्छी तरह समाधान कर दिया । इनके उत्तरोंसे प्रसन्न होकर यक्ष बोला—'राजन् ! अपने भाइयोंमेंसे जिस-किसीको तुम जिलाना चाहो, उसे मैं जीवित कर दूँ ।' धर्मराजने नकुलको जीवित देखना चाहा । कारण पूछनेपर उन्होंने बताया कि 'मेरे पिताके दो भार्याएँ थीं—कुन्ती और माद्री । मेरी दृष्टिमें वे दोनों समान हैं । मैं चाहता हूँ कि वे दोनों पुत्रवती बनी रहें । कुन्तीका पुत्र तो मैं मौजूद हूँ ही; मैं चाहता-हूँ कि माद्रीका भी एक पुत्र बना रहे । इसीलिये मैंने भीम और अर्जुनको छोड़कर उसे जिलानेकी प्रार्थना

की है ।' युधिष्ठिरकी बुद्धिमत्ता तथा धर्ममत्ताकी परीक्षाके लिये स्वयं धर्मने ही यह लीला की थी। उनकी इस अद्भुत समताको देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना परिचय देकर चारों भाइयोंको जीवित कर दिया। धर्मने उन्हें यह भी कहा कि 'मैं ही मृग बनकर उस ब्राह्मणके मन्थनकाष्ठको ले गया था; लो, यह मन्थनकाष्ठ तुम्हारे सामने है ।' युधिष्ठिरने वह मन्थनकाष्ठ उस ब्राह्मणको ले जाकर दे दिया।

युधिष्ठिरको भगवान् श्रीकृष्णमें बड़ी आस्था थी। श्रीकृष्ण उनके ममेरे भाई थे और उम्रमें छोटे थे। अतएव उनमें पारस्परिक आत्मीयता और प्रेमका होना स्वाभाविक था। परंतु युधिष्ठिर श्रीकृष्णपर बड़ा भरोसा रखते थे। जब भगवान् वासुदेव दूत बनकर कौरव-सभामें जा रहे थे, उस समय महाराज युधिष्ठिरने कहा था—

प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
को हि कृष्णास्ति नस्त्वादृक् सर्वनिश्चयवित् सुहृत् ॥
(उद्योग० ७२ । ७८)

'श्रीकृष्ण ! तुम्हारे समान हमारा प्रिय, हितचिन्तक, सब कर्मोंकी गतिको जाननेवाला तथा सब प्रकारके निश्चय-का ज्ञाता दूसरा सुहृद् कौन है ?'

अस्मान् वेत्थ परान् वेत्थ वेत्थार्थान् वेत्थ भाषितुम् ।
यद् यदस्मद्धितं कृष्ण तत् तद् वाच्यः सुयोधनः॥
(उद्योग० ७२ । ९२)

'श्रीकृष्ण ! तुम हमको जानते हो, कौरवोंको जानते हो, हम दोनोंके स्वार्थको जानते हो, बातचीत करना भी जानते हो। अतएव जिस बातसे हमारा हित हो, वह दुर्योधनको समझाओ ।'

यहाँ यह विशेष द्रष्टव्य है कि 'दुर्योधन' के स्थानमें 'सुयोधन' शब्दका प्रयोग करना सौजन्यको अभिव्यक्त करता है । 'अस्मत्' शब्द कौरव और पाण्डव दोनोंका बोधक है तथा इससे महाराज युधिष्ठिरकी सदाशयताका पता लगता है ।

महाराज युधिष्ठिर दुर्गाके भक्त थे। विराटपर्वके छठे अध्यायमें उनके द्वारा की गयी दुर्गाकी स्तुति है । दुर्गाजीने प्रकट होकर उनको वरदान दिया था कि अज्ञातवासमें विराटनगरमें रहते हुए कोई उनको पहचान न सकेगा।

युधिष्ठिर जैसे सदाचारसम्पन्न थे वैसे ही विनयी भी थे। वे समयोचित व्यवहारमें बड़े कुशल थे, गुरुजनोंकी मान-मर्यादाका सदा ध्यान रखते थे। कठिन-से-कठिन समयमें भी वे शिष्टाचारकी मर्यादाको नहीं भूलते थे। महाभारत-युद्धके आरम्भमें जब दोनों ओरकी सेनाएँ युद्धके लिये संनद्ध खड़ी थीं, उस समय इन्होंने सबसे पहले शत्रुसेनाके बीचमें जाकर पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण एवं कृप तथा मामा शल्यके चरणोंमें प्रणाम किया और आशीर्वाद माँगा । उनके इस विनयपूर्ण एवं शिष्टजनोचित व्यवहारसे वे सभी गुरुजन बड़े प्रसन्न हुए और उनकी हृदयसे विजय-कामना की। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके इस आदर्श व्यवहारका अनुमोदन किया।

युधिष्ठिरकी सत्यवादिता तो जगद्विख्यात थी। सब कोई जानते थे कि युधिष्ठिर भय अथवा लोभवश कभी असत्य नहीं बोलते । उनकी सत्यवादिताका ही फल था कि उनके रथके पहिये सदा पृथ्वीसे चार अंगुल ऊँचे रहा करते थे। जीवनमें केवल एक बार इन्होंने असत्य भाषण किया। इन्होंने द्रोणाचार्यके सामने अश्वत्थामा हाथीके मारे जानेके बहाने झूठ-मूठ यह कह दिया कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' इसी एक बारकी सत्यच्युतिके फलस्वरूप इनके रथके पहिये पृथ्वीसे सटकर चलने लगे और इन्हें मुहूर्तभरके लिये कल्पित नरकका दृश्य भी देखना पड़ा।

युधिष्ठिरकी उदारता भी अलौकिक थी। जब कौरवोंने किसी प्रकार भी इनका राज्य लौटाना मंजूर नहीं किया तो इन्होंने केवल पाँच गाँव लेकर संतोष करना स्वीकार कर लिया और भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा दुर्योधनको यह कहला भेजा कि 'यदि वह हमें हमारे इच्छानुसार केवल पाँच गाँव देना मंजूर कर ले तो हम युद्ध नहीं करेंगे।' परंतु दुर्योधनने इन्हें सूईकी नोकके बराबर जमीन देना भी स्वीकार नहीं किया। तब इन्हें बाध्य होकर युद्ध छेड़ना पड़ा। इतना ही नहीं, जब दुर्योधनकी सारी सेना मर-खप गयी और वह स्वयं एक तालाबमें जाकर छिप रहा, उस समय इन्होंने उसके पास जाकर उसे अन्तिम बार युद्धके लिये ललकारते हुए यहाँतक कह दिया कि 'हममेंसे जिस-किसीके साथ तुम युद्ध कर सकते हो। हममेंसे किसी एकपर भी तुम द्वन्द्वयुद्धमें विजय पा लोगे तो सारा राज्य तुम्हारा हो जायगा ।' भला, इस प्रकारकी शर्त कोई दूसरा कर सकता है। जिस दुर्योधनका गदायुद्धमें भीमसेन भी, जो पाण्डवोंमें सबसे अधिक बलवान् एवं गदायुद्धमें प्रवीण थे, मुकाबला करते हिचकते थे, उसके साथ यह शर्त कर लेना कि 'हममेंसे किसी एकको तुम हरा दोगे तो राज्य तुम्हारा हो जायगा' युधिष्ठिर-जैसे महानुभावका ही काम था। अन्त-में भीमसेनके साथ उसका युद्ध होना निश्चित हुआ और भीमसेनके द्वारा वह मारा गया।

इतना ही नहीं, युद्ध-समाप्तिके बाद जब युधिष्ठिरका राज्याभिषेक हो गया और धृतराष्ट्र-गान्धारी इन्हींके पास रहने लगे, उस समय इन्होंने उनके साथ ऐसा सुन्दर बर्ताव किया कि उन्हें अपने पुत्रोंकी मृत्युका दुःख भूल गया। इन्होंने दोनोंको इतना सुख पहुँचाया, जितना उन्हें अपने

पुत्रोंसे भी नहीं मिला था। ये सारा राज-काज उन्हींसे पूछ-पूछकर करते थे और राज-काज करते हुए भी इनकी सेवाके लिये बराबर समय निकाला करते थे। तथा इनकी माता कुन्ती सम्राज्ञी द्रौपदी तथा अपनी अन्य बहुओंके साथ देवी गान्धारी-की सेवा किया करती थीं। ये इस बातका सदा ध्यान रखते थे कि उनके सामने कभी कोई ऐसी बात न हो, जिससे उनका पुत्र-शोक उमड़ पड़े। अन्तमें जब धृतराष्ट्र और गान्धारीने अपनी शेष आयु वनमें वितानेका निश्चय किया, उस समय युधिष्ठिरको बड़ा दुःख हुआ और ये स्वयं उनके साथ वन जानेको तैयार हो गये। बड़ी कठिनतासे व्यासजी-ने आकर इन्हें समझाया, तब कहीं ये धृतराष्ट्र-गान्धारीको वन भेजनेपर राजी हुए। फिर भी कुन्तीदेवी तो अपनी जेठ-जेठानीके साथ ही गयीं और अन्त समयतक उनकी सेवा-में रहीं और उनके साथ ही प्राण-त्याग भी किया। वन जाने-से पहले धृतराष्ट्रने अपने मृत पुत्रों तथा अन्य सम्बन्धियोंका विधिपूर्वक अन्तिम बार श्राद्ध करना चाहा और उन्हींके कल्याणके लिये ब्राह्मणोंको अपरिमित दान देना चाहा। युधिष्ठिरको जब इनकी इच्छा मालूम हुई तो इन्होंने विदुर-जीके द्वारा यह कहलाया कि 'अर्जुनसहित मेरा प्राणपर्यन्त सर्वस्व आपके अर्पण है।' एवं उनकी इच्छासे भी अधिक खुले हाथों खर्च करनेका प्रबन्ध कर दिया। फिर तो धृतराष्ट्र-ने बड़े विधि-विधानसे अपने सम्बन्धियोंका श्राद्ध किया और ब्राह्मणोंको भरपूर दान दिया। उस समय महाराज युधिष्ठिर-ने धृतराष्ट्रके आज्ञानुसार धन और रत्नोंकी नदी-सी बहा दी। जिसके लिये सौकी आज्ञा हुई, उसे हजार दिया गया। जब धृतराष्ट्र-गान्धारी वनको जाने लगे, उस समय पाण्डवलोग अपनी रानियोंके साथ पैदल ही बड़ी दूरतक उन्हें पहुँचाने गये। जिन धृतराष्ट्रकी बदौलत पाण्डवोंको भारी-भारी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा, जिनके कारण उन्हें अपने पैतृक अधिकारसे वञ्चित रहना पड़ा और कितनी बार वनवासके कष्ट उठाने पड़े, जिनकी उपस्थितिमें उनके पुत्रों-ने सती-शिरोमणि द्रौपदीका भरी सभामें घोर अपमान किया और जिन्होंने उन्हें दर-दरका भिखारी बना दिया और पाँच गाँवतक देना मंजूर नहीं किया—जिसके फलस्वरूप दोनों ओरसे इतना भीषण नरसंहार हुआ—उन्हीं धृतराष्ट्रके प्रति इतना निश्छल प्रेम-भाव रखना और अन्ततक उन्हें सुख पहुँचानेकी पूरी चेष्टा करना युधिष्ठिर-जैसी महान् आत्माका ही काम था। वैरीके प्रति ऐसा सद्व्यवहार जगत्के इतिहास-में कम ही देखनेको मिलेगा।

महाराज युधिष्ठिरकी शरणागतवत्सलता तथा प्रेम तो और भी विलक्षण था। भगवान् श्रीकृष्णके परमधामगमन तथा यादवोंके संहारकी बात जब इन्होंने सुनी तो इन्हें बड़ा दुःख हुआ। इन्होंने सोचा कि 'जब हमारे परम आत्मीय तथा हितू श्रीकृष्ण ही इस धरातलपर न रहे, जिनकी बदौलत हमने सब कुछ पाया था, तो फिर हमारे लिये यह राज्य-सुख किस कामका और इस जीवनको ही रखनेसे क्या प्रयोजन। श्रीकृष्णकी बात तो अलग रही, वे तो पाण्डवोंके जीवन-प्राण एवं सर्वस्व ही थे। उनके ऊपर तो उनका सब कुछ निर्भर था। कौरवोंके विनाशपर ही उन्हें इतना दुःख हुआ था कि विजय तथा राज्यप्राप्तिके उपलक्ष्यमें हर्ष मनानेके बदले वे सब कुछ छोड़कर वन जानेको तैयार हो गये थे। बड़ी कठिनतासे भगवान् श्रीकृष्ण तथा महर्षि व्यास आदिने उन्हें समझा-बुझाकर राज्याभिषेकके लिये तैयार किया था। भीष्मपितामहने भी धर्मका उपदेश देकर इनका शोक दूर करनेकी चेष्टा की, तथा भीष्मजीकी आज्ञा मानकर इन्होंने राज्य भी किया; परंतु स्वजनवधसे होनेवाली ग्लानि इनके चित्तसे सर्वथा दूर नहीं हुई। अब श्रीकृष्णके परमधाम-गमनकी बात सुनकर तो इन्होंने वन जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया और अर्जुनके पौत्र कुमार परीक्षित्को राजगद्दीपर बिठाकर तथा कृपाचार्य एवं धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सुको उनकी देखभालमें नियुक्त कर वे अपने चारों भाई तथा द्रौपदीको साथ लेकर हस्तिनापुरसे चल पड़े। पृथ्वी-प्रदक्षिणाके उद्देश्यसे कई देशोंमें घूमते हुए वे हिमालयको पारकर मेरुपर्वतकी ओर बढ़ रहे थे। रास्तेमें देवी द्रौपदी तथा इनके चारों भाई एक-एक करके क्रमशः गिरते गये। इनके गिरनेकी भी परवा न कर युधिष्ठिर आगे बढ़ते ही गये। इतनेमें ही स्वयं देवराज इन्द्र रथपर चढ़कर इन्हें लेनेके लिये आये और इन्हें रथपर चढ़ जानेको कहा। युधिष्ठिरने अपने भाइयों तथा पतिप्राणा देवी द्रौपदीके बिना अकेले रथपर बैठना स्वीकार नहीं किया। इन्द्रके यह विश्वास दिलानेपर कि 'वे लोग तुमसे पहले ही स्वर्गमें पहुँच चुके हैं,' इन्होंने रथपर चढ़ना स्वीकार किया। परंतु इनके साथ एक कुत्ता भी था, जो शुरूसे ही इनके साथ चल रहा था। युधिष्ठिरने चाहा कि वह कुत्ता भी उनके साथ चले। इन्द्रके आपत्ति करनेपर इन्होंने उनसे साफ कह दिया कि 'इस स्वामिभक्त कुत्तेको छोड़कर मैं अकेला स्वर्ग जानेके लिये तैयार नहीं हूँ।' यह कुत्ता और कोई नहीं था, स्वयं धर्म ही युधिष्ठिरकी परीक्षाके लिये उनके साथ हो लिये थे। युधिष्ठिरकी इस अनुपम शरणागतवत्सलताको देखकर वे अपने असली रूपमें प्रकट हो गये और युधिष्ठिरको रथमें बिठाकर इन्द्र एवं अन्य देवताओं तथा देवर्षियोंके साथ ऊपरके लोकोंमें चले गये। उस समय देवर्षि नारदने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि महाराज युधिष्ठिरसे पहले कोई भौतिक शरीरसे स्वर्ग गया हो ऐसा सुननेमें नहीं आया। ऊपर जाते हुए युधिष्ठिरने नक्षत्रों एवं तारोंको देवताओंके लोकोंके रूपमें देखा। फिर भी देवराज इन्द्रसे उन्होंने यही कहा कि 'जहाँ मेरे भाई-बन्धु

महाबली भीमसेन

तथा देवी द्रौपदी हों, वहीं मुझे ले चलिये; वहीं जानेपर मुझे शान्ति मिलेगी, अन्यत्र नहीं । जहाँ मेरे भाई नहीं हैं, वह स्वर्ग भी मेरे किस कामका !' धन्य बन्धु-प्रेम !

आगे जाकर जब देवराज इन्द्रकी मायासे इन्हें नरकका दृश्य दिखायी पड़ा और वहाँ इन्होंने अपने भाइयोंके कराहने एवं रोनेकी आवाज सुनी, साथ ही इन्होंने लोगोंको यह कहते भी सुना कि 'महाराज ! थोड़ा रुक जाइये, आपके यहाँ रहनेसे हमें नरककी पीड़ा नहीं सताती', तब तो ये वहीं रुक गये और जो देवदूत उन्हें वहाँ ले आया था, उससे इन्होंने कहा कि 'हम तो यहीं रहेंगे; जब हमारे रहनेसे यहाँके जीवोंको सुख मिलता है तो यह नरक ही हमारे लिये स्वर्गसे बढ़कर है ।' धन्य दयालुता !

थोड़ी ही देर बाद वह दृश्य गायब हो गया और वहाँ इन्द्र, धर्म आदि देवता आ पहुँचे । वे सब इनके इस सुन्दर भावसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बतलाया कि 'तुमने छलसे गुरु द्रोणाचार्यको उनके पुत्रकी मृत्युका विश्वास दिलाया था, इसीलिये तुम्हें छलसे नरकका दृश्य दिखाया गया । तुम्हारे सब भाई दिव्यलोकमें पहुँच गये हैं ।' इसके बाद युधिष्ठिर भगवान्के परमधाममें गये और वहाँ इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके उसी रूपमें दर्शन किये, जिस रूपमें वे पहले उन्हें मर्त्यलोकमें देखते आये थे । वहीं उन्होंने श्रीकृष्णकी परिचर्या करते हुए अर्जुनको भी देखा । अपने भाइयों तथा देवी द्रौपदीको भी उन्होंने दूसरे-दूसरे स्थानोंमें देखा । अन्तमें वे अपने पिता धर्मके शरीरमें प्रविष्ट हो गये । इस प्रकार युधिष्ठिरने अपने धर्मके बलसे दुर्लभ गति पायी ।

युधिष्ठिरकी पवित्रताका ऐसा अद्भुत प्रभाव था कि वे जहाँ जाते, वहाँका वातावरण अत्यन्त पवित्र हो जाता था । जिस समय पाण्डव अज्ञातरूपसे राजा विराटके यहाँ रह रहे थे, उस समय कौरवोंने इनका पता लगाना चाहा । उसी प्रसङ्गमें भीष्मपितामहने, जो पाण्डवोंके प्रभावको भलीभाँति जानते थे, उन्हें बतलाया कि 'राजा युधिष्ठिर जिस नगर या राष्ट्रमें होंगे, वहाँकी जनता भी दानशील, प्रियवादिनी, जितेन्द्रिय और लज्जाशील होगी । जहाँ वे रहते होंगे, वहाँके लोग संयमी, सत्यपरायण तथा धर्ममें तत्पर होंगे; उनमें ईर्ष्या, अभिमान, मत्सर आदि दोष नहीं होंगे । वहाँ हर समय वेदध्वनि होती होगी, यज्ञ होते होंगे, ठीक समयपर वर्षा होती होगी, वहाँकी भूमि धन-धान्यपूर्ण तथा सब प्रकारके भयों एवं उपद्रवोंसे शून्य होगी; वहाँ गायें अधिक एवं हृष्ट-पुष्ट होंगी' इत्यादि । यही नहीं, हम ऊपर देख ही चुके हैं कि उनकी संनिधिसे नरकके प्राणियोंतकको सुख-शान्ति मिलती थी । राजा नहुषने, जिन्हें महर्षि अगस्त्यके शापसे अजगरकी योनि प्राप्त हुई थी और जिन्होंने उसी रूपमें भीमसेनको अपने चंगुलमें फँसा लिया था, युधिष्ठिरके दर्शन तथा उनके साथ सम्भाषण करने मात्रसे अजगरकी योनिसे छूटकर पुनः स्वर्ग प्राप्त किया । ऐसे पुण्यश्लोक युधिष्ठिरके पावन चरित्रका जितना ही मनन किया जायगा, उतनी ही पवित्रता प्राप्त होगी ।

'धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन ।'

महाबली भीमसेन

महाभारतके प्रमुख पात्रोंमें भीमसेन भी अपने ढंगके अद्वितीय योद्धा थे । परम पराक्रमी भीमसेनका जन्म वायुदेवसे हुआ था । अतएव वे देवपुत्र थे । वायुदेवके अवतार थे । उनके जन्मके समय आकाशवाणी हुई थी कि यह कुमार समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ होगा । वस्तुतः शारीरिक बलमें भीमसेन अपने युगके सर्वश्रेष्ठ योद्धा हुए । बचपनमें वे दौड़ने, खेल-कूद करने, खान-पान तथा नाना प्रकारकी बालक्रीडाओंमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका मानमर्दन किया करते थे । परंतु ऐसा वह बालस्वभावके कारण ही करते थे, धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे उन्हें द्वेष न था । किंतु उनकी ये बालक्रीडाएँ दुर्योधनको बहुत खलतीं । वे बराबर भीमसेनका अनिष्ट सोचा करते थे । एक दिन दुर्योधनने सोचा कि भीमको किसी प्रकार धोखेसे गङ्गामें डुबो दें और युधिष्ठिर तथा अर्जुनको कैद करके निष्कण्टक राज्य करें । इस दुरभिसन्धिको पूरा करनेकी उन्होंने सारी योजना बना डाली, तथा जलक्रीडाके लिये पाण्डवोंको साथ लेकर गङ्गा-तटपर गये । उन्होंने भोजनमें कालकूट विष मिलाकर पर्याप्त मात्रामें भीमसेनको खिला दिया । भीमसेनपर धीरे-धीरे विषका प्रभाव बढ़ने लगा और वे अचेत होने लगे । तब दुर्योधनने उनको वृक्षकी लताओंसे बाँधा, और गङ्गाजीके ऊँचे तटसे जलमें ढकेल दिया । भीमसेन बेहोशीकी दशामें जलमें डूबकर नागलोकमें जा पहुँचे । वहाँ नागोंने उनको खूब डँसा, जिससे कालकूट विषका प्रभाव नष्ट हो गया । तब भीमसेन होशमें आ गये और अपने बन्धनको तोड़कर सर्पोंको मारने लगे । सर्प भयके मारे नागराज वासुकिके पास गये और उनसे भीमसेनकी शिकायत की । तब नागराज वासुकि और नागराज आर्यक दोनों भीमसेनको देखनेके लिये चले । आर्यक पृथाके पिता शूरसेनके नाना थे । उन्होंने अपने दौहित्रके दौहित्र भीमसेनको पहचानकर छातीसे लगा लिया । नागराज वासुकि भी भीमसेनपर बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि 'इनका कौन-सा प्रिय कार्य किया जाय?' आर्यकने कहा—'नागराज ! यदि आप संतुष्ट हैं तो इस बालकको उस कुण्डका अमृत-रस पिलाइये, जिससे एक हजार हाथियोंका बल प्राप्त होता है ।'

तब नागोंने भीमसेनके लिये स्वस्तिवाचन किया। उसके बाद वे उस कुण्डका रस पीने लगे और एक-एक करके आठ कुण्डोंका रस पी लिया और तत्पश्चात् नागोंकी दी हुई दिव्य शय्यापर सो गये। आठ दिनके बाद जब वह रस पच गया, तब वे जगे। उस समय उनको अपरिमित बल प्राप्त हो गया था। उनको जगा हुआ देखकर नागोंने आश्वासन देते हुए कहा—

यत् ते पीतो महाबाहो रसोऽयं वीर्यसम्भृतः।
तस्मान्नागायुतबलो रणेऽधृष्यो भविष्यति॥

'हे महाबाहो! तुमने जो यह शक्तिपूर्ण रस पीया है, इसके कारण तुम्हारा बल दस हजार हाथियोंके बराबर होगा, और तुम युद्धमें अजेय हो जाओगे।'

× × ×

भीमसेनमें अपरिमित बल हो जानेके पश्चात् गर्वका बढ़ जाना स्वाभाविक था। अब वे और अधिक धृतराष्ट्रके पुत्रोंके लिये दुःखदायी बन गये। जब दुर्योधनने कर्णको अङ्गराजका राजा बनाया और उसी अवसरपर उसके पिता अधिरथने वहाँ पहुँचकर 'बेटा, बेटा' पुकारते हुए आनन्दसे कर्णको हृदयसे लगाया, तो भीमसेनसे रहा न गया। वे अर्जुनके साथ युद्धके लिये तैयार कर्णसे कह उठे—'अरे सूतपुत्र! तू तो अर्जुनके हाथसे मरने योग्य भी नहीं है। तुझे तो शीघ्र ही चाबुक हाथमें लेनी चाहिये; क्योंकि यही तेरे कुलके अनुरूप है।'

भीमसेनकी यह विशेषता थी कि ये जहाँ कहीं अन्याय होता देखते, वहाँ उसके प्रतिकारके लिये तुरंत तैयार हो जाते थे। परंतु वे अपने बड़े भाई युधिष्ठिरके बड़े आज्ञाकारी थे। कोई भी काम उनकी मर्जीके बिना नहीं करते। दस हजार हाथियोंका बल रखते हुए भी भीमसेन अपने बड़े भाईके इशारेपर नाचते थे। जब कोई बड़ा काम आ जाता, जिसको पूरा करनेके लिये बलकी आवश्यकता होती, वहाँ भीमसेन तैयार रहते थे। कौरवोंके अत्याचारोंको ये इसलिये सह लेते थे कि ऐसी ही उनके बड़े भाईकी मर्जी थी। महाबलवान् होनेके कारण भीमसेन अपनी माता और भाइयोंके बहुत काम आते थे। वारणावतके लाक्षागृहसे निकलनेके बाद घने जंगलमें इनकी जब हिडिम्ब राक्षससे मुठभेड़ हुई तो भीमसेनने ही उसे पछाड़कर मार डाला।

इसी प्रकार एकचक्रा नगरीमें जब पाण्डवलोग एक ब्राह्मणके घर रहते थे, उस समय पाँचों भाई भिक्षाटन करके भिक्षान्न लाकर माताको समर्पित करके उनकी आज्ञासे बाँटकर भोजन करते थे। एक दिन चारों भाई भीमसेनको माताके पास छोड़कर भिक्षाके लिये चले गये। उस दिन उस ब्राह्मणके घरमें रोना-पीटना मच गया। यह सुनकर भीमसेनने माता कुन्तीसे कहा—

ज्ञायतामस्य यद्दुःखं यतश्चैव समुत्थितम्।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम्॥
(आदिपर्व १५६।१६)

'माँ! पहले यह पता लगाओ कि इस ब्राह्मणको क्या दुःख है, और वह कैसे प्राप्त हुआ है। जान लेनेपर अत्यन्त दुष्कर होनेपर भी उसको दूर करनेकी चेष्टा करूँगा।' भीमसेनके इस वाक्यसे उनकी पर-दुःखकातरता, ब्राह्मणके प्रति भक्ति-भावना आदिका उज्ज्वल प्रमाण मिलता है। पश्चात् माताकी आज्ञासे भीमसेनने वनमें जाकर बकासुरका वध करके उस ब्राह्मण-परिवारकी विपत्ति दूर की, तथा साथ ही उस राज्यके निवासियोंके कष्टको सदाके लिये दूर कर दिया। इस प्रकार अपने जीवनको खतरेमें डालकर भी दूसरोंका कल्याण करना भीमसेनका सहज स्वभाव था। बकासुरके मरनेके बाद वहाँ राक्षसोंकी बाधा सदाके लिये दूर हो गयी।

भीमसेनमें युद्धप्रियता पहले दर्जेकी थी। ये सीधे युद्धके द्वारा न्यायका समर्थन करना चाहते थे, अन्यायके विरुद्ध तत्काल कमर कसकर तैयार हो जाते थे। क्षात्रधर्मकी मूर्ति थे। अकारण किसीको संताप देनेवाले नहीं थे, और न किसीका वध ही करते थे। द्रौपदीके स्वयंवरके अवसरपर ब्राह्मणवेषधारी भीमसेनने मल्लयुद्धमें जब शल्यको पछाड़ दिया और जानसे नहीं मारा तो दर्शकगण देखकर आश्चर्य करने लगे।

तत्राश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः।
यच्छल्यं पातितं भूमौ नावधीद् बलिनं बली॥
(आदि० १८९।२९)

वहाँ ब्राह्मणलोग भीमसेनके इस अपूर्व पराक्रम और शल्यके ऊपर प्रदर्शित उनकी उदारताको देखकर हँसने लगे।

द्रौपदीके साथ छेड़खानी करनेवाले कीचक तथा उसके परिवारके एक सौ महाबली कीचकोंका वध करके भीमसेनने विराटकी प्रजाको उनके अत्याचारसे मुक्त किया था।

भीमसेन वीरताकी प्रतिमूर्ति थे। जब उनसे कभी यह कहा जाता कि इस दुष्कर कार्यको भीम ही कर सकते हैं तो उनके उत्साहका ठिकाना नहीं रहता। उनके इस अपूर्व उत्साहको देखकर बहुधा युधिष्ठिरको आशङ्का हो जाती थी। इसी कारण जब जरासंधका वध भीमसेन करेंगे, यह प्रस्ताव भगवान् श्रीकृष्णने किया तो युधिष्ठिर जरासंधकी अजेय सैन्यशक्तिका विचार करके शङ्कित हो उठे। तब भीमसेन उत्साहप्रद तथा नीतिगर्भित वचन बोले—

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति।
दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति॥
(सभापर्व १५ । ११)

अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम्।
जयेत्सम्यक् प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान्॥
(१५ । १२)

'महाराज! जो राजा उद्योग नहीं करता तथा दुर्बल होकर भी बिना उपाय किये बलवान्से भिड़ जाता है, वे दोनों वल्मीकके समान सहज ही नष्ट हो जाते हैं। परंतु जो आलस्य छोड़कर उत्तम युक्ति और नीतिसे काम लेता है, वह दुर्बल होनेपर भी बलवान् शत्रुको जीत लेता है, और अपना कल्याणसाधन करता है।' भीमसेनकी इस युक्तिसे यह सिद्ध होता है कि वे केवल अद्भुत वीर और योद्धा ही नहीं थे, बल्कि नीतिशास्त्रके भी अच्छे ज्ञाता थे। अतएव भगवान् श्रीकृष्णके परामर्शसे मगधमें भीमसेन और जरासंधका मल्लयुद्ध शुरू हो गया। अन्तमें भगवान्ने एक सरकंडा लेकर उसे चीरकर दोनों ओर फेंकते हुए भीमसेनको उसी प्रकार करनेका संकेत दिया। भीमसेनने संकेत पा जरासंधकी दोनों टाँगें पकड़ लीं और उसे दो हिस्सोंमें चीरकर विपरीत दिशाओंमें फेंककर मार डाला। इस प्रकार भारतके उस कालके सबसे शक्तिशाली राजा जरासंधका नाश भीमसेनके ही द्वारा हुआ।

भीमसेनकी नीतिज्ञताका पता उस समय चलता है, जब भगवान् श्रीकृष्ण संधिका प्रस्ताव लेकर कौरव-सभाके लिये प्रस्थान करते हैं। भीमसेन कहते हैं, 'हे मधुसूदन! कौरवोंके बीचमें आप ऐसी बातें करें जिनसे शान्ति स्थापित हो जाय। दुर्योधन स्वभावसे ही दुरात्मा है, दुराग्रही है। वह मर जायगा, पर झुकेगा नहीं। अतएव आप उससे जो कुछ भी कहें, कोमल और मधुर वाणीमें धीरे-धीरे कहें। आपका कथन धर्म और अर्थसे युक्त तथा कल्याणकारी हो। उसमें तनिक भी उग्रता न आने पावे। साथ ही यह भी ध्यान रक्खें कि आपकी अधिकांश बातें उसकी रुचिके अनुकूल हों। श्रीकृष्ण! आप वहाँ बूढ़े पितामह भीष्मजी तथा अन्य सभासदोंको ऐसा करनेके लिये कहें, जिससे हम सब भाइयोंमें सौहार्द बना रहे, और दुर्योधन भी शान्त हो जाय।'—शान्तिप्रियताके भावोंसे भरे हुए इन शब्दोंसे भीमसेनके हृदयकी विशालताका सहज ही अनुमान हो जाता है। अन्तमें अपने कथनको समाप्त करते हुए वे कहते हैं—

अहमेतद् ब्रवीम्येवं राजा चैव प्रशंसति।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयार्जुने॥
(उद्योग० ७४ । २३)

'मैं इस प्रकार शान्ति-स्थापनकी बात कह रहा हूँ। युधिष्ठिर भी शान्तिकी ही प्रशंसा करते हैं, और अर्जुन भी युद्धके इच्छुक नहीं हैं; क्योंकि अर्जुनके हृदयमें बड़ी दया भरी हुई है।' इस वचनसे स्पष्ट हो जाता है कि भीमसेन जितने अधिक शक्तिसम्पन्न पुरुष थे, उतनी ही अधिक उनके हृदयमें दया भरी थी।

द्रौपदीके चीरहरणके प्रसङ्गमें कौरव-सभामें दुःशासनके दुष्कृत्यको देखकर महाराज युधिष्ठिरके वहाँ रहते ही आपेसे बाहर होकर भीमसेनने सब कौरवोंको युद्धमें मार डालने तथा दुःशासनको मारकर उसके वक्षःस्थलको फाड़कर रक्त पान करनेकी प्रतिज्ञा कर डाली। और इस प्रतिज्ञाको उन्होंने पूरा किया।

भीमसेनमें वीरत्वका गर्व था। इसलिये कभी-कभी वे उद्धत भी हो जाते थे। महाभारतके युद्धमें जब अश्वत्थामाने नारायणास्त्रका प्रयोग किया तो भगवान् श्रीकृष्णने सबको कह दिया कि इस दिव्यास्त्रसे बचनेका एकमात्र यही उपाय है कि हाथसे हथियार डालकर अपने वाहनोंसे नीचे उतर जाओ। भगवान् वासुदेवकी इस बातको सुन सब लोगोंने तदनुसार आचरण किया, परंतु भीमसेन न माने। वे अर्जुन और श्रीकृष्णकी अवहेलना करके आगे बढ़े। नारायणास्त्रके सामने धृष्टता करना महा अनर्थप्रद है, यह सोचकर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने उनको बलपूर्वक रथसे उतारा।

धृतराष्ट्रके मुखसे भीमसेनके गुणोंका वर्णन ध्यान देने योग्य है—

नहि तस्य महाबाहो शक्रप्रतिमतेजसः।
सैन्येऽस्मिन् प्रतिपश्यामि य एनं विषहेद् युधि॥
अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं वायुवेगसमं जवे।
महेश्वरसमं क्रोधे को हन्याद् भीममाहवे॥
येन भीमबला यक्षा राक्षसाश्च पुरा हताः।
कथं तस्य रणे वेगं मानुषः प्रसहिष्यसि॥
(उद्योगपर्व अ० ५१)

'महाबाहु भीम इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। मैं अपनी सेनामें किसीको नहीं देखता, जो युद्धमें उसका सामना कर सके। वह अस्त्रविद्यामें द्रोण और अर्जुनके समान, वेगमें वायुके समान और क्रोधमें महेश्वरके तुल्य है। ऐसे भीमको युद्धमें कौन मार सकता है? जिसने पूर्वकालमें भयङ्कर बलशाली यक्ष-राक्षसोंका वध किया है, युद्धमें उसका वेग कोई मनुष्य कैसे सहन कर सकता है।' धृतराष्ट्रका कथन सर्वथा सत्य है। भीमसेन अद्वितीय योद्धा थे, और महाभारतके युद्धमें उन्होंने खूब पराक्रम दिखलाया। अन्तमें दुर्योधनको मल्लयुद्धमें पछाड़कर पाण्डवोंके लिये उन्होंने विजयश्री प्राप्त की।

श्रीकृष्णसखा अर्जुन

अर्जुन साक्षात् नर-ऋषिके अवतार थे। ये भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त, सखा एवं प्रेमी थे तथा उनके हाथके एक उत्तम यन्त्र थे। इनको निमित्त बनाकर भगवान्ने महाभारत-युद्धमें बड़े-बड़े योद्धाओंका संहार किया और इस प्रकार अपने अवतारके अन्यतम उद्देश्य भूभारहरणको सिद्ध किया। इस बातको स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीताके विश्व-रूपदर्शनके प्रसङ्गमें यह कहते हुए स्वीकार किया है कि 'ये सब तुम्हारे शत्रु मेरेद्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, तुम्हें इनके वधमें केवल निमित्त बनना होगा' (११ । ३३)। इनकी भक्ति तथा मित्रताको भी भगवान्ने गीतामें ही 'भक्तोऽसि मे सखा चेति,' 'इष्टोऽसि मे दृढमिति' आदि शब्दोंमें स्वीकार किया है। जिसे स्वयं भगवान् अपना भक्त और प्यारा मानें और उद्घोषित करें, उसके भक्त होनेमें दूसरे किसी प्रमाणकी क्या आवश्यकता है। गीताके अन्तमें 'करिष्ये वचनं तव' यह कहकर अर्जुनने स्वयं भगवान्के हाथका यन्त्र बननेकी प्रतिज्ञा की है और महाभारतके अनुशीलनसे इस बातका पर्याप्त प्रमाण भी मिलता है कि उन्होंने अन्ततक इस प्रतिज्ञाका भलीभाँति निर्वाह किया। गीतासे ही इस बातका भी प्रमाण मिलता है कि ये भगवान्को अपना सखा मानते थे और उनके साथ बराबरीका नाता भी रखते थे। श्रीकृष्ण और अर्जुन अनेकों बार भिन्न-भिन्न अवसरोंपर एवं भिन्न-भिन्न स्थानोंमें महीनों साथ रहे थे और ऐसे अवसरोंपर स्वाभाविक ही उनका उठना-बैठना, खाना-पीना, घूमना-फिरना, सोना-लेटना साथ ही होता था और ऐसी स्थितिमें उनमें परस्पर किसी प्रकारका संकोच नहीं रह गया था। दोनोंका एक-दूसरेके साथ खुला व्यवहार था, अभिन्नहृदयता थी। दोनोंका एक-दूसरेके अन्तःपुरमें भी निःसंकोच आना-जाना, उठना-बैठना होता था, एक दूसरेसे किसी प्रकारका पर्दा नहीं था। इन दोनोंमें कैसा प्रेम था, इसका वर्णन संजयने धृतराष्ट्रको पाण्डवोंका संदेश कहते समय सुनाया था। युद्धके पूर्व जब संजय कौरवोंका संदेश लेकर उपप्लव्यमें पाण्डवोंके पास गये, उस समय श्रीकृष्ण और अर्जुनको उन्होंने किस अवस्थामें देखा, इसका वर्णन करते हुए संजय कहते हैं—'महाराज ! आपका संदेश सुनानेके लिये मैं अर्जुनके अन्तःपुरमें गया। उस स्थानमें अभिमन्यु और नकुल-सहदेव भी नहीं जा सकते थे। वहाँ पहुँचनेपर मैंने देखा कि श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रक्खे हुए हैं तथा अर्जुनके चरण द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं' इत्यादि।

× × ×

जब पाण्डव जुएकी शर्तके अनुसार वनमें चले जाते हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण उनसे मिलनेके लिये आते हैं। उस समय वे अर्जुनके साथ अपनी अभिन्नताका उल्लेख करते हुए कहते हैं—'अर्जुन ! तुम एकमात्र मेरे हो और मैं एकमात्र तुम्हारा हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे हैं और जो तुम्हारे हैं, वे मेरे हैं। जो तुमसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारा प्रेमी है, वह मेरा प्रेमी है। तुम नर हो और मैं नारायण। तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है, हम दोनों एक हैं।' अर्जुन श्रीकृष्णको कितने प्रिय थे तथा दोनोंमें कैसी अभिन्नता थी—इसका प्रमाण महाभारतकी कई घटनाओंसे मिलता है। जब अर्जुन अपने वनवासके समय तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे प्रभासक्षेत्रमें पहुँचते हैं तो भगवान् श्रीकृष्ण उनका समाचार पाते ही उनसे मिलनेके लिये द्वारकासे प्रभासक्षेत्रको जाते हैं और वहाँसे उन्हें रैवतक पर्वतपर ले आकर कई दिन उनके साथ वहीं बिताते हैं। रैवतक पर्वतसे दोनों द्वारका चले आते हैं और द्वारकामें अर्जुन श्रीकृष्णके ही महलोंमें कई दिनोंतक उनके प्रिय अतिथिके रूपमें रहते हैं और रातको दोनों साथ सोते हैं। वहाँ जब श्रीकृष्णको पता चलता है कि अर्जुन उनकी बहिन सुभद्रासे विवाह करना चाहते हैं तो वे उनके बिना पूछे ही इसके लिये अनुमति दे देते हैं और उसे हरकर ले जानेकी युक्ति भी बतला देते हैं। इतना ही नहीं, अपना रथ और हथियार भी उन्हें दे देते हैं। एवं सुभद्राहरण हो जानेके बाद जब बलरामजी इसका विरोध करते हैं तो वे उन्हें समझा-बुझाकर मना लेते हैं और वहीं द्वारकामें सुभद्राका पाणिग्रहण हो जाता है। यही नहीं, खाण्डवदाहके प्रसङ्गमें भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रसे यह वरदान माँगते हैं कि उनकी अर्जुनके साथ मित्रता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाय। खाण्डवदाहके प्रसङ्गमें ही अर्जुन और श्रीकृष्णकी अभिन्नताका एक और प्रमाण मिलता है। खाण्डववनके भयङ्कर अग्निकाण्डमेंसे मय दानव निकल भागनेकी चेष्टा कर रहा था। अग्निदेव मूर्तिमान् होकर उसे जला डालनेके लिये उसके पीछे दौड़ रहे थे। उनकी सहायताके लिये भगवान् श्रीकृष्ण भी अपना चक्र लिये उसे मारनेको प्रस्तुत थे। मय दानवने अपने बचनेका कोई उपाय न देखकर अर्जुनकी शरण ली और अर्जुनने उसे अभयदान दे दिया। अब तो श्रीकृष्णने भी अपना चक्र वापस ले लिया और अग्निदेवने भी उसका पीछा करना छोड़ दिया। मय दानवके प्राण बच गये। मय दानवने इस उपकारके बदलेमें अर्जुनकी कुछ सेवा करनी चाही। अर्जुनने कहा—'तुम श्रीकृष्णकी सेवा कर दो, इसीसे मेरी सेवा हो जायगी।' मय दानव बड़ा निपुण शिल्पी था। श्रीकृष्णने उससे महाराज युधिष्ठिरके लिये एक बड़ा सुन्दर सभाभवन तैयार करवाया। इस प्रकार अर्जुन और श्रीकृष्ण सदा एक दूसरेका प्रिय करते रहते थे।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुनको प्यार करते थे, उसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णको अपना परम आत्मीय एवं हितू समझते थे। यही कारण था कि उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी एक

अरब नारायणी सेनाको न लेकर अकेले और निहत्थे श्रीकृष्णको ही सहायकके रूपमें वरण किया। जहाँ भगवान् एवं उनके ऐश्वर्यका मुकाबला होता है, वहाँ सच्चे भक्त ऐश्वर्यको त्यागकर भगवान्का ही वरण करते हैं। श्रीकृष्णने भी उनके प्रेमके वशीभूत होकर युद्धमें उनका सारथ्य करना स्वीकार किया। अर्जुन साथ-ही-साथ अपने जीवनरूप रथकी बागडोर भी उन्हींके हाथोंमें सौंपकर सदाके लिये निश्चिन्त हो गये। फिर तो अर्जुनकी विजय और रक्षा—योग और क्षेम—दोनोंकी चिन्ता सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके कंधोंपर चली गयी। उनकी तो यह प्रतिज्ञा ही ठहरी कि जो कोई अनन्यभावसे उनका चिन्तन करते हुए अपनी सारी चिन्ताएँ उन्हींपर डाल देते हैं, उनके योगक्षेमका भार वे अपने कंधोंपर ले लेते हैं। कोई भी अपना भार उनके ऊपर डालकर देख ले।

बस, फिर क्या था। अब तो अर्जुनको जिताने और भीष्म-जैसे दुर्दान्त पराक्रमी वीरोंसे उनकी रक्षा करनेका सारा भार श्रीकृष्णपर आ गया। वैसे विजय तो पाण्डवोंकी पहलेसे ही निश्चित थी; क्योंकि धर्म उनके साथ था। जिस ओर धर्म, उस ओर श्रीकृष्ण और जिस ओर श्रीकृष्ण उस ओर विजय—यह तो सदाका नियम है। फिर तो युद्धके प्रारम्भमें शत्रुओंको पराजित करनेके लिये अर्जुनसे रणचण्डीका आवाहन एवं स्तवन कराना तथा प्रत्यक्ष दर्शन कराके विजयके लिये उनका आशीर्वाद प्राप्त कराना, भगवद्गीताके उपदेश तथा विश्वरूपदर्शनके द्वारा उनके मोहका निरास करना, युद्धमें शस्त्र न लेनेकी प्रतिज्ञाकी परवा न कर भीष्मकी प्रचण्ड बाणवर्षाको रोकनेमें असमर्थ अर्जुनकी प्राणरक्षाके लिये एक बार चक्र लेकर तथा दूसरी बार चाबुक लेकर भीष्मके सामने दौड़ना, भगदत्तके छोड़े हुए सर्वसंहारक वैष्णवास्त्रको अपनी छातीपर ले लेना, रथको पैरोंसे दबाकर कर्णके छोड़े हुए सर्पमुख बाणसे अर्जुनकी रक्षा करना तथा अस्त्रोंसे जले हुए अर्जुनके रथको अपने संकल्पके द्वारा कायम रखना आदि अनेकों लीलाएँ श्रीकृष्णने अर्जुनके योगक्षेमके निर्वाहके लिये कीं।

× × ×

भीष्मको पाण्डवोंसे लड़ते-लड़ते नौ दिन हो गये थे। फिर भी उनके पराक्रममें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आ पायी थी। प्रतिदिन वे पाण्डव-पक्षके हजारों वीरोंका संहार कर रहे थे। उनपर विजय पानेका पाण्डवोंको कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था। महाराज युधिष्ठिरने बड़े ही करुणापूर्ण शब्दोंमें सारी परिस्थिति अपनी नौकाके कर्णधार श्रीकृष्णके सामने रक्खी। श्रीकृष्णने उन्हें सान्त्वना देते हुए जो कुछ कहा, उससे उनका अर्जुनके प्रति असाधारण प्रेम प्रकट होता है। साथ ही अर्जुनके सम्बन्धमें उनकी कैसी ऊँची धारणा थी, इसका भी पता लगता है। श्रीकृष्ण बोले—'धर्मराज! आप बिल्कुल चिन्ता न करें। भीष्मके मारे जानेपर ही यदि आपको विजय दिखायी देती हो तो मैं अकेले ही उन्हें मार सकता हूँ। आपके भाई अर्जुन मेरे सखा, सम्बन्धी तथा शिष्य हैं; आवश्यकता हो तो मैं इनके लिये अपने शरीरका मांस भी काटकर दे सकता हूँ और ये भी मेरे लिये प्राण त्याग सकते हैं। अर्जुनने उपप्लव्यमें सबके सामने भीष्मको मारनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसकी मुझे हर तरहसे रक्षा करनी है। जिस कामके लिये अर्जुन मुझे आज्ञा दें, उसे मुझे अवश्य करना चाहिये। अथवा भीष्मको मारना अर्जुनके लिये कौन बड़ी बात है। राजन्! यदि अर्जुन तैयार हो जायँ तो वे असम्भव कार्य भी कर सकते हैं। दैत्य एवं दानवोंके साथ सम्पूर्ण देवता भी युद्ध करने आ जायँ तो अर्जुन उन्हें भी परास्त कर सकते हैं; फिर भीष्मकी तो बात ही क्या है।' सच है, 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ भगवान् जिसके रक्षक एवं सहायक हों, वह क्या नहीं कर सकता।

× × ×

पुत्रशोकसे पीड़ित अर्जुन अभिमन्युकी मृत्युका प्रधान कारण जयद्रथको समझकर दूसरे दिन सूर्यास्तसे पहले-पहले जयद्रथको मार डालनेकी प्रतिज्ञा कर बैठते हैं और साथ ही यह भी प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि 'ऐसा न कर सका तो मैं स्वयं जलती हुई आगमें कूद पड़ूँगा।' 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' इस वचनके अनुसार अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेका भार भी श्रीकृष्णपर आ पड़ा था। अर्जुन तो उनके भरोसे निश्चिन्त थे। इधर कौरवोंकी ओरसे जयद्रथको बचानेकी पूरी चेष्टा हो रही थी। उसी दिन श्रीकृष्ण आधी रातके समय ही जाग पड़े और सारथि दारुकको बुलाकर कहने लगे—'दारुक! मेरे लिये स्त्री, मित्र अथवा भाई-बन्धु—कोई भी अर्जुनसे बढ़कर प्रिय नहीं है। इस संसारको अर्जुनके बिना मैं एक क्षण भी नहीं देख सकता। ऐसा हो ही नहीं सकता। कल सारी दुनिया इस बातका परिचय पा जायगी कि मैं अर्जुनका मित्र हूँ। जो उनसे द्वेष रखता है, वह मेरा भी द्वेषी है; जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है। तुम अपनी बुद्धिमें इस बातका निश्चय कर लो कि अर्जुन मेरा आधा शरीर है। मेरा विश्वास है कि अर्जुन कल जिस-जिस वीरको मारनेका प्रयत्न करेंगे, वहाँ-वहाँ अवश्य उनकी विजय होगी।' भला, ऐसे मित्रवत्सल प्रभु जिसके लिये इस प्रकार उद्यत हों, उसकी विजयमें क्या संदेह हो सकता है। दूसरे दिन श्रीकृष्णकी बतायी हुई युक्तिसे जयद्रथको मारकर अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और सारे संसारने देखा कि श्रीकृष्णकी कृपासे अर्जुनका बाल भी बाँका नहीं हुआ।

× × ×

कर्ण अर्जुनके साथ शुरूसे ही ईर्ष्या रखता था। दोनों एक दूसरेके प्राणोंके ग्राहक थे। भीष्मके मरणके बाद भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनके लिये सबसे अधिक भय कर्णसे ही था।

उसके पास इन्द्रकी दी हुई एक अमोघ शक्ति थी, जिसे उसने अर्जुनको मारनेके लिये ही रख छोड़ा था। उस शक्तिके बलपर वह अर्जुनको मरा हुआ ही समझता था। उसका प्रयोग एक ही बार हो सकता था। कर्णको उस शक्तिसे हीन करनेके लिये भगवान्‌ने उसे भीमसेनके पुत्र घटोत्कचसे भिड़ा दिया। उसने ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया कि कर्णके प्राणों-पर बन आयी। वह उसके प्रहारोंको नहीं सह सका। उसने बाध्य होकर वह इन्द्रदत्त शक्ति घटोत्कचपर छोड़ दी और उसने घटोत्कचका काम तमाम कर दिया। घटोत्कचके मारे जानेसे पाण्डवोंके शिविरमें शोक छा गया। सबकी आँखों-से आँसुओंकी धारा बहने लगी। परंतु इस घटनासे श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए। वे हर्षसे झूमकर नाचने लगे। उन्होंने अर्जुनको गले लगाकर उनकी पीठ ठोंकी और बारंबार गर्जना की। अर्जुनने उनके बेमौके इस प्रकार आनन्द मनानेका रहस्य जानना चाहा; क्योंकि वे जानते थे कि भगवान्‌की कोई भी क्रिया अकारण नहीं होती। इसके उत्तर-में श्रीकृष्णने जो कुछ कहा, उससे उनका अर्जुनके प्रति अगाध प्रेम झलकता है। उन्होंने कहा—'अर्जुन! आज सचमुच मेरे लिये बड़े ही आनन्दका अवसर है। कारण जानना चाहते हो? सुनो। तुम समझते हो कर्णने घटोत्कचको मारा है; पर मैं कहता हूँ कि इन्द्रकी दी हुई शक्तिको निष्फल करके घटोत्कचने ही कर्णको मार डाला है; अब तुम कर्णको मरा हुआ ही समझो। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो कर्णके हाथमें शक्ति रहते उसके मुकाबलेमें ठहर सकता।' उन्होंने यह भी बतलाया कि 'मैंने तुम्हारे ही हितके लिये जरासंध, शिशुपाल आदिको एक-एक करके मरवा डाला। वे लोग यदि पहले न मारे गये होते, तो इस समय बड़े भयंकर सिद्ध होते। हमलोगोंसे द्वेष रखनेके कारण वे लोग अवश्य ही कौरवोंका पक्ष लेते और दुर्योधनका सहारा पाकर वे समस्त भूमण्डलको जीत लेते। उनके समान देव-द्रोहियोंका नाश करनेके लिये ही मेरा अवतार हुआ है।' इसी प्रसङ्गपर उन्होंने सात्यकिसे यह भी कहा कि 'कौरवपक्षके सब लोग कर्णको यही सलाह दिया करते थे कि वह अर्जुनके सिवा किसी दूसरेपर शक्तिका प्रयोग न करे और वह भी इसी विचारमें रहता था; परंतु मैं ही उसे मोहमें डाल देता था। यही कारण है कि उसने अर्जुनपर शक्तिका प्रहार नहीं किया। सात्यके! अर्जुनके लिये वह शक्ति मृत्युरूप है—यह सोच-सोचकर मुझे रातों नींद नहीं आती थी। आज वह घटोत्कचपर पड़नेसे व्यर्थ हो गयी—यह देखकर मैं ऐसा समझता हूँ कि अर्जुन मौतके मुँहसे छूट गये। मैं अर्जुनकी रक्षा करना जितना आवश्यक समझता हूँ, उतनी अपने माता-पिता, तुम-जैसे भाइयों तथा अपने प्राणोंकी भी रक्षा आवश्यक नहीं समझता। तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी यदि कोई दुर्लभ वस्तु हो, तो उसे भी मैं अर्जुनके बिना नहीं चाहता। इसीलिये आज अर्जुन मानो मरकर जी उठे हैं, ऐसा समझकर मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है। इसीलिये इस रात्रिमें मैंने राक्षस घटोत्कचको ही कर्णसे लड़नेके लिये भेजा था; उसके सिवा दूसरा कोई कर्णको नहीं दबा सकता था।' भगवान्‌के इन वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन भगवान्‌को कितने प्रिय थे और उनकी वे कितनी सँभाल रखते थे। जो अपनेको भगवान्‌के हाथका यन्त्र बना देता है, उसकी भगवान् इसी प्रकार सँभाल रखते हैं और उसका बाल भी बाँका नहीं होने देते। ऐसे भक्तवत्सल प्रभुकी शरणको छोड़कर जो और-और सहारे ढूँढ़ते रहते हैं, उनके समान मूर्ख कौन होगा।

× × ×

द्रोणाचार्यके वधसे अमर्षित होकर वीर अश्वत्थामाने पाण्डवोंके प्रति आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। उसके छूटते ही आकाशसे बाणोंकी वर्षा होने लगी और सेनामें चारों ओर आग फैल गयी। अर्जुन अकेले एक अक्षौहिणी सेना लेकर अश्वत्थामाका मुकाबला कर रहे थे। उस अस्त्रके प्रभावसे उनकी सारी सेना इस प्रकार दग्ध हो गयी कि उसका नाम-निशानतक मिट गया; परंतु श्रीकृष्ण और अर्जुनके शरीरपर आँचतक नहीं आयी। इन दोनों महापुरुषोंको अस्त्रके प्रभावसे मुक्त देखकर अश्वत्थामा चकित और चिन्तित हो गया, अपने हाथका धनुष फेंककर वह रथसे कूद पड़ा और 'धिक्कार है, धिक्कार है' कहता हुआ रणभूमिसे भाग चला। इतनेमें ही उसे व्यासजी दिखायी दिये। उसने उन्हें प्रणाम किया और उस सर्वसंहारी अस्त्रका श्रीकृष्ण और अर्जुनपर कुछ भी प्रभाव न पड़नेका कारण पूछा। तब व्यासजीने उसे बताया कि 'श्रीकृष्ण नारायण ऋषिके अवतार हैं और अर्जुन नरके अवतार हैं। इनका प्रभाव भी नारायणके ही समान है। ये दोनों ऋषि संसारको धर्म-मर्यादामें रखनेके लिये प्रत्येक युगमें अवतार लेते हैं।' व्यासजीकी इन बातोंको सुनकर अश्वत्थामाकी शङ्का दूर हो गयी और उसकी अर्जुन और श्रीकृष्णमें महत्त्व-बुद्धि हो गयी। व्यासजीके इन वचनोंसे भी श्रीकृष्ण और अर्जुनकी अभिन्नता सिद्ध होती है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके तो कृपापात्र थे ही, भगवान् शङ्करकी भी उनपर बड़ी कृपा थी। युद्धमें शत्रु-सेनाका संहार करते समय वे देखते थे कि एक अग्निके समान तेजस्वी महापुरुष उनके आगे-आगे चल रहे हैं। वे ही उनके शत्रुओंका नाश करते थे, किंतु लोग समझते थे कि यह अर्जुनका कार्य है। वे त्रिशूल धारण किये रहते थे और सूर्यके समान तेजस्वी थे। वेदव्यासजीसे बात होनेपर उन्होंने अर्जुनको बताया कि वे भगवान् शङ्कर ही थे। जिसपर श्रीकृष्णकी कृपा हो, उसपर और सब लोग भी कृपा करें—

इसमें आश्चर्य ही क्या है । 'जापर कृपा राम कै होई । तापर कृपा करहिं सब कोई ॥' अस्तु;

भगवान्‌के परम भक्त एवं कृपापात्र होनेके साथ-साथ अर्जुनमें और भी बहुत गुण थे । क्यों न हो, सूर्यके साथ सूर्यरश्मियोंकी तरह भक्तिके साथ-साथ दैवी गुण तो आनुषङ्गिकरूपसे रहते ही हैं । ये बड़े धीर, वीर, इन्द्रिय-जयी, दयालु, कोमलस्वभाव एवं सत्य-प्रतिज्ञ थे । इनमें दैवीगुण जन्मसे ही मौजूद थे, इस बातको गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने 'सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि' कहकर स्वीकार किया है । इनके जन्मके समय आकाशवाणीने इनकी माताको सम्बोधन करके कहा था—'कुन्ती ! यह बालक कार्तवीर्य अर्जुन एवं भगवान् शङ्करके समान पराक्रमी एवं इन्द्रके समान अजेय होकर तुम्हारा यश बढ़ायेगा । जैसे विष्णुने अपनी माता अदितिको प्रसन्न किया था, वैसे ही यह तुम्हें प्रसन्न करेगा ।' यह आकाशवाणी केवल कुन्तीने ही नहीं, सब लोगोंने सुनी थी । इससे ऋषि-मुनि, देवता और समस्त प्राणी बहुत प्रसन्न हुए । आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुष्पवर्षा होने लगी । इस प्रकार इनके जन्मके समयसे ही इनकी अलौकिकता प्रकट होने लगी थी । जब ये कुछ बड़े हुए तो इनके भाइयों तथा दुर्योधनादि धृतराष्ट्र-कुमारोंके साथ-साथ इनकी शिक्षा-दीक्षाका भार पहले कृपाचार्य-को, और पीछे द्रोणाचार्यको सौंपा गया । सूतपुत्रके नामसे प्रसिद्ध कर्ण भी इन्हींके साथ शिक्षा पाते थे । द्रोणाचार्यके सभी शिष्योंमें रण शिक्षा, बाहुबल और उद्योग की दृष्टिसे तथा समस्त शस्त्रोंके प्रयोग, लाघवता और सफाईमें अर्जुन ही सबसे बढ़े-चढ़े थे । ये द्रोणाचार्यकी सेवा भी बहुत करते थे । इनकी सेवा, लगन और बुद्धिसे प्रसन्न होकर द्रोणाचार्यने एक दिन इनसे कहा था कि 'बेटा ! मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि संसारमें तुम्हारे समान और कोई धनुर्धर न हो ।' द्रोणाचार्य-जैसे सिद्ध गुरुकी प्रतिज्ञा क्या कभी असत्य हो सकती है ? अर्जुन वास्तवमें संसारके अद्वितीय धनुर्धर निकले ।

जब पाण्डव एवं कौरव-राजकुमार अस्त्रविद्याका अभ्यास पूरा कर चुके और गुरुदक्षिणा देनेका अवसर आया, उस समय गुरु द्रोणाचार्यने अपने शिष्योंसे कहा—'तुमलोग पाञ्चालराज द्रुपदको युद्धमें पकड़कर ला दो, यही मेरे लिये सबसे बड़ी गुरुदक्षिणा होगी ।' सबने प्रसन्नतासे गुरुदेवकी आज्ञा स्वीकार की और उनके साथ अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित हो रथपर सवार होकर द्रुपद-नगरपर चढ़ाई कर दी । वहाँ पहुँचनेपर पाञ्चालराजने अपने भाइयोंके साथ इनका मुकाबला किया । पहले अकेले कौरवोंने ही इनपर धावा किया था । परंतु उन्हें पाञ्चालराजसे हारकर लौटना पड़ा । अन्तमें अर्जुनने भीम और नकुल-सहदेवको साथ लेकर द्रुपदपर आक्रमण किया । बात-की-बातमें अर्जुनने द्रुपदको धर दबाया और उन्हें पकड़कर द्रोणाचार्यके सामने खड़ा कर दिया । इस प्रकार अर्जुनके पराक्रमकी सर्वत्र धाक जम गयी ।

पाण्डव द्रौपदीके स्वयंवरका समाचार पाकर एकचक्रा नगरीसे द्रुपदनगरकी ओर जा रहे थे । रास्तेमें उनकी गन्धर्वोंसे मुठभेड़ हो गयी । अर्जुनने अपने अस्त्रकौशलसे गन्धर्वोंके छक्के छुड़ा दिये और उनके राजा अङ्गारपर्ण (चित्ररथ) को पकड़ लिया । अन्तमें दोनोंमें मित्रता हो गयी । द्रौपदीके स्वयंवरमें अर्जुनने वह काम करके दिखला दिया, जिसे उपस्थित राजाओंमेंसे कोई भी नहीं कर सका था । दुर्योधन, शाल्व, शिशुपाल, जरासंध एवं शल्य आदि अनेकों महाबली राजाओं तथा राजकुमारोंने वहाँपर रक्खे हुए धनुषको उठाकर चढ़ानेकी चेष्टा की, परंतु सभी असफल रहे । अर्जुनने बात-की-बातमें उसे उठाकर उसपर रौंदा चढ़ा दिया और लोगोंके देखते-देखते लक्ष्यको भी बेध दिया । उस समय अर्जुन ब्राह्मणोंके वेषमें अपनेको छिपाये हुए थे । अतः उन्हें ब्राह्मण समझकर समस्त राजाओंने मिलकर उनका पराभव करना चाहा । परंतु वे अर्जुन और भीमका बाल भी बाँका न कर सके । उस समय अर्जुन और कर्णका बाणयुद्ध और भीम एवं शल्यका गदायुद्ध हुआ । परंतु अर्जुन और भीमके सामने उनके दोनों ही प्रतिद्वन्द्वियोंको नीचा देखना पड़ा ।

खाण्डवदाहके समय भी अर्जुनने अद्भुत पराक्रम दिखलाया था । जब अग्निदेवताने श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे खाण्डववनको जलाना प्रारम्भ किया, उस समय उसकी गरमीसे सारे देवता त्रस्त हो देवराज इन्द्रके पास गये । तब इन्द्रकी आज्ञासे दल-के-दल मेघ उस प्रचण्ड अग्निको शान्त करनेके लिये जलकी मोटी-मोटी धाराएँ बरसाने लगे । अर्जुनने अपने अस्त्रबलसे बाणोंके द्वारा जलकी धाराओंको आकाशमें ही रोक दिया और पृथ्वीपर नहीं गिरने दिया । इन्द्रने भी अपने तीक्ष्ण अस्त्रोंकी वर्षासे अर्जुनको उत्तर दिया । दोनों ओरसे घमासान युद्ध छिड़ गया । श्रीकृष्ण और अर्जुनने मिलकर अपने चक्र और तीखे बाणोंके द्वारा देवताओंकी सारी सेनाको तहस-नहस कर डाला । भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपना कालरूप प्रकट कर दिया था । देवता और दानव सभी उनके पौरुषको देखकर दंग रह गये । अन्तमें इन्द्रको सम्बोधन करके यह आकाशवाणी हुई कि 'तुम अर्जुन और श्रीकृष्णको युद्धमें किसी प्रकार भी नहीं जीत सकोगे । ये साक्षात् नर-नारायण हैं । इनकी शक्ति और पराक्रम असीम है । ये सबके लिये अजेय हैं । तुम देवताओंको लेकर यहाँसे चले जाओ, इसीमें तुम्हारी शोभा है ।' आकाशवाणी सुनकर देवराज अपनी सेनाके साथ लौट पड़े और अग्निने देखते-देखते उस विशाल

वनको भस्म कर दिया। अर्जुनकी सेवासे प्रसन्न होकर अग्निने उन्हें दिव्य अस्त्र दिये। इन्द्रने भी उनके अस्त्र-कौशलसे प्रसन्न होकर उन्हें समय आनेपर अस्त्र देनेकी प्रतिज्ञा की तथा अग्निकी प्रार्थनापर वरुणदेवने उन्हें अक्षय तरकस, गाण्डीव धनुष और वानर-चिह्नयुक्त ध्वजासे मण्डित रथ युद्धसे पहले ही दे दिया था।

जब पाण्डवलोग दूसरी बार जुएमें हारकर वनमें रहने लगे, उस समय एक दिन महर्षि वेदव्यासजी उनके पास आये और युधिष्ठिरको एकान्तमें ले जाकर उन्होंने समझाया कि 'अर्जुन नारायणका सहचर महातपस्वी नर है। इसे कोई जीत नहीं सकता, यह अच्युतस्वरूप है। यह तपस्या एवं पराक्रमके द्वारा देवताओंके दर्शनकी योग्यता रखता है। इसलिये तुम इसको अस्त्रविद्या प्राप्त करनेके लिये भगवान् शङ्कर, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर और धर्मराजके पास भेजो। यह उनसे अस्त्र प्राप्त करके बड़ा पराक्रम करेगा और तुम्हारा खोया हुआ राज्य वापस ला देगा।' युधिष्ठिरने वेदव्यासजीकी आज्ञा मानकर अर्जुनको उन्हीं महर्षिकी दी हुई मन्त्र-विद्या सिखाकर इन्द्रके दर्शनके लिये इन्द्रकील पर्वतपर भेज दिया। वहाँ पहुँचनेपर एक तपस्वीके रूपमें इन्हें इन्द्रके दर्शन हुए। इन्द्रने इन्हें स्वर्गके भोगों एवं ऐश्वर्यका प्रलोभन दिया, परंतु इन्होंने सब कुछ छोड़कर उनसे अस्त्रविद्या सीखनेका ही आग्रह किया। इन्द्रने कहा—'पहले तुम तपद्वारा भगवान् शङ्करके दर्शन प्राप्त करो। उनके दर्शनसे सिद्ध होकर तुम स्वर्गमें आना, तब मैं तुम्हें सारे दिव्य अस्त्र दे दूँगा।' अर्जुन मनस्वी तो थे ही। वे तुरंत ही कठोर तपस्यामें लग गये। इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर एक भीलके रूपमें इनके सामने प्रकट हुए। एक जंगली सूअरको लेकर दोनोंमें विवाद खड़ा हो गया और फिर दोनोंमें युद्ध छिड़ गया। अर्जुनने अपने अस्त्रकौशलसे भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर लिया। वे बोले—'अर्जुन! तुम्हारे अनुपम कर्मसे मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारे-जैसा धीर-वीर क्षत्रिय दूसरा नहीं है। तुम तेज और बलमें मेरे ही समान हो। तुम सनातन ऋषि हो। तुम्हें मैं दिव्य ज्ञान देता हूँ, तुम देवताओं-को भी जीत सकोगे।' इसके बाद भगवान् शङ्करने अर्जुनको देवी पार्वतीके सहित अपने असली रूपमें दर्शन देकर विधिपूर्वक पाशुपतास्त्रकी शिक्षा दी। इस प्रकार देवाधिदेव महादेवकी कृपा प्राप्तकर वे स्वर्ग जानेकी बात सोच रहे थे कि इतनेमें ही वरुण, कुबेर, यम एवं देवराज—ये चारों लोकपाल वहाँ आकर उपस्थित हुए। यम, वरुण और कुबेरने क्रमशः उन्हें दण्ड, पाश एवं अन्तर्धान नामक अस्त्र दिये और इन्द्र उन्हें स्वर्गमें आनेपर अस्त्र देनेको कह गये। इसके बाद इन्द्रके भेजे हुए रथपर बैठकर अर्जुन स्वर्गलोकमें गये और वहाँ पाँच वर्ष रहकर इन्होंने अस्त्रज्ञान प्राप्त किया और साथ-ही-साथ चित्रसेन गन्धर्वसे गान्धर्वविद्या सीखी। इन्द्रसे अस्त्रविद्या सीखकर जब अर्जुन सब प्रकारके अस्त्रोंके चलानेमें निपुण हो गये, तब देवराजने उनसे निवातकवच नामक दानवोंका वध करनेके लिये कहा। ये समुद्रके भीतर एक दुर्गम स्थानमें रहते थे। इनकी संख्या तीन करोड़ बतायी जाती थी। इन्हें देवता भी नहीं जीत सकते थे। अर्जुनने अकेले ही जाकर उन सबका संहार कर डाला। इतना ही नहीं, निवातकवचोंको मारकर लौटते समय उनका कालिकेय एवं पौलोम नामक दैत्योंसे युद्ध हुआ और उनका भी अर्जुनने सफाया कर डाला। इस प्रकार इन्द्रका प्रिय कार्य करके तथा इन्द्रपुरीमें कुछ दिन और रहकर अर्जुन वापस अपने भाइयोंके पास चले आये।

स्वर्गसे लौटकर वनमें तथा एक वर्ष अज्ञातरूपसे विराट-नगरमें रहते हुए भी अर्जुनने अद्भुत पराक्रम दिखाया। वनमें इन्होंने दुर्योधनादिको छुड़ानेके लिये गन्धर्वोंसे युद्ध किया, जिसका उल्लेख युधिष्ठिरके प्रसङ्गमें किया जा चुका है। इसके बाद जब वनवासके बारह वर्ष पूरे हो गये और पाण्डवलोग एक वर्षके अज्ञातवासकी शर्त पूरी करनेके लिये विराटके यहाँ रहने लगे, उस समय इन लोगोंका पता लगानेके लिये दुर्योधनने विराटनगरपर चढ़ाई की। भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप, अश्वत्थामा आदि सभी प्रधान-प्रधान वीर उनके साथ थे। ये लोग राजा विराटकी साठ हजार गौओंको घेरकर ले चले। तब विराट-कुमार उत्तर बृहन्नला बने हुए अर्जुनको सारथि बनाकर उन्हें रोकनेके लिये गये। कौरवोंकी विशाल सेनाको देखते ही उत्तरके रोंगटे खड़े हो गये, वह रथसे उतरकर भागने लगा। बृहन्नला (अर्जुन) ने उसे पकड़कर समझाया और उसे सारथि बनाकर स्वयं युद्ध करने चले। इन्होंने बारी-बारीसे कर्ण, कृप, द्रोण, अश्वत्थामा और दुर्योधनको पराजित किया और भीष्मको भी मूर्छित कर दिया। इसके बाद भीष्म, दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य—ये सभी महारथी एक साथ अर्जुनपर टूट पड़े और उन्होंने इन्हें चारों ओरसे घेर लिया; परंतु अर्जुनने अपने बाणोंकी झड़ीसे सबके छक्के छुड़ा दिये। अन्तमें उन्होंने सम्मोहन नामके अस्त्रको प्रकट किया, जिससे सारे-के-सारे कौरव वीर अचेतन हो गये, उनके हाथोंसे शस्त्र गिर पड़े। उस समय अर्जुन चाहते तो इन सबको आसानीसे मार सकते थे, परंतु वे इन सब बातोंसे ऊपर थे। होशमें आनेपर भीष्मकी सलाहसे कौरवोंने गौओंको छोड़कर लौट जाना ही श्रेयस्कर समझा। अर्जुन विजयघोष करते हुए नगरमें चले आये। इस प्रकार अर्जुनने विराटकी गौओंके साथ-साथ उनकी मान-मर्यादाकी भी रक्षा करके अपने आश्रयदाताका ऋण कई गुने रूपमें चुका दिया। धन्य स्वामिभक्ति!

महाभारत-युद्धके तो अर्जुन एक प्रधान पात्र थे ही। पाण्डवोंकी सेनाके प्रधान सेनानायक यही थे। भगवान् श्रीकृष्णने इन्हींका सारथि बनना स्वीकार किया था तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा आदि अजेय योद्धाओंसे टक्कर लेना इन्हींका काम था। ये लोग सभी इनका लोहा मानते थे। इन्होंने जयद्रथ-वधके दिन जो अद्भुत पराक्रम एवं अस्त्रकौसल दिखलाया, वह तो इन्हींके योग्य था। इनकी भयंकर प्रतिज्ञाको सुनकर उस दिन कौरवोंने जयद्रथको सारी सेनाके पीछे खड़ा किया था। कई अक्षौहिणी सेनाके बीचमेंसे रास्ता काटते हुए अर्जुन बड़ी मुस्तैदी एवं अदम्य उत्साहके साथ अपने लक्ष्यकी ओर बढ़े चले जा रहे थे। शत्रु-सेनाके हजारों वीर और हाथी-घोड़े उनके अमोघ बाणोंके शिकार बन चुके थे। वे रथसे एक कोसतकके शत्रुओंका सफाया करते जाते थे। इतनेमें शाम होनेको आ गयी। इनके घोड़े बाणोंके लगनेसे बहुत व्यथित हो गये थे और अधिक परिश्रमके कारण थक भी गये थे। भूख-प्यास उन्हें अलग सता रही थी। अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—'आप घोड़ोंको खोलकर इनके बाण निकाल दीजिये। तबतक मैं कौरवोंकी सारी सेनाको रोके रहूँगा।' ऐसा कहकर अर्जुन रथसे उतर पड़े और बड़ी सावधानीसे धनुष लेकर अविचल भावसे खड़े हो गये, उस समय इन्हें पराजित करनेका अच्छा मौका देखकर शत्रुसेनाके वीरोंने एक साथ इन्हें घेर लिया और तरह-तरहके बाणों एवं शस्त्रोंसे ढक दिया; किंतु वीर अर्जुनने उनके अस्त्रोंको अपने अस्त्रोंसे रोककर बदलेमें उन सभीको बाणोंसे आच्छादित कर दिया। इधर श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि 'घोड़े प्याससे व्याकुल हो रहे हैं; किंतु पासमें कोई जलाशय नहीं है।' इसपर अर्जुनने तुरंत ही अस्त्रद्वारा पृथ्वीको फोड़कर घोड़ोंके पानी पीने योग्य एक सुन्दर सरोवर बना दिया। इतना ही नहीं, उस सरोवरके ऊपर उन्होंने एक बाणोंका घर बना दिया। अर्जुनका यह अभूतपूर्व पराक्रम देखकर सिद्ध, चारण और सैनिकलोग दाँतोंतले अँगुली दबाने और वाह-वाह करने लगे। सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह हुई कि बड़े-बड़े महारथी भी पैदल अर्जुनको पीछे नहीं हटा सके। इस बीचमें श्रीकृष्णने फुर्तीसे घोड़ोंके बाण निकालकर उन्हें नहलाया, मालिश की, जल पिलाया और घास खिलाकर तथा जमीनपर लिटाकर उन्हें फिरसे रथमें जोत लिया। अर्जुन जब जयद्रथके पास पहुँचे तो इनपर आठ महारथियोंने एक साथ आक्रमण किया और दुर्योधनने अपने बहनोईकी रक्षाके उद्देश्यसे उन्हें चारों ओरसे घेर लिया; परंतु अर्जुन उन सबका मुकाबला करते हुए आगे बढ़ते ही गये। इनके वेगको कोई रोक नहीं सका। इन्होंने श्रीकृष्णकी कृपासे सूर्यास्त होते-होते जयद्रथको अपने वज्रतुल्य बाणोंका शिकार बना लिया और श्रीकृष्णके कथनानुसार इस कौशलसे उसके मस्तकको काटा कि वह कुरुक्षेत्रसे बाहर जाकर उसके पिताकी गोदमें गिरा। इस प्रकार श्रीकृष्णकी सहायतासे सूर्यास्तसे पहले-पहले अर्जुनने जयद्रथको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

× × ×

अर्जुन जगद्विजयी वीर और अद्वितीय धनुर्धर तो थे ही; वे बड़े भारी सत्यप्रतिज्ञ, सदाचारी, धर्मात्मा एवं इन्द्रियजयी भी थे। पाण्डव जब इन्द्रप्रस्थमें राज्य करते थे, उन दिनों एक दिन लुटेरे किसी ब्राह्मणकी गौएँ लेकर भाग गये। ब्राह्मणने आकर पाण्डवके सामने पुकार की। अर्जुनने ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी और उन्हें गौओंको छुड़ाकर लानेका वचन दिया। परंतु उनके शस्त्र उस घरमें थे, जहाँ उनके बड़े भाई महाराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्तमें बैठे हुए थे। पाँचों भाइयोंमें पहलेसे ही यह शर्त हो चुकी थी कि 'जिस समय द्रौपदी एक भाईके पास एकान्तमें रहे, उस समय दूसरा कोई भाई यदि उनके कमरेमें चला जाय तो वह बारह वर्षके लिये निर्वासित कर दिया जाय।' अर्जुन बड़े असमंजसमें पड़ गये। यदि ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षा नहीं की जाती तो क्षत्रिय-धर्मसे च्युत होते हैं और उसके लिये शस्त्र लेने कमरेमें जाते हैं तो नियमभंग होता है। अन्तमें अर्जुनने नियमभंग करके भी ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षा करनेका ही निश्चय किया। उन्होंने सोचा—'नियमभंगके कारण मुझे कितना भी कठिन प्रायश्चित्त क्यों न करना पड़े, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ, ब्राह्मणके गोधनकी रक्षा करके अपराधियोंको दण्ड देना मेरा धर्म है और वह मेरे जीवनकी रक्षासे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।' धन्य धर्मप्रेम!

अर्जुन चुपचाप युधिष्ठिरके कमरेमें जाकर शस्त्र ले आये और उसी समय लुटेरोंका पीछा करके ब्राह्मणकी गौएँ छुड़ा लाये। वहाँसे लौटकर उन्होंने अपने बड़े भाईसे नियमभंगके प्रायश्चित्तरूपमें वन जानेकी आज्ञा माँगी। युधिष्ठिरने उन्हें समझाया कि 'बड़ा भाई अपनी स्त्रीके पास बैठा हो, उस समय छोटे भाईका उसके पास चला जाना अपराध नहीं है। यदि कोई अपराध हुआ भी हो तो वह मेरे प्रति हुआ है और मैं उसे स्वेच्छासे क्षमा करता हूँ। फिर तुमने धर्मके लिये ही तो नियमभंग किया है, इसलिये भी तुम्हें वन जानेकी आवश्यकता नहीं है।' अर्जुनके लिये नियमभंगके प्रायश्चित्तसे बचनेका यह अच्छा मौका था। और कोई होता तो इस मौकेको हाथसे नहीं जाने देता। आजकल तो कानूनके शिकंजेसे बचनेके लिये कानूनका ही आश्रय लेना बिल्कुल जायज समझा जाता है, परंतु अर्जुन बहाना लेकर दण्डसे बचना नहीं जानते थे। उन्होंने युधिष्ठिरके समझानेपर भी सत्यकी रक्षाके लिये नियमका पालन आवश्यक समझा और

वनवासकी दीक्षा लेकर वहाँसे चल पड़े ! धन्य सत्यप्रतिज्ञता और नियम-पालनकी तत्परता !

जिस समय अर्जुन इन्द्रपुरीमें रहकर अस्त्रविद्या तथा गान्धर्व-विद्या सीख रहे थे, एक दिन इन्द्रने रात्रिके समय उनकी सेवाके लिये वहाँकी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशीको उनके पास भेजा । उस दिन सभामें इन्द्रने अर्जुनको उर्वशीकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखते हुए पाया था । उर्वशी अर्जुनके रूप और गुणोंपर पहलेसे ही मुग्ध थी । वह इन्द्रकी आज्ञासे खूब सज-धजकर अर्जुनके पास गयी । अर्जुन उर्वशीको रात्रिमें अकेले इस प्रकार निःसंकोचभावसे अपने पास आयी देख सहम गये । उन्होंने शीलवश अपने नेत्र बंद कर लिये और उर्वशीको माताकी भाँति प्रणाम किया । उर्वशी यह देखकर दंग रह गयी । उसे अर्जुनसे इस प्रकारके व्यवहारकी आशा नहीं थी । उसने खुल्लमखुल्ला अर्जुनके प्रति कामभाव प्रकट किया । अब तो अर्जुन मारे संकोचके धरतीमें गड़-से गये । उन्होंने अपने हाथोंसे दोनों कान मूँद लिये और बोले—'माता ! यह क्या कह रही हो ? देवि ! निस्संदेह तुम मेरी गुरुपत्नीके समान हो । देवसभामें मैंने तुम्हें निर्निमेष नेत्रोंसे देखा अवश्य था; परंतु मेरे मनमें कोई बुरा भाव नहीं था । मैं यही सोच रहा था कि पूरुवंशकी यही माता हैं । इसीसे मैं तुमको देख रहा था । देवि ! मेरे सम्बन्धमें और कोई बात तुम्हें सोचनी ही नहीं चाहिये । तुम मेरे लिये बड़ोंकी बड़ी और मेरे पूर्वजोंकी जननी हो । जैसे कुन्ती, माद्री और इन्द्रपत्नी शची मेरी माताएँ हैं, वैसे ही तुम भी पूरुवंशकी जननी होनेके नाते मेरी पूजनीया माता हो । मैं तुम्हारे चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ।'* अब तो उर्वशी क्रोधके मारे आगबबूला हो गयी । उसने अर्जुनको शाप दिया—'मैं इन्द्रकी आज्ञासे कामातुर होकर तुम्हारे पास आयी थी; परंतु तुमने मेरे प्रेमको ठुकरा दिया । इसलिये जाओ, तुम्हें स्त्रियोंके बीचमें नचनियाँ होकर रहना पड़ेगा और लोग तुम्हें हिजड़ा कहकर पुकारेंगे ।' अर्जुनने उर्वशीके शापको सहर्ष स्वीकार कर लिया, परंतु धर्मका त्याग नहीं किया । एकान्तमें स्वेच्छासे आयी हुई उर्वशी-जैसी अनुपम सुन्दरीका परित्याग करना अर्जुनका ही काम था । धन्य इन्द्रियजय ! जब इन्द्रको यह बात मालूम हुई तो उन्होंने अर्जुनको बुलाकर उनकी पीठ ठोंकी और कहा—'बेटा ! तुम्हारे-जैसा पुत्र पाकर तुम्हारी माता धन्य हुई । तुमने अपने धैर्यसे ऋषियोंको भी जीत लिया । अब तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो । उर्वशीने जो शाप तुम्हें दिया है, वह तुम्हारे लिये वरदानका काम करेगा । तेरहवें वर्षमें जब तुम अज्ञातवास करोगे, उस समय यह शाप तुम्हारे छिपनेमें सहायक होगा । इसके बाद तुम्हें पुरुषत्वकी प्राप्ति हो जायगी ।' सच है—'धर्मो रक्षति रक्षितः ।'

× × ×

विराटनगरमें अज्ञातवासकी अवधि पूरी हो जानेपर जब पाण्डवोंने अपनेको राजा विराटके सामने प्रकट किया, उस समय राजा विराटने कृतज्ञतावश अपनी कन्या उत्तराकुमारीका अर्जुनसे विवाह करना चाहा । परंतु अर्जुनने उनके इस प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया । उन्होंने कहा—'राजन् ! मैं बहुत कालतक आपके रनिवासमें रहा हूँ और आपकी कन्याको एकान्तमें तथा सबके सामने भी पुत्रीके रूपमें ही देखता आया हूँ । उसने भी मुझपर पिताकी भाँति ही विश्वास किया है । मैं उसके सामने नाचता था और संगीतका जानकार भी हूँ । इसलिये वह मुझसे प्रेम तो बहुत करती है परंतु सदा मुझे गुरु ही मानती आयी है । वह वयस्का हो गयी है और उसके साथ एक वर्षतक मुझे रहना पड़ा है । अतः आपको या किसी औरको हम दोनोंके प्रति अनुचित संदेह न हो, इसलिये उसे मैं अपनी पुत्रवधूके रूपमें ही वरण करता हूँ । ऐसा करनेसे ही हम दोनोंका चरित्र शुद्ध समझा जायगा ।' अर्जुनके इस पवित्र भावकी सब लोगोंने प्रशंसा की और उत्तरा अभिमन्युको ब्याह दी गयी । अर्जुन-जैसे महान् इन्द्रियजयी ही इस प्रकार युवती कन्याके साथ एक वर्षतक घनिष्ठ सम्पर्कमें रहकर भी अपनेको अछूता रख सके और उसका भाव भी इनके प्रति बिगड़ा नहीं । वयस्क छात्रों तथा छात्राओंके शिक्षकोंको इससे शिक्षा लेनी चाहिये ।

× × ×

जब अश्वत्थामा रात्रिमें सोये हुए पाण्डवोंके पुत्रों तथा धृष्टद्युम्न आदिको मारकर स्वयं गङ्गातटपर जा बैठा, तब पीछेसे उसके क्रूर कर्मका संवाद पाकर भीमसेन और अर्जुन उससे बदला लेनेके लिये उसकी तलाशमें गये । भीम और अर्जुनको आते देख अश्वत्थामा बहुत डर गया और इनके हाथोंसे बचनेका और कोई उपाय न देख उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया । देखते-देखते वहाँ प्रलयकालकी-सी अग्नि उत्पन्न हो गयी और वह चारों ओर फैलने लगी । उसे शान्त करनेके लिये अर्जुनने भी ब्रह्मास्त्रको प्रकट किया; क्योंकि ब्रह्मास्त्रको ब्रह्मास्त्रके द्वारा ही शान्त किया जा सकता था । दोनों अस्त्रोंके आपसमें टकरानेसे बड़ी भारी गर्जना होने लगी, हजारों उल्काएँ गिरने लगीं और सभी प्राणियोंको बड़ा भय मालूम होने लगा । यह भयंकर काण्ड देखकर देवर्षि नारद और महर्षि व्यास दोनों वहाँ एक साथ पधारे और दोनों वीरोंको शान्त करने लगे । इन दोनों महापुरुषोंके कहनेसे अर्जुनने तो तुरंत अपना दिव्य अस्त्र लौटा लिया । उन्होंने उसे छोड़ा

* यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया ॥
(महा० वन० ४६ । ४६-४७)

ही था अश्वत्थामाके अस्त्रको शान्त करनेके लिये ही। उस अस्त्रका ऐसा प्रभाव था कि उसे एक बार छोड़ देनेपर सहसा उसे लौटाना अत्यन्त कठिन था। केवल ब्रह्मचारी ही उसे लौटा सकता था। अश्वत्थामाने भी उन दोनों महापुरुषोंको देखकर उसे लौटानेका बहुत प्रयत्न किया, पर वह संयमी न होनेके कारण उसे लौटा न सका। अन्तमें व्यासजीके कहनेसे उसने उस अस्त्रको उत्तराके गर्भपर छोड़ दिया और वह बालक मरा हुआ निकला; किंतु भगवान् श्रीकृष्णने उसे फिरसे जिला दिया। इस प्रकार अर्जुनमें शूरवीरता, अस्त्रज्ञान और इन्द्रियजय—इन तीनों गुणोंका अद्भुत सम्मिश्रण था।

अर्जुनका जीवन एक दिव्य जीवन था। उनके चरित्र-पर हम जितना ही विचार करते हैं, उतना ही हमें वह आदर्श एवं शिक्षाओंसे पूर्ण प्रतीत होता है।

महावीर युवक अभिमन्यु

अर्जुनका पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्यु महाभारत महाकाव्यका एक अपूर्व पात्र है। यह भगवान् श्रीकृष्णका भानजा अर्जुनके समान ही महान् धनुर्धर था। वह श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंको समान प्रिय था। महाराज युधिष्ठिरके साथ अन्य चारों भाई भी उसको बहुत अधिक प्यार करते थे। पाण्डवोंके अज्ञातवासके पश्चात् ही अभिमन्युका ब्याह महाराजा विराटकी पुत्री उत्तराके साथ बड़ी धूम-धामसे हुआ था। अर्जुनने उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करते समय महाराजा विराटसे कहा था—

स्नुषार्थमुत्तरां राजन् प्रतिगृह्णामि ते सुताम् ॥
स्वस्रीयो वासुदेवस्य साक्षात् देवशिशुर्यथा।
दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः ॥

(विराट० ७२। ७। ८)

अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशाम्पते।
जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव ॥

(७२। ९)

'राजन्! आपकी पुत्री उत्तराको मैं पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण करता हूँ। मेरा पुत्र अभिमन्यु भगवान् वासुदेवका भानजा और देखनेमें साक्षात् देवकुमार-सा है। चक्रधारी श्रीकृष्णको वह अति प्रिय है। तथा वह सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें कुशल है। महाराज! मेरा वह महाबली पुत्र अभिमन्यु आपकी पुत्रीका उपयुक्त पति तथा आपका सुयोग्य जामाता बनने योग्य है।'

इस सम्बन्धसे महाराज विराट कृतकृत्य हो गये। परंतु इसके बाद ही विराटकी सभामें महाभारतके युद्धकी भूमिका शुरू हो गयी।

महायुद्धमें जब द्रोणाचार्य कौरवसेनाके सेनाध्यक्ष बने और अपनी सेनाकी व्यूह-रचना करके व्यूहके द्वारपर स्वयं डट गये तो पाण्डवोंके सामने एक विकट प्रश्न आ उपस्थित हो गया। उस समय अर्जुन संशप्तकोंसे युद्ध कर रहे थे, और द्रोणके व्यूहको तोड़नेवाला अर्जुनकुमार अभिमन्युके सिवा कोई दूसरा न था। वह व्यूह तोड़कर भीतर तो घुस सकता था, परंतु शत्रुसैन्यके भीतरसे बाहर आनेकी कला उसे मालूम न थी। भीमसेन उसका अनुगमन करनेवाले थे और उनके पीछे धृष्टद्युम्न और सात्यकि तथा पाञ्चाल, कैकय, मत्स्यादि सैनिकोंका दल घुसनेवाला था। परंतु भगवान् शङ्करका वर प्राप्त करनेके कारण जयद्रथ उस दिन अजेय बन गया था, उसने किसीको भी अभिमन्युके पीछे नहीं जाने दिया। अभिमन्यु अकेला ही कौरवोंकी महासेनामें घुसकर वहाँ प्रलयका दृश्य उपस्थित कर बड़े-बड़े महारथियोंके छक्के छुड़ाने लगा।

द्रोणपर्वके ३४ वें अध्यायमें संजयने श्रीकृष्ण और पाण्डवोंकी प्रशंसा करते हुए अन्तमें धृतराष्ट्रसे कहा था कि—

ये च कृष्णे गुणाः स्फीताः पाण्डवेषु च ये गुणाः।
अभिमन्यौ किलैकस्था दृश्यन्ते गुणसंचयाः ॥

(द्रोण० ३४। ८)

युधिष्ठिरस्य वीर्येण कृष्णस्य चरितेन च।
कर्मभिर्भीमसेनस्य सदृशो भीमकर्मणः ॥
धनंजयस्य रूपेण विक्रमेण श्रुतेन च।
विनयात् सहदेवस्य सदृशो नकुलस्य च ॥

(द्रोण० ३४। ९-१०)

महात्मा संजयने संक्षेपमें अभिमन्युके गुणोंका दिग्दर्शन कराया है। 'श्रीकृष्णमें तथा पाण्डवोंमें जो श्रेष्ठ गुण हैं, वे सारे गुण संचित होकर एकत्र अभिमन्युमें देखे जाते हैं। वह वीर्यमें युधिष्ठिरके समान है, आचारमें श्रीकृष्णके समान है, भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनके समान कर्मठ है, विद्या, पराक्रम और रूपमें अर्जुनके समान है, तथा विनयमें सहदेव और नकुलके समान है।'

इस प्रकारके सर्व गुणोंसे युक्त वीर बालक अभिमन्युने कौरवोंकी महती सेनामें रथ, गज और पैदल—सेनाके तीनों अङ्गोंको इस प्रकार मथ डाला मानो स्वयं विष्णु भगवान् असुर सैन्यका संहार करनेपर तुल गये हों। अभिमन्युके शस्त्रसंघातसे कौरवसेनामें हाहाकार मच गया। धृतराष्ट्रने अभिमन्युके पराक्रमका संवाद सुनकर कहा था—

द्वैधीभवति मे चित्तं ह्रिया तुष्ट्या च संजय।
मम पुत्रस्य यत् सैन्यं सौभद्रः समवारयत् ॥

(द्रोण ३९। १)

'हे संजय ! मेरे पुत्र दुर्योधनकी महती सेनाको वीर बालक सुभद्राकुमार अभिमन्युने तहस-नहस करके तितर-बितर कर दिया, यह सुनकर मेरा हृदय लज्जा और आनन्दसे द्विविधामें पड़ जाता है।' धन्य है महाभाग धृतराष्ट्र ! अपने पौत्र अर्जुनकुमार अभिमन्युकी वीरताको सुनकर आप हर्षित हो उठते हैं, यह आपके उत्कृष्ट क्षात्र-धर्म और विशुद्ध आत्मीयताका द्योतक है, और लज्जित इसलिये होते हैं कि इतनी बड़ी और शक्तिशाली हमारे पुत्रोंकी कौरवसेना, एक बालकके सामने नहीं टिक सकी !

उस युद्धमें अभिमन्युके अद्भुत पराक्रमको देखकर गुरु द्रोणसे नहीं रहा गया, वे बोल उठे—

एष गच्छति सौभद्रः पार्थानां प्रथितो युवा ।
नन्दयन् सुहृदः सर्वान् राजानं च युधिष्ठिरम् ॥
नास्य युद्धे समं मन्ये कंचिदन्यं धनुर्धरम् ।
इच्छन् हन्यादिमां सेनां किमर्थमपि नेच्छति ॥

(द्रोण० ३९ । ११, १३)

'यह पृथापुत्रोंका प्रसिद्ध युवक सुभद्राकुमार अभिमन्यु अपने सब सुहृज्जनोंको तथा राजा युधिष्ठिरको आनन्दित करता हुआ कौरव-सेनाके भीतर घुसता जा रहा है। इस युद्धमें इसके समान् धनुर्धर मैं किसी दूसरेको नहीं मानता। यह चाहे तो इस सेनाका संहार कर सकता है । पर यह ऐसा चाहता क्यों नहीं है ?'

दुर्योधन अभिमन्युके पराक्रमको देखकर दंग हो गया, परंतु करता क्या ? आचार्य द्रोणकी आलोचना करते हुए कहने लगा। कर्ण ! यह अर्जुनका मूढ़ पुत्र द्रोणके द्वारा रक्षित होकर अपनेको बड़ा पराक्रमशाली समझ रहा है। ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण तो उच्चकोटिके धनुर्धरोंके आचार्य हैं, अपने शिष्यका पुत्र समझकर इसे छोड़ रहे हैं।' परंतु दुर्योधनके उकसानेपर भी कौरवसेनाके महारथी एक-एक करके अभिमन्युसे हार खाने लगे। उसकी युद्ध-कलाकी कुशलताका वर्णन गुरु द्रोणने द्रोणपर्वके ४८ वें अध्यायमें किया है। जिसे सुनकर कौरवोंका पक्षपाती कर्ण भी बोल उठा—

स्थातव्यमिति तिष्ठामि पीड्यमानोऽभिमन्युना ।
तेजस्विनः कुमारस्य शराः परमदारुणा ॥
क्षिण्वन्ति हृदयं मेऽद्य घोराः पावकतेजसः ।

(द्रोण० ४८ । २५)

'अभिमन्युके द्वारा पीड़ित होकर, मुझे युद्धभूमिसे भागना नहीं चाहिये, इसी विचारसे मैं ठहरा हूँ। तेजस्वी सुभद्राकुमारके बाण परम दारुण हैं, आज उसके अग्निके समान तेज और भयंकर बाण मेरे हृदयको छलनी कर रहे हैं।'

द्रोणाचार्यने कर्णकी इस बातका समर्थन करते हुए कहा कि 'जबतक इसके हाथमें धनुषबाण है, तबतक इसको देवता और असुरोंके समूह भी नहीं जीत सकते। इसलिये इसको रथ और धनुषसे रहित कर दो।

सधनुष्को न शक्योऽयमपि जेतुं सुरासुरैः ।
विरथं विधनुष्कं च कुरुष्वैनं यदीच्छसि ॥

(द्रोण० ४८ । ३०-३१)

तत्पश्चात् महाभारतके युद्धका सबसे बड़ा अन्याय सामने आया। एक वीर बालकके विरुद्ध छः महारथी योद्धाओंने चारों ओरसे बाण-वर्षा करके उसको धनुर्विहीन कर दिया, रथविहीन कर दिया। उसे निहत्था करके आघात करते गये, और अन्तमें उसे मार डाला।

महात्मा संजय कहते हैं कि—

द्रोणकर्णमुखैः षड्भिर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
एकोऽयं निहतः शेते नैष धर्मो मतो हि नः ॥

(द्रोण० ४९ । २२)

'द्रोण, कर्ण आदि छः कौरव महारथियोंने अकेले अभिमन्युको मार डाला, मेरे विचारसे यह धर्मविरुद्ध है।' परंतु वे कौरव महारथी युद्धमें अभिमन्युसे संत्रस्त होकर ही इस धर्मविरुद्ध कार्यपर उतारू हुए थे। अभिमन्युकी अद्भुत वीरताका यह एक स्पष्ट प्रमाण है। अभिमन्युके इस युद्धकी विशिष्टताके कारण द्रोणपर्वके अन्तर्गत ३३ वें अध्यायसे लेकर ७० वें अध्यायतकका अवान्तर भाग अभिमन्यु-वधके नामसे अभिहित हुआ है, इस पर्वमें अभिमन्युकी वीरताका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, जो महाभारतके युद्धमें विशेषरूपसे दर्शनीय है। इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने अपनी बहिन सुभद्राको सान्त्वना देते हुए कहा था—

क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गतः शूरः सतां गतिम् ।
यां गतिं प्राप्नुयामेह ये चान्ये शस्त्रजीविनः ॥

(द्रोण० ७७ । २१)

'बहिन ! 'शूरवीर अभिमन्युने क्षत्रिय-धर्मकी शोभा बढ़ाकर संत्पुरुषोंको प्राप्त होनेवाली वह गति पायी है, जिसको हमलोग तथा इस संसारके सभी शस्त्रधारी क्षत्रिय प्राप्त करना चाहते हैं।'

भगवान् वेदव्यास

भगवान् वेदव्यास महर्षि पराशरके पुत्र थे। ये कैवर्तराजकी पोष्यपुत्री सत्यवतीके गर्भसे जन्मे थे। व्यासजी एक अलौकिक शक्तिसम्पन्न महापुरुष थे। ये एक महान् कारक पुरुष थे। इन्होंने लोगोंकी धारणाशक्तिको क्षीण होते देख वेदोंके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार विभाग किये और एक-एक संहिता अपने एक-एक शिष्यको पढ़ा दी। एक-एक संहिताकी फिर अनेकों शाखा-प्रशाखाएँ हुईं। इस प्रकार इन्हींके प्रयत्नसे वैदिक वाङ्मयका बहुविध

भगवान् वेदव्यास

विस्तार हुआ। व्यास कहते हैं विस्तारको; क्योंकि वेदोंका विस्तार इन्हींसे हुआ, इसलिये ये वेदव्यासके नामसे प्रसिद्ध हुए। इनका जन्म एक द्वीपके अंदर हुआ था और इनका वर्ण श्याम था, इसलिये इन्हें लोग कृष्णद्वैपायन भी कहते हैं। बदरीवनमें रहनेके कारण इनका एक नाम बादरायण भी है। अठारह पुराण एवं महाभारतकी रचना इन्हींके द्वारा हुई और संक्षेपमें उपनिषदोंका तत्त्व समझानेके लिये इन्होंने ब्रह्मसूत्रोंका निर्माण किया, जिसपर भिन्न-भिन्न आचार्योंने भिन्न-भिन्न भाष्योंकी रचना कर अपना-अपना अलग मत स्थापित किया। व्यासस्मृतिके नामसे इनका रचा हुआ एक स्मृतिग्रन्थ भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय एवं हिंदू-संस्कृतिपर व्यासजीका बहुत बड़ा ऋण है। श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त सनातन धर्मके व्यासजी एक प्रधान व्याख्याता कहे जा सकते हैं। इनके उपकारसे हिंदू-जाति कदापि उऋण नहीं हो सकती। जबतक हिंदू-जाति और भारतीय संस्कृति जीवित है, तबतक इतिहासमें व्यासजीका नाम अमर रहेगा। ये जगत्के एक महान् पथप्रदर्शक और शिक्षक कहे जा सकते हैं। इसीसे इन्हें जगद्गुरु कहलानेका गौरव प्राप्त है। गुरुपूर्णिमा (अषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा) के दिन प्रत्येक आस्तिक हिंदू गृहस्थ इनकी पूजा करता है। भगवद्गीता-जैसा अनुपम रत्न भी संसारको व्यासजीकी कृपासे ही प्राप्त हुआ। इन्होंने ही भगवान् श्रीकृष्णके उस अमर उपदेशको अपनी महाभारतसंहितामें ग्रथितकर उसे संसारके लिये सुलभ बना दिया।

महर्षि वेदव्यास त्रिकालदर्शी एवं इच्छागति हैं। वे प्रत्येकके मनकी बात जान लेते हैं और इच्छा करते ही जहाँ जाना चाहें वहीं पहुँच जाते हैं। ये जन्मते ही अपनी माताकी आज्ञा लेकर वनमें तपस्या करने चल दिये। जाते समय ये मातासे कह गये कि 'जब कभी तुम्हें मेरी आवश्यकता जान पड़े, तुम मुझे याद कर लेना। मैं उसी समय तुम्हारे पास चला आऊँगा।'

जब पाण्डव विदुरजीकी बतायी हुई युक्तिका अनुसरण कर लाक्षाभवनसे निकल भागे और एकचक्रा नगरीमें जाकर रहने लगे, उन दिनों व्यासजी उनके पास उनसे मिलनेके लिये आये और प्रसङ्गवश उन्होंने उन्हें द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाकर यह बताया कि 'वह कन्या तुम्हीं लोगोंके लिये पहलेसे निश्चित है।' इस बातको सुनकर पाण्डवोंको बड़ी प्रसन्नता एवं उत्सुकता हुई। और वे द्रुपदकुमारीके स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिये पाञ्चालनगरकी ओर चल पड़े। वहाँ जाकर जब अर्जुनने स्वयंवरकी शर्त पूरी करके द्रौपदीको जीत लिया और माता कुन्तीकी आज्ञासे पाँचों भाइयोंने उससे विवाह करना चाहा, तब राजा द्रुपदने इसपर आपत्ति की। उसी समय व्यासजी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने द्रुपदको द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाकर पाँचों भाइयोंके साथ अपनी कन्याका विवाह करनेके लिये राजी कर लिया।

महाराज युधिष्ठिरने जब इन्द्रप्रस्थमें राजसूय यज्ञ किया, उस समय भी वेदव्यासजी यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये अपनी शिष्यमण्डलीके साथ पधारे थे। यज्ञ समाप्त होनेपर वे विदा होनेके लिये युधिष्ठिरके पास आये और बातों-ही-बातोंमें उन्होंने युधिष्ठिरको बतलाया कि 'आजसे तेरह वर्ष बाद क्षत्रियोंका महासंहार होगा, जिसमें दुर्योधनके अपराधसे तुम्हीं निमित्त बनोगे।'

× × ×

पाण्डवोंका सर्वस्व छीनकर तथा उन्हें बारह वर्षोंकी लंबी अवधिके लिये वन भेजकर भी दुर्योधनको संतोष नहीं हुआ। वह पाण्डवोंको वनमें ही मार डालनेकी घात सोचने लगा। अपने मामा शकुनि, कर्ण तथा दुःशासनसे सलाह करके उसने चुपचाप पाण्डवोंपर आक्रमण करनेका निश्चय किया और सब लोग शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित रथोंपर सवार होकर वनकी ओर चल पड़े। व्यासजीको अपनी दिव्य दृष्टिसे उनकी इस दुरभिसन्धिका पता लग गया। वे तुरंत उनके पास आये और उन्हें इस घोर दुष्कर्मसे निवृत्त किया। इसके बाद उन्होंने धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्हें समझाया कि 'तुमने जुएमें हराकर पाण्डवोंको वनमें भेज दिया, यह अच्छा नहीं किया, इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। तुम यदि अपना तथा अपने पुत्रोंका हित चाहते हो तो अब भी सँभल जाओ, भला! यह कैसी बात है कि दुरात्मा दुर्योधन राज्यके लोभसे पाण्डवोंको मार डालना चाहता है। मैं कहे देता हूँ कि अपने इस लाड़ले बेटेको इस कामसे रोक दो। वह चुपचाप घर बैठा रहे। यदि उसने पाण्डवोंको मार डालनेकी चेष्टा की, तो वह स्वयं अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा। यदि तुम अपने पुत्रकी द्वेष-बुद्धि मिटानेकी चेष्टा नहीं करोगे तो बड़ा अनर्थ होगा। मेरी सम्मति तो यह है कि दुर्योधन अकेला ही वनमें जाकर पाण्डवोंके पास रहे। सम्भव है पाण्डवोंके सत्सङ्गसे उसका द्वेषभाव दूर होकर प्रेमभाव जाग्रत् हो जाय। परंतु यह बात है बहुत कठिन; क्योंकि जन्मगत स्वभावका बदल जाना सहज नहीं है। यदि तुम कुरुवंशियोंकी रक्षा और उनका जीवन चाहते हो तो अपने पुत्रसे कहो कि वह पाण्डवोंके साथ मेल कर ले।' व्यासजीने धृतराष्ट्रसे यह भी कहा कि 'थोड़ी ही देरमें महर्षि मैत्रेयजी यहाँ आनेवाले हैं। वे तुम्हारे पुत्रको पाण्डवोंसे मेल कर लेनेका उपदेश देंगे। वे जैसा कहें, बिना सोचे-विचारे तुम लोगोंको वैसा ही करना चाहिये। यदि उनकी बात नहीं मानोगे तो वे क्रोधवश शाप दे देंगे।' परंतु दुष्ट दुर्योधनने उनकी बात नहीं मानी और फलतः उसे महर्षि मैत्रेयका कोपभाजन बनना पड़ा।

× × ×

व्यासजी त्रिकालदर्शी तो थे ही, उनका सामर्थ्य भी

अद्भुत था। जब पाण्डव लोग वनमें रहते थे, उस समय इन्होंने एक दिन उनके पास जाकर युधिष्ठिरके द्वारा अर्जुनको प्रतिस्मृति-विद्याका उपदेश दिया, जिससे उनमें देवदर्शनकी योग्यता आ गयी। इतना ही नहीं, इन्होंने संजयको दिव्य दृष्टि दे दी, जिसके प्रभावसे उन्हें युद्धकी सारी बातोंका ही ज्ञान ही नहीं हुआ; उनमें भगवान्‌के विश्वरूप एवं दिव्य चतुर्भुजरूपके देवदुर्लभ दर्शनकी योग्यता भी आ गयी और वे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे भगवद्गीताके दिव्य उपदेशका भी श्रवण कर सके, जिसे अर्जुनके सिवा और कोई भी नहीं सुन पाया था। जिस दिव्य-दृष्टिके प्रभावसे संजयमें इतनी बड़ी योग्यता आ गयी, उस दिव्यदृष्टिके प्रदान करनेवाले महर्षि वेदव्यासमें कितना सामर्थ्य होगा—हमलोग इसका ठीक-ठीक अनुमान भी नहीं लगा सकते। वे साक्षात् भगवान् नारायणकी कला ही जो ठहरे।

× × ×

एक बार, जब धृतराष्ट्र और गान्धारी वनमें रहते थे और महाराज युधिष्ठिर भी अपने परिवारके साथ उनसे मिलनेके लिये गये थे, व्यासजी वहाँ आये और यह देखकर कि धृतराष्ट्र और गान्धारीका पुत्रशोक अभीतक दूर नहीं हुआ है और कुन्ती भी अपने पुत्रोंके वियोगसे दुखी है, इन्होंने धृतराष्ट्रसे वर माँगनेको कहा। राजा धृतराष्ट्रने उनसे यह जानना चाहा कि 'महाभारत-युद्धमें उनके जिन कुटुम्बियों और मित्रोंका नाश हुआ है, उनकी क्या गति हुई होगी ? साथ ही उन्होंने व्यासजीसे उन्हें एक बार दिखला देनेकी प्रार्थना की। व्यासजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए गान्धारीसे कहा कि 'आज रातको ही तुम सब लोग अपने मृत बन्धुओंको उसी प्रकार देखोगे, जैसे कोई सोकर उठे हुए मनुष्योंको देखे। सायंकालका नित्यकृत्य करके व्यासजीकी आज्ञासे सब लोग गङ्गातटपर एकत्रित हुए। व्यासजीने गङ्गाजीके पवित्र जलमें घुसकर पाण्डव एवं कौरवपक्षके योद्धाओंको, जो युद्धमें मर गये थे, आवाज दी। उसी समय जलमें वैसा ही कोलाहल सुनायी दिया, जैसा कौरव-पाण्डवोंकी सेनाओंके एकत्र होनेपर कुरुक्षेत्रके मैदानमें सुन पड़ा था। इसके बाद भीष्म और द्रोणको आगे करके वे सब राजा और राजकुमार, जिन्होंने युद्धमें वीरगति प्राप्त की थी, सहसा जलमेंसे बाहर निकल आये। युद्धके समय जिस वीरका जैसा वेष था, जैसी ध्वजा थी, जो वाहन थे, वे सब ज्यों-के-त्यों वहाँ दिखायी दिये। वे दिव्य वस्त्र और दिव्य मालाएँ धारण किये हुए थे, सबने चमकते हुए कुण्डल पहन रक्खे थे और सबके शरीर दिव्य प्रभासे चम-चम कर रहे थे। सब-के-सब निर्वैर, निरभिमान, क्रोधरहित और डाहसे शून्य प्रतीत हुए थे। गन्धर्व उनका यश गा रहे थे और बंदीजन स्तुति कर रहे थे। उस समय व्यासजीने धृतराष्ट्रको दिव्य नेत्र दे दिये, जिनसे वे उन सारे योद्धाओंको अच्छी तरह देख सके। वह दृश्य अद्भुत, अचिन्त्य और रोमाञ्चकारी था। सब लोगोंने निर्निमेष नेत्रोंसे उस दृश्यको देखा। इसके बाद सब आये हुए योद्धा अपने-अपने सम्बन्धियोंसे क्रोध और वैर छोड़कर मिले। इस प्रकार रातभर प्रेमियोंका वह समागम जारी रहा। इसके बाद वे सब लोग जिस प्रकार आये थे, उसी प्रकार भागीरथीके जलमें प्रवेश करके अपने-अपने लोकोंमें चले गये। उस समय वेदव्यासजीने जिन स्त्रियोंके पति वीरगतिको प्राप्त हुए थे, उनको सम्बोधन करके कहा कि 'आपमेंसे जो कोई अपने पतिके लोकमें जाना चाहती हों, उन्हें गङ्गाजीके जलमें गोता लगाना चाहिये।' उनके इस वचनको सुनकर बहुत-सी स्त्रियाँ जलमें घुस गयीं और मनुष्यदेहको छोड़कर अपने-अपने पतिके लोकमें चली गयीं। उनके पति जिस प्रकारके दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर आये थे, उसी प्रकारके दिव्य वस्त्राभूषणोंको धारणकर तथा विमानोंमें बैठकर वे अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंमें पहुँच गयीं।

इधर राजा जनमेजयने वैशम्पायनजीके मुखसे जब यह अद्भुत वृत्तान्त सुना तो उनके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने भी अपने स्वर्गवासी पिता महाराज परीक्षित्‌के दर्शन करने चाहे। व्यासजी वहाँ मौजूद ही थे। उन्होंने राजाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसी समय राजा परीक्षित्‌को वहाँ बुला दिया। जनमेजयने यज्ञान्त-स्नानके अवसरपर अपने साथ अपने पिताको भी स्नान कराया और इसके बाद परीक्षित् वहाँसे चले गये। इस प्रकार महर्षि वेदव्यासजीने अपने अलौकिक सामर्थ्यका प्रकाश किया। महर्षि वेदव्यास वास्तवमें एक अद्भुत शक्तिशाली महापुरुष थे। महाभारतके रचयिता उन महर्षिके पुनीत चरणोंमें मस्तक नवाकर हम अपने इस लेखको समाप्त करते हैं।

गुरु द्रोणाचार्य

आचार्य द्रोण भरद्वाज मुनिके पुत्र थे। महर्षि भरद्वाज अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने महर्षि अग्निवेशको आग्नेय अस्त्रकी शिक्षा दी थी। अग्निवेश मुनिने अपने गुरुपुत्र द्रोणको आग्नेय नामक महान् अस्त्रकी शिक्षा दी थी। पाञ्चाल देशके राजाका पुत्र द्रुपद भी द्रोणके साथ भरद्वाज मुनिके आश्रममें विद्याध्ययन करता था।

कुछ दिनोंके बाद जब भरद्वाज मुनिका शरीरान्त हो गया तो द्रोण उसी आश्रममें रहकर तपस्या करने लगे। वे वेद-वेदाङ्गोंमें पारङ्गत तो थे ही, तपस्याके द्वारा अति-तेजस्वी हो गये और उनका यश चारों ओर फैल गया। द्रोणाचार्यका व्याह शरद्वान् मुनिकी पुत्री कृपीसे हुआ था, जो कृपाचार्यकी बहिन थी। कृपीसे द्रोणको एक पुत्र

उत्पन्न हुआ, जो अश्वत्थामाके नामसे अमर हो गया है।

उस समय सर्वज्ञ तथा समस्त शस्त्रास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ परशुरामजी महेन्द्र पर्वतपर तप करते थे। द्रोणने यह सुन-कर कि, परशुरामजीके पास सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है और वे ब्राह्मणोंको सर्वस्व दान करना चाहते हैं, अपनी शिष्यमण्डलीके साथ वहाँ गये और उनके चरणोंकी बन्दना करके उनसे प्रयोग, रहस्य तथा संहारविधि-सहित सारे अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही रहस्य और व्रतके साथ समस्त धनुर्वेदका उपदेश भी प्राप्त किया।

तत्पश्चात् द्रोण अपने मित्र द्रुपदके पास गये। द्रुपद उस समय पाञ्चाल-नरेश थे। द्रोणने द्रुपदसे कहा—"राजन्! मैं आपका बालसखा हूँ, आपसे मिलने आया हूँ।" मित्र द्रोणके इस प्रकार प्रेमपूर्वक कहनेपर भी द्रुपदको यह बात सह्य न हुई। ऐश्वर्यके मदमें उन्मत्त होकर द्रुपद कहने लगे—"तुम मूढ़ हो। उन पुरानी लड़कपनकी बातोंको अब भी ढो रहे हो। अब उसको मनसे निकाल दो—

न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान् विदुषः सखा।
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते॥

'सच तो यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान्का, मूर्ख विद्वान्का तथा कायर शूरवीरका सखा नहीं हो सकता। अतएव पहलेकी मित्रताका क्या भरोसा करते हो?'

द्रुपदकी यह बात सुनकर द्रोण क्रोधसे जल उठे और बिना कुछ कहे, वहाँसे उठकर हस्तिनापुरकी ओर चल दिये।* वहाँ जाकर कृपाचार्यके घर ठहरे। द्रोणको वहाँ कोई दूसरा नहीं जानता था।

एक दिन कौरव-पाण्डव, सभी वीरकुमार हस्तिनापुरके बाहर गुल्ली-डंडा खेल रहे थे। दैवात् गुल्ली कुएँमें गिर गयी। राजकुमारोंका खेल बंद हो गया। उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि क्या करें! इतनेमें एक ब्राह्मण-को उधरसे जाते देखकर राजकुमारोंने उनको पकड़ा और गुल्ली कुएँसे निकाल देनेका आग्रह करने लगे। वह ब्राह्मण स्वयं द्रोण थे।

द्रोणने मुट्ठीभर सींकोंको लेकर अभिमन्त्रित करके उसमें बलका संचार किया और एक सींकसे गुल्लीको बींध दिया; उसके बाद उस सींकको दूसरी सींकसे, दूसरीको तीसरीसे—इस प्रकार करते हुए सींकोंकी रस्सी बना दी, और उन लड़कोंने उसे पकड़कर गुल्ली निकाल ली। यह अद्भुत कर्म देखकर राजकुमारोंके नेत्र आनन्दसे खिल उठे। इसके बाद राजकुमारोंने एक अँगूठी कुएँमें डाल दी और द्रोणाचार्यको उसे निकालनेके लिये कहा। द्रोणने उस अँगूठीको भी उसी प्रकार सींकके बाणोंसे बींधकर कुएँसे बाहर निकाल दिया और उन आश्चर्यचकित कुमारोंके हाथमें उसे दे दिया, परंतु वह स्वयं तनिक भी विस्मित न हुए। तब राजकुमार बोले—

अभिवादयामहे ब्रह्मन् नैतदन्येषु विद्यते।
कोऽसि कस्यासि जानीमो वयं किं करवामहे॥
(आदि० १३०। ३४)

'ब्रह्मन्! हम आपको प्रणाम करते हैं। यह अद्भुत अस्त्रकौशल और किसीमें नहीं है। आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं, हम जानना चाहते हैं, बताइये—हम आपकी क्या सेवा करें?'

द्रोणने उत्तर दिया—'मेरे रूप और गुणोंकी बात भीष्मसे जाकर कहो, वही तुमलोगोंको मेरा परिचय बता देंगे।'

राजकुमारोंने जाकर भीष्मजीसे सब बातें कह सुनायीं। भीष्मजीने तुरंत समझ लिया कि द्रोणाचार्यके सिवा यह कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। राजकुमारोंके साथ आकर भीष्मने द्रोणका स्वागत किया और उनको आचार्यके पदपर प्रतिष्ठित करके राजकुमारोंकी शिक्षा-दीक्षाका कार्य सौंप दिया। उस समय भीष्मने द्रोणकी अभ्यर्थना जिन शब्दोंमें की थी उससे उस युगके वीर क्षत्रियोंकी ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति-भावनाका अच्छा निदर्शन प्राप्त होता है—

कुरूणामस्ति यद्वित्तं राज्यं चेदं सराष्ट्रकम्।
त्वमेव परमो राजा सर्वे च कुरवस्तव॥
यच्च ते प्रार्थितं ब्रह्मन्कृतं तदिति चिन्त्यताम्।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि विप्रर्षे महान्मेऽनुग्रहः कृतः॥
(आदि० १३०। ७८-७९)

'हे ब्रह्मन्! कुरुवंशका जो धन है तथा राष्ट्रोंके सहित जो यह राज्य है, इसके आप ही परम राजा हैं, और सभी कुरुवंशी आपके सेवक हैं। आपको जिस वस्तुकी इच्छा होगी, उसको आप प्राप्त हुआ ही समझिये। हे विप्रर्षे! आपने बड़ी कृपा की, बड़े भाग्यसे प्राप्त हुए।' उस समय कुरुवंशके राजकुमारोंके लिये गुरु-रूपमें वरण करके भीष्मने द्रोणको बहुत धन प्रदान किया,

---

* इस अपमानसे द्रोणके मनमें वैर बँध गया। और आगे चलकर जब कौरव-पाण्डव-कुमारोंको धनुर्वेदकी शिक्षा दे चुके तब गुरुदक्षिणामें द्रुपदको पराजित करके पकड़ लानेके लिये कुमारोंसे कहा, और स्वयं सब शिष्योंको सेनासहित लेकर पाञ्चाल देशपर चढ़ाई कर दी। कर्णसहित कौरवोंको तो हार खानी पड़ी, परंतु अर्जुनने भीम तथा सहदेव और नकुलको साथ लेकर युद्ध करके पाञ्चालोंको पराजित करके द्रुपदको पकड़कर द्रोणके सामने उपस्थित कर दिया। द्रोणने द्रुपदके साथ मित्रवत् व्यवहार किया, और कहा कि भागीरथीके दक्षिण आप राज्य करें और उत्तरमें मैं राज्य करूँगा। मुझे आप अपना पूर्ववत् सखा समझें।

और रहनेके लिये धन-धान्यसे भरपूर सुन्दर गृहकी व्यवस्था कर दी।

तत्पश्चात् द्रोणाचार्य राजकुमारोंको शिक्षा देने लगे। द्रुपदद्वारा किये गये अपमानको वे नहीं भूले। एक दिन उन्होंने राजकुमारोंसे कहा कि, "मेरे हृदयमें एक आकाङ्क्षा है, जो मुझे सदा चिन्तित रखती है, उसकी पूर्ति शस्त्रास्त्रके द्वारा हो सकती है। क्या तुममें कोई मेरे इस कार्यको सिद्ध कर सकता है?"—यह सुनकर सब राजकुमार चुप हो गये। केवल अर्जुनने आगे बढ़कर कहा—'गुरुदेव! मैं आपकी उस आकाङ्क्षाको पूरा करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ।'—द्रोणाचार्य अर्जुनके इस उत्तरको सुनकर हर्षित हो उठे। उन्होंने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया। तत्पश्चात् अर्जुनके प्रति आचार्यकी विशेष प्रीति हो गयी और वह आजीवन बनी रही। अर्जुन भी आचार्यके प्रति सबसे अधिक भक्तिभावपूर्ण थे। आचार्यने प्रीतिपूर्वक नाना प्रकारके दिव्य और मानुष शस्त्रास्त्रोंकी शिक्षा राजकुमारोंको दी। गुरु द्रोणकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। धीरे-धीरे वृष्णि, अन्धक तथा अन्यान्य देशोंके युवक उनकी सेवामें शस्त्रास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने आये। गुरु द्रोणकी कृपा तथा अपनी सेवा और लगनके कारण अर्जुन सब राजकुमारोंमें अग्रगण्य हो गये।

एक बार गुरु द्रोण अपने शिष्योंके साथ वनमें जा रहे थे। राजकुमारोंके साथ एक कुत्ता भी था। राजकुमार मृगया-के लिये वनमें आगे बढ़े, कुत्ता आगे-आगे जा रहा था। अचानक कुत्ता वापस आता दिखायी दिया। राजकुमारोंने देखा कि उसका मुँह बाणोंसे भर गया है। यह देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि भला यह दूसरा कौन धनुर्धर है जो इतना लघुहस्त है। आचार्य द्रोणके साथ-साथ सब राजकुमार कुत्तेके पीछे-पीछे आगे बढ़े। कुछ दूर जानेपर देखते क्या हैं कि एक भीलकुमार आचार्य द्रोणकी प्रतिमा खड़ी करके उसकी विधिवत् पुष्पादिके द्वारा पूजा कर रहा है। आचार्यने उसे देखते ही पहचान लिया कि वह भीलकुमार एकलव्य है, जिसको भील होनेके कारण आचार्यने शिष्य बनानेसे इन्कार कर दिया था।

आचार्यको देखते ही एकलव्य दौड़कर उनके चरणोंमें गिर पड़ा। द्रोणाचार्य नहीं चाहते थे कि उनके प्रिय शिष्य अर्जुनसे बढ़कर कोई दूसरा धनुर्धर हो, इसलिये जब एकलव्यने कहा कि, 'भगवन्! मैं आपका शिष्य एकलव्य हूँ'—तब द्रोणाचार्यने उससे गुरुदक्षिणामें दाहिने हाथका अँगूठा माँगा। और एकलव्यने प्रसन्नचित्तसे अँगूठा काटकर गुरुके चरणोंमें रख दिया तथा विश्वमें अक्षय कीर्ति प्राप्त की।

द्रोणाचार्य स्वभावतः अपने शिष्यों—कौरवों और पाण्डवों, दोनोंका हित चाहते थे। अतएव पाण्डवोंके साथ किये जानेवाले कौरवोंके अत्याचारको वे पसंद नहीं करते थे। लाक्षागृहकी दुर्घटनाके बाद जब पाण्डवोंका द्रुपदकी राजसभामें द्रौपदीकी प्राप्तिका समाचार हस्तिनापुरमें पहुँचा, तब भीष्मने कहा कि, 'मेरे लिये जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे कौरव हैं। उनको बुलाकर आधा राज्य प्रदान कर देना चाहिये।' इसपर द्रोणाचार्यने कहा था कि—

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः॥

(आदि० २०३। २)

'हे राजन्! मेरा भी यही विचार है जो महात्मा भीष्मका है। और सनातन धर्म भी यही है कि पाण्डवोंको आधा राज्य दे देना चाहिये।'

द्रोणाचार्य अपने प्रिय शिष्य अर्जुनकी, जब अवसर आता, प्रशंसा किये बिना नहीं चूकते थे। आचार्यके मुखसे अर्जुनकी प्रशंसा कर्णको प्रायः असह्य हो उठती थी। पाण्डवोंके अज्ञातवासके बाद गोहरणपर्वमें जब विराटकी गायोंको हाँक ले जानेके लिये कौरव-सेना पहुँची तो आचार्य द्रोण 'एष वीरः महेष्वासः सर्व-शस्त्रभृतां वरः' इत्यादि वाक्योंसे अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे, तब कर्ण बोला—

सदा भवान् फाल्गुनस्य गुणैरस्मान् विकत्थसे।
न चार्जुनः कलापूर्णो मम दुर्योधनस्य च॥

(विराट० ३९। १४)

'आप तो सदा अर्जुनके गुणोंका वर्णन करके हमारा अनादर करते रहते हैं, और अर्जुन मेरी और दुर्योधनकी बराबरी नहीं कर सकता।'

इस अवसरपर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे इस प्रकार आचार्य द्रोणका परिचय दिया है—

दीर्घबाहुर्महातेजा बलरूपसमन्वितः।
सर्वलोकेषु विक्रान्तो भारद्वाजः प्रतापवान्॥
बुद्ध्या तुल्यो ह्युशनसा बृहस्पतिसमो नये।
वेदास्तथैव चत्वारो ब्रह्मचर्यं तथैव च॥
ससंहाराणि सर्वाणि दिव्यान्यस्त्राणि मारिष।
धनुर्वेदश्च कार्त्स्न्येन यस्मिन् नित्यं प्रतिष्ठितः॥
क्षमा दमश्च सत्यं च आनृशंस्यमथार्जवम्।
एते चान्ये च बहवो यस्मिन् नित्यं द्विजे गुणाः॥
तेनाहं योद्धुमिच्छामि महाभागेन संयुगे॥

(विराट० ५८। ५—८½)

"भरद्वाज ऋषिके पुत्र आचार्य द्रोण दीर्घबाहु हैं; महा-तेजस्वी हैं, बलवान् और रूपवान् हैं, सब लोकोंमें विक्रान्त और प्रतापी हैं, बुद्धिमें शुक्राचार्य और नीतिमें बृहस्पतिके तुल्य हैं, चारों वेदोंके ज्ञाता हैं, ब्रह्मचर्य-व्रती हैं, संहार सहित

सारे दिव्य अस्त्रोंके ज्ञाता हैं, सारा धनुर्वेद उनके भीतर प्रतिष्ठित है। क्षमा, दम, सत्य, सौजन्य, सरलता—तथा इसी प्रकारके बहुतसे गुण जिस ब्राह्मणमें नित्य विद्यमान रहते हैं, उस महाभाग आचार्य द्रोणसे मैं युद्ध करना चाहता हूँ।'—अर्जुनकी इस उक्तिसे स्पष्ट हो जाता है कि गुरु द्रोण गुणोंके सिन्धु थे। उन्होंने जब रथपर अर्जुनको युद्धके लिये उद्यत देखा तो भीष्मसे कहा कि 'पाण्डव राज्यसे वञ्चित कर दिये गये हैं, इसलिये आज तपस्याके द्वारा दुर्धर्ष अर्जुन दुर्योधनको क्षमा नहीं कर सकता। अतः हमलोगोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि वह दुर्योधनके पास न पहुँच सके।' अर्जुन उनका प्रिय शिष्य था तथापि आचार्य द्रोण दुर्योधनका अनिष्ट नहीं देख सकते थे। यह उनकी हृदयकी विशालताका द्योतक है।

आचार्य द्रोण भीष्मपितामहकी बातोंका सदा ही समर्थन करते थे; क्योंकि भीष्मकी नीति कौरव और पाण्डवोंमें मेल करानेकी थी, वह गृहयुद्ध पसंद नहीं करते थे। आचार्य द्रोणकी भी यही नीति थी; क्योंकि कौरव और पाण्डव, दोनों ही उनके शिष्य थे। और वे दोनोंका ही कल्याण चाहते थे। कर्ण जब डींग हाँककर पाण्डवोंके विरुद्ध दुर्योधनको बढ़ावा देता था तो भीष्म उसको फटकारते और पाण्डवोंकी शक्तिका बखान करके उनसे संधि करनेका परामर्श कौरवोंको देते। ऐसे अवसरोंपर आचार्य द्रोण बराबर भीष्मका समर्थन करते थे। इसका फल यह हुआ कि दुर्योधन कर्णको तो अपना पक्षपाती, पर भीष्म और द्रोणको पाण्डवोंका पक्षपाती समझता था; परंतु पक्षपातका दोषारोपण मिथ्या था। वे तो दोनोंका ही कल्याण चाहते थे।

वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण जब संधिकार्यमें सफल न हुए, दुरात्मा दुर्योधनने उनकी शुभ सम्मतिकी पूर्ण उपेक्षा कर दी, और युद्ध होना निश्चय हो गया तो बड़े दुःखसे आचार्य द्रोणने कहा—

अश्वत्थाम्नि यथापुत्रे भूयो मम धनंजये।
बहुमानः परो राजन् संनतिश्च कपिध्वजे॥
तं च पुत्रात् प्रियतमं प्रतियोत्स्ये धनंजयम्।
क्षात्रं धर्ममनुष्ठाय धिगस्तु क्षत्रजीविकाम्॥
(उद्योग० १३९। ४-५)

'हे राजन्! अश्वत्थामाके समान ही अर्जुनमें मेरी अतिशय प्रीति है। अर्जुन मेरा बड़ा सत्कार करता है और अत्यन्त नम्र रहता है। वह अर्जुन मुझे पुत्रसे भी प्रिय है। क्षात्र धर्मका पालन करनेके लिये उसके विरुद्ध भी मैं युद्ध करूँगा, धिक्कार है इस क्षत्रजीविकाको!'

पश्चात् महाभारतके युद्धमें अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित कर आचार्य द्रोण द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा मारे गये।

महात्मा विदुर

महात्मा विदुर साक्षात् धर्मके अवतार थे। माण्डव्य ऋषिके शापसे इन्हें शूद्रयोनिमें जन्म ग्रहण करना पड़ा। ये महाराज विचित्रवीर्यकी दासीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार ये धृतराष्ट्र और पाण्डुके एक प्रकारसे सगे भाई ही थे। ये बड़े ही बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, धर्मज्ञ, विद्वान्, सदाचारी एवं भगवद्भक्त थे। इन्हीं गुणोंके कारण सब लोग इनका बड़ा सम्मान करते थे। ये बड़े निर्भीक एवं सत्यवादी थे तथा धृतराष्ट्र आदिको बड़ी नेक सलाह दिया करते थे। ये धृतराष्ट्रके मन्त्री भी थे। दुर्योधन जन्मते ही गधेकी भाँति रेंकने लगा था और उसके जन्मके समय अनेक अमङ्गलसूचक उत्पात भी हुए। यह सब देखकर इन्होंने ब्राह्मणोंके साथ राजा धृतराष्ट्रसे कहा कि 'आपका यह पुत्र कुलनाशक होगा, इसलिये इसे त्याग देना ही श्रेयस्कर है। इसके जीवित रहनेपर आपको दुःख उठाना पड़ेगा। शास्त्रोंकी आज्ञा है कि कुलके लिये एक मनुष्यका, ग्रामके लिये कुलका, देशके लिये एक ग्रामका और आत्माके लिये सारी पृथ्वीका परित्याग कर देना चाहिये।' धृतराष्ट्रने मोहवश विदुरकी बात नहीं मानी। फलतः उन्हें दुर्योधनके कारण जीवनभर दुःख उठाना पड़ा और अपने जीते-जी कुलका नाश देखना पड़ा। महात्माओंकी हितभरी वाणीपर ध्यान न देनेसे दुःख ही उठाना पड़ता है!

जब दुर्योधन पाण्डवोंपर अत्याचार करने लगा तो इनकी सहानुभूति स्वाभाविक ही पाण्डवोंके प्रति हो गयी; क्योंकि एक तो वे पितृहीन थे और दूसरे धर्मात्मा थे। ये प्रत्यक्षरूपमें तथा गुप्तरूपसे भी बराबर उनकी रक्षा एवं सहायता करते रहते थे। धर्मात्माओंके प्रति धर्मकी सहानुभूति होनी ही चाहिये और विदुर सक्षात् धर्मके अवतार थे। ये जानते थे कि पाण्डवोंपर चाहे कितनी ही विपत्तियाँ क्यों न आवें, अन्तमें विजय उनकी ही होगी—'यतो धर्मस्ततो जयः।' इन्हें यह भी मालूम था कि पाण्डव सब दीर्घायु हैं, अतः उन्हें कोई मार नहीं सकता। इसीलिये जब दुर्योधनने खेल-ही-खेलमें भीमसेनको विष खिलाकर गङ्गाजीमें बहा दिया और उनके घर न लौटनेपर माता कुन्तीको चिन्ताके साथ-साथ दुर्योधनकी ओरसे अनिष्टकी भी आशङ्का हुई तो इन्होंने जाकर उन्हें समझाया कि 'इस समय चुप साध लेना ही अच्छा है। दुर्योधनके प्रति आशङ्का प्रकट करना खतरेसे खाली नहीं है। इससे वह और चिढ़ जायगा, जिससे तुम्हारे दूसरे पुत्रोंपर भी आपत्ति आ सकती है। भीमसेन मर नहीं सकता, वह शीघ्र ही लौट आयेगा।' कुन्तीने विदुरजीकी

नीतिपूर्ण सलाह मान ली । उनकी बात बिल्कुल यथार्थ निकली । भीमसेन कुछ ही दिनों बाद जीते-जागते लौट आये ।

लाक्षाभवनसे बेदाग बचकर निकल भागनेकी युक्ति भी पाण्डवोंको विदुरने ही बतायी थी। ये नीतिज्ञ होनेके साथ-साथ कई भाषाओंके भी जानकार थे। जिस समय पाण्डव लोग वारणावत जा रहे थे, उसी समय इन्होंने म्लेच्छ-भाषामें युधिष्ठिरको उनपर आनेवाली विपत्तिकी सूचना दे दी और साथ ही उससे बचनेका उपाय भी समझा दिया। इतना ही नहीं, इन्होंने पहलेसे ही एक सुरंग खोदनेवालेको लाक्षाभवनमेंसे निकल भागनेके लिये सुरंग खोदनेको कह दिया था। उसने गुप्तरूपसे जमीनके भीतर-ही-भीतर जंगलमें जानेका एक रास्ता बना दिया। लाक्षाभवनमें आग लगाकर पाण्डवलोग माता कुन्तीके साथ उसी रास्तेसे निरापद बाहर निकल आये। गङ्गातटपर इनके पार होनेके लिये विदुरजीने नाविकके साथ एक नौका भी पहलेसे ही तैयार रख छोड़ी थी। उसीसे ये लोग गङ्गापार हो गये। इस प्रकार विदुरजीने बुद्धिमानी एवं नीतिमत्तासे पाण्डवोंके प्राण बचा लिये, दुर्योधन आदिको पता भी न लगने दिया। उन लोगोंने यही समझा कि पाण्डव अपनी माताके साथ लाक्षाभवनमें जलकर मर गये। सर्वत्र केवल शारीरिक बल अथवा अस्त्रबल ही काम नहीं देता। आत्मरक्षाके लिये नीतिबलकी भी आवश्यकता होती है। महात्मा विदुर धर्म एवं शास्त्रज्ञानके साथ-साथ नीतिके भी खजाने थे।

विदुरजी जिस प्रकार पाण्डवोंके प्रति सहानुभूति और प्रेम रखते थे, उसी प्रकार अपने बड़े भाई राजा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके प्रति भी स्नेह और आत्मीयता रखते थे। उनके हितका ये सदा ध्यान रखते थे और उन्हें बराबर अच्छी सलाह दिया करते थे। 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' इस सिद्धान्तके अनुसार अवश्य ही इनकी बातें सत्य एवं हितपूर्ण होनेपर भी दुर्योधनादिको कड़वी लगती थीं। इसीलिये दुर्योधन एवं उसके साथी सदा ही इनसे असंतुष्ट रहते थे। परंतु ये उनकी अप्रसन्नताकी कुछ भी परवा न कर सदा ही उसकी मङ्गल-कामना किया करते थे। और उसे कुमार्गसे हटानेकी अनवरत चेष्टा करते रहते थे। धृतराष्ट्र भी अपने दुरात्मा पुत्रके प्रभावमें होनेके कारण यद्यपि हर समय इनकी बातपर अमल नहीं कर पाते थे और इसीलिये कष्ट भी पाते थे, फिर भी उनका इनपर बहुत अधिक विश्वास था। वे इन्हें बुद्धिमान्, दूरदर्शी एवं अपना परम हितचिन्तक मानते थे और बहुधा इनसे सलाह लिये बिना कोई काम नहीं करते थे। पाण्डवोंके साथ व्यवहार करते समय तो वे खास तौरपर इनकी सलाह लिया करते थे। वे जानते थे कि पाण्डवोंके सम्बन्धमें इनकी सलाह पक्षपातशून्य होगी। अस्तु।

जब मामा शकुनिकी सलाहसे दुष्टबुद्धि दुर्योधन पाण्डवोंके साथ जुआ खेलनेका प्रस्ताव लेकर अपने पिताके पास पहुँचा तो उन्होंने नियमानुसार विदुरजीको सलाहके लिये बुलाया। उसकी बात न माननेपर दुर्योधनने उन्हें प्राण त्याग देनेका भय दिखलाया; परंतु उन्होंने उसे स्पष्ट कह दिया कि 'विदुरजीसे सलाह लिये बिना मैं तुम्हें जुआ खेलनेकी आज्ञा कदापि नहीं दे सकता।' दुर्योधनका पापपूर्ण प्रस्ताव सुनकर विदुरजीने समझ लिया कि अब कलियुग आनेवाला है। इन्होंने उस प्रस्तावका घोर विरोध किया और अपने बड़े भाईको समझाया कि 'जुआ खेलनेसे आपके पुत्रों और भतीजोंमें वैर-विरोध ही बढ़ेगा, उनमेंसे किसीका भी हित नहीं होगा। इसलिये द्यूतका आयोजन न करना ही अच्छा है। इसीमें दोनों ओरका मङ्गल है।' धृतराष्ट्रने विदुरजी एवं उनके मतकी प्रशंसा करते हुए दुर्योधनको बहुत समझाया, परंतु उसने इनकी एक न मानी। वह तो जुएमें हराकर पाण्डवोंको नीचा दिखानेपर तुला हुआ था। उससे पाण्डवोंका अतुल वैभव देखा नहीं जाता था। दुर्योधनको किसी तरह न मानते देखकर अन्तमें धृतराष्ट्रने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और विदुरजीके द्वारा ही पाण्डवोंको इन्द्रप्रस्थसे बुलवा भेजा। यद्यपि विदुरजीको यह बात अच्छी नहीं लगी, फिर भी बड़े भाईकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना इन्होंने ठीक नहीं समझा।

पाण्डवोंके पास जाकर विदुरजीने उन्हें सारी बात कह सुनायी। महाराज युधिष्ठिरने भी जुएको अच्छा न समझते हुए भी अपने ताऊकी आज्ञा मानकर दुर्योधनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। जुएके समय भी इन्होंने जुएकी बुराइयाँ बताते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा कि 'आप अब भी सँभल जाइये, दुर्योधनकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाना छोड़ दीजिये और कुलको सर्वनाशसे बचाइये। पाण्डवोंसे विरोध करके उन्हें अपना शत्रु न बनाइये।' पाण्डवोंके वनमें चले जानेपर धृतराष्ट्रके मनमें बड़ी चिन्ता और जलन हुई। उन्होंने विदुरजीको बुलाकर अपने मनकी व्यथा सुनायी और उनसे यह जानना चाहा कि 'अब हमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये कि जिससे प्रजा हमपर संतुष्ट रहे और पाण्डव भी क्रोधित होकर हमारी कोई हानि न कर सकें।' इसपर विदुरजीने उन्हें समझाया कि 'राजन्! अर्थ, धर्म और काम— इन तीनों फलोंकी प्राप्ति धर्मसे ही होती है। राज्यकी जड़ है धर्म; अतः आप धर्ममें स्थित होकर पाण्डवोंकी और अपने पुत्रोंकी रक्षा कीजिये। आपके पुत्रोंने शकुनिकी सलाहसे

भरी सभामें धर्मका तिरस्कार किया है; क्योंकि सत्यसन्ध युधिष्ठिरको कपटद्यूतमें हराकर उन्होंने उनका सर्वस्व छीन लिया है, यह बड़ा अधर्म हुआ है। इसके निवारणका मेरी दृष्टिमें एक ही उपाय है, वैसा करनेसे आपका पुत्र पाप और कलङ्कसे छूटकर प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। वह उपाय यह है कि आपने पाण्डवोंका जो कुछ छीन लिया है, वह सब उन्हें लौटा दिया जाय। राजाका यह परम धर्म है कि वह अपने ही हकमें संतुष्ट रहे, दूसरेका हक न चाहे। जो उपाय मैंने बतलाया है, उससे आपका लाञ्छन छूट जायगा, भाई-भाईमें फूट नहीं पड़ेगी और अधर्म भी न होगा। यदि आपके पुत्रोंका तनिक भी सौभाग्य शेष रह गया हो तो शीघ्र-से-शीघ्र यह काम कर डालना चाहिये। यदि आप मोहवश ऐसा नहीं करेंगे तो सारे कुरुवंशका नाश हो जायगा। यदि आपका पुत्र दुर्योधन प्रसन्नतासे यह बात स्वीकार कर ले, तब तो ठीक है; अन्यथा परिवार और प्रजाके सुखके लिये उस कुलकलङ्क और दुरात्माको कैद करके युधिष्ठिरको राज-सिंहासनपर बैठा दीजिये। युधिष्ठिरके चित्तमें किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं है, इसलिये वे ही धर्मपूर्वक पृथ्वीका शासन करें। दुःशासन भरी सभामें भीमसेन और द्रौपदीसे क्षमा-याचना करे। और तो क्या कहूँ; बस, इतना करनेसे आप कृतकृत्य हो जायँगे।'

विदुरजीकी यह मन्त्रणा कितनी सच्ची, हितपूर्ण, धर्मयुक्त और निर्भीक थी। परंतु जिस प्रकार मरणासन्नको ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार धृतराष्ट्रको विदुरजीकी यह सलाह पसंद नहीं आयी। वे विदुरजीपर खीझ गये और बोले—'विदुर! अब मुझे तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं है; तुम्हारी इच्छा हो तो यहाँ रहो अथवा चले जाओ। मैं देखता हूँ कि तुम बार-बार पाण्डवोंका ही पक्ष लेते हो। भला, मैं उनके लिये अपने पुत्रोंको कैसे छोड़ दूँ?' विदुरजीने देखा, अब कौरव-कुलका नाश अवश्यम्भावी है; इसलिये वे चुपचाप उठकर वहाँसे चल दिये और तुरंत रथपर सवार होकर पाण्डवोंके पास काम्यकवनमें चले गये। वहाँ पहुँचकर इन्होंने पाण्डवोंको हस्तिनापुरसे चले आनेका कारण बतलाया और उन्हें प्रसङ्गवश बड़े कामकी बातें कहीं। इधर जब धृतराष्ट्रको विदुरजीके पाण्डवोंके पास चले जानेकी बात मालूम हुई तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने सोचा कि विदुरकी सहायता और सलाह पाकर तो पाण्डव और भी बलवान् हो जायँगे! तब तो उन्होंने तुरंत संजयको भेजकर विदुरजीको बुलवा भेजा। विदुरजी तो सर्वथा राग-द्वेषशून्य थे। उनके मनमें धृतराष्ट्रके प्रति तनिक भी रोष नहीं था। बड़े भाईकी आज्ञा पाकर जिस प्रकार वे हस्तिनापुरसे चले आये थे, उसी प्रकार इस बार लौट जानेकी आज्ञा पाकर वे वापस उनके पास लौट गये। वहाँ जाकर इन्होंने धृतराष्ट्रसे कहा कि 'मेरे लिये पाण्डव और आपके पुत्र एक-से हैं; फिर भी पाण्डवोंको असहाय देखकर मेरे मनमें स्वाभाविक ही उनकी सहायता करनेकी बात आ जाती है। मेरे चित्तमें आपके पुत्रोंके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं है।' बात सचमुच ऐसी ही थी। धृतराष्ट्रने भी इनसे अपने अनुचित व्यवहार-के लिये क्षमा माँगी। विदुरजी पूर्ववत् ही धृतराष्ट्रके पास रहकर उनकी सेवा करने लगे।

एक समय धृतराष्ट्रको रातमें नींद नहीं आयी। तब उन्होंने रातमें ही विदुरजीको बुलाकर उनसे शान्तिका उपाय पूछा। उस समय विदुरजीने धृतराष्ट्रको धर्म और नीतिका जो सुन्दर उपदेश दिया, वह विदुरनीतिके नामसे उद्योगपर्वके ३३ से ४० तक आठ अध्यायोंमें संगृहीत है। वह स्वतन्त्ररूपसे अध्ययन और मनन करनेकी चीज है। महाभारताङ्कके प्रथम खण्डमें पृष्ठ ५४६ से ५६२ तक उसका अविकल अनुवाद छापा गया था।

विदुरजीके भाषणको सुनकर धृतराष्ट्रकी तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने उनके मुखसे और भी कुछ सुनना चाहा। उन्होंने कहा—'राजन्! मुझे जो कुछ सुनाना था, वह मैं आपको सुना चुका, अब ब्रह्माजीके पुत्र सनत्सुजात नामक जो सनातन ऋषि हैं, वे ही आपको तत्त्वविषयक उपदेश करेंगे। तत्त्वोपदेश करनेका मुझे अधिकार नहीं है; क्योंकि मेरा जन्म शूद्राके गर्भसे हुआ है।' यह कहकर उन्होंने उसी समय महर्षि सनत्सुजातका स्मरण किया और वे तुरंत वहाँ उपस्थित हो गये। सनत्सुजातजीने राजा धृतराष्ट्रके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए परमात्माके स्वरूप तथा उनके साक्षात्कारके विषयमें बड़ा सुन्दर विवेचन किया। इस प्रकार विदुरजीने स्वयं तो धृतराष्ट्रको धर्म और नीतिकी बात सुनायी ही, सनत्सुजात जैसे सिद्ध-योगी एवं परमर्षिद्वारा उन्हें तत्त्वका उपदेश कराकर उनके कल्याणका मार्ग प्रशस्त किया। विदुरजीके द्वारा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके लिये जो कुछ भी चेष्टा होती थी, वह उनके कल्याणके लिये ही होती थी। महात्माओंका जीवन ही दूसरोंके कल्याणके लिये ही होता है। यद्यपि विदुरजी तत्त्वज्ञानी थे, फिर भी शूद्र होनेके नाते उन्होंने स्वयं उपदेश न देकर सनातन मर्यादाकी रक्षा की और इस प्रकार जगत्को अपने आचरणके द्वारा यह उपदेश दिया कि ज्ञानीके लिये भी शास्त्रमर्यादाकी रक्षा आवश्यक है। सनत्सुजातजीका यह उपदेश 'सनत्सुजातीय'के नामसे उद्योगपर्वके ही ४१ से ४६ तक छः अध्यायोंमें संगृहीत है। इसका भाषान्तर भी महाभारताङ्कके प्रथम खण्डमें पृष्ठ ५७० से ५८१ तक अविकलरूपसे छापा गया था। पाठकोंको वहाँ तथा महाभारतमें उसे पूरा देखना चाहिये।

विदुरजी ज्ञानी एवं तत्त्वदर्शी होनेके साथ-साथ अनन्य भगवद्भक्त भी थे। इनकी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें

निश्छल प्रीति थी । भगवान् श्रीकृष्ण भी इन्हें बहुत मानते थे । वे जब पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुर गये, उस समय वे राजा धृतराष्ट्र एवं उनके सभासदोंसे मिलकर सीधे विदुरजीके यहाँ पहुँचे और उनका आतिथ्य स्वीकार किया । इसके बाद वे अपनी बूआ कुन्तीसे मिले । इतना ही नहीं, दुर्योधनके यहाँ जानेपर जब दुर्योधनने सम्बन्धी होनेके नाते श्रीकृष्णसे भोजनके लिये प्रार्थना की तो उन्होंने साफ इनकार कर दिया और पुनः विदुरके यहाँ चले आये । वहाँ भीष्म, द्रोण, कृप, बाह्लीक आदि कई सम्भावित लोग उनसे मिलने आये और उन सबने श्रीकृष्णसे अपने यहाँ चलकर आतिथ्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना की; परन्तु श्रीकृष्णने सम्मानपूर्वक सबको विदा कर दिया और उस दिन विदुरके यहाँ ही पहले ब्राह्मणोंको भोजन कराके स्वयं भोजन किया । इस घटनासे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि विदुरका श्रीकृष्णके प्रति कैसा अनुराग था । श्रीकृष्णका तो विरद ही ठहरा—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

(गीता ९ । २६)

—प्रेमशून्य बड़ी-बड़ी तैयारियाँ और राजसी ठाट-बाट उन्हें आकर्षित नहीं कर सकते, किन्तु प्रेमके रससे परिप्लुत रूखा-सूखा भोजन भी उनकी तृप्तिके लिये पर्याप्त होता है ।

भोजनके बाद रात्रिमें भी श्रीकृष्ण विदुरके यहाँ ही रहे और सारी रात उन्हें बातें करते बीत गयी । सबेरे नित्यकर्मसे निवृत्त होकर श्रीकृष्ण कौरवोंकी सभामें चले गये । वहाँ जब दुर्योधनने श्रीकृष्णको पकड़कर कैद करनेका दुःसाहसपूर्ण विचार किया, उस समय विदुरजीने श्रीकृष्णके बल एवं महिमाका वर्णन करते हुए उसे यह बतलाया कि 'ये साक्षात् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र ईश्वर हैं; यदि तुम इनका तिरस्कार करनेका साहस करोगे तो उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे अग्निमें गिरकर पतंगा नष्ट हो जाता है ।' इसके बाद जब भगवान् श्रीकृष्णने अपना विश्वरूप प्रकट किया, उस समय सब लोगोंने भयभीत होकर अपने-अपने नेत्र मूँद लिये । केवल द्रोणाचार्य, भीष्म, विदुर, सञ्जय और उपस्थित ऋषिलोग ही उनका दर्शन कर सके; क्योंकि भगवान्ने इन सबको दिव्यदृष्टि दे दी थी । थोड़ी ही देर बाद अपनी इस लीलाको समेटकर भगवान् श्रीकृष्ण वापस उपप्लव्यकी ओर चले गये, जहाँसे वे आये थे । विदुरजी भी और लोगोंके साथ कुछ दूरतक उन्हें पहुँचानेके लिये गये और फिर उनसे विदा लेकर वापस चले आये ।

श्रीकृष्णके असफल लौट जानेपर दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं । अठारह अक्षौहिणी सेना लेकर दोनों दल कुरुक्षेत्रके मैदानपर एकत्रित हुए और अठारह दिनोंमें ही अठारह अक्षौहिणी सेना घासकी तरह कट गयी । राजा धृतराष्ट्र अपने सौ-के-सौ पुत्रों तथा पौत्रोंका विनाश हो जानेसे बड़े दुखी हुए । उस समय विदुरजीने मृत्युकी अनिवार्यताका निरूपण करते हुए यह बतलाया कि युद्धमें मारे जानेवालोंकी तो बड़ी उत्तम गति होती है; अतः उनके लिये तो शोक करना ही नहीं चाहिये ।' उन्होंने यह भी बतलाया कि 'जितनी बार प्राणी जन्म लेता है, उतनी ही बार वह अलग-अलग व्यक्तियोंसे सम्बन्ध जोड़ता है और मृत्युके बाद वे सारे सम्बन्ध स्वप्नकी भाँति विलीन हो जाते हैं । इसलिये भी मरे हुए सम्बन्धियोंके लिये शोक करना बुद्धिमानी नहीं है । फिर सुख-दुःखसे सम्बन्ध रखनेवाली संयोग-वियोग आदि जितनी भी घटनाएँ होती हैं, वे सब अपने ही द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होती हैं और कर्मफल सभी प्राणियोंको भोगना ही पड़ता है ।' इसके बाद विदुरजीने संसारकी अनित्यता, निःसारता और परिवर्तनशीलता, जन्म और मृत्युके क्लेश, जीवका अविवेक, मृत्युकी दृष्टिसे सबकी समानता तथा धर्मके आचरणका महत्त्व बतलाते हुए संसारके दुःखोंसे छूटनेके उपायोंका दिग्दर्शन कराया ।

युधिष्ठिरका राज्याभिषेक हो जानेके बाद जब धृतराष्ट्र पाण्डवोंके पास रहने लगे, तब विदुरजी भी धृतराष्ट्रके समीप रहकर उन्हें धर्मचर्चा सुनाया करते थे । वहाँसे जब धृतराष्ट्र और गान्धारीने वन जानेका निश्चय किया तो ये भी उनके साथ हो लिये । वहाँ जाकर विदुरजीने घोर तपस्याका व्रत ले लिया । वे निराहार रहकर निर्जन वनमें एकान्तवास करने लगे । शून्य वनमें कभी-कभी लोगोंको दर्शन हो जाया करता था । कुछ दिनों बाद जब महाराज युधिष्ठिर अपने समस्त परिवार एवं सेनाको साथ लेकर वनमें अपने ताऊ-ताई तथा माता कुन्तीसे मिलने आये और वहाँ विदुरजीको न देखकर उनके विषयमें राजा धृतराष्ट्रसे पूछने लगे, उसी समय उन्हें विदुरजी दूरपर दिखायी दिये । वे सिरपर जटा धारण किये हुए थे, मुखमें पत्थर दबाये थे और दिगम्बर वेष बनाये हुए थे । उनके धूलिधूसरित दुर्बल शरीरपर नसें उभर आयी थीं, मैल जम गया था । वे आश्रमकी ओर देखकर लौटे जा रहे थे । युधिष्ठिर उनसे मिलनेके लिये उनके पीछे दौड़े और जोर-जोरसे अपना नाम बताकर उन्हें पुकारने लगे । घोर जंगलमें पहुँचकर विदुरजी एक वृक्षका सहारा लेकर स्थिर भावसे खड़े हो गये । राजा युधिष्ठिरने देखा कि विदुरजीका शरीर अस्थिपञ्जरमात्र रह गया है, वे बड़ी कठिनतासे पहचाने जाते थे । युधिष्ठिरने उनके सामने जाकर उनकी पूजा की, विदुरजी समाधिस्थ होकर निर्निमेष

दृष्टिसे युधिष्ठिरकी ओर देखने लगे। इसके बाद वे योगबलसे अपने अङ्गोंको युधिष्ठिरके अङ्गोंमें, इन्द्रियोंको उनकी इन्द्रियोंमें तथा प्राणोंको प्राणोंमें मिलाकर उनके शरीरमें प्रवेश कर गये। उनका शरीर निर्जीव होकर उसी भाँति वृक्षके सहारे खड़ा रह गया। इस प्रकार साक्षात् धर्मके अवतार महात्मा विदुर धर्ममय जीवन बिताकर अन्तमें धर्ममूर्ति महाराज युधिष्ठिरके ही शरीरमें प्रवेश कर गये। बोलो धर्मकी जय!

दिव्यदृष्टि संजय

संजय महाराज धृतराष्ट्रके मन्त्री थे। ये जातिके सूत थे। ये बड़े स्वामिभक्त, बुद्धिमान्, नीतिज्ञ एवं धर्मज्ञ थे। ये सत्यवादी एवं निर्भीक भी थे। ये धृतराष्ट्रको बड़ी अच्छी सलाह देते थे। और उनके हितकी दृष्टिसे कभी-कभी कड़ी बातें भी कह दिया करते थे। इन्होंने अन्ततक धृतराष्ट्रका साथ दिया। ये महर्षि वेदव्यासके कृपापात्र तथा अर्जुन एवं भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमी थे। ये दुर्योधनके अत्याचारोंका बड़े जोरोंसे प्रतिवाद करते थे और उनका समर्थन होनेपर धृतराष्ट्रको भी फटकार दिया करते थे। जब पाण्डव दूसरी बार जुएमें हारकर वनमें रहने लगे थे, उस समय इन्होंने पाण्डवोंके साथ दुर्योधनके अनुचित बर्तावकी बड़ी कड़ी आलोचना करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज! अब यह निश्चित है कि आपके कुलका तो नाश होगा ही, निरीह प्रजा भी न बचेगी। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और विदुरजीने आपके पुत्रको बहुत मना किया; फिर भी उस निर्लज्जने पाण्डवोंकी प्रिय पत्नी धर्मपरायणा द्रौपदीको सभामें बुलवाकर अपमानित किया। विनाशकाल समीप आनेपर बुद्धि मलिन हो जाती है, अन्याय भी न्यायके समान दीखने लगता है। आपके पुत्रोंने अयोनिजा, पतिपरायणा, अग्नि-वेदीसे उत्पन्न सुन्दरी द्रौपदीको भरी सभामें अपमानित कर भयङ्कर युद्धको न्योता दिया है। ऐसा निन्दनीय कर्म दुष्ट दुर्योधनके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता।' क्या कोई निर्भीक-से-निर्भीक मन्त्री राजाके सामने युवराजके प्रति इतनी कड़ी किन्तु सच्ची बात कह सकता है? शास्त्रोंमें भी कहा है—'अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः।' धृतराष्ट्रने संजयकी बातका अनुमोदन करते हुए अपनी कमजोरीको स्वीकार किया, जिसके कारण वे दुर्योधनके उस अत्याचारको रोक नहीं सके थे।

संजय सामनीतिके बड़े पक्षपाती थे। इन्होंने युद्धको रोकनेकी बहुत चेष्टा की और दोनों ही पक्षोंको युद्धकी बुराइयाँ बतलाकर तथा आपसकी फूटके दुष्परिणामकी ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बहुत समझाया। पाण्डवोंने तो इनकी बात मान ली; परन्तु दुर्योधनने इनके सन्धिके प्रस्तावको तिरस्कारपूर्वक ठुकरा दिया, जिससे युद्ध करना अनिवार्य हो गया। दैवका विधान ऐसा ही था। कौरवोंके पक्षमें भीष्म, द्रोण, विदुर और संजयका मत प्रायः एक होता था, क्योंकि ये चारों ही धर्मके पक्षपाती थे और हृदयसे पाण्डवोंके साथ सहानुभूति रखते थे। ये चारों ही राजा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंकी अप्रसन्नताकी तनिक भी परवा न कर उन्हें सच्ची बात कहनेमें कभी नहीं हिचकते थे और सच्ची बात प्रायः कड़वी होती ही है।

जब धृतराष्ट्रने अपनी ओरसे पाण्डवोंके साथ बात-चीत करनेके लिये संजयको उपप्लव्यमें भेजा, तब संजयने जाकर पाण्डवोंकी सच्ची प्रशंसा करते हुए उन्हें युद्धसे विरत होनेकी ही सलाह दी। उन्होंने कहा कि 'युद्धसे अर्थ और धर्म कुछ भी नहीं सधनेका। सन्धि ही शान्तिका सर्वोत्तम उपाय है और राजा धृतराष्ट्र भी शान्ति ही चाहते हैं, युद्ध नहीं।' श्रीकृष्ण और अर्जुनके विशेष कृपापात्र होनेके नाते इन्हें यह पूरा विश्वास था कि ये लोग मेरी बातको कभी नहीं टालेंगे। अर्जुनके सम्बन्धमें तो इन्होंने यहाँतक कह दिया कि 'अर्जुन तो मेरे माँगनेपर अपने प्राणतक दे सकते हैं।' इससे यह बात सिद्ध होती है कि संजय अर्जुन और श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी थे। युधिष्ठिरने बड़े प्रेमसे संजयकी बातका समर्थन किया, परन्तु उन्होंने सन्धिकी यही शर्त रक्खी कि उन्हें इन्द्रप्रस्थका राज्य लौटा दिया जाय। भगवान् श्रीकृष्णने भी धर्मराजका समर्थन किया और संजय युधिष्ठिरका सन्देश लेकर वापस हस्तिनापुर चले आये। धृतराष्ट्रके पास जाकर पहले तो इन्होंने एकान्तमें उन्हें खूब फटकारा और पीछे सबके सामने पाण्डवोंका धर्मयुक्त सन्देश सुनाकर उनकी युद्धकी तैयारी तथा पाण्डव-पक्षके वीरोंके बलका विशदरूपसे वर्णन किया। साथ ही इन्होंने अर्जुन और श्रीकृष्णकी अभिन्नता सिद्ध करते हुए उन्हें बतलाया कि दोनों एक दूसरेके साथ कैसे घुले-मिले हैं। इन्होंने कहा कि 'जिस समय मैं श्रीकृष्ण और अर्जुनसे मिलने गया, उस समय वे दोनों अन्तःपुरमें थे। वे जिस महलमें थे, वहाँ अभिमन्यु और नकुल-सहदेवतकका प्रवेश नहीं था। वहाँ पहुँचनेपर मैंने देखा कि श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रक्खे हुए हैं तथा अर्जुनके पैर द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं।' संजयके इस वर्णनसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी अभिन्नता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही यह भी प्रमाणित होता है कि संजय श्रीकृष्ण और अर्जुनके अनन्य प्रेमी थे। जिस स्थानमें अभिमन्यु और नकुल-सहदेवका भी प्रवेश नहीं था और जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन अपनी पटरानियोंके साथ एकान्तमें बिल्कुल निःसंकोचभावसे बैठे थे, वहाँ संजयका बेरोक-टोक चले जाना और उनकी एकान्त-

गोष्ठीमें सम्मिलित होना इस बातको सिद्ध करता है कि इनका भी श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ बहुत खुला व्यवहार था।

संजय भगवान्‌के प्रेमी तो थे ही, इन्हें भगवान्‌के स्वरूपका भी पूरा ज्ञान था। इन्होंने आगे चलकर महर्षि वेदव्यास, देवी गान्धारी तथा महात्मा विदुरके सामने राजा धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी महिमा सुनायी और उन्हें सारे लोकोंका स्वामी बतलाया। इसपर धृतराष्ट्रने उनसे पूछा कि 'श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं—इस बातको तुमने कैसे जान लिया और मैं उन्हें इस रूपमें क्यों नहीं पहचान सका?' इसके उत्तरमें संजयने वेदव्यासजीके सामने इस बातको स्वीकार किया कि 'मैंने ज्ञानदृष्टिसे ही श्रीकृष्णको पहचाना है, बिना ज्ञानके कोई उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी बतलाया कि 'मैं कभी कपटका आश्रय नहीं लेता, किसी मिथ्या धर्मका आचरण नहीं करता तथा ध्यानयोगके द्वारा मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। इसीलिये मुझे श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान हो गया है।' इसके बाद स्वयं वेदव्यासजीने संजयकी प्रशंसा करते हुए धृतराष्ट्रसे कहा कि 'इसे पुराणपुरुष श्रीकृष्णके स्वरूपका पूरा ज्ञान है, अतः यदि तुम इसकी बात सुनोगे तो यह तुम्हें जन्म-मरणके महान् भयसे मुक्त कर देगा।' संजयके ज्ञानी होनेका इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा। इसके बाद धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा—'भैया! मुझे कोई ऐसा निर्भय मार्ग बताओ, जिसपर चलकर मैं भी भगवान् श्रीकृष्णको जान सकूँ और उनका परमपद पा सकूँ।' संजयने उन्हें बताया कि 'इन्द्रियोंको जीते बिना कोई श्रीकृष्णको नहीं पा सकता और इन्द्रियाँ भोगोंके त्यागसे ही जीती जा सकती हैं। प्रमाद, हिंसा और भोग—इन तीनोंका त्याग ही ज्ञानका साधन है। इन्हींके त्यागसे परम पदकी प्राप्ति सम्भव है।' अन्तमें संजयने भगवान् श्रीकृष्णके कुछ नामोंकी बड़ी सुन्दर व्याख्या करके धृतराष्ट्रको सुनायी। इससे संजयके शास्त्रज्ञानका भी पता लगता है।

जब दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ पूरी हो चुकीं और दोनों पक्षोंकी सेनाएँ कुरुक्षेत्रमें जा डटीं, उस समय महर्षि वेदव्यासजीने संजयको दिव्यदृष्टिका वरदान देते हुए धृतराष्ट्रसे कहा—'राजन्! यह संजय तुम्हें युद्धका वृत्तान्त सुनायेगा। सम्पूर्ण युद्धक्षेत्रमें कोई भी ऐसी बात न होगी, जो इससे छिपी रहे। यह दिव्यदृष्टिसे सम्पन्न और सर्वज्ञ हो जायगा। सामनेकी अथवा परोक्षकी, दिनमें होनेवाली या रातमें होनेवाली तथा मनमें सोची हुई बात भी इसे मालूम हो जायगी। इतना ही नहीं, शस्त्र इसे काट नहीं सकेंगे, परिश्रमसे इसे थकान नहीं मालूम होगी और युद्धसे यह जीता-जागता निकल आयेगा।'

बस, उसी समयसे भगवान् वेदव्यासकी कृपासे संजयकी दिव्यदृष्टि हो गयी। वे वहीं बैठे युद्धकी सारी बातें प्रत्यक्षकी भाँति जान लेते थे और उन्हें ज्यों-की-त्यों महाराज धृतराष्ट्रको सुना देते थे। कोसोंके विस्तारवाले कुरुक्षेत्रके मैदानमें जहाँ अठारह अक्षौहिणियाँ आपसमें जूझ रही थीं। कौन वीर कहाँ किस समय किससे लड़ रहा है, वह किस समय किसपर कितने और कौन-कौन-से अस्त्रोंका प्रयोग करता है, कितनी बार कितने पैंतरे बदलता है और किस प्रकार किस कौशलसे शत्रुका वार बचाता है, उसका कैसा रूप है और कैसा वाहन है—ये सब बातें वे एक ही जगह बैठे जान लेते थे। भगवद्गीताका उपदेश भी जिस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको दिया, वह सब इन्होंने अपने कानोंसे सुना (गीता १८।७४-७५)। केवल सुना ही नहीं, उपदेश देते समय श्रीकृष्णकी जैसी मुखमुद्रा थी, जो भावभंगी थी तथा जो उनका रूप था, वह इन्हें प्रत्यक्षकी भाँति ही दिखायी देता था। इतना ही नहीं, जिस समय भगवान्‌ने अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखलाया, जिसे अर्जुनके सिवा और किसीने पहले नहीं देखा था और जिसके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्‌ने उनसे कहा कि 'वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, दानसे, क्रियाओंसे तथा उग्र तपस्याओंसे भी कोई दूसरा इस रूपका दर्शन नहीं कर सकता (गीता ११।४८), उस समय संजयने भी उस रूपको उसी प्रकार देखा जिस प्रकार अर्जुन देख रहे थे। इसके बाद जब भगवान्‌ने अपने विश्वरूपको समेटकर अर्जुनको चतुर्भुजरूपमें दर्शन दिया, जिसका दर्शन भगवान्‌ने देवताओंके लिये भी दुर्लभ बताया है तथा जिसके सम्बन्धमें उन्होंने बताया कि तप, दान और यज्ञसे भी उसका दर्शन नहीं प्राप्त किया जा सकता (गीता ११।५३), तब उसी दिव्य झाँकीका दर्शन महाभाग संजयको भी हस्तिनापुरमें बैठे ही प्राप्त हो गया। उसी प्रसङ्गमें भगवान्‌ने अर्जुनको यह भी बताया कि 'केवल अनन्यभक्तिसे ही मेरे इस रूपका दर्शन सम्भव है।' (गीता ११।५४), इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि संजयको भी भगवान्‌की वह अनन्यभक्ति प्राप्त थी, जिसके कारण उन्हें भगवान्‌की उस दिव्य झाँकीका दर्शन हो सका। गीता सुननेके बाद भी उस रूपकी स्मृति संजयके लिये एक अलौकिक आनन्दकी सामग्री हो गयी। उन्होंने स्वयं अपनी उस उल्लासपूर्ण स्थितिका वर्णन करते हुए कहा है—

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥

(गीता १८।७६-७७)

इससे यह सिद्ध होता है कि उनका श्रीकृष्ण और अर्जुनमें जो श्रद्धा-प्रेम था वह विवेकपूर्वक था; क्योंकि वे उनके यथार्थ प्रभावको भी जानते थे। उन्होंने युद्धके पूर्व ही उनकी विजय घोषित करते हुए कह दिया था कि—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

(गीता १८। ७८)

युद्ध-समाप्तिके बाद कुछ दिन महाराज युधिष्ठिरके पास रहकर जब धृतराष्ट्र-गान्धारी वनकी ओर जाने लगे तो संजय भी उनके साथ हो लिये। वहाँ भी इन्होंने अपने स्वामीकी सब प्रकारसे सेवा की। और जब उन्हें देवी गान्धारी और कुन्तीके सहित दावाग्निने घेर लिया तो ये उन्हींकी आज्ञासे वनवासी मुनियोंको उनके शरीर-त्यागकी बात कहनेके लिये उन्हें छोड़कर आश्रममें चले आये और वहाँसे हिमालयकी ओर चले गये। इस प्रकार संजयका जीवन भी एक महान् जीवन था। उनके जीवनसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य चाहे किसी भी वर्ण अथवा जातिका क्यों न हो, भगवान्‌की कृपासे वह कुछ-का-कुछ बन सकता है।

वीर सात्यकि

जिस वृष्णिकुलमें भगवान् श्रीकृष्णका जन्म हुआ था, सात्यकि उसी कुलके एक रत्न थे। महाभारतके युद्धके अन्तमें जीवित रहनेवाले पाण्डवपक्षके आठ वीरोंमें एक सात्यकि भी थे। सात्यकिने अर्जुनसे युद्धविद्याकी शिक्षा ग्रहणकी थी, ये भगवान् श्रीकृष्णके समान ही पाण्डवोंके प्रिय तथा हित-चिन्तक थे। ये बड़े ही स्पष्ट वक्ता थे। पाण्डवोंके अज्ञात वनवासके बाद जब विराटकी राजसभामें युद्ध या शान्तिके प्रश्नपर भाषण चल रहे थे, उस समय सात्यकिने जो व्याख्यान दिया था, उससे उनके व्यक्तित्वपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ये कहते हैं कि, 'यदि भाइयोंसहित कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अपने घरपर जूआ खेलते होते और कौरव वहाँ जाकर हरा देते तो उनकी धर्मपूर्वक जीत कही जाती। परन्तु उन्होंने क्षत्रिय-धर्ममें लीन रहनेवाले युधिष्ठिरको बुलाकर छल और कपटसे हराया है। वे भीष्म, द्रोण और विदुरके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पाण्डवोंको उनका पैतृक धन वापस नहीं कर रहे हैं। मैं तो रणभूमिमें तेज बाणोंसे पछाड़-कर उनको बलात् रास्तेपर लाकर श्रीमान् युधिष्ठिरके चरणोंमें नत कराऊँगा, अन्यथा मन्त्रियोंके सहित उनको यमलोककी यात्रा करनी पड़ेगी।'

सात्यकि भगवान् श्रीकृष्णके समान ही सर्वतोभावेन पाण्डवोंके थे, और उनकी वाणी वीरता और ओजसे पूर्ण होती थी। वे बड़े ही नीतिज्ञ थे। उपर्युक्त प्रसङ्गमें ही वे आगे कहते हैं—

नाधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून् हत्वाऽऽततायिनः।
अधर्म्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम्॥

(उद्योग० ४। २०)

'आततायी शत्रुको मारनेसे कुछ भी अधर्म नहीं होगा। शत्रुसे याचना करना अधर्म है और अपमानजनक है। तथा—

गर्दभे मार्दवं कुर्याद् गोषु तीक्ष्णं समाचरेत्।
मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात् पापचेतसि॥

(उद्योग० ४। ५)

'पापात्मा दुर्योधनके प्रति जो मृदु वचन बोलता है, वह मानो गधेके प्रति कोमलतापूर्ण व्यवहार करता है और गायोंके प्रति कठोर।'—इससे स्पष्ट हो जाता है कि सात्यकि सच्चे अर्थमें वीर थे, उनकी वीरतापूर्ण वाणी उनके अनुरूप ही थी। वे बड़े ही चतुर तथा गूढ़ इङ्गितज्ञ थे। इसी कारण जान पड़ता है, भगवान् श्रीकृष्णने कौरवसभामें सन्धि-दूतके रूपमें जाते समय इनको अपने साथ ले लिया था। सात्यकिकी गणना महाभारतकालीन श्रेष्ठ वीरोंमें होती थी। वे असाधारण पुरुष थे। विदुरने धृतराष्ट्रको चेतावनी देते हुए कहा था—

येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः।
किं नु तैरजितं संख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः॥

(आदि० २०४। ८०)

'जिनके पक्षमें बलराम हैं, जिनके मन्त्री श्रीकृष्ण हैं, तथा वीरप्रवर सात्यकि जिनकी ओर हैं, उन पाण्डवोंके लिये युद्धमें क्या अजेय है?'—जान पड़ता है कि इस कारणसे भी भगवान् श्रीकृष्णके साथ सात्यकि गये थे। जब कौरव-सभामें कर्ण, शकुनि तथा दुर्योधनने श्रीकृष्णको पकड़नेकी मन्त्रणा की तो—

तेषां पापमभिप्रायं पापानां दुष्टचेतसाम्।
इङ्गितज्ञः कविः क्षिप्रमन्वबुद्ध्यत सात्यकिः॥

(उद्योग० १३०। ९)

उन पापियों, दुरात्माओंकी उस पापचेष्टाको इङ्गितज्ञ, कवि, सात्यकि शीघ्र ही ताड़ गये। और कृतवर्मासे बोले कि, 'शीघ्र ही सेनाको सभाद्वारके सामने व्यूहाकारमें सन्नद्ध करो, तबतक मैं श्रीकृष्णसे इनके अभिप्रायको व्यक्त करता हूँ।' व्यासजीने सात्यकिकी उस समयकी गतिविधिका अत्यन्त स्वाभाविक चित्र खींचा है। कहते हैं—

स प्रविष्टः सभां वीरः सिंहो गिरिगुहामिव।
आचष्टे तमभिप्रायं केशवाय महात्मने॥
धृतराष्ट्रं ततश्चैव विदुरं चान्वभाषत॥१३॥
तेषामेतमभिप्रायमाचचक्षे स्मयन्निव।
धर्मादर्थाच्च कामाच्च कर्म साधुविगर्हितम्॥१४॥

मन्दाः कर्तुमिहेच्छन्ति न चावाप्यं कथंचन ।
पुरा विकुर्वते मूढाः पापात्मानः समागताः ॥१५॥
धर्षिता काममन्युभ्यां क्रोधलोभवशानुगाः ।
इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्पचेतसः ॥
पटेनाग्निं प्रज्वलितं यथा बाला तथा जडाः ॥१६॥

'जैसे गिरि-गुफामें सिंह निधड़क प्रवेश करता है, उसी प्रकार निर्भयतापूर्वक सात्यकिने सभामें प्रवेश करके उनका अभिप्राय श्रीकृष्णको बतलाया, और मुसकराते हुए, धृतराष्ट्र तथा विदुरसे उनके आश्रयको प्रकट करते हुए कहा कि ये अल्प बुद्धिवाले लोग धर्म, अर्थ और कामकी दृष्टिसे सज्जनोंके लिये निन्दनीय कर्म करनेकी इच्छा कर रहे हैं, परंतु इसमें ये कदापि सफल न होंगे। काम, क्रोध, लोभ और मोहके वशमें होकर ये पापात्मा लोग पुण्डरीकाक्ष श्रीकृष्णको पकड़ना चाहते हैं। वस्त्रसे प्रज्वलित अग्निको पकड़नेकी इच्छा करनेवाले मूर्खके समान जड़ हैं, इनको समझ नहीं है।' वीरश्रेष्ठ सात्यकिने दुर्योधन और उसके सारे मित्रोंकी कुमन्त्रणाका भण्डाफोड़ कर उन्हें समयसे पहले ही विफल कर दिया।

महाभारतके युद्धमें वीरप्रवर सात्यकिके पाण्डवपक्षमें आ जानेपर पाण्डवोंकी सैन्य-शक्तिमें अपूर्व वृद्धि हो गयी। वीराग्रगण्य सात्यकि भय क्या वस्तु है—यह जानते ही नहीं थे। द्रोणपर्वके ११० वें अध्यायमें धर्मराज युधिष्ठिरने सात्यकिसे कहा है कि, 'हे तात! द्वैतवनमें अर्जुनने मुझसे कहा था—'महान् स्कन्धवाले विशाल वक्षःस्थल, बड़ी-बड़ी भुजाएँ, महाबली, महावीर्यवान्, महारथी सात्यकि मेरे शिष्य और मेरे सखा हैं। मैं उनके लिये प्रिय हूँ, और वे मेरे प्रिय हैं। वे मेरे सहायक हैं, वे कौरवोंको मथ देंगे। हे राजेन्द्र! मेरे हितार्थ यदि स्वयं केशव तैयार हों, बलरामजी, अनिरुद्ध, महारथी प्रद्युम्न वृष्णिसेनाके साथ गद, सारण और साम्ब सहायताके लिये सन्नद्ध हों तो भी मैं सत्यपराक्रम, नरव्याघ्र सात्यकिको सहायक बनाऊँगा; क्योंकि उनके समान मेरा कोई दूसरा नहीं है—

तथाप्यहं नरव्याघ्रं शैनेयं सत्यविक्रमम् ।
साहाय्ये विनियोक्ष्यामि नास्ति मेऽन्यो हि तत्समः॥
(द्रो० ११० । ६१)

—यह तो सात्यकिके विषयमें अर्जुनका अभिप्राय है। स्वयं धर्मराज इसी अध्यायमें अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

सर्वेष्वपि च योधेषु चिन्तयञ्छिनिपुङ्गव ।
त्वत्तः सुहृत्तमं कञ्चिन्नाभिजानामि सात्यके ॥
यथा च केशवो नित्यं पाण्डवानां परायणम् ।
तथा त्वमपि वार्ष्णेय कृष्णतुल्यपराक्रमः ॥
त्वं हि सत्यव्रतः शूरो मित्राणामभयङ्करः ।
लोके विख्यायसे वीर कर्मभिः सत्यवागिति ॥
(द्रो० ११० । ४३, ४५, ४८)

'हे शिनिपुङ्गव सात्यकि! खूब विचारनेपर भी सब योद्धाओंमें तुमसे अधिक सुहृद् मैं किसीको नहीं पाता। जैसे श्रीकृष्ण सदा पाण्डवोंके हितमें लगे रहते हैं, उसी प्रकार हे वृष्णिकुलश्रेष्ठ! तुम भी पाण्डवोंके हितमें सदा लगे रहते हो। तुम सत्यव्रती, शूरवीर, मित्रोंके भयको दूर करनेवाले हो तथा हे वीर! तुम अपने कर्मोंके द्वारा सत्यवक्ताके रूपमें संसारमें प्रसिद्ध हो।'

पाण्डवपक्षमें सात्यकिका क्या स्थान है, अर्जुन तथा धर्मराजके उपर्युक्त वाक्योंसे इसका पता चल जाता है। वस्तुतः महाभारतमें सात्यकिका चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल है। द्रोणपर्वके १४७ वें अध्यायमें युद्धमें सात्यकिके पराक्रमका वर्णन करते हुए अन्तमें सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा है—

कृष्णयोः सदृशो वीर्ये सात्यकिः शत्रुतापनः ।
जितवान् सर्वसैन्यानि तावकानि हसन्निव ॥
कृष्णो वापि भवेल्लोके पार्थो वापि धनुर्धरः ।
शैनेयो वा नरव्याघ्र चतुर्थस्तु न विद्यते ॥
(१४७ । ७६।७७)

'हे राजन्! श्रीकृष्ण और अर्जुनके समान ही सात्यकि भी शत्रुओंके लिये सन्तापकारक है। उसने हँसते-हँसते आपकी सारी सेनाको परास्त कर दिया है। मेरे विचारसे संसारमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके बाद तीसरा वीर पुरुष सात्यकि ही है। इनके कोटिका कोई चौथा धनुर्धर नहीं है।'

सात्यकिकी युद्धकलाका निदर्शन महाभारतमें अनेकों स्थलोंपर प्राप्त होता है। वे भीमसेनके समान निर्भयतापूर्वक युद्ध करते हैं, कभी युद्धसे व्याकुल होकर पीठ नहीं दिखलाते और अपने बाणोंके आघातसे कौरवसेनाके बड़े-बड़े महारथियोंको निश्चेष्ट कर देते हैं। जयद्रथवधके अवसर-पर जब वे कौरवसेनाको परास्त करते हुए, अर्जुनके समीप पहुँचते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे प्रसन्न होकर सात्यकिकी प्रशंसा करते हुए द्रोणपर्वके १४१ वें अध्यायमें उनका अभिनन्दन करते हैं। वहाँ १५ से २६ वें श्लोकतक 'आयाति सात्यकि, अभ्येति सात्यकि' प्रत्येक श्लोकोंमें प्रयोग करके अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं। उस समय कौरव-सेनासे भयानक युद्ध करते-करते सात्यकि थकसे गये थे, उसी अवस्थामें भूरिश्रवाने अपनी सारी शक्तिसे आक्रमण कर दिया। पश्चात् भूरिश्रवाने हाथमें तलवार लेकर श्रान्त सात्यकिकी शिखा पकड़ ली। तब भगवान् वासुदेवने कहा—'अर्जुन! देखो, सात्यकिको युद्धमें थका देखकर

भूरिश्रवा तलवारसे उसका सिर काटनेके लिये उद्यत है, बचाओ।' भगवान्‌के मुँहसे यह शब्द निकलते ही अर्जुनने एक बाणसे भूरिश्रवाका वह हाथ काट डाला और इस प्रकार अपने शिष्यकी रक्षा की। सात्यकिके ऊपर सारी महाभारतमें यही एक विपद् आयी थी। वह सर्वत्र वीरतापूर्वक लड़ते हुए अन्ततक जीवित रहे।

कुरुराज धृतराष्ट्र

धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे। उनको कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान था, परंतु वे कानके कच्चे थे। राज्यकार्यमें भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर और कृपाचार्यसे सलाह लेते थे तथा पाण्डवोंके सम्बन्धमें भी उसी प्रकार सलाह लेते थे। कभी-कभी वे पाण्डवोंके लिये भी अनुकूल हो जाते थे, परंतु जब वे दुर्योधनको कोई दुष्कृत्य करनेपर तुला हुआ देखते, तो उनका हृदय पुत्रमोहसे अन्धा हो जाता था और वे कर्तव्याकर्तव्यको भूल जाते थे। ऐसी हालतमें विदुर आदिके सलाहकी उपेक्षा करके दुर्योधनका ही समर्थन करते थे। ऊपर-ऊपरसे तो पाण्डवोंके सम्बन्धमें वे ठीक-ठीक बोलते थे, परंतु उनके हृदयसे सारे राज्यको आत्मसात् करनेकी वासना दूर नहीं होती थी। अतएव वे न्यायकी परवा न करके दुर्योधनके अनुकूल वर्तने लगते थे। कभी-कभी मोहके वश होकर दुर्योधनके दुष्कर्ममें भी सम्मति दे देते थे। और जब उसका कुफल उनको भोगना पड़ता तो वे अपने तटस्थ होनेका दिखावा करते थे। उदाहरणार्थ, जब पाण्डव लोग तेरह वर्षके वनवासमें द्वैतवनमें ठहरे हुए थे, उस समय उनको परेशान करनेके उद्देश्यसे कर्ण-शकुनि आदिकी सम्मतिसे दुर्योधन वहाँ जानेके लिये प्रस्तुत हुए। परंतु जब वह धृतराष्ट्रसे आज्ञा माँगनेके लिये गये तो उन्होंने वहाँ जानेकी अनुमति न दी और कहा, 'वहाँ पाण्डव ठहरे हुए हैं और वे छलपूर्वक हराये गये हैं तथा वनमें रहकर महान् कष्ट भोग रहे हैं। वे तपःशक्तिसम्पन्न हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें तुम लोग वहाँ जाकर अहंकार और दर्पके वशीभूत होकर कोई अपराध कर बैठोगे तो वे तुमको नष्ट किये बिना न छोड़ेंगे।' परंतु जब शकुनिने उनको उलटा-सीधा समझाया तो उनकी बुद्धि बदल गयी और वे राजी हो गये। यदि सर्वसंहारक महान् अनर्थका हेतु धृतराष्ट्रको मानें तो इसमें कोई गलती न होगी; क्योंकि भीष्म, विदुर आदिका उपदेश मानकर यदि पहलेसे ही वे दुर्योधनको काबूमें रखते, तो पाण्डवोंके साथ अन्याय न हो पाता और महायुद्धकी नौबत न आती। परंतु पुत्र-स्नेह तथा राजलोभके वशवर्ती होकर वे ऐसा नहीं कर सके। वे विवेक-शून्य हो जाते थे। बीच-बीचमें ऐसे प्रसङ्ग भी आते थे जब उनके हृदयमें पाण्डवोंके प्रति ममता उत्पन्न होती थी; परंतु वह ममत्व देरतक नहीं टिकता था।

गुण-अवगुणका विचार छोड़कर पुत्रके ऊपर अन्ध-वात्सल्यभाव रखनेवाले पिताकी जो गति होती है, वही गति धृतराष्ट्रकी हुई। उन्होंने अपने सामने ही सौ पुत्रोंकी अति भयंकर मृत्यु देखी। सौ पुत्रोंके पिता होकर भी मरते समय अपुत्र ही मरे।

दुर्योधन प्रत्यक्ष ही पाण्डवोंके प्रति ईर्ष्याका भाव रखते थे, परंतु धृतराष्ट्र परोक्षतः पाण्डवोंसे जलते रहते थे। पाण्डवोंके बढ़ते हुए बल और ऐश्वर्यको वे सह नहीं सकते थे। परंतु साथ ही पाण्डवोंसे वे डरते भी थे; क्योंकि पाण्डव बलशाली थे। पाण्डवोंकी कीर्ति बढ़ती देखकर दुर्योधनने अपने मामा शकुनिकी रायसे पाण्डवोंको जुआ खेलनेके लिये बुलाना चाहा और धृतराष्ट्रसे इसके लिये आज्ञा माँगी तो धृतराष्ट्रने बिना कुछ सोचे-समझे अपनी राय दे दी। उस समय विदुरने जुआ खेलनेके दोषोंको जब बतलाया तो धृतराष्ट्रने कहा, 'विदुर! यहाँ मैं, भीष्म तथा ये सब लोग हैं, और दैवने ही द्यूतका निर्माण किया है, इसलिये हम इसमें कुछ नहीं कर सकते। इस व्यवसायकी निन्दा करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये इसमें मैं दैवको ही बलवान् मानता हूँ, उसीके द्वारा यह सब कुछ हो रहा है।' धृतराष्ट्र अधिकतर दैवका ही अवलम्बन करते थे। उनकी मान्यता थी कि जो कुछ अनिष्ट होता है, वह दैवसे ही होता है। और इस मान्यताके कारण वे दुर्योधनको अनिष्ट कार्योंसे रोक नहीं सकते थे। द्यूतके समय जब युधिष्ठिरने द्रौपदीको दावपर रक्खा, तब सारी सभा स्तब्ध हो गयी। राजा लोग बड़े शोकमें पड़ गये। भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य पसीने-पसीने हो गये। विदुर दोनों हाथोंसे सिर थामकर बैठ गये। परंतु धृतराष्ट्र बहुत प्रसन्न हुए और बार-बार पूछने लगे, 'कौन जीता, कौन जीता?' धृतराष्ट्रके लिये इससे बढ़कर निन्दनीय बात और क्या हो सकती थी?

धृतराष्ट्रमें अपार बल था। वृद्धावस्था होनेपर भी भीमसेनकी लोहेकी मूर्तिको कुचल डालनेकी शक्ति धृतराष्ट्रमें थी। संजय उनको जैसे-जैसे युद्धकी बात सुनाते थे, वैसे-वैसे युवक योद्धाके समान धृतराष्ट्रका वीररक्त उछलता था। वे पाण्डवोंका अनिष्ट सुनकर मन-ही-मन प्रसन्न होते थे तथा कौरव-पक्षका अनिष्ट सुनकर उद्विग्न हो जाते थे। धृतराष्ट्र यदि अन्धे न होते तो शायद महाभारतके युद्धमें वे पूरा-पूरा भाग लेते और भीष्मके समान धृतराष्ट्र भी पाण्डवोंके विरुद्ध पूर्णबलसे युद्ध करते। धृतराष्ट्र भीमसेनसे बहुत डरते थे। वे स्वयं संजयसे कहते हैं—

जागर्मि रात्रयः सर्वा दीर्घमुष्णञ्च निःश्वसन्।
भीतो वृकोदरात् तात सिंहात् पशुरिवापरः॥

(उद्योग० ५१। ३)

'हे तात ! सिंहसे डरे हुए दूसरे पशुकी भाँति मैं भीमसेनसे भयभीत हो रातभर गरम-गरम लंबी साँसें लेता हुआ जागता रहता हूँ।' इस भयका कारण निश्चय ही द्यूतसभामें भीमसेनकी वह प्रतिज्ञा थी, जिसमें उसने कहा था कि युद्धमें मैं धृतराष्ट्रके सब पुत्रोंको मार डालूँगा और दुःशासनका रक्त पान करूँगा और धृतराष्ट्रका वह भय सच निकला। भीमसेनने एक-एक करके उनके सभी पुत्रोंको मार डाला।

परंतु यह सब कुछ होते हुए भी हम धृतराष्ट्रमें मानवताके उत्कृष्ट रूपका भी दर्शन करते हैं। जब दुर्योधन पाण्डवोंको वारणावत भेजनेके लिये धृतराष्ट्रसे कहते हैं और उनके अनिष्टके लिये मन्त्रणा करते हैं तो वे स्पष्ट कहते हैं—

दुर्योधन ममाप्येतद्धृदि सम्परिवर्तते।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम्॥

(आदि० १४१। १६)

'दुर्योधन ! मेरे हृदयमें भी यही बात घूम रही है। परंतु हम लोगोंका यह अभिप्राय पापपूर्ण है, इसलिये मैं खुलकर नहीं कह सकता।' अपने हृदयके गुण-दोषोंका निरीक्षण करके कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय करना श्रेष्ठ पुरुषका लक्षण है। फिर उन्होंने युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए कहा, 'युधिष्ठिर अपने पिता पाण्डुके समान ही धर्मपरायण हैं, उत्तम गुणोंसे युक्त हैं, जगत्प्रसिद्ध हैं। फिर उनको बाप-दादोंके राज्यसे बलात् कैसे वञ्चित किया जा सकता है ?' इस प्रकार धृतराष्ट्रका प्रकृतितः पाण्डवोंके प्रति प्रेमभाव भी लक्षित होता है। द्रौपदीके साथ पाण्डवोंके विवाहका समाचार सुननेके बाद धृतराष्ट्रने 'अहोभाग्य ! अहोभाग्य !!' कहकर आनन्द प्रदर्शित किया और विदुरको भेजकर उनको हस्तिनापुर बुलवाया। पाण्डवोंके आनेपर उनकी आत्मीयता जाग्रत् हुई और उन्होंने कहा कि, 'युधिष्ठिर ! मेरे दुरात्मा पुत्र दम्भ और अहङ्कारसे भरे हैं, मेरा कहना नहीं मानते, सदा अपने स्वार्थसाधनकी बात सोचते रहते हैं। इन दुरात्माओंसे कहीं झगड़ा न हो जाय, इसलिये तुम आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थमें निवास करो।' इस प्रकार महाराज धृतराष्ट्रने झगड़ेका अन्त कर दिया। उनका यह कार्य भगवान् श्रीवासुदेवको भी पसंद आ गया और वे बोल उठे—

युक्तमेतन्महाराज कौरवाणां यशस्करम्।

'महाराज ! आपका यह विचार सर्वथा उत्तम तथा कौरवोंकी यशवृद्धि करनेवाला है।'

जुआ खेलनेका प्रस्ताव करनेके पहले धृतराष्ट्रने दुर्योधनको बहुत समझाया और कहा, 'बेटा ! पाण्डवोंसे द्वेष मत करो, क्योंकि द्वेष करनेवाला मनुष्य मृत्युके समान कष्ट पाता है। युधिष्ठिर तुमसे द्वेष नहीं करते और जो उनके मित्र हैं, वे तुम्हारे भी मित्र हैं। दूसरेके धनकी स्पृहा करना अच्छे पुरुषोंका काम नहीं है।

पाण्डोः पुत्रान् मा द्विषस्वेह राजं-
स्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम्।
मित्रद्रोहे तात महानधर्मः
पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम्॥

(सभा० ५४। १०)

'तुम पाण्डवोंसे द्वेष न करो। वे तुम्हारे भाई हैं; भाइयोंका सारा धन तुम्हारा ही है। मित्रद्रोहसे बड़ा अधर्म होता है, तुम्हारे दादे-परदादे जो हैं, उनके भी वे ही हैं।' इस प्रकार महाराजकी शान्तिप्रियताका पता लगता है। परंतु शकुनिने अपनी दुरभिसन्धिके द्वारा इनकी बुद्धिपर पर्दा डालकर जुएके प्रस्तावका समर्थन करा लिया जो कौरवोंके सर्वनाशका कारण बना।

जुएमें जब पाण्डव सर्वस्व हार गये और द्रौपदीको दावपर रखना न्यायसङ्गत है या नहीं, इसपर बहस चल रही थी तो धृतराष्ट्रने दुर्योधनको फटकारते हुए कहा था, 'रे मन्दबुद्धि दुर्योधन ! तू तो विनष्ट हो गया ! दुर्विनीत ! तू श्रेष्ठ कुरुवंशियोंकी सभामें अपने ही कुलकी स्त्री तथा विशेषतः पाण्डवोंकी धर्मपत्नी द्रौपदीको लाकर पापकी बातें कर रहा है।' इस प्रकार बन्धु-बान्धवोंको विनाशसे बचाकर तत्त्वदर्शी महाराज धृतराष्ट्रने द्रौपदीको सान्त्वना देते हुए कहा—

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती॥

(सभा० ७१। २७)

'बहू द्रौपदी ! तुम मेरी पुत्रवधुओंमें सर्वश्रेष्ठ और धर्मपरायणा सती हो। तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे वर माँगो।'—यह सुनकर द्रौपदीने युधिष्ठिरको दासभावसे मुक्त करनेका वर माँगा। पश्चात् नन्दिनी, धर्मचारिणी, कल्याणी आदि शब्दोंसे सम्बोधित करते हुए राजाने दो और वर माँगनेके लिये कहा, परंतु द्रौपदीने केवल एक वर माँगकर भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको अपने-अपने रथ और धनुष-बाणके साथ दास-भावसे मुक्त करा लिया। यहाँ महाराज धृतराष्ट्रके विवेक और दूरदर्शिताका सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है। वस्तुतः वे महाराज पाण्डुके बड़े भाई थे, इसलिये इस अवसरपर उन्होंने जो कुछ किया, उससे उनकी मर्यादाकी रक्षा हो गयी। परंतु होनी होकर रहती है; पुनः धृतराष्ट्रको उलटा-सीधा

समझाकर दुर्योधनने धर्मराजको जुआ खेलनेके लिये बुलानेको राजी कर लिया। धृतराष्ट्रकी बुद्धि मारी गयी, उनके आमन्त्रणपर धर्मराज जुआ खेलने आये, और वही जुआ सर्वनाशका कारण बना।

जब दूतके रूपमें भगवान् श्रीकृष्णके पधारनेकी बात विदुरके मुखसे महाराज धृतराष्ट्रने सुनी तो उनका गुणगान करने लगे—

> चक्षुष्मतां वै स्पृहयामि संजय
> द्रक्ष्यन्ति ये वासुदेवं समीपे।
> विभ्राजमानं वपुषा परेण
> प्रकाशयन्तं प्रदिशो दिशश्च॥
> (उद्योग० ७१।१)

'संजय! मैं आँखवालोंके भाग्यका अभिलाषी हूँ, जो वासुदेव श्रीकृष्णको समीपमें देखते हैं, जो उत्तम श्रीसम्पन्न विग्रहसे दिशाओं, प्रदिशाओंको प्रकाशित करते हुए शोभायमान हैं।'

> सहर्षशीर्षं पुरुषं पुराण-
> मनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम्।
> शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं
> परं परेषां शरणं प्रपद्ये॥
> (उद्योग० ७१।६)

'जिनके सहस्रों सिर हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। जो अनन्त कीर्तिमान् हैं, जो सृष्टिके बीजको धारण करते हैं, जो अज हैं, नित्य हैं, परात्पर हैं उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण जाता हूँ।'

महाराज धृतराष्ट्रने द्रोणपर्वके ग्यारहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका संक्षेपमें वर्णन करके श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमाका गुणगान किया है। सारी लीलाओंका स्मरण करते हुए राजसभामें भगवान् वासुदेवके रूपका वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

> यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम संजय।
> कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति॥
> यच्च भक्त्या प्रसन्नोऽहमद्राक्षं कृष्णमीश्वरम्।
> तन्मे सुविदितं सर्वं प्रत्यक्षमिव चागमम्॥
> नान्तो विक्रमयुक्तस्य बुद्ध्या युक्तस्य वा पुनः।
> कर्मणां शक्यते गन्तुं हृषीकेशस्य संजय॥
> यस्य यन्ता हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः।
> रथस्य तस्य कः संख्ये प्रत्यनीको भवेद् रथः॥
> अर्जुनः केशवस्यात्मा कृष्णोऽप्यात्मा किरीटिनः।
> अर्जुने विजयो नित्यं कृष्णे कीर्तिश्च शाश्वती॥
> (द्रो० ११।२४–२६, ३६, ३८)

'हे संजय! भगवान् श्रीकृष्णने मेरी सभामें जो महान् आश्चर्य कर दिखाया था, वह दूसरा कौन कर सकता है? भक्तिसे प्रसन्न होकर मैंने भगवान् श्रीकृष्णके जिस स्वरूपको देखा था, वह आज भी प्रत्यक्षवत् स्मरण हो रहा है। संजय! कोई पराक्रमयुक्त या बुद्धियुक्त अथवा कर्मसे युक्त होकर हृषीकेश श्रीकृष्णका अन्त नहीं पा सकता। जिस रथके हाँकनेवाले श्रीकृष्ण हैं तथा योद्धा अर्जुन हैं, उस रथके सामने कोई शत्रु कैसे टिक सकता है? अर्जुन श्रीकृष्णकी आत्मा हैं और श्रीकृष्ण अर्जुनकी आत्मा हैं। अर्जुन नित्य विजयी हैं, और श्रीकृष्णमें शाश्वती कीर्ति है।' और मोहवश दुर्योधन श्रीकृष्णको नहीं पहचान रहा है और न अर्जुनको। ये दोनों पूर्वदेव महात्मा नर-नारायण हैं।

इस प्रकार भगवद्गुणोंके ज्ञाता धृतराष्ट्र पुत्रके मोहमें पड़कर दुर्योधनके अन्यायोंका निराकरण न करनेके कारण दोषके भागी बने। परंतु अंधे होते हुए भी उन्होंने भगवत्कृपासे राजसभामें भगवान्‌के दिव्यरूपका दर्शन किया था, जो सौभाग्य संसारमें विरले ही प्राप्त करते हैं! भगवान्‌ने स्वयं उनको इसके लिये दिव्यदृष्टि प्रदान की थी। महाभारतके अन्तमें कुछ दिन हस्तिनापुरमें रहनेके बाद अन्तमें वनमें जाकर भगवान्‌की आराधनामें उन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया।

राजा दुर्योधन

पाण्डवोंके कट्टर शत्रु तथा कलिके अंशावतार दुर्योधन अंधे धृतराष्ट्रके ज्येष्ठ पुत्र थे। वे राज्यलोभी, अहङ्कारी, ईर्ष्यालु, अयोग्य, महत्त्वाकांक्षासे युक्त, दम्भी, गुरुजनकी आज्ञाकी अवहेलना करनेवाले, अपनी बड़ाई आप करनेवाले और अपनी इच्छाके विरुद्ध वर्तनेवाले, शुभचिन्तकोंको भी शत्रुकी दृष्टिसे देखनेवाले थे। उनमें सद्गुण भी थे। परंतु वे गुण भी दुर्गुणोंका साम्राज्य बढ़ जानेके कारण दूसरोंके लिये संहारकारक ही सिद्ध हुए। वे राजनीतिमें निपुण थे, धन तथा सम्मान प्रदान करके दूसरोंको अपना बना लेनेकी उनमें क्षमता थी और इसी कारणसे उन्होंने भीष्म, द्रोणाचार्य आदि, जो पाण्डवोंको समभावसे देखते थे, उनको भी युद्धमें अपने पक्षमें कर लिया था। केवल साधुपुरुष धर्मावतार विदुरजी उनके धनके लोभमें नहीं फँसे थे। इसी कारण दुर्योधन सदा अपना रहस्य खोल देनेवाले शत्रुके रूपमें ही उनको देखते थे। वे युद्धकालमें भी तटस्थ ही रह गये थे। दुर्योधनने अपने राज्यकालमें प्रजाको तथा माण्डलिक राजाओंको प्रसन्न रक्खा था; परंतु इसका मुख्य हेतु यह था कि, किसी प्रकार असंतुष्ट होकर कोई पाण्डवोंकी ओर न चला जाय। वे भीमसेनको अपना कट्टर शत्रु समझते थे, परंतु उनकी शक्तिके आगे उसकी एक न चलती थी।

दुर्योधनने धनुर्वेदादि शस्त्र-विद्याकी शिक्षा द्रोणाचार्यके पास ग्रहण की थी, इसलिये वे अन्यान्य शस्त्रास्त्रोंके द्वारा भी युद्ध करते थे। परंतु गदायुद्धमें तो वे अत्यन्त ही कुशल थे। वे और भीम दोनोंने ही बलरामजीसे गदायुद्धकी शिक्षा ली थी; परंतु भीमसेनके शारीरिक बलके आगे वे निर्बल बन जाते थे, इसी कारण वे कर्तव्याकर्तव्य भूलकर नृशंस कर्म करने लगते थे। वे दूसरोंका छिद्रान्वेषण करते थे, परंतु अपने छिद्रोंको नहीं देखते थे और जब कोई उनका दोष दिखलाता था, तब वे उसकी अवज्ञा कर बैठते थे। इसी कारण वे आजन्म वैराग्निको शान्त न कर सके। जीवनभर वे पाण्डवोंको अपने सम्राट्पदमें विघ्नरूप मानकर उन्हींका स्वप्न देखते थे और उनका कैसे निर्मूल किया जाय, इसीकी कोशिशमें लगे रहते थे। इस वैरभावकी दीक्षा लेकर उन्होंने इस वैराग्निमें भारतमाताके रत्नरूप पुत्रोंका होम कर दिया और अन्तमें स्वयं भी वीरके समान युद्ध करके सौ भाइयोंके साथ होमे गये और भारतभूमिको निस्तेज कर डाला। दूसरोंका अनिष्ट चाहनेवाले वे अपना या दूसरे किसीका भी इष्ट साधन नहीं कर सके, उलटे आनेवाले युगोंके लिये अपना अपयश छोड़ गये।

दैव श्रेष्ठ है या पुरुषार्थ ?—यह प्रश्न उपस्थित होनेपर दुर्योधनका दृष्टान्त लेना चाहिये। पुरुषार्थके ऊपर पूर्ण विश्वास रखनेवाले और दैवको लेशमात्र भी न माननेवाले दुर्योधनका दैवके द्वारा ही नाश हुआ। भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य-जैसे बलवान् महारथी, जो पाण्डवोंके पक्षपाती थे, उनको युद्धमें अपने पक्षमें लेनेका सफल प्रयास दुर्योधनने किया था। उसकी राजनीतिके कारण वृद्ध और सारासारका विवेक रखनेवाले भीष्म-जैसे योद्धा दुर्योधनके अन्यायी पक्षमें अन्ततक रहे और युद्ध करते हुए मरे। जैसे-जैसे दुर्योधन हारते गये, वैसे-वैसे उनको यह लगने लगा कि, 'पुरुषार्थ बेकार है, दैव सर्वथा बलवान् है।'—दुर्योधनके जीवनकी आलोचना करनेपर यह तथ्य सबके सामने आता है।

महाभारत पढ़नेवालोंका पाण्डवोंमें पक्षपात होता है, यदि महाभारतकारने ऐसा जोर न डाला होता तो दुर्योधन कुशल और श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ थे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। पाण्डवोंको तो वे जन्मसे ही धिक्कारते थे। कर्ण और अर्जुन तथा दुर्योधन और भीम इन दोनोंके बीच बचपनसे ही ईर्ष्या, द्वेष और वैरभाव था। दुर्योधनका द्वेष इस सीमातक पहुँच गया था कि उन्होंने पाण्डवोंको सूईकी नोकके बराबर भी जमीन न देनेका सङ्कल्प कर लिया था।

भीष्म और द्रोणको उन्होंने अपने पक्षमें करके पाण्डवोंके विरुद्ध युद्धमें लगाया था तथापि दुर्योधनको इनके ऊपर विश्वास न था। उसने कई बार उनको खरी-खोटी सुनाते हुए कहा था कि, 'आपलोगोंका पोषण तो मैं करता हूँ; परंतु आपलोग पाण्डवोंका पक्षपात करके युद्ध करते हैं।' भीष्म और द्रोणाचार्यको दुर्योधनका यह स्वभाव अच्छा नहीं लगता था। दुर्योधन कभी-कभी कर्णकी प्रशंसा करते थे और यह भी कहते थे कि उसके द्वारा वे युद्ध जीतेंगे।

दुर्योधन सद्व्यवहारकी महिमा जाननेवाले तथा बड़े मृदुभाषी थे। उनके सद्व्यवहार तथा मृदुभाषितासे ही माद्रीके भाई शल्यने दुर्योधनके पक्षमें रहना और कर्णका सारथी बनना स्वीकार किया। अश्वत्थामा और कर्णके वाग्युद्धको इन्होंने अपनी मृदुवाणीसे बंद किया था। उनकी अमृतमयी वाणीसे भूलकर धृतराष्ट्र उनके कार्यमें स्वीकृति दे देते थे। यह दुर्योधनकी राजनीति थी। इसी मृदु भाषणके बलसे उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी सारी नारायणी सेनाको अपने पक्षमें ले लिया था तथा प्रकारान्तरसे श्रीकृष्णसे युद्धमें शस्त्र ग्रहण न करनेका वचन भी ले लिया था।

दुर्योधनके जीवनमें सबसे जघन्य कृत्य था भरी सभामें पाञ्चालकुमारी द्रौपदीका घोर अपमान। द्रौपदी उस कालमें नारीजगत्का सर्वश्रेष्ठ रत्न थी, उसका अपमान करके दुर्योधनने अपनी मृत्युका—अपने सर्वनाशका बीज बोया था।

दुर्योधन महान् तेजस्वी और शक्तिशाली राजा थे। धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि उनके शासनमें थे। महाभारतके महायुद्धमें उनकी सेना भी सर्वथा सुव्यवस्थित और सुदृढ़ तथा महान् थी। यदि पाण्डव-पक्षमें भगवान् श्रीवासुदेव न होते तो पाण्डवोंकी विजय संशयास्पद थी। दुर्योधनमें कार्यक्षमता भी अपूर्व थी। उनका गुप्तचर-विभाग सुव्यवस्थित था, जहाँ-कहीं कौरवोंके विपक्षकी अथवा पाण्डवोंके पक्षकी कोई घटना घटती, दुर्योधनको गुप्तचरोंके द्वारा तुरंत उसकी सूचना मिल जाती थी। और वे चौकन्ने होकर प्रतिविधानके लिये तैयार हो जाते थे। उसके गुप्तचर प्रत्येक राज्योंमें थे। उनका शासन-तन्त्र भी सुव्यवस्थित था, वे प्रजा-पालनमें राजधर्मका अनुसरण करते थे। गो-ब्राह्मणके रक्षक थे। महाविष्णु यज्ञ करके उन्होंने ब्राह्मणोंको दान-दक्षिणासे परितुष्ट कर दिया था। यदि पाण्डवोंके प्रति किये गये उनके दुर्व्यवहारोंको अलग करके देखें तो दुर्योधन एक महत्त्वाकांक्षी क्षात्रधर्मके अनुसार प्रजारञ्जन करनेवाले प्रभावशाली सम्राट् थे। उनके राजदरबारमें ब्राह्मणोंको, ऋषि-मुनियोंको यथोचित सत्कार प्राप्त होता था।

जब भगवान् वासुदेव दूतके रूपमें संधिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाने लगे और इसका समाचार दुर्योधनको दूतोंके द्वारा प्राप्त हुआ, तो उन्होंने भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णके आगमनके अवसरपर अपूर्व स्वागत-सत्कारका प्रबन्ध किया। वृकस्थलमें भगवान् अपने सैन्यके साथ मार्गमें रात्रिके

समय विश्राम करनेवाले थे। अतएव वृकस्थलसे हस्तिनापुरतक स्थान-स्थानपर रम्य विश्रामस्थल, रत्नजटित सभास्थल, नाना प्रकारके विचित्र आसन, वसन, अन्न-पान, आहार-विहार तथा नाना प्रकारके बहुमूल्य रत्नोंकी योजना भगवान् श्रीवासुदेवकी प्रसन्नताके लिये की गयी थी। परंतु भगवान् संधि-दूतके रूपमें जा रहे थे, अतएव दुर्योधनके द्वारा आयोजित इन आयोजनोंका उपयोग उन्होंने नहीं किया।

राजा धृतराष्ट्रके सामने जब विदुरजीने श्रीकृष्णकी महिमा सुनाकर उनका सत्कारपूर्वक आतिथ्य करनेकी बात कही तो कूटनीतिज्ञ दुर्योधनने कहा कि 'श्रीकृष्णके विषयमें विदुरजीने जो कुछ कहा है उसे मैं ठीक मानता हूँ, परंतु जनार्दन पाण्डवोंके प्रति अति अनुरक्त हैं। हे राजन्! बुद्धिमान्को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये कि क्षत्रियका अनादर हो। मैं जानता हूँ कि विशाललोचन श्रीकृष्ण तीनों लोकोंमें पूज्यतम हैं। तथापि पाण्डव-परायण होनेके कारण श्रीकृष्णको नियन्त्रित करना ही ठीक है। यदि वासुदेव पकड़ लिये गये तो सब कार्य सिद्ध हो जायगा।' दुर्योधनकी इस बातको सुन मन्त्रियोंके सहित धृतराष्ट्र काँप उठे और बोले—'अरे बेटा! ऐसी बात न कहो, यह सनातन धर्म नहीं है। एक तो हृषीकेश दूतके रूपमें आये हैं, दूसरे हमारे सम्बन्धी और प्रियजन हैं, तीसरे कौरवोंके विषयमें उनकी पापबुद्धि नहीं है। फिर भला उनको क्यों बन्धनमें डाला जाय?'

दूतश्च हि हृषीकेशः सम्बन्धी च प्रियश्च नः।
अपापः कौरवेयेषु स कथं बन्धमर्हति॥
(उद्योग० ८८। १८)

धृतराष्ट्रकी बात सुनकर भीष्मजी बिगड़ गये और बोले—'धृतराष्ट्र! तुम्हारा पुत्र मूर्ख है। सुहृद्जन इसे भला सुझाते हैं, और यह बुरा ही सोचता है। यह दुष्ट भगवान् वासुदेवको पकड़नेपर क्षणमात्रमें अपने मन्त्रियोंके साथ नाशको प्राप्त हो जायगा। इस पापी, अधर्मी और मूर्खकी बात मैं नहीं सुनना चाहता'—इतना कहकर असंतुष्ट होकर भीष्मजी वहाँसे उठ गये।

परंतु दुर्योधन महा अहङ्कारी थे, उनको अपने बलका बड़ा अभिमान था। दूसरे, कर्ण उनको सहायक मिल गये थे, जो अपनेको सबसे बड़ा धनुर्धर समझते थे। इन दोनों वीरोंकी विचित्र जोड़ी थी, इसी कारण भगवान् वासुदेवने कर्णको पाण्डवोंके पक्षमें लानेकी चेष्टा की थी। उद्योगपर्वके ६३वें अध्यायमें दुर्योधनने भीष्मपितामहसे रुष्ट होकर यहाँतक कह दिया था कि 'मैं युद्ध आपके भरोसे, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बाह्लीक तथा दूसरे राजाओंके भरोसे नहीं करने जा रहा हूँ। मैं कर्ण और भाई दुःशासनको साथ लेकर युद्धमें पाँचों पाण्डवोंको मार डालूँगा, और तब भूरि-भूरि विविध दक्षिणाओंसे युक्त महान् यज्ञोंका अनुष्ठान करके गौओं, अश्वों तथा नाना प्रकारके धनोंसे ब्राह्मणोंको परितृप्त करूँगा।'

दुर्योधन महान् सम्राट् थे, इसमें संदेह नहीं है। परंतु वे बड़े भारी अन्यायी थे, उन्होंने पाण्डवोंको बहुत सताया। पाण्डव लोग धर्मात्मा थे, बलमें भी अद्वितीय थे, परंतु धर्मभीरु थे। युधिष्ठिर तो धर्मराज ही कहलाते थे, और शेष चारों भाई उनके आज्ञानुवर्ती थे। अपनी माता कुन्ती और धर्मपत्नी द्रौपदीके साथ पाँचों पाण्डव भगवान् श्रीवासुदेवके परम प्रियजन थे। भगवान् आर्तोंके—असहायोंके सहायक होते हैं। दुर्योधनने विष देकर भीमसेनको मार डालनेकी चेष्टा की, वारणावतके लाक्षागृहमें कुन्तीसहित पाँचों पाण्डवोंको जला डालनेकी चेष्टा की, जुएमें शकुनिकी सहायतासे छल करके पाण्डवोंका सर्वस्व छीनकर पतिव्रता द्रौपदीको भरी सभामें अपमानित किया, पाण्डवोंको वनवास देकर वन-वन भटकनेके लिये विवश किया। उनके सारे कर्म आततायीपनसे भरे थे। ऐसी अवस्थामें भगवान्का पाण्डव-पक्षमें रहना स्वाभाविक था। इन अत्याचारोंके होते हुए भी दुर्योधन असुर नहीं थे, अपनेको क्षात्रधर्मका अनुवर्तन करनेवाला विशुद्ध क्षत्रिय समझते थे। और तदनुसार वर्तनेकी चेष्टा करते थे, इसी कारण भगवान् श्रीवासुदेव दूत बनकर गये कि वह अपनी भूल सुधार ले, पाण्डवोंके प्रति भाईके समान व्यवहार करनेके लिये राजी हो जाय। लेकिन दुर्योधनको अपने बलका बड़ा घमंड था। वे न माने। फलतः महाभारतका महायुद्ध हुआ, जिसमें उनके पक्षके सब राजा अपनी सारी सेनाओंके साथ मारे गये और अन्तमें दुर्योधन गदायुद्धमें भीमके द्वारा मारे गये। कौरवपक्षके केवल कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कृतवर्मा और युयुत्सु बच रहे।

महावीर कर्ण

कुन्तीकी कुमारावस्थामें सूर्यदेवके द्वारा कर्णकी उत्पत्ति हुई। परंतु लोकापवादके भयसे कुन्तीने उन्हें काष्ठकी पेटीमें सुरक्षित रखकर गङ्गामें बहा दिया था। और अधिरथ नामके सूतकी स्त्री राधाने उन्हें पाल-पोसकर बड़ा बनाया था। इसी कारण उन्हें सूतपुत्र, राधेय आदि नामोंसे पुकारते थे। वे कौरव-पक्षमें अर्जुनके समान धनुर्धर थे। दुर्योधन अर्जुनके पराक्रमको देखकर बहुत घबराते थे, परंतु परीक्षाके समय जब कर्णने आकर अर्जुनके समान पराक्रम दिखला दिया तो तभीसे उन्होंने कर्णको अपना मित्र बना लिया तथा उनको अङ्गदेशका राजा बनाकर अपनेको निर्भय समझने लगे। कर्णकी सहायतापर पूर्णरूपेण निर्भर होनेके कारण ही दुर्योधनने पाण्डवोंके प्रति अपने वैरभावको अन्ततक शान्त न होने दिया। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्मपितामहपर उनको पूरा भरोसा न था। वे इनको उभय-

पक्षीय मानते थे। परंतु कर्णको सर्वथा अपना ही समझते थे; यही नहीं, उनको यह निश्चय हो गया था कि यह अवश्य ही अर्जुनको मार गिरावेगा। कर्ण शूर थे तथा साथ ही कुछ भीरु भी थे। वे गन्धर्वयुद्धमें, गोहरणके युद्धमें तथा महायुद्धमें पराङ्मुख होकर भागते हुए देखे गये थे। **'राधेये शौरभीरुते'**—कर्णमें शौर्य और भीरुता दोनों थी। शौर्य तो क्षत्रिययोनिमें जन्म लेनेके कारण था और भीरुताका कारण था सूतके घरमें उनका पालन-पोषण। परीक्षाके समय कर्णका पराक्रम देखकर युधिष्ठिरके मनमें यह दृढ़ छाप पड़ गयी थी कि कर्णके समान कोई दूसरा धनुर्धर नहीं है। और यह छाप जबतक कर्ण मरे नहीं, तबतक बनी रही। उनको युद्धमें कर्णसे बहुत डर था, इसी कारण उन्होंने कर्णको बिना मारे आये हुए अर्जुनको बहुत कड़ी बातें सुनायी थीं। कर्ण तपस्वी, दाता और उदार थे। वे नित्य प्रातःकाल गङ्गामें खड़े होकर तबतक जप करते रहते थे जबतक सूर्य ढल न जाय। उस समय उनके पास आकर जो कोई जो कुछ माँगता, उसे वे देते थे। कर्णने कवच और कुण्डल पहने ही जन्म लिया था। वे जबतक उसके साथ रहते तबतक उसकी मृत्यु होनेवाली न थी। अतएव अपने पुत्र अर्जुनको बचानेके लिये साक्षात् इन्द्रने ब्राह्मणका वेष धारण करके कर्णके पास आकर कवच-कुण्डलकी याचना की थी। कर्णने उन्हें पहचान लिया, परंतु अपने व्रतकी रक्षाके लिये उन्होंने कवच और कुण्डल उतारकर इन्द्रको दे दिये। इसपर प्रसन्न होकर इन्द्रने उनको एक अमोघ शक्ति दी, जो एक आदमीको मारनेमें पूर्ण समर्थ थी। कर्णने उस शक्तिके प्रयोगसे घटोत्कचको मारा था। कर्ण कृतज्ञ तथा हठीले थे। श्रीकृष्णने संधिदूतका कार्य करके लौटते समय कर्णको अपने रथमें बैठाकर उन्हें बतलाया कि वे सूतपुत्र नहीं, बल्कि कुन्तीपुत्र हैं। और यह भी कहा कि, 'तुम पाण्डव-पक्षमें आ जाओ तो राज्य तुम्हें ही मिलेगा। परंतु कर्णने स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि, 'पाण्डव-पक्षमें आप हैं, इससे जय पाण्डवोंकी ही होगी; परंतु दुर्योधनने मुझको आजतक बहुत मान-सम्मानसे रक्खा है, तथा मेरे ही भरोसे युद्ध खड़ा किया है, ऐसी अवस्थामें यदि मैं उसे छोड़ता हूँ तो यह अन्याय माना जायगा। अतएव मैं ऐसा नहीं कर सकता।' फिर कुन्ती भी वहाँ गङ्गा-तटपर गयी जहाँ कर्ण जप करते थे। और उनके जन्मकी सत्य कथा सुनाकर उसे पाण्डवपक्षमें आनेके लिये कहा। कर्णने उसको भी मार्मिक शब्द सुनाकर अपनी असमर्थता प्रकट की, परंतु उदारतासे यह भी कहा कि 'माँ! या तो अर्जुनसहित तेरे पाँच पुत्र रहेंगे या अर्जुनरहित तेरे पाँच पुत्र रहेंगे। मैं अर्जुनके सिवा तेरे दूसरे पुत्रोंको नहीं मारूँगा।' इस वचनका पालन कर्णने अन्ततक किया। दुर्योधनको न छोड़ना, उनके अडिग व्रत तथा कृतज्ञताका उज्ज्वल दृष्टान्त है। युद्धकी समाप्ति हो जानेपर जलाञ्जलि देते समय कुन्तीने कर्ण किसका पुत्र था, यह रहस्य खोल दिया था। और यह जानकर युधिष्ठिरने जीते-जी ही नहीं, बल्कि स्वर्गमें भी शोक करते हुए उनकी खोज की थी। युधिष्ठिरने जल प्रदान करते समय शोकपूर्वक कहा था कि, 'कर्ण बहुत कुवचन कहते थे, परंतु मेरी माताके समान उनके पैर देखकर मेरा क्रोध शान्त हो जाता था तथा मैं विचारमग्न हो जाता था।' कैसा अदृष्ट बन्धु-प्रेम था! कर्ण दाता, शूर, युद्धकुशल, एकनिष्ठ और उदार थे। इसके साथ-साथ वे अनदेखे, बढ़ावा देनेवाले आत्मप्रशंसक धृष्ट तथा अभिमानी भी थे। इन्हीं दुर्गुणोंके कारण वे अर्जुनसे द्वेष करते थे, और इसीसे वे दुर्योधनके साथ दौड़ जाते थे तथा स्वयं अपकीर्तिके भागी बनते थे। उन्होंने जरासंधको हराया था तथा अकेले ही दिग्विजय किया था। उनका यह कार्य उसके अद्भुत शौर्य तथा शस्त्रास्त्रविद्याके नैपुण्यका सूचक है। महायुद्धमें उन्होंने दो दिन सेनापतिके पदपर रहकर उत्कृष्ट पराक्रम दिखलाया था। अन्तमें ब्राह्मणके शापसे उनका रथचक्र भूमिमें धँस गया और उसको उठानेके लिये वे नीचे उतरे, उसी समय श्रीकृष्णकी प्रेरणासे अर्जुनने उनका सिर काट डाला। वे गौरवर्ण, ऊँचे कदके, प्रचण्ड तेजस्वी तथा प्रभावशाली पुरुष थे। वे दाताके रूपमें अपने पीछे अमरकीर्ति छोड़ गये हैं। साथ ही दुर्योधनके पाप-सम्बन्धसे अपकीर्ति भी छोड़ गये हैं। उनके जीवनमें जो सबसे बड़ी कालिमा है, वह है राजसभामें द्रौपदीके प्रति उनकी अधम वाणी। वहाँ द्रौपदीको उन्होंने वेश्याकी उपमा देते हुए कहा है—

अस्या सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः।
एकाम्बरधरत्वं वाप्यथ वापि विवस्त्रता॥

(सभा० ६८। ३६)

'इसको सभामें लाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह एकवस्त्रा हो या नंगी हो तो भी यहाँ लायी जा सकती है।' यह निश्चयपूर्वक अधिरथके घरमें प्राप्त निम्नकोटिके संस्कारोंका ही परिणाम था। उच्चकुलमें उत्तम रजवीर्यसे उत्पन्न बुद्धिमान् पुरुष भी कुसङ्गसे कितना गिर जाता है—इसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। कर्ण बड़े ही आत्माभिमानी थे। इसी कारण आत्मश्लाघामें वे इतने आगे बढ़ जाते थे कि भीष्म-द्रोण आदि गुरुजनोंके लिये भी असह्य हो जाते। गुरुजन तो पाण्डवोंको अजेय बतलाते थे और दुर्योधनको उनके साथ संधि करके चलनेकी सम्मति देते थे। निश्चय ही उनकी यह सम्मति निष्पक्ष होती थी। और कौरवोंके लिये कल्याणजनक थी। परंतु कर्णके लिये पाण्डवोंकी प्रशंसा असह्य थी। वे सदा उनका पराभव ही चाहते थे।

उनकी डींग हाँकनेकी आदत भी थी, और वह गुरुजनोंको प्रायः अप्रिय हो जाती थी। विराटकी गौओंके अपहरणके अवसरपर उनका डींग मारना सुनकर कृपाचार्यसे नहीं रहा गया। वे बोले—

सदैव तव राधेय युद्धे क्रूरतरा मतिः।
नार्थानां प्रकृतिं वेत्सि नानुबन्धमवेक्षसे॥
(विराट० ४९। १)

'कर्ण! युद्धके विषयमें तुम्हारा विचार सदा ही अति क्रूर होता है। न तो तुम कार्यकी प्रकृतिको समझते हो, न परिणामको देखते हो।' यहाँ कृपाचार्यने कर्णकी प्रकृतिकी यथावत् आलोचना की है; फिर आगे वे कहते हैं कि 'अर्जुनको जीतना आसान नहीं है। उसने अकेले ही उत्तरकुरु देशपर विजय प्राप्त की, अकेले खाण्डववनको दग्ध कर डाला, अकेले ही पाँच वर्षतक तप करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन किया, अकेले ही सुभद्राका अपहरण करके स्वयं श्रीकृष्णको द्वन्द्व-युद्धके लिये ललकारा, अकेले ही किरातवेषधारी शङ्करसे युद्ध किया इत्यादि अनेकों वीरतापूर्ण कार्य किये। और कर्ण! तुमने अकेले क्या किया?

अश्वत्थामाने भी कहा—

न च तावज्जिता गावो न च सीमान्तरं गताः।
न हास्तिनपुरं प्राप्तास्त्वं च कर्ण विकत्थसे॥
(विराट० ५०। १)

'कर्ण! अभी तो हमने न गौओंको जीता, न मत्स्यदेशकी सीमाके बाहर गये और न हस्तिनापुर पहुँचे और तुम व्यर्थ डींग हाँकते हो।' सचमुच वीर पुरुषोंको अपेक्षाकृत अल्पशक्ति रखनेवालोंकी डींग असह्य हो जाती है। इसी कारण भीष्मने उनकी भर्त्सना की थी, और उससे रुष्ट होकर कर्णने प्रण किया था कि 'जबतक भीष्म सेनापति रहेंगे, मैं युद्ध नहीं करूँगा।'

परंतु जब शरशय्यापर भीष्मपितामह लेटे थे, उस समय कर्ण उनके पास गये और गद्गदस्वरसे बोले—'भीष्म! भीष्म! हे महाबाहो, हे महातेजस्विन्! मैं राधापुत्र कर्ण हूँ, जो सदा ही आपकी आँखोंका काँटा बना रहा।' यह सुनकर भीष्मने आँखें खोलीं और कर्णको एक हाथसे पकड़कर छातीसे लगा लिया, बोले—'कर्ण! तू मुझसे स्पर्धा करता रहा है! यदि तू आज मेरे पास नहीं आता तो निश्चय ही तेरा कल्याण नहीं होता। तू राधापुत्र नहीं, कुन्तीपुत्र है, सूर्यसे उत्पन्न हुआ है। और मैं सत्य कहता हूँ, बेटा! मेरे मनमें तेरे प्रति द्वेष नहीं है। तू जो अकारण ही पाण्डवोंकी निन्दा करता था, इसी कारण मैंने तुझको परुष वाक्य कहे थे। मैं जानता हूँ कि राजा दुर्योधनके द्वारा प्रेरित होकर ही तू ऐसा करता था।

'नीच-आश्रय और ईर्ष्याके कारण तेरी गुणवान् पाण्डवोंमें भी द्वेषबुद्धि देखकर मैंने कौरवसभामें तुझे खरी-खोटी सुनायी थी। मैं यह जानता हूँ कि संसारमें युद्धमें प्रकट हुआ तेरा पराक्रम शत्रुओंके लिये असह्य है। तू तेजस्वी है, शूरवीर है और दानियोंमें श्रेष्ठ है'। इस प्रकार कर्णकी प्रशंसा करते हुए भीष्मने कहा कि 'यदि तू मेरा प्रिय कार्य करना चाहता है तो पाण्डवोंसे मिल जा।' भीष्मके ऐसा कहनेपर भी कर्णने वही उत्तर दिया, जो वे वासुदेव श्रीकृष्णको दे चुके थे—

भुक्त्वा दुर्योधनैश्वर्यं न मिथ्याकर्तुमुत्सहे॥
वसुदेवसुतो यद्वत् पाण्डवाय दृढव्रतः।
वसु चैव शरीरं च पुत्रदारं तथा यशः॥
सर्वं दुर्योधनस्यार्थे त्यक्तं मे भूरिदक्षिणः।

'पितामह! दुर्योधनके दिये ऐश्वर्यका भोग करके मैं मिथ्या आचरण करनेका साहस नहीं कर सकता। जिस प्रकार पाण्डवोंके लिये वासुदेव दृढ़व्रती हैं, उसी प्रकार मैंने अपना तन-धन, स्त्री-पुत्र, यश—सब कुछ दुर्योधनके लिये त्याग दिया है।' अन्तमें चलते समय कर्णने क्षमा-प्रार्थना करते हुए भीष्मसे कहा—

दुरुक्तं विपरीतं वा रभसात् चापलात् तथा।
यन्मयेह कृतं किंचित् तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि॥

'मैंने चपलतावश या उतावलीमें जो कुछ दुर्वचन या विपरीत वचन कहा हो, उसे आप क्षमा करेंगे।'

इस प्रकरणमें कर्णके चरित्रका बड़ा सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है। वस्तुतः कर्ण स्वयं देवपुत्र होनेके कारण दिव्य गुणोंसे युक्त थे, परंतु कुसङ्गमें रहनेके कारण उसके दोष उनमें आ जाते थे।

पतिभक्ता गान्धारी

संसारकी पतिव्रता देवियोंमें गान्धारीका स्थान बहुत ऊँचा है। ये गन्धारराज सुबलकी पुत्री और शकुनिकी बहिन थीं। इन्होंने कुमारी-अवस्थामें ही भगवान् शङ्करकी बड़ी आराधना की और उनसे सौ पुत्रोंका वरदान प्राप्त किया। जब इन्हें मालूम हुआ कि इनका विवाह नेत्रहीन धृतराष्ट्रसे होनेवाला है, उसी समयसे इन्होंने अपनी दोनों आँखोंपर पट्टी बाँध ली। इन्होंने सोचा कि जब मेरे पति ही नेत्रसुखसे वञ्चित हैं, तब मुझे संसारको देखनेका क्या अधिकार है। उस समयसे जबतक ये जीवित रहीं, अपने उस दृढ़ निश्चयपर अटल रहीं। पतिके लिये इन्द्रियसुखके त्यागका ऐसा अनूठा उदाहरण संसारके इतिहासमें कहीं नहीं मिलता। इनका यह तप और त्याग अनुपम था, संसारके लिये एक अनोखी वस्तु थी।

ये सदा अपने पतिके अनुकूल रहीं। इन्होंने ससुरालमें आते ही अपने चरित्र और सद्गुणोंसे पति एवं उनके सारे परिवारको मुग्ध कर लिया। धन्य पतिप्रेम !

देवी गान्धारी जैसी पतिव्रता थीं, वैसी ही निर्भीक और न्यायप्रिय भी थीं। ये सदा सत्य, नीति और धर्मका ही पक्ष लेती थीं, अन्यायका कभी समर्थन नहीं करती थीं। इनके पुत्रोंने देवी द्रौपदीके साथ भरी सभामें जो अत्याचार किया था, उसका इनके मनमें बड़ा दुःख था। वे इस बातसे अपने पुत्रोंपर प्रसन्न नहीं हुईं। जब इनके पति राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रकी बातोंमें आकर दुबारा पाण्डवोंको द्यूतके लिये बुला भेजा, उस समय वे बड़ी दुखी हुईं। इन्होंने जुएका विरोध करते हुए अपने पतिदेवसे कहा—'स्वामी ! दुर्योधन जन्मते ही गीदड़के समान रोने-चिल्लाने लगा था, इसलिये उसी समय परम ज्ञानी विदुरने कहा था कि इस पुत्रका परित्याग कर दो। मुझे तो वह बात याद करके यही जान पड़ता है कि यह कुरुवंशका नाश करके छोड़ेगा। आर्यपुत्र ! आप अपने दोषसे सबको विपत्तिमें न डालिये। इन ढीठ मूर्खोंकी हाँ-में-हाँ न मिलाइये। इस वंशके नाशका कारण मत बनिये। बँधे हुए पुलको मत तोड़िये। बुझी हुई आग फिर धधक उठेगी। पाण्डव शान्त हैं और वैर-विरोधसे विमुख हैं। उनको अब क्रोधित करना ठीक नहीं। यद्यपि यह बात आप जानते हैं, फिर भी मैं आपको याद दिलाती हूँ। दुर्बुद्धि पुरुषके चित्तपर शास्त्रके उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता। परंतु आप वृद्ध होकर बालकोंकी-सी बात करें—यह अनुचित है। इस समय आप अपने पुत्रतुल्य पाण्डवोंको अपनाये रक्खें। कहीं वे दुखी होकर आपसे विलग न हो जायँ। कुलकलङ्क दुर्योधनको त्यागना ही श्रेयस्कर है। मैंने मोहवश उस समय विदुरजीकी बात नहीं मानी, उसीका यह फल है। शान्ति, धर्म और मन्त्रियोंकी सम्मतिसे अपनी विचारशक्तिको सुरक्षित रखिये। प्रमाद मत कीजिये। बिना विचारे काम करना आपके लिये बड़ा दुःखदायी सिद्ध होगा, राजलक्ष्मी क्रूरके हाथमें पड़कर उसीका सत्यानाश कर देती है।' गान्धारीके इन वाक्योंसे धर्म, नीति और निष्पक्षता टपकी पड़ती है। ये दुर्योधनको भी उसकी अनुचित कार्रवाइयोंपर बराबर टोकती रहती थीं, उसकी उद्दण्डताके लिये उसे फटकारती थीं और उसकी अनीतिके भावी दुष्परिणामका भयंकर चित्र उसके सामने खींचा करती थीं। पर दुर्योधनके सिरपर काल नाच रहा था, वह उसे इन सबकी हितभरी बातोंपर ध्यान नहीं देने देता था।

पाण्डवोंकी ओरसे संधिका प्रस्ताव लेकर जब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुर गये और वे भी दुर्योधनको समझाकर हार गये, तब धृतराष्ट्रने देवी गान्धारीको बुलाकर उनसे कहा कि 'अब तुम्हीं अपने पुत्रको समझाओ, वह हमलोगोंमेंसे तो किसीकी भी बात नहीं सुनता।' पतिकी यह बात सुनकर गान्धारीने कहा—'राजन् ! आप पुत्रके मोहमें फँसे हुए हैं, इसलिये इस विषयमें सबसे अधिक दोषी तो आप ही हैं। आप यह जानकर भी कि दुर्योधन बड़ा पापी है, उसीकी बुद्धिके पीछे चलते रहे हैं। दुर्योधनको तो काम, क्रोध और लोभने अपने चंगुलमें फँसा रक्खा है। अब आप बलात्कारसे भी उसे इस मार्गसे नहीं हटा सकेंगे। आपने इस मूर्ख, दुरात्मा, कुसङ्गी और लोभी पुत्रको बिना कुछ सोचे-समझे राज्यकी बागडोर सौंप दी; उसीका आप यह फल भोग रहे हैं। आप अपने घरमें जो फूट पड़ रही है, उसकी उपेक्षा किये चले जा रहे हैं। ऐसा करके तो आप पाण्डवोंकी दृष्टिमें अपने-आपको हास्यास्पद बना रहे हैं। देखिये, यदि साम या भेदसे ही विपत्ति टाली जा सकती हो तो कोई भी बुद्धिमान् स्वजनोंके प्रति दण्डका प्रयोग क्यों करेगा।' गान्धारीकी यह युक्ति कैसी निर्भीक, निष्पक्ष, हितभरी, नीतिपूर्ण और सच्ची थी !

इसके बाद गान्धारीने अपने पुत्रको भी बुलाकर उसे समझाना शुरू किया। वे बोलीं—'बेटा ! मेरी बात सुनो। तुमसे तुम्हारे पिता, भीष्मजी, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और विदुरजीने जो बात कही है, उसे स्वीकार कर लो। यदि तुम पाण्डवोंसे संधि कर लोगे तो सच मानो, इससे पितामह भीष्मजीकी, तुम्हारे पिताजीकी, मेरी और द्रोणाचार्य आदि हितैषियोंकी तुम्हारे द्वारा बड़ी सेवा होगी। बेटा ! राज्यको पाना, बचाना और भोगना अपने हाथकी बात नहीं है। जो पुरुष जितेन्द्रिय होता है, वही राज्यकी रक्षा कर सकता है। काम और क्रोध तो मनुष्यको अर्थसे च्युत कर देते हैं। इन दोनों शत्रुओंको जीतकर तो राजा सारी पृथ्वीको जीत सकता है। देखो—जिस प्रकार उद्दण्ड घोड़े मार्गमें ही मूर्ख सारथिको मार डालते हैं, उसी प्रकार यदि इन्द्रियोंको काबूमें न रक्खा जाय तो वे मनुष्यका नाश करनेके लिये पर्याप्त हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं और जो सब काम सोच समझकर करता है, उसके पास चिरकालतक लक्ष्मी बनी रहती है। तात ! तुम्हारे दादा भीष्मजीने और गुरु द्रोणाचार्यजीने जो बात कही है, वह बिल्कुल ठीक है। वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता। इसलिये तुम श्रीकृष्णकी शरण लो। यदि ये प्रसन्न रहेंगे तो दोनों ही पक्षोंका हित होगा। वत्स ! युद्ध करनेमें कल्याण नहीं है। उसमें धर्म और अर्थ भी नहीं है तो सुख कहाँसे होगा। यदि तुम अपने मन्त्रियोंके सहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवोंका जो न्यायोचित भाग है, वह उन्हें दे दो। पाण्डवोंको जो तेरह वर्षतक घरसे बाहर रक्खा गया, यह भी बड़ा अपराध हुआ है। अब संधि करके इसका मार्जन कर दो तात ! संसारमें लोभ करनेसे किसीको सम्पत्ति नहीं मिलती

अतः तुम लोभ छोड़ दो और पाण्डवोंसे संधि कर लो।' कैसा हितपूर्ण और मार्मिक उपदेश था। इससे पता चलता है कि गान्धारी विदुषी थीं तथा वे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा भी जानती थीं।

फिर भी दुष्ट दुर्योधनपर गान्धारीके इस उत्तम उपदेशका कोई असर नहीं हुआ। उसने अपनी जिद नहीं छोड़ी। परिणाम यह हुआ कि दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं और अठारह दिनोंतक कुरुक्षेत्रके मैदानमें भीषण मार-काट हुई। युद्धके दिनोंमें दुर्योधन प्रतिदिन इनसे प्रार्थना करता कि 'माँ! मैं शत्रुओंके साथ लोहा लेने जा रहा हूँ; आप मुझे आशीर्वाद दीजिये, जिससे युद्धमें मेरा कल्याण हो।' गान्धारी-में पातिव्रत्यका बड़ा तेज था। वे यदि पुत्रको विजयका आशीर्वाद दे देतीं तो वह अन्यथा न होता। परंतु वे देतीं कैसे? वे जानती थीं कि दुर्योधन अत्याचारी है। अत्याचारी-के हाथोंमें कभी राज्यलक्ष्मी टिक नहीं सकती, इसीलिये वे हर बार यही उत्तर देतीं—'बेटा! जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। विजय चाहते हो तो धर्मका आश्रय लो, अधर्मका परि-त्याग करो।' उन्होंने दुर्योधनका कभी पक्ष नहीं लिया। परंतु जब उन्होंने सुना कि मेरे सौ-के-सौ पुत्र मारे गये तो शोकके वेगसे उनका क्रोध उभड़ पड़ा और वे पाण्डवोंको शाप देनेका विचार करने लगीं। भगवान् वेदव्यास तो मन-की बात जान लेते थे। उन्हें जब इस बातका पता लगा तो उन्होंने गान्धारीके पास आकर उन्हें सान्त्वना दी और उनको असत्-सङ्कल्पसे रोका। उस समय पाण्डव भी वहाँ मौजूद थे।

गान्धारीने व्यासजीसे कहा—'भगवन्! पाण्डवोंके प्रति मेरे मनमें द्वेषभाव नहीं है। मैं इनका नाश नहीं चाहती हूँ। पुत्रशोकके कारण बलात् मेरा मन विह्वल हो रहा है। पाण्डवोंकी रक्षा कुन्तीके समान ही मुझे करनी चाहिये। आप जैसे उनकी रक्षा करना चाहते हैं, धृतराष्ट्रके द्वारा भी वे उसी प्रकार रक्षणीय हैं। मैं जानती हूँ कि कुरुवंशका नाश दुर्योधन, शकुनि, कर्ण और दुःशासनके द्वारा हुआ है; युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल-सहदेवका इसमें अपराध नहीं है। युद्धमें लड़ते हुए कौरव मारे गये, इसमें कोई दुःखकी बात नहीं है; परंतु महात्मा वासुदेवके सामने गदायुद्धमें बुलाकर युद्ध करते हुए नाभिसे नीचे प्रहार करके भीमने जो दुष्कर्म किया, इसे याद करके मेरा क्रोध बढ़ रहा है।'

गान्धारीकी यह बात सुनकर भीमसेन डरते हुए विनयपूर्वक बोले—'माता! भयसे मैंने आत्मरक्षाके लिये जो अधर्म या धर्म किया, उसे आप कृपया क्षमा करें। वह तुम्हारा महाबली पुत्र धर्मसे किसीके द्वारा परास्त नहीं हो सकता था, इसी कारण मैंने वह विषम कृत्य किया। उसने पहले युधिष्ठिरको अधर्मसे ही जीतकर हमको विपत्तिमें डाला था। यह सोचकर ही वह विषम कृत्य मैंने किया। यह वीर्यवान् दुर्योधन अकेला बच गया है, कहीं गदायुद्धमें मुझे मारकर राज्य न ले ले, यह सोचकर ही मैंने वैसा किया। एकवस्त्रा, रजस्वला राजपुत्री पाञ्चालीके साथ उसने जो दुर्व्यवहार किया, वह आपको ज्ञात ही है। उसने जो द्रौपदीके सामने बायीं जङ्घा प्रदर्शित की थी, वह हमारे लिये असह्य था। तुम्हारे पुत्रने उसी समय वध करने योग्य काम किया था, किंतु धर्मराजकी आज्ञा न होनेके कारण वह बच गया था। हे महारानी! आपके पुत्रने ही महान् वैर करके संकट उपस्थित किया था, उसीके कारण हमको वनमें बड़ा कष्ट भोगना पड़ा, इसीलिये मैंने वैसा कर्म किया।'

भीमसेनके इस उत्तरको सुनकर गान्धारीने कहा—'हे वृकोदर! तुम्हारी सारी बातें मैं मानती हूँ, परंतु तुमने जो दुःशासनका रक्तपान किया, वह बड़ा ही निन्दनीय, भयङ्कर और अनार्योंके कर्म-जैसा है। यह क्रूर कर्म जो तुमने किया, वह ठीक नहीं था।' यह सुनकर भीमसेनने कहा—'माता! दूसरेका खून नहीं पीना चाहिये, अपना खून पीनेकी तो बात ही क्या? जैसा अपना खून है, वैसा ही भाईका! माँ! सोच न करो, सूर्यनारायण साक्षी हैं कि खून मेरे ओठोंके भीतर नहीं गया, केवल दोनों हाथ खूनसे लथपथ थे। हे महारानी, द्रौपदीके केश पकड़कर खींचे जाते समय क्रोधवश होकर जो प्रतिज्ञा मैंने की थी, उसे पूरा नहीं करता तो धर्म-च्युत होनेके कारण अनन्तकालतक निन्दाका पात्र बनता। आपने पहले अपने पुत्रोंको नहीं सँभाला, अब मुझ अपकार न करनेवालेपर आप क्यों शङ्का करती हैं?'

गान्धारीने कहा—'तात! मेरे सौ पुत्रोंमें अल्प अपराधी किसी एक पुत्रको भी तुमने नहीं छोड़ा, जो हमारे बुढ़ापेकी लकड़ी बनता।

'यदि तुम धर्मका आचरण करते तो मेरे पुत्रोंका वध करनेपर भी मुझे तुमको देखकर दुःख नहीं होता।'

भीम और गान्धारीके इस वार्तालापसे स्पष्ट हो जाता है कि गान्धारीका हृदय कितना विशाल था, तथा उसमें कितनी धर्मप्रियता थी। परंतु माताका हृदय था, पुत्रोंको कुमार्गी देखकर भी माता पुत्रहीना नहीं रहना चाहती। इसी कारण उसके मनमें बड़ा क्षोभ था। यदि उसका कोई एक भी पुत्र जीता बचा होता तो धर्माचारिणी गान्धारी अपने दुर्योधन आदि कुपुत्रोंके मरनेपर दुखी न होती। अपने सौ पुत्रोंको मारनेवाले भीमसे इस प्रकार नीति और प्रीति-युक्त धर्मकी चर्चा गान्धारी-जैसी सतीके सिवा दूसरी स्त्री नहीं कर सकती।

माता गान्धारीके मनमें क्षोभ देखकर युधिष्ठिर उनके पास गये और अपनेको धिक्कारते हुए ज्यों ही उनके चरणोंपर गिरने लगे कि गान्धारीकी क्रोधभरी दृष्टि पट्टीमेंसे होकर महाराज युधिष्ठिरके नखोंपर पड़ी । इससे उनके सुन्दर लाल-लाल नख उसी समय काले पड़ गये। यह देखकर उनके भाई भी मारे भयके इधर-उधर छिपने लगे । उन्हें इस प्रकार कसमसाते देखकर गान्धारीका क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने माताके समान पाण्डवोंको धीरज दिया । उपर्युक्त घटनासे गान्धारीके अनुपम पातिव्रत्य-तेजका पता लगता है । अन्तमें गान्धारीने अपना क्रोध श्रीकृष्णपर निकाला । अथवा यों कहना चाहिये कि अन्तर्यामी श्रीकृष्णने ही उनकी मति पलटकर पाण्डवोंको उनके कोपसे बचा लिया और उनका अभिशाप अपने ऊपर ले लिया । देवी गान्धारीने कुरुक्षेत्रमें जाकर जब वहाँका हृदयविद्रावक दृश्य देखा तो वे अपने शोकको सँभाल न सकीं । वे क्रोधमें भरकर श्रीकृष्णसे बोलीं—'कृष्ण ! पाण्डव और कौरव अपनी फूटके कारण ही नष्ट हुए हैं; किंतु तुमने समर्थ होते हुए भी अपने सम्बन्धियोंकी उपेक्षा क्यों कर दी ? तुम्हारे पास अनेकों सेवक थे और बड़ी भारी सेना भी थी । तुम दोनोंको दबा सकते थे और अपने वाक्कौशलसे उन्हें समझा भी सकते थे । परंतु तुमने जान-बूझकर कौरवोंके संहारकी उपेक्षा कर दी । इसलिये अब तुम उसका फल भोगो । मैंने पतिकी सेवा करके जो तप संचय किया है, उसीके बलपर मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि जिस प्रकार परस्पर युद्ध करते हुए कौरव और पाण्डवोंकी तुमने उपेक्षा कर दी, उसी प्रकार तुम अपने बन्धु-बान्धवोंका भी वध करोगे और स्वयं भी अनाथकी तरह मारे जाओगे । आज जैसे ये भरतवंशकी स्त्रियाँ आर्त्तनाद कर रही हैं, उसी प्रकार तुम्हारे कुटुम्बकी स्त्रियाँ भी अपने बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेपर सिर पकड़कर रोयेंगी ।'

गान्धारीके ये कठोर वचन सुनकर महामना श्रीकृष्ण मुसकराये और बोले—'मैं तो जानता था कि यह बात इसी तरह होनेवाली है । शाप देकर तुमने होनीको ही बतलाया है । इसमें संदेह नहीं वृष्णिवंशका नाश दैवी कोपसे ही होगा । इसका नाश भी मेरे सिवा और कोई नहीं कर सकता । मनुष्य क्या, देवता या असुर भी इनका संहार नहीं कर सकते । इसलिये ये यदुवंशी आपसके कलहसे ही नष्ट होंगे ।'

देवी गान्धारीके सौ पुत्र मारे गये, एक भी उनमेंसे जीता न बचा, इसके शोकसे वह दुखी थी ही; परंतु जब उसने द्रौपदीको पृथ्वीपर शोकसे परिप्लुत होकर रोते देखा तो उसको अपना दुःख भूल गया, वह द्रौपदीको सान्त्वना देने लगी—'हे पुत्रि ! इस प्रकार शोकार्त न हो । देखो, मैं भी तुम्हारी ही भाँति दुःखिता हूँ । मैं समझती हूँ कि यह जो जनसंहार हुआ है, दैवकी प्रेरणासे हुआ है । यह अवश्यम्भावी था, विदुरने इसके लिये पहले ही भविष्यद्वाणी की थी । हे कृष्णे ! युद्धमें मरनेवालोंके लिये शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे स्वर्ग चले गये हैं, इसलिये अशोच्य हैं ।

> **यथैवाहं तथैव त्वं को नावाश्वासयिष्यति ।**
> **ममैव ह्यपराधेन कुलमग्र्यं विनाशितम् ॥**
>
> (स्त्रीपर्व १५ । ४४)

'जो मेरी हालत है वही तेरी है । हमको कौन आश्वासन देगा । कृष्णे ! मेरे ही अपराधसे इस श्रेष्ठ कुलका विनाश हुआ है ।'—यह आश्वासन देवी गान्धारीके हृदयकी विशालताको व्यक्त करता है ।

युधिष्ठिरके राज्याभिषेकके बाद देवी गान्धारी कुछ समयतक उन्हींके पास रहकर अन्तमें अपने पतिके साथ वनमें चली गयीं और वहाँ तपस्वियोंका-सा जीवन बिताकर तपस्वियोंकी भाँति ही उन्होंने अपने पतिके साथ दावाग्निसे अपने शरीरको जला डाला और पतिके साथ ही कुबेरके लोकमें चली गयीं । इस प्रकार पतिपरायणा गान्धारीने इस लोकमें पतिकी सेवा करके परलोकमें भी पतिका सान्निध्य एवं सेवा प्राप्त की—जो प्रत्येक पतिव्रताका अभीष्ट लक्ष्य होता है । प्रत्येक पतिव्रता नारीको गान्धारीके चरित्रका मननकर उससे शिक्षा लेनी चाहिये ।

माँ कुन्तीदेवी

कुन्तीदेवी एक आदर्श महिला थीं । ये महात्मा पाण्डवोंकी माता एवं भगवान् श्रीकृष्णकी बूआ थीं । ये वसुदेवजीकी सगी बहिन थीं तथा राजा कुन्तिभोजको गोद दी गयी थीं । जन्मसे इन्हें लोग पृथाके नामसे पुकारते थे, परंतु राजा कुन्तिभोजके यहाँ इनका लालन-पालन होनेसे ये कुन्तीके नामसे विख्यात हुईं । ये बालकपनसे ही बड़ी सुशीला, सदाचारिणी, संयमशीला एवं भक्तिमती थीं । राजा कुन्तिभोजके यहाँ एक बार एक बड़े तेजस्वी ब्राह्मण अतिथिरूपमें आये । इनकी सेवाका कार्य बालिका कुन्तीको सौंपा गया । इसकी ब्राह्मणोंमें बड़ी भक्ति थी और अतिथि-सेवामें बड़ी रुचि थी । राजपुत्री पृथा आलस्य और अभिमानको त्यागकर ब्राह्मणदेवताकी सेवामें तन-मनसे संलग्न हो गयी । उसने शुद्ध मनसे सेवा करके ब्राह्मण देवताको पूर्णतया प्रसन्न कर लिया । ब्राह्मण देवताका व्यवहार बड़ा अटपटा था । कभी वे अनियत समयपर आते, कभी आते ही नहीं और कभी ऐसी चीज खानेको माँगते, जिसका मिलना अत्यन्त कठिन होता । किंतु पृथा उनके सारे काम इस प्रकार कर देती मानो उसने उनके लिये पहलेसे ही तैयारी

माँ कुन्ती
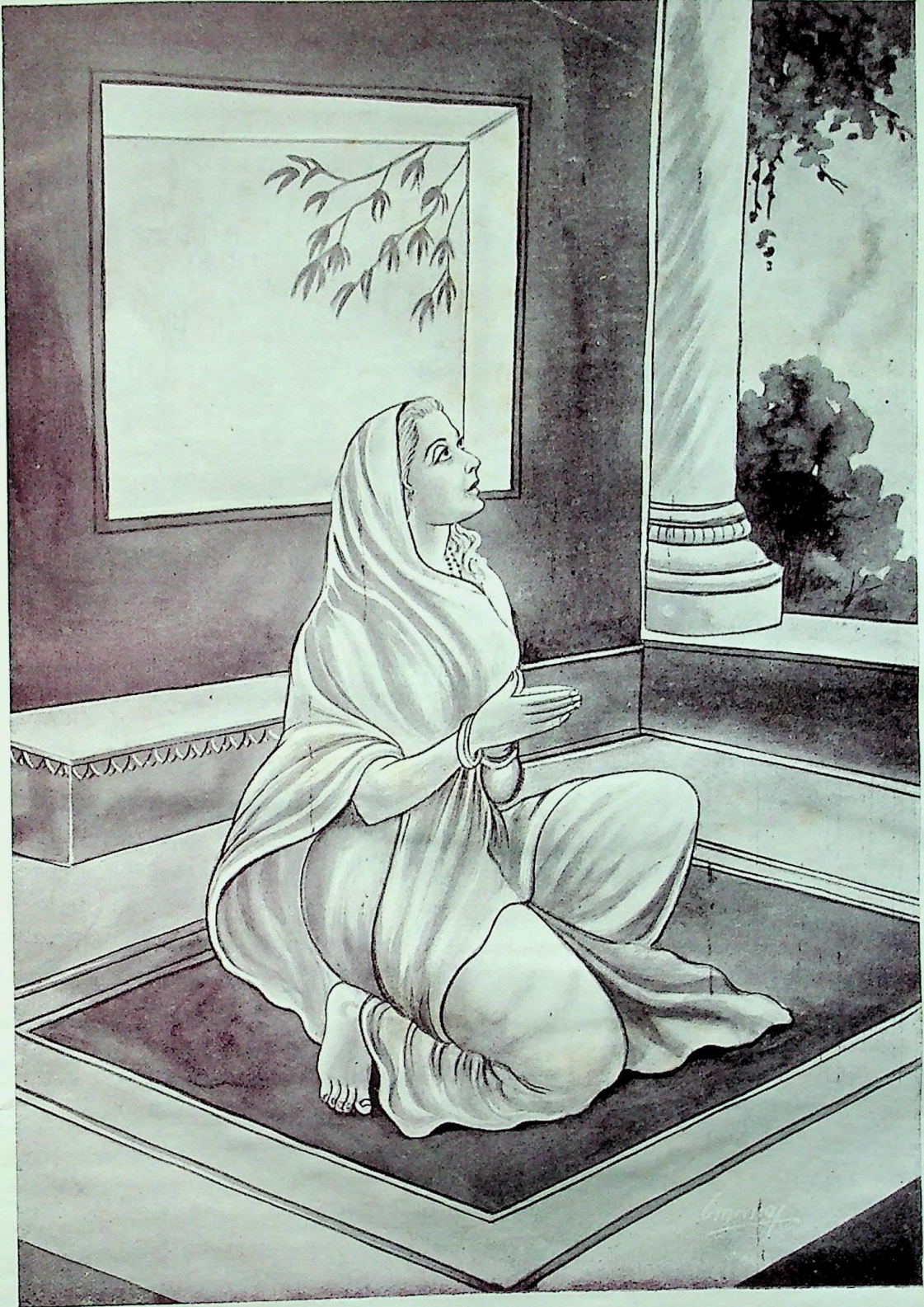
कर रक्खी हो। उसके शीलस्वभाव और संयमसे ब्राह्मणको बड़ा संतोष हुआ। कुन्तीकी यह बचपनकी ब्राह्मण-सेवा उसके लिये बड़ी कल्याणप्रद सिद्ध हुई। और इसीसे उनके जीवनमें संयम, सदाचार, त्याग एवं सेवाभावकी नींव पड़ी। आगे जाकर इन गुणोंका उनके अंदर अद्भुत विकास हुआ।

कुन्तीके अंदर निष्काम भावका विकास भी बचपनसे ही हो गया था। इन्हें बड़ी तत्परता एवं लगनके साथ महात्मा ब्राह्मणकी सेवा करते पूरा एक वर्ष हो गया। इनके सेवामन्त्र-का अनुष्ठान पूरा हुआ। इनकी सेवामें ढूँढ़नेपर भी ब्राह्मण-को कोई त्रुटि नहीं दिखायी दी। तब तो वे इनपर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'बेटी! मैं तेरी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझसे कोई वर माँग ले।' कुन्तीने ब्राह्मणदेवताको बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। श्रीकृष्णकी बूआ और पाण्डवोंकी भावी माताका वह उत्तर सर्वथा अनुरूप था। कुन्तीने कहा—'भगवन्! आप और पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, मेरे सब कार्य तो इसीसे सफल हो गये। अब मुझे वरोंकी कोई आवश्यकता नहीं है।' एक अल्पवयस्क बालिकाके अंदर विलक्षण सेवाभावके साथ-साथ ऐसी निष्कामताका संयोग मणि-काञ्चन-संयोगके समान था। हमारे देशकी बालिकाओं-को कुन्तीके इस आदर्श निष्काम सेवाभावसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अतिथि-सेवा हमारे सामाजिक जीवनका प्राण रही है और उसकी शिक्षा भारतवासियोंको बचपनसे ही मिल जाया करती थी। सच्ची एवं सात्त्विक सेवा वही है, जो प्रसन्नतापूर्वक की जाय—जिसमें भार अथवा उकताहट न प्रतीत हो, और जिसके बदलेमें कुछ न चाहा जाय। आजकलकी सेवामें प्रायः इन दोनों बातोंका अभाव देखा जाता है। प्रसन्नतापूर्वक निष्कामभावसे की हुई सेवा कल्याण-का परम साधन बन जाती है। अस्तु,

जब कुन्तीने ब्राह्मणसे कोई वर नहीं माँगा तो उन्होंने उससे देवताओंके आवाहनका मन्त्र ग्रहण करनेके लिये कहा। वे कुछ-न-कुछ कुन्तीको देकर जाना चाहते थे। अबकी बार ब्राह्मणके अपमानके भयसे वह इन्कार न कर सकी। तब उन्होंने उसे अथर्ववेदके शिरोभागमें आये हुए मन्त्रोंका उपदेश दिया और कहा कि 'इन मन्त्रोंके बलसे तू जिस-जिस देवताका आवाहन करेगी, वही तेरे अधीन हो जायगा।' यों कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये। ये ब्राह्मण और कोई नहीं, उग्रतपा महर्षि दुर्वासा थे। इनके दिये हुए मन्त्रोंके प्रभावसे आगे चलकर कुन्तीने धर्म, वायु, इन्द्रका आवाहन करके इनसे क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनको पुत्ररूपमें प्राप्त किया। उसकी सपत्नी माद्रीको अश्विनीकुमारसे दो पुत्र प्राप्त हुए—नकुल और सहदेव।

कुन्तीका विवाह महाराज पाण्डुसे हुआ था। महाराज पाण्डु बड़े ही धर्मात्मा थे। इनके द्वारा एक बार भूलसे मृगरूपधारी किन्दम मुनिकी हिंसा हो गयी। इस घटनासे इनके मनमें बड़ी ग्लानि और निर्वेद हुआ और इन्होंने सब कुछ त्यागकर वनमें रहनेका निश्चय कर लिया। देवी कुन्ती बड़ी पतिभक्ता थीं। ये भी अपने पतिके साथ इन्द्रियोंको वशमें करके तथा कामजन्य सुखको तिलाञ्जलि देकर वनमें रहनेके लिये तैयार हो गयीं। तबसे इन्होंने जीवनपर्यन्त नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया और संयमपूर्वक रहीं। पतिका स्वर्गवास होनेपर इन्होंने अपने बच्चोंकी रक्षाका भार अपनी छोटी सौत माद्रीको सौंपकर अपने पतिका अनुगमन करनेका विचार किया। परंतु माद्रीने इसका विरोध किया। उसने कहा—'बहिन! मैं अभी युवती हूँ, अतः मैं ही पतिदेवका अनुगमन करूँगी। तुम मेरे बच्चोंकी सँभाल रखना।' कुन्तीने माद्रीकी बात मान ली और अन्ततक उसके पुत्रोंको अपने पुत्रोंसे बढ़कर समझा। सपत्नी एवं उसके पुत्रोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसकी शिक्षा भी हमारी माता-बहिनोंको कुन्तीके जीवनसे लेनी चाहिये। पतिके जीवनकालमें इन्होंने माद्रीके साथ छोटी बहिनका-सा बर्ताव किया और उसके सती होनेके बाद उसके पुत्रोंके प्रति वही भाव रक्खा जो एक साध्वी स्त्रीको रखना चाहिये। सहदेवके प्रति तो उनकी विशेष ममता थी और वह भी इन्हें बहुत अधिक प्यार करता था।

पतिकी मृत्युके बादसे कुन्तीदेवीका जीवन बराबर कष्टमें बीता। परंतु ये बड़ी ही विचारशीला एवं धैर्यवती थीं। अतः इन्होंने कष्टोंकी कुछ भी परवा नहीं की और अन्ततक धर्मपर आरूढ़ रहीं। दुर्योधनके अत्याचारोंको भी ये चुपचाप सहती रहीं। इनका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु था। इन्हें अपने कष्टोंकी कोई परवा नहीं थी, परंतु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकती थीं। लाक्षाभवनसे निकलकर जब ये अपने पुत्रोंके साथ एकचक्रा नगरीमें रहने लगी थीं, उन दिनों वहाँकी प्रजापर एक बड़ा भारी संकट था। उस नगरीके पास ही एक बकासुर नामका राक्षस रहता था। उस राक्षसके लिये नगर-वासियोंको प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे पहुँचाने पड़ते थे। जो मनुष्य इन्हें लेकर जाता, उसे भी वह राक्षस खा जाता। वहाँके निवासियोंको बारी-बारीसे यह काम करना पड़ता था। पाण्डवलोग जिस ब्राह्मणके घरमें भिक्षुकोंके रूपमें रहते थे, एक दिन उसके घरसे राक्षसके लिये आदमी भेजने-की बारी आयी। ब्राह्मण-परिवारमें कुहराम मच गया। कुन्तीको जब इस बातका पता लगा तो उनका हृदय दयासे भर आया। उन्होंने सोचा—'हमलोगोंके रहते ब्राह्मण-परिवारको कष्ट भोगना पड़े, यह हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात होगी। फिर हमारे तो ये आश्रयदाता हैं, इनका प्रत्युपकार हमें किसी-न-किसी रूपमें करना ही चाहिये। अवसर आनेपर

उपकारीका प्रत्युपकार न करना धर्मसे च्युत होना है । जब इनके घरमें हमलोग रह रहे हैं तो इनका दुःख बँटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है ।' यों विचारकर कुन्ती ब्राह्मणके घर गयीं । उन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रके साथ बैठे हैं । वे अपनी स्त्रीसे कह रहे हैं, 'तुम कुलीन, शीलवती और बच्चोंकी माँ हो । मैं राक्षससे अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें उसके पास नहीं भेज सकता ।' पतिकी बात सुनकर ब्राह्मणीने कहा—'नहीं, मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी । पत्नी-के लिये सबसे बढ़कर सनातन कर्तव्य यही है कि वह अपने प्राणोंको निछावर करके पतिकी भलाई करे । स्त्रियोंके लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि वे अपने पतिसे पहले ही परलोकवासिनी हो जायँ । यह भी सम्भव है कि स्त्रीको अवध्य समझकर वह राक्षस मुझे न मारे । पुरुषका वध निर्विवाद है और स्त्रीका संदेहग्रस्त, इसलिये मुझे ही उसके पास भेजिये ।' माँ-बापकी दुःखभरी बात सुनकर कन्या बोली—'आप क्यों रो रहे हैं ? देखिये, धर्मके अनुसार आप दोनों मुझे एक-न-एक दिन छोड़ देंगे । इसलिये आज ही मुझे छोड़कर अपनी रक्षा क्यों नहीं कर लेते ? लोग संतान इसीलिये चाहते हैं कि वह हमें दुःखसे बचावे ।' यह सुनकर माँ-बाप दोनों रोने लगे; कन्या भी रोये बिना न रह सकी । सबको रोते देखकर नन्हा-सा ब्राह्मण-बालक कहने लगा—'पिताजी ! माताजी ! बहिन ! मत रोओ ।' फिर उसने एक तिनका उठाकर हँसते हुए कहा—'मैं इसीसे राक्षसको मार डालूँगा ।' तब सब लोग हँस पड़े । कुन्ती यह सब देख-सुन रही थीं । वे आगे बढ़कर उनसे बोलीं—'महाराज ! आपके तो एक पुत्र और एक ही कन्या है । मेरे आपकी दयासे पाँच पुत्र हैं । राक्षसको भोजन पहुँचानेके लिये मैं उनमेंसे किसीको भेज दूँगी, आप घबरायें नहीं ।' ब्राह्मणदेवताने कुन्तीदेवीके इस प्रस्तावको सुनते ही अस्वीकार कर दिया । उन्होंने कहा—'देवि ! आपका इस प्रकार कहना आपके अनुरूप ही है; परंतु मैं तो अपने लिये अपने अतिथिकी हत्या नहीं करा सकता ।' कुन्तीने उन्हें बतलाया कि 'मैं अपने जिस पुत्रको राक्षसके पास भेजूँगी, वह बड़ा बलवान्, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है; उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता ।' इसपर ब्राह्मण राजी हो गये । तब कुन्तीने भीमसेनको उस कामके लिये राक्षसके पास भेज दिया । भला, दूसरोंकी प्राणरक्षाके लिये इस प्रकार अपने हृदयके टुकड़ेका जान-बूझकर कोई माता बलिदान कर सकती है ! कहना न होगा कि कुन्तीके इस आदर्श त्यागके प्रभावसे संसारपर बहुत ही अच्छा असर पड़ा । अतएव सभीको इससे शिक्षा लेनी चाहिये ।

कुन्तीदेवीका सत्यप्रेम भी आदर्श था । ये विनोदमें भी कभी झूठ नहीं बोलती थीं । भूलसे भी इनके मुँहसे जो बात निकल जाती थी, उसका ये जी-जानसे पालन करती थीं । इस प्रकारकी सत्यनिष्ठा इतिहासके पन्ने उलटनेपर भी दूसरी जगह प्रायः नहीं देखनेमें आती । अर्जुन और भीम स्वयंवरमें द्रौपदीको जीतकर जब माताके पास लाये और कहा कि 'माता ! आज हम यह भिक्षा लाये हैं' इन्होंने उन्हें बिना देखे ही कह दिया—'बेटा ! पाँचों भाई मिलकर इसका उपयोग करो ।' जब इन्हें मालूम हुआ कि ये एक कन्या लाये हैं, तब तो ये बड़े असमंजसमें पड़ गयीं । इन्होंने सोचा—'यदि मैं अपनी बात वापस लेती हूँ तो असत्यका दोष लगता है; और यदि अपने पुत्रोंको उसीके अनुसार चलनेके लिये कहती हूँ तो सनातन मर्यादाका लोप होता है ।' पाँच भाइयोंका एक स्त्रीसे विवाह हो—यह पहले कभी नहीं देखा-सुना गया था । ऐसी स्थितिमें कुन्तीदेवी कुछ भी निश्चय न कर सकीं, वे किंकर्तव्यविमूढ हो गयीं । अन्तमें उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरकी सम्मति पूछी और उन्होंने भी इन्हें सत्यपर कायम रहनेकी ही सलाह दी । पीछे राजा द्रुपदकी ओरसे आपत्ति होनेपर वेदव्यासजीने द्रौपदीके पूर्वजन्मोंकी कथा कहते हुए उन्हें समझाया कि शङ्करजीके वरदानसे ये पाँचों ही द्रुपदकुमारीका पाणिग्रहण करेंगे । इस प्रकार पाँचोंके साथ द्रुपदकुमारी विधिपूर्वक ब्याह दी गयीं । कुन्तीदेवीकी सत्यनिष्ठाकी विजय हुई । उनके मुखसे हठात् ऐसी ही बात निकली, जो होनेवाली थी । सत्यका दृढ़तापूर्वक आश्रय लेनेपर ऐसा होना किसीके लिये भी असम्भव नहीं है । अस्तु,

कुन्तीदेवीका जीवन शुरूसे अन्ततक बड़ा ही त्यागपूर्ण, तपस्यामय और अनासक्त था । पाण्डवोंके वनवास एवं अज्ञातवासके समय ये उनसे अलग हस्तिनापुरमें ही रहीं और वहींसे इन्होंने अपने पुत्रोंके लिये अपने भतीजे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा क्षत्रियधर्मपर डटे रहनेका संदेश भेजा । इन्होंने विदुला और संजयका दृष्टान्त देकर बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें उन्हें कहला भेजा—'पुत्रो ! जिस कार्यके लिये क्षत्राणी पुत्र उत्पन्न करती है, उस कार्यके करनेका समय आ गया है । * इस समय तुमलोग मेरे दूधको न लजाना ।' महाभारत-युद्धके समय भी ये वहीं रहीं और युद्ध-समाप्तिके बाद जब धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुए और इन्हें राजमाता बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, उस समय इन्होंने पुत्रवियोगसे दुखी अपने जेठ-जेठानीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया और द्वेष एवं अभिमानरहित होकर उनकी सेवामें अपना समय बिताने लगीं । यहाँतक कि जब ये दोनों युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर वन जाने लगे, उस समय ये चुपचाप उनके सङ्ग हो लीं और युधिष्ठिर

* एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ।
(महा० उद्योग० १३६ । ९-१०)

आदिके समझानेपर भी अपने दृढ़ निश्चयसे विचलित नहीं हुईं। जीवनभर दुःख और क्लेश भोगनेके बाद जब सुखके दिन आये, उस समय भी सांसारिक सुख-भोगको ठुकराकर स्वेच्छासे त्याग, तपस्या एवं सेवामय जीवन स्वीकार करना कुन्तीदेवी-जैसी पवित्र आत्माका ही काम था। जिन जेठ-जेठानीसे उन्हें तथा उनके पुत्रों एवं पुत्रवधुओंको कष्ट, अपमान एवं अत्याचारके अतिरिक्त कुछ नहीं मिला, उन जेठ-जेठानीके लिये इतना त्याग संसारमें कहाँ देखनेको मिलता है। हमारी माताओं एवं बहिनोंको कुन्तीदेवीके इस अनुपम त्यागसे शिक्षा लेनी चाहिये।

कुन्तीदेवीको वन जाते समय भीमसेनने समझाया कि 'माता! यदि तुम्हें अन्तमें यही करना था तो फिर नाहक हमलोगोंके द्वारा इतना नर-संहार क्यों करवाया? हमारे वनवासी पिताकी मृत्युके बाद हमें वनसे नगरमें क्यों लायीं?' उस समय कुन्तीदेवीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह हृदयमें अङ्कित करने योग्य है। वे बोलीं—'बेटा! तुमलोग कायर बनकर हाथ-पर-हाथ रखकर न बैठे रहो, क्षत्रियोचित पुरुषार्थको त्यागकर अपमानपूर्ण जीवन न व्यतीत करो, शक्ति रहते अपने न्यायोचित अधिकारसे सदाके लिये हाथ न धो बैठो—इसीलिये मैंने तुमलोगोंको युद्धके लिये उकसाया था, अपने सुखकी इच्छासे ऐसा नहीं किया था। मुझे राज्य-सुख भोगनेकी इच्छा नहीं है। मैं तो अब तपके द्वारा पतिलोकमें जाना चाहती हूँ। इसलिये अपने वनवासी जेठ-जेठानीकी सेवामें रहकर मैं अपना शेष जीवन तपमें ही बिताऊँगी। तुमलोग सुखपूर्वक घर लौट जाओ और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए अपने परिजनोंको सुख दो।' इस प्रकार अपने पुत्रोंको समझा-बुझाकर कुन्तीदेवी अपने जेठ-जेठानीके साथ वनमें चली गयीं और अन्तसमय-तक उनकी सेवामें रहकर उन्हींके साथ दावाग्निमें जलकर योगियोंकी भाँति शरीर छोड़ दिया। कुन्तीदेवी-जैसी आदर्श महिलाएँ संसारके इतिहासमें बहुत कम मिलेंगी।

देवी द्रौपदी

देवी द्रौपदी पञ्चालनरेश राजा द्रुपदकी अयोनिजा पुत्री थीं। इनकी उत्पत्ति यज्ञवेदीसे हुई थी। इनका रूप-लावण्य अनुपम था। इनके जैसी सुन्दरी उस समय पृथ्वी-भरमें कोई नहीं थी। इनके शरीरसे तुरंतके खिले कमलकी-सी गन्ध निकलकर एक कोसतक फैल जाती थी। इनके जन्मके समय आकाशवाणीने कहा था—'देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये क्षत्रियोंके संहारके उद्देश्यसे इस रमणीरत्नका जन्म हुआ है। इसके कारण कौरवोंको बड़ा भय होगा।' कृष्णवर्णा होनेके कारण लोग इन्हें कृष्णा कहते थे। पूर्वजन्ममें दिये हुए भगवान् शङ्करके वरदानसे इन्हें इस जन्ममें पाँच पति प्राप्त हुए। अकेले अर्जुनके द्वारा स्वयंवरमें जीती जानेपर भी माता कुन्तीकी आज्ञासे इन्हें पाँचों भाइयोंने ब्याहा था।

द्रौपदी आदर्श पत्नी थीं। राजसूय यज्ञसे लौटनेपर दुर्योधनने धृतराष्ट्रसे कहा था—'राजन्! उस यज्ञमें द्रौपदी पहले स्वयं भोजन न करके इस बातकी देख-भाल करती थी कि कुबड़ों और बौनोंतक सब लोगोंमें कौन खा चुका और किसको भोजन नहीं मिला।' आर्यगृहिणीका यही आदर्श है। आज भी धर्मभीरु कुलाङ्गनाएँ सबको खिलाकर अन्तमें भोजन करती हैं।

द्रौपदी उच्च कोटिकी पतिव्रता एवं भगवद्भक्ता थीं। इनकी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अविचल प्रीति थी। ये उन्हें अपना रक्षक, हितू एवं परम आत्मीय तो मानती ही थीं, उनकी सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्तामें भी इनका पूर्ण विश्वास था। जब कौरवोंकी सभामें दुष्ट दुःशासनने इन्हें नंगी करना चाहा और सभासदोंमेंसे किसीकी हिम्मत न हुई कि इस अमानुषी अत्याचारको रोके, उस समय अपनी लाज बचानेका कोई दूसरा उपाय न देख इन्होंने अत्यन्त आतुर होकर भगवान् श्रीकृष्णको पुकारा—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्त्तिनाशन॥
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन॥
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्।
(महा० सभा० ६८। ४१—४४)

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी! हे गोपीजन-प्रिय श्रीकृष्ण! हे केशव! क्या तुम नहीं जानते कि मैं कौरवोंके द्वारा अपमानित हो रही हूँ। हे नाथ! हे रमापति! हे व्रजेश! हे संकटोंका नाश करनेवाले जनार्दन! मुझ कौरव-रूपी समुद्रमें डूबती हुई अबलाका उद्धार करो। हे महायोगी हे विश्वात्मा! हे विश्वभावन श्रीकृष्ण! हे श्रीकृष्ण! कौरवोंके बीच विपन्नावस्थाको प्राप्त मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिये।'

सच्चे हृदयकी करुण पुकार भगवान् बहुत जल्दी सुनते हैं। श्रीकृष्ण उस समय द्वारकामें थे। वहाँसे वे तुरंत दौड़े आये और धर्मरूपसे द्रौपदीके वस्त्रोंमें छिपकर उनकी लाज बचायी। भगवान्की कृपासे द्रौपदीकी साड़ी अनन्तगुना बढ़ गयी। दुःशासन उसे जितना ही खींचता था, उतना ही वह बढ़ती जाती थी। देखते-देखते वहाँ वस्त्रका ढेर लग गया। महाबली दुःशासनकी प्रचण्ड भुजाएँ थक गयीं

परंतु साड़ीका छोर हाथ नहीं आया। उपस्थित सारे समाजने भगवद्भक्ति एवं पातिव्रत्यका अद्भुत चमत्कार देखा। अन्तमें दुःशासन हारकर लज्जित हो बैठ गया। भक्तवत्सल प्रभुने अपने भक्तकी लाज रख ली। धन्य भक्तवत्सलता!

एक दिनकी बात है—जब पाण्डवलोग द्रौपदीके साथ काम्यक वनमें रह रहे थे, दुर्योधनके भेजे हुए महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंको साथ लेकर पाण्डवोंके पास आये। दुर्योधनने जान-बूझकर उन्हें ऐसे समयमें भेजा जब कि सब लोग भोजन करके विश्राम कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिरने अतिथिसेवाके उद्देश्यसे ही भगवान् सूर्यदेवसे एक ऐसा चमत्कारी बर्तन प्राप्त किया था, जिसमें पकाया हुआ थोड़ा-सा भी भोजन अक्षय हो जाता था। लेकिन उसमें शर्त यही थी कि जबतक द्रौपदी भोजन नहीं कर चुकती थीं, तभीतक उस बर्तनमें यह करामात रहती थी। युधिष्ठिरने महर्षिको शिष्यमण्डलीके सहित भोजनके लिये आमन्त्रित किया और दुर्वासाजी स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होनेके लिये सबके साथ गङ्गातटपर चले गये।

दुर्वासाजीके साथ दस हजार शिष्योंका एक पूरा-का-पूरा विश्वविद्यालय-सा चला करता था। धर्मराजने उन सबको भोजनका निमन्त्रण तो दे दिया और ऋषिने उसे स्वीकार भी कर लिया; परंतु किसीने भी इसका विचार नहीं किया कि द्रौपदी भोजन कर चुकी हैं, इसलिये सूर्यके दिये हुए बर्तनसे तो उन लोगोंके भोजनकी व्यवस्था हो नहीं सकती थी। द्रौपदी बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं। उन्होंने सोचा—'ऋषि यदि बिना भोजन किये वापस लौट जाते हैं तो वे बिना शाप दिये नहीं रहेंगे।' उनका क्रोधी स्वभाव जगद्विख्यात था। द्रौपदीको और कोई उपाय नहीं सूझा। तब उन्होंने मन-ही-मन भक्त-भय-भञ्जन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया और इस आपत्तिसे उबारनेकी उनसे इस प्रकार प्रार्थना की—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्त्तिविनाशन।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नताऽस्मि ते॥
वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल॥
नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण॥
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम्।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः॥
त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम्।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव सङ्कटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥

(महा० वन० २६३। ८–१६)

'हे कृष्ण! हे महाबाहु श्रीकृष्ण! हे देवकीनन्दन! हे अविनाशी वासुदेव! हे प्रणत जनके दुःख दूर करनेवाले जगदीश्वर! हे विश्वात्मन्, विश्वके पिता, विश्वका संहार करनेवाले, शरणागत-रक्षक गोपाल! हे प्रभो! तुम अव्यय हो, प्रजापालक हो, परात्पर हो, तुम मन और बुद्धिके प्रेरक हो। हे परमात्मन्! तुझको मेरा प्रणाम! सबके वरण करने योग्य हे वरदाता! हे अनन्त! जिसकी कोई गति नहीं है उसकी गति (सहायक) बनो। हे पुराणपुरुष! हे प्राण, मन, बुद्धि आदिके अगोचर! सबके स्वामी, परम प्रभु! हम तुम्हारी शरणमें हैं। हे शरणागतवत्सल! हे देव! कृपया मुझे बचाओ। हे नीलकमलदलके समान श्यामवदन! कमल पुष्पके गर्भके समान अरुणनयन! हे पीताम्बरधारी! हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे वक्षःस्थलपर कौस्तुभ सुशोभित है। तुम्हीं भूतोंके आदि और अन्त हो, तुम्हीं सबके परम आश्रय हो। तुम परात्पर हो, ज्योतिर्मय विश्वात्मा हो, सब ओर मुँहवाले परमेश्वर हो। ज्ञानीलोग तुमको ही इस जगत्का परम बीज तथा सम्पूर्ण सम्पदाओंकी निधि बतलाते हैं। हे देवेश! यदि तुम मेरे रक्षक हो तो मुझे समस्त आपदाओंसे भी भय नहीं है। जैसे तुमने पहले कौरवसभामें दुःशासनसे मेरी रक्षा की थी, उसी प्रकार तुम्हीं इस संकटमें मेरा उद्धार कर सकते हो।'

श्रीकृष्ण तो घट-घटकी जाननेवाले हैं। वे तुरंत वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर द्रौपदीके शरीरमें मानो प्राण आ गये, डूबते हुएको मानो सहारा मिल गया। द्रौपदीने संक्षेपमें उन्हें सारी बात सुना दी। श्रीकृष्णने अधीरता प्रदर्शित करते हुए कहा—'और सब बात पीछे होगी, पहले मुझे जल्दी कुछ खानेको दो। मुझे बड़ी भूख लगी है। तुम जानती नहीं हो मैं कितनी दूरसे हारा-थका आया हूँ।' द्रौपदी लाजके मारे गड़-सी गयीं। उन्होंने रुकते-रुकते कहा—'प्रभो! मैं अभी-अभी खाकर उठी हूँ। अब तो उस बटलोईमें कुछ भी नहीं बचा है।' श्रीकृष्णने कहा—'जरा अपनी बटलोई मुझे दिखाओ तो सही।' कृष्णा बटलोई ले आयीं। श्रीकृष्णने उसे हाथमें लेकर देखा तो उसके गलेमें उन्हें एक सागका पत्ता चिपका हुआ मिला। उन्होंने उसीको मुँहमें डालकर कहा—'इस सागके पत्तेसे सम्पूर्ण जगत्के आत्मा यज्ञभोक्ता परमेश्वर तृप्त हो जायँ।' इसके बाद उन्होंने सहदेवसे कहा—'भैया! अब तुम मुनीश्वरोंको भोजनके लिये बुला लाओ।' सहदेवने गङ्गातटपर
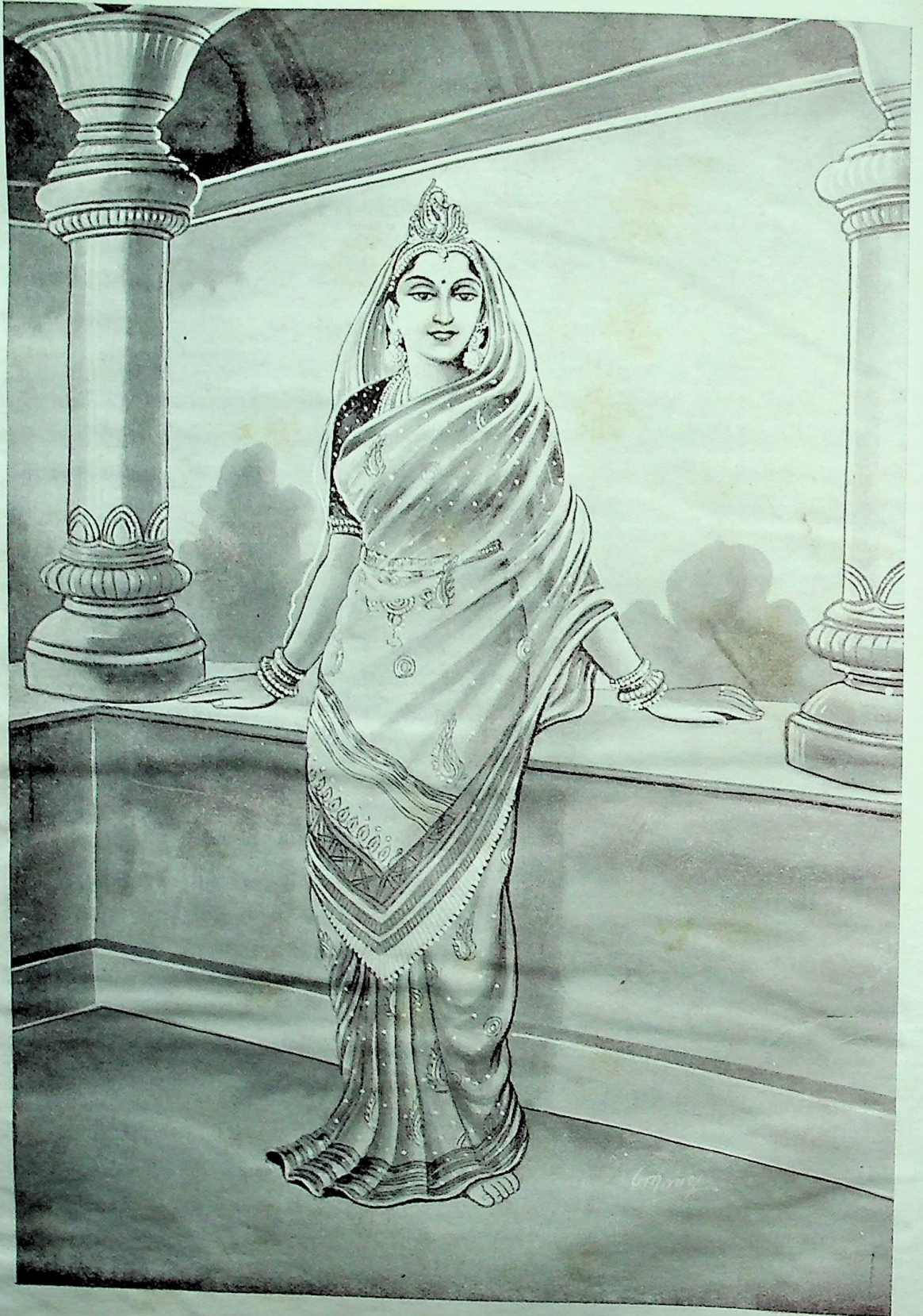
देवी द्रौपदी

जाकर देखा तो वहाँ उन्हें कोई नहीं मिला । बात यह हुई कि जिस समय श्रीकृष्णने सागका पत्ता मुँहमें डालकर वह संकल्प, पढ़ा उस समय मुनीश्वरलोग जलमें खड़े होकर अघमर्षण कर रहे थे । उन्हें अकस्मात् ऐसा अनुभव होने लगा मानो उनका पेट गलेतक अन्नसे भर गया हो । वे सब एक दूसरेके मुँहकी ओर ताकने लगे और कहने लगे कि 'अब हमलोग वहाँ जाकर क्या खायेंगे ?' दुर्वासाने चुपचाप भाग जाना ही श्रेयस्कर समझा; क्योंकि वे यह जानते थे कि पाण्डव भगवद्भक्त हैं और अम्बरीषके यहाँ उनपर जो कुछ बीती थी, उसके बादसे उन्हें भगवद्भक्तोंसे बड़ा डर लगने लगा था । बस, सब लोग वहाँसे चुपचाप भाग निकले । सहदेवको वहाँ रहनेवाले तपस्वियोंसे उन सबके भाग जानेका समाचार मिला और उन्होंने लौटकर सारी बात धर्मराजसे कह दी । इस प्रकार द्रौपदीकी श्रीकृष्ण-भक्तिसे पाण्डवोंकी एक भारी बला टल गयी । श्रीकृष्णने आकर उन्हें दुर्वासाके कोपसे बचा लिया और इस प्रकार अपनी शरणागतवत्सलताका परिचय दिया ।

× × ×

एक बार वनमें भगवान् श्रीकृष्ण देवी सत्यभामाके साथ पाण्डवोंसे मिलने आये । उस समय बातों-ही-बातोंमें सत्यभामाजीने द्रौपदीसे पूछा—'बहिन ! मैं तुमसे एक बात पूछती हूँ । मैं देखती हूँ कि तुम्हारे शूरवीर और बलवान् पति सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं; इसका क्या कारण है ? तुम कोई जंतर-मंतर या औषध जानती हो ? अथवा तुमने जप, तप, व्रत, होम या विद्यासे उन्हें वशमें कर रक्खा है ? मुझे भी कोई ऐसा उपाय बताओ; जिससे भगवान् श्यामसुन्दर मेरे वशमें हो जायँ ।' देवी द्रौपदीने कहा—'बहिन ! आप श्यामसुन्दरकी पटरानी एवं प्रियतमा होकर कैसी बात करती हैं । सती-साध्वी स्त्रियाँ जंतर-मंतर आदिसे उतनी ही दूर रहती हैं, जितनी साँप-बिच्छूसे । क्या पतिको जंतर-मंतर आदिसे वशमें किया जा सकता है ? भोली-भाली अथवा दुराचारिणी स्त्रियाँ ही पतिको वशमें करनेके लिये इस प्रकारके प्रयोग किया करती हैं । ऐसा करके वे अपना तथा अपने पतिका अहित ही करती हैं । ऐसी स्त्रियोंसे सदा दूर रहना चाहिये ।'

इसके बाद उन्होंने बतलाया कि अपने पतियोंको प्रसन्न रखनेके लिये वे किस प्रकारका आचरण करती थीं । उन्होंने कहा—"बहिन ! मैं अहङ्कार और काम-क्रोधका परित्याग करके बड़ी सावधानीसे सब पाण्डवोंकी और उनकी स्त्रियोंकी सेवा करती हूँ । मैं ईर्ष्यासे दूर रहती हूँ और मनको काबूमें रखकर केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ । मैं कटुभाषणसे दूर रहती हूँ, असभ्यतासे खड़ी नहीं होती, खोटी बातोंपर दृष्टि नहीं डालती, बुरी जगहपर नहीं बैठती, दूषित आचरणके पास भी नहीं फटकती तथा पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका अनुसरण करती हूँ । देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवा, धनी अथवा रूपवान्—कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता । अपने पतियोंके भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती, स्नान किये बिना स्नान नहीं करती और बैठे बिना स्वयं नहीं बैठती । जब-जब मेरे पति घर आते हैं, तब-तब मैं खड़ी होकर उन्हें आसन और जल देती हूँ । मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ, मधुर रसोई तैयार करती हूँ, समयपर भोजन कराती हूँ, सदा सजग रहती हूँ, घरमें अनाजकी रक्षा करती हूँ और घरको झाड़-बुहारकर साफ रखती हूँ । मैं बातचीतमें किसीका तिरस्कार नहीं करती, कुलटा स्त्रियोंके पास नहीं जाती और सदा ही पतियोंके अनुकूल रहकर आलस्यसे दूर रहती हूँ । मैं दरवाजेपर बार-बार जाकर खड़ी नहीं होती तथा खुली अथवा कूड़ा-करकट डालनेकी जगहपर भी अधिक नहीं ठहरती, किंतु सदा ही सत्यभाषण और पतिसेवामें तत्पर रहती हूँ । पतिदेवके बिना अकेली रहना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है । जब किसी कौटुम्बिक कार्यसे पतिदेव बाहर चले जाते हैं तो मैं पुष्प और चन्दनादिको छोड़कर नियम और व्रतोंका पालन करते हुए समय बिताती हूँ । मेरे पति जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा सेवन नहीं करते, मैं भी उससे दूर रहती हूँ । स्त्रियोंके लिये शास्त्रने जो-जो बातें बतायी हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ । शरीरको यथाप्राप्त वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित रखती हूँ तथा सर्वदा सावधान रहकर पतिदेवका प्रिय करनेमें तत्पर रहती हूँ ।

"सासजीने मुझे कुटुम्बसम्बन्धी जो-जो धर्म बताये हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ । भिक्षा देना, पूजन, श्राद्ध, त्यौहारोंपर पकवान बनाना, माननीयोंका आदर करना तथा और भी मेरे लिये जो-जो धर्म विहित हैं, उन सभीका मैं सावधानीसे रात-दिन आचरण करती हूँ, मैं विनय और नियमोंको सर्वदा सब प्रकार अपनाये रहती हूँ । मेरे विचारसे तो स्त्रियोंका सनातनधर्म पतिके अधीन रहना ही है, वही उनका इष्टदेव है । मैं अपने पतियोंसे बढ़कर कभी नहीं रहती, उनसे अच्छा भोजन नहीं करती, उनसे बढ़िया वस्त्राभूषण नहीं पहनती और न कभी सासजीसे वाद-विवाद करती हूँ, तथा सदा ही संयमका पालन करती हूँ । मैं सदा अपने पतियोंसे पहले उठती हूँ तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें लगी रहती हूँ । अपनी सासकी मैं भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा ही सेवा करती रहती हूँ । वस्त्र, आभूषण और भोजनादिमें मैं कभी उनकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती । पहले महाराज युधिष्ठिरके दस हजार दासियाँ थीं । मुझे उनके नाम, रूप, वस्त्र आदि सबका पता रहता था और इस

बातका भी ध्यान रहता था कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं । जिस समय इन्द्रप्रस्थमें रहकर महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी-पालन करते थे, उस समय उनके साथ एक लाख घोड़े और उतने ही हाथी चलते थे । उनकी गणना और प्रबन्ध मैं ही करती थी और मैं ही उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी । अन्तःपुरके ग्वालों और गड़रियोंसे लेकर सभी सेवकोंके काम-काजकी देख-रेख भी मैं ही किया करती थी ।

''महाराजकी जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका विवरण मैं अकेली ही रखती थी । पाण्डवलोग कुटुम्बका सारा भार मेरे ऊपर छोड़कर पूजा-पाठमें लगे रहते थे और आये-गयोंका स्वागत-सत्कार करते थे; और मैं सब प्रकारका सुख छोड़कर उसकी सँभाल करती थी । मेरे पतियोंका जो अटूट खजाना था, उसका पता भी मुझ एकको ही था । मैं भूख-प्यासको सहकर रात-दिन पाण्डवोंकी सेवामें लगी रहती । उस समय रात और दिन मेरे लिये समान हो गये थे । मैं सदा ही सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती थी । सत्यभामाजी ! पतियोंको अनुकूल बनानेका मुझे तो यही उपाय मालूम है ।'' एक आदर्श गृहपत्नीको घरमें किस प्रकार रहना चाहिये—इसकी शिक्षा हमें द्रौपदीके जीवनसे लेनी चाहिये ।

× × ×

देवी द्रौपदीमें क्षत्रियोचित तेज और भक्तोचित क्षमा—दोनोंका अभूतपूर्व सम्मिश्रण था । ये बड़ी बुद्धिमती और विदुषी भी थीं । इनका त्याग भी अद्भुत था । इनके पातिव्रत्यका तो सभी लोग लोहा मानते थे । इन्हें जब दुष्ट दुःशासन बाल खींचते हुए सभामें घसीटकर लाया, उस समय इन्होंने उसे डाँटते हुए अपने पतियोंके कोपका भय दिखलाया और सारे सभासदोंको धिक्कारते हुए द्रोण, भीष्म और विदुर-जैसे सम्मान्य गुरुजनोंको भी उनके चुप बैठे रहनेपर फटकारा । इन्होंने साहसपूर्वक सभासदोंको ललकारकर उनसे न्यायकी माँग की और उन्हें धर्मकी दुहाई देकर यह पूछा कि 'जब महाराज युधिष्ठिरने अपनेको हारकर पीछे मुझे दाँवपर लगाया है, ऐसी हालतमें उनका मुझे दाँवपर लगानेका अधिकार था या नहीं ?' सब-के-सब सभासद् चुप रहे । किसीसे द्रौपदीके इस प्रश्नका उत्तर देते नहीं बना । अन्तमें दुर्योधनके भाई विकर्णने उठकर सबसे द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर देने और मौन भङ्ग करनेके लिये अनुरोध किया और अपनी ओरसे यह सम्मति प्रकट की कि 'प्रथम तो द्रौपदी पाँचों भाइयोंकी स्त्री है, अतः अकेले युधिष्ठिरको उन्हें दाँवपर रखनेका कोई अधिकार नहीं था । दूसरे उन्होंने अपनेको हारनेके बाद द्रौपदीको दाँवपर लगाया था, इसलिये भी यह उनकी अनधिकार चेष्टा ही समझी जायगी ।' विकर्णकी बात सुनकर विदुरने भी उसका समर्थन किया और अन्य सभासदोंने भी उनकी प्रशंसा की । परंतु कर्णने डाँटते हुए उसे बलपूर्वक बैठा दिया । इस प्रकार भरी सभामें दुःशासनद्वारा घसीटी जाने एवं अपमानित होनेपर भी द्रौपदीकी नैतिक विजय ही हुई । उनकी बुद्धि सर्वोपरि रही । कोई भी उनकी बातका खण्डन नहीं कर सका । अन्तमें विदुरके समझानेपर धृतराष्ट्रने दुर्योधनको डाँटा और द्रौपदीको प्रसन्न करनेके लिये उनसे वर माँगनेको कहा । इन्होंने वरदानके रूपमें धृतराष्ट्रसे केवल यही माँगा कि मेरे पाँचों पति दासत्वसे मुक्त कर दिये जायँ ।' धृतराष्ट्रने कहा—'बेटी ! और भी कुछ माँग ले ।' उस समय द्रौपदीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह सर्वथा द्रौपदीके अनुरूप ही था । उससे इनकी निर्लोभता एवं धर्मप्रेम स्पष्ट झलकता था । इन्होंने कहा—'महाराज ! अधिक लोभ करना ठीक नहीं । और कुछ माँगनेकी मेरी बिल्कुल इच्छा नहीं है । मेरे पति स्वयं समर्थ हैं । अब जब वे दासतासे मुक्त हो गये हैं तो बाकी सब कुछ वे स्वयं कर लेंगे ।' इस प्रकार द्रौपदीने अपनी बुद्धिमत्ता एवं पातिव्रत्यके बलसे अपने पतियोंको दासतासे मुक्त करा दिया ।

द्रौपदीके जिन लंबे-ऊंचे, काले बालोंका कुछ ही दिन पहले राजसूय यज्ञमें अवभृथ-स्नानके समय मन्त्रपूत जलसे अभिषेक किया गया था, उन्हीं बालोंका दुष्ट दुःशासनके द्वारा भरी सभामें खींचा जाना द्रौपदीको कभी नहीं भूला । उस अभूतपूर्व अपमानकी आग उनके हृदयमें सदा ही जला करती थी । इसीलिये जब-जब उनके सामने कौरवोंसे संधि करनेकी बात आयी, तब-तब इन्होंने उसका विरोध ही किया और बराबर अपने अपमानकी याद दिलाकर अपने पतियोंको युद्धके लिये प्रोत्साहित करती रहीं । अन्तमें जब यही तय हुआ कि एक बार कौरवोंको समझा-बुझाकर देख लिया जाय और जब भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे संधिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाने लगे, उस समय भी इन्हें अपने अपमानकी बात नहीं भूली और इन्होंने अपने लंबे-लंबे बालोंको हाथमें लेकर श्रीकृष्णसे सहा—'श्रीकृष्ण ! तुम संधि करने जा रहे हो, सो तो ठीक है । परंतु तुम मेरे केशोंको न भूल जाना ।' इन्होंने यहाँतक कह दिया कि 'यदि पाण्डवोंकी युद्ध करनेकी इच्छा नहीं है तो कोई बात नहीं; अपने महारथी पुत्रोंके सहित मेरे वृद्ध पिता कौरवोंसे संग्राम करेंगे तथा अभिमन्युके सहित मेरे पाँचों बली पुत्र उनके साथ जूझेंगे ।' द्रौपदी वीर क्षत्राणी थी ।

× × ×

काम्यकवनमें जब दुष्ट जयद्रथ द्रौपदीको बलपूर्वक ले जानेकी चेष्टा करने लगा, उस समय इन्होंने उसे इतने जोरसे धक्का दिया कि वह कटे हुए पेड़की तरह जमीनपर गिर पड़ा । किंतु वह तुरंत ही सँभलकर खड़ा हो गया और इन्हें जबर्दस्ती रथपर बैठाकर ले चला । पीछे जब भीम और

अर्जुन उसे पकड़ लाये और उसकी काफी मरम्मत बना चुके, तब इन्होंने दयापूर्वक उसे छुड़ा दिया। इस प्रकार द्रौपदी क्रोधके साथ-साथ क्षमा करना भी जानती थीं। इनका पातिव्रत्य तेज तो अपूर्व था ही। जिस किसीने इनके साथ छेड़-छाड़ अथवा दुश्चेष्टा की, उसीको प्राणोंसे हाथ धोने पड़े। दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, जयद्रथ, कीचक आदि सबकी यही दशा हुई। भला, पतिव्रता-पीड़िता नारीकी हाय किसको नहीं खा लेगी। महाभारत-युद्धमें जो कौरवोंका सर्वनाश हुआ, उसका मूल सती द्रौपदीका अपमान ही था। द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंकी सुप्तावस्थामें जब अश्वत्थामाने हत्या कर डाली, उस अवसरपर द्रौपदीने द्रोणपुत्रको मारकर उसकी मणि ले आनेके लिये भीमसेनसे कहा। पाण्डवोंमें भीमसेनके पराक्रमपर ही द्रौपदीको अधिक विश्वास था। क्योंकि उसने उनको अनेक बार असाध्य कर्मको भी सम्पादन करते देखा था। भीमसेन अश्वत्थामाको मारनेके लिये गये, परंतु उसको बिना मारे ही व्यासजीके बीच-बचावसे वे मणि लेकर लौटे, और द्रौपदीसे बोले कि, 'देवि! द्रोणपुत्रको ब्राह्मण समझकर मैंने छोड़ दिया, अब उसका केवल शरीरमात्र बचा हुआ है; क्योंकि मणि ले लेनेपर उसका यश समाप्त हो गया। देवि! यह मणि तुम लो।'

द्रौपदीका क्रोध शान्त हो गया। उसने कहा—'अच्छा ही किया जो आपने अश्वत्थामाको छोड़ दिया। वह गुरुपुत्र है, मेरे गुरुके समान है। मणि ले लेनेसे बदला चुक गया। अब इस मणिको महाराज युधिष्ठिर सिरपर धारण करें।' उसके बाद द्रौपदीके कहनेसे गुरुका उच्छिष्ट समझकर युधिष्ठिर उस मणिको सिरपर धारणकर सुशोभित हो उठे। द्रुपदतनया द्रौपदीके उज्ज्वल चरित्रकी यह भी एक अलौकिक घटना है। अपने पाँच पुत्रोंका वध करनेवाले अश्वत्थामाको भी गुरुपुत्र समझकर उसके प्रति गुरु-भाव व्यक्त करना महामहिममयी रानी द्रौपदीका ही काम हो सकता है। ऐसी आदर्श क्षमाशीलता अन्यत्र कहीं देखनेको नहीं मिलती।

महाभारतके महानायक

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र आज उत्कट समरक्षेत्रके रूपमें परिणत है। जो सुपवित्र भूमि प्राचीन कालमें ब्रह्मर्षि और राजर्षियोंकी यज्ञस्थलीके रूपमें व्यवहृत होती थी, जहाँ 'आत्मनो मोक्षार्थं जनताहिताय च' समस्त पार्थिव सम्पत्तिको विश्वप्राण विष्णुकी सेवामें उत्सर्ग करके आर्यसंतान अपने मानवत्वके पूर्णता-सम्पादनका व्रत ग्रहण करते थे, आज उसी पुण्यभूमिमें उन्हींके वंशज लोभ और द्वेष, स्वार्थपरता और परश्रीकातरता, साम्राज्यलिप्सा और भोगवासनाकी प्रेरणासे आत्मविस्मृत होकर जल, स्थल और अन्तरिक्षको भस्मीभूत कर डालनेवाले समरानलमें आत्माहुति देनेके लिये ढेर-के-ढेर चित्र-विचित्र विषपूर्ण मारणास्त्रोंको लेकर इकट्ठे हो रहे हैं। विशाल भारतकी प्रवल क्षात्रशक्ति आसुरी भावोंसे प्रभावित और दम्भ-मोह-मदसे युक्त होकर आज मानो आप ही अपना विनाश करनेको तैयार है। जलमें, स्थलमें, आकाशमें और हवामें जहाँ-तहाँ आग बरसाकर सभी सबको जला डालनेके लिये व्याकुल हैं। मृत्यु देवता बुद्धिपर आरूढ़ होकर सभीको मानो ध्वंसके पथपर ले चले हैं। दूसरेपर मृत्युका प्रहार करने जाकर आज सभी लोग स्वयं उछल-उछलकर मृत्युके कराल गालमें कूदते चले जा रहे हैं। देश, जाति और समाजकी एकता, शान्ति, स्वाधीनता और धर्मानुवर्तिताको अक्षुण्ण और निर्दोष बनाये रखनेके लिये ही भगवान्के विधानसे राष्ट्रका उद्भव और क्षात्रशक्तिका अभ्युदय होता है। इसी उद्देश्यसे देशकी ब्राह्मणशक्ति—विज्ञान, दर्शन, धर्म, त्याग और तपस्याकी शक्ति—अपनी साधनाके महान् फलोंको राष्ट्रशक्तिके हाथोंमें सौंपकर क्षात्रशक्तिको अजेय बनाती है। इसी उद्देश्यसे देशकी वैश्यशक्ति भी क्षात्रशक्तिके सामने सिर झुकाकर उसके आदेशके अनुसार चलती है और देशकी अर्थ-सम्पत्तिको उसके हाथोंमें समर्पण करती है। आज उसी उद्देश्यको सम्पूर्णतया व्यर्थ करनेके लिये, मानवजातिकी एकता और शक्तिको नष्ट कर डालनेके लिये, मनुष्यमात्रकी स्वाधीनताको पददलित करनेके लिये और मानव-जीवनसे धर्मको बाहर निकाल फेंकनेके लिये, बलके घमंडसे चूर मोहग्रस्त क्षत्रिय-वीर राष्ट्रशक्तिका दुरुपयोग करनेमें लगे हैं। राष्ट्रशक्तिके पापलिप्त हो जानेके कारण आज जातिके सैकड़ों टुकड़े हो रहे हैं; समाजमें अत्याचार, अविचार और दुष्ट नीतिका प्रवाह बह रहा है; सङ्घर्ष, प्रतियोगिता और एक दूसरेको गिरानेकी चेष्टामें लगे रहनेके कारण आज मानवजीवनसे आध्यात्मिक आदर्श अन्तर्धान हो गया है, उसका नैतिक बल नष्ट हो चुका है। मानव-जातिकी ब्राह्मणशक्तिने आज आसुरी प्रभावमें पड़कर नित्य नये मारणास्त्रोंके निर्माणमें, अधर्मको धर्मके रूपमें सजाकर सुललित भाषामें उसका अभिनन्दन करनेमें, हिंसा-मन्त्रकी जन-मन-मोहक व्याख्याके प्रचारमें, असुरोंकी असाधारण शक्ति और प्रतिभाकी महिमा गानेमें, एवं मानव-प्राणोंमें विद्वेषकी भयानक आग भड़कानेमें अपनेको लगाकर सनातन आर्यसभ्यताकी जड़ उखाड़नेका मानो व्रत ले लिया है।

भारतके प्राण, विश्वके प्राण, मानवजातिकी अन्तरात्मा मानवजातिपर आसुरीशक्तिके इस आधिपत्यको, मानवमात्रके शरीर-मन-बुद्धिपर अधर्मपरायण राष्ट्रशक्तियोंके इस अत्याचार-को, मानवी साधनापर दम्भ, मोह, हिंसा, घृणा, असत्य और अन्यायके इस प्रभुत्वको मानो सहन करनेमें असमर्थ हो गयी हैं। पृथ्वीदेवी पापके भारसे पीड़ित होकर उससे छुटकारा पानेके लिये विश्वके प्राणपुरुषके शरणागत हो रही है—उसने अपनी अन्तर्निहित धर्ममयी प्राणशक्तिको जगा दिया है। मानवप्राणकी व्याकुल पुकारसे, माँ वसुन्धराकी अनन्य प्रार्थनासे, मानवसमाजको नवीन रूप प्रदान करनेके लिये असुरोंके द्वारा विध्वस्त की हुई लोभ-मोह-मदसे ग्रसित इस पुण्यभूमिमें स्वयं भगवान् अवतीर्ण हुए और उन्होंने भाँति-भाँतिसे विभक्त, दावानलसे जले हुए मरणोन्मुख भारतवर्षको अखण्ड, अमर, नित्य उज्ज्वल, नित्य प्रशान्त महाभारतके रूप-में प्रतिष्ठित करनेके लिये अपनी भगवती शक्तिको नियुक्त किया।

महामति वेदव्यासप्रणीत महाभारत महाकाव्यके महा-नायक हैं इस महाभारतके प्रतिष्ठाता, विश्वमानव-प्राण-विग्रह स्वयं भगवान् वासुदेव। द्वापरयुगके अन्तमें, कलियुगकी—वर्तमान युगकी सूचनाके समय उन्होंने विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये विशेष मूर्ति धारण की थी। भारतकी अखण्डता, भारतीय आत्माकी मुक्ति, भारतीय मानवसमाजके सनातन नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शकी विजय और इस सुमहान् समुज्ज्वल आदर्शके आधारपर भारतीय महाजातिका संगठन—यह था उन लीलामयका जीवन-व्रत, उनके समस्त कर्म और सम्पूर्ण चेष्टाओंका लक्ष्य। उन्होंने चाहा था भारतवर्षको महामानवके महामिलनका क्षेत्र बनाकर समस्त जगत्के सामने इस महामिलनका आदर्श उपस्थित करना। आसुरी प्रति-योगिता और प्रतिद्वन्द्विता—बीभत्स संग्राम और कलह, अनार्यजुष्ट हिंसा, घृणा और भय, दुर्बलपर प्रबलका अत्याचार, अवनतके प्रति उन्नतकी अवज्ञा, सरलचित्त अशिक्षित जनसाधारणके प्रति प्रभुत्वकामी कूटबुद्धि शिक्षित सम्प्रदाय-की प्रवञ्चना और अखण्ड महाजातिसंगठनके प्रतिकूल सभी प्रकारके दोषोंको सभी प्रकारके नर-नारियोंके साधनक्षेत्र तथा चित्तक्षेत्रसे दूर हटाकर उनकी जगह प्रेम और सहानुभूति, सेवा और सहयोग, यज्ञ और त्याग, साम्य और मैत्री, करुणा और मुदिता तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके समन्वय-की नींवपर महाभारतीय सभ्यताका विशाल प्रासाद निर्माण करनेके लिये उन महामानवने अपनी शक्तिको नियोजित किया था।

इस महाभारतके संगठनके लिये उन्होंने विशाल भारतकी सभी जाति, सभी समाज, सभी सम्प्रदाय और सभी राष्ट्रोंको आग्रहके साथ आमन्त्रित किया था। वे चाहते थे भारतकी समस्त शक्तियोंका मिलन; आर्य और अनार्यका, परस्पर प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रिय शक्तियोंका, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंका, वेदवादी और वेदविमुख सम्प्रदायोंका, याज्ञिक और तपस्वियोंका, गृहस्थ और संन्यासियोंका, कर्मी, ज्ञानी और भक्तोंका, शैव, शाक्त और वैष्णवोंका, देवपूजकों, सगुणोपासकों और निर्गुण ब्रह्मके जिज्ञासुओंका—सबका प्राणसे प्राण मिलाकर मिलन; राष्ट्रिय, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक—सब प्रकारके मतोंका महासम्मेलन। सभी श्रेणियोंके, सभी भावोंके, सभी स्तरोंके मानव सम्मिलित होकर—समस्त भेदोंमें एक अभेदभूमिका आविष्कार करके सारी विषमताओंके भीतर एक महान् साम्यसूत्रका निर्माण करके, एक महामानवताके आदर्शपर सभी अनुप्राणित हों और इस महामानवताके आदर्शपर ही परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदिका संगठन हो—यही था उनका अभिप्राय, यही थी भारतीय प्राणोंकी प्रार्थना और यही थी माँ वसुन्धराकी आकाङ्क्षा।

भारतवर्ष सम्पूर्ण मानवजगत्की आध्यात्मिक केन्द्रभूमि है; इसमें महामिलनका आदर्श सुप्रतिष्ठित हो जानेपर, भारतके कुलधर्म, जातिधर्म, समाजधर्म, साम्प्रदायिक धर्म—भारतीय साधनाके सभी विभाग—इस महामिलनके आदर्शद्वारा सुनियन्त्रित और अनुरञ्जित हो जानेपर पृथ्वीके अन्यान्य देशोंमें यही भावधारा बहने लगेगी; जगत्की प्रत्येक जाति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक सम्प्रदाय इसी आदर्शके द्वारा अनुप्राणित हो जायगा; विश्वमानवकी जीवनधारामें एक सुमहान् एकता और कल्याणमयी शान्ति आ विराजेगी—इसी आदर्शको लेकर भारतीय जीवनके एक विकट सङ्कटके समय भारतके और विश्वके प्राणपुरुष मानव-विग्रह धारण करके कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए थे। विश्वमानवकी विविध विचित्रताओं-में एक महामिलन-सूत्रका आविष्कार करनेके लिये एक विशिष्ट मानवके रूपमें मानवात्मा भगवान्ने साधकका स्वाँग ग्रहण किया था। उनके विराट् प्राणकी सूक्ष्म अनुभूति, उनकी विशाल बुद्धिकी महान् कल्पनाशक्ति, उनकी अदम्य कर्मशक्ति और असाधारण तपःशक्ति मानवीय उपायोंद्वारा इस महामिलन-सूत्रका आविष्कार करनेमें लग गयी।

अखिलप्रेमामृतसिन्धु सर्वजीवप्राण श्रीभगवान्के प्रकट विग्रह वासुदेव श्रीकृष्ण स्वभावतः ही प्रेमघनमूर्ति थे। मानवमात्र—जीवमात्रके प्रति उनका निर्मल प्रेम था और पूर्ण सहानुभूति थी। उच्च-नीच, धनी-निर्धन, ज्ञानी-मूर्ख—सभीके प्रति उनकी प्रेमस्निग्ध समदृष्टि थी। युद्धमें उनकी कोई रति नहीं थी, किसीके साथ संघर्ष करनेमें उनको

उल्लास नहीं था । सर्वत्र—समस्त विषयोंमें वे प्रेमके पथसे, शान्तिके पथसे, अहिंसा और सत्यके पथसे, अपौरुषेय वेदवाणी और सुनिपुण विचारकी सहायतासे मनुष्यकी अन्तरात्माको जगाकर विश्वमानवके महामिलनका महान् आदर्श प्रचार करनेमें लगे थे । इस आदर्श प्रचारकार्यमें महाभारतके रचयिता वेदव्याख्याता पराशरनन्दन महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासको उन्होंने प्रधान आचार्यके रूपमें प्राप्त किया था । विश्वभारतके गुरुस्थानीय, अशेष शास्त्रार्थदर्शी महामनीषी व्यासदेवकी सहायता वासुदेव श्रीकृष्णके लक्ष्यसाधनमें विशेष उपयोगी सिद्ध हुई थी। आचार्य व्यासदेवने अपने शिष्य-प्रशिष्योंके सहयोगसे भगवान् वासुदेवके आदर्श और भाव-धाराका, जीवन और वाणीका विभिन्न भाषाओंमें, विभिन्न छन्दोंमें, नाना युक्तितर्कोंके द्वारा, प्रामाणिक शास्त्रोंके व्याख्याकौशलके द्वारा आर्य और आर्येतर समाजमें सर्वत्र प्रचार किया था । श्रीकृष्णके द्वारा उपदेश किये हुए सुमहान् आदर्शको केन्द्र बनाकर श्रीकृष्ण और तद्भावभावित कर्मी, ज्ञानी और भक्तोंके जीवनको आधार बनाकर, तदनुकूल शास्त्र, युक्ति और इतिहासका आश्रय लेकर आचार्यप्रवर व्यासदेवने बड़ी ही निपुणताके साथ पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय, नैतिक और आध्यात्मिक—सभी प्रकारकी समस्याओंके सामञ्जस्यपूर्ण समाधानका मार्ग दिखलाया है । इस उद्देश्यसे उन्होंने जिन ग्रन्थोंका निर्माण किया, उनमें महाभारत सर्वश्रेष्ठ है । 'जो नहिं भारतमें सो नहिं भारतमें' अर्थात् भारतीय साधनाके क्षेत्रमें ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है, ऐसा कोई भी मत और मार्ग नहीं है, ऐसी कोई भी समस्या और समाधान नहीं है, जिसकी महाभारत ग्रन्थमें पूर्ण निपुणताके साथ व्याख्या और आलोचना न हुई हो—इस कहावतमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है । वस्तुतः एकमात्र महाभारत ग्रन्थका अच्छी तरह अध्ययन कर लिया जाय तो भारतीय साधनाके समस्त विभागोंका, महाभारत और महामानवके प्राणोंका, वासुदेव श्रीकृष्णके जीवनादर्श और विश्वमानवके महामिलन-सूत्रका पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है । पुराणोंमें व्यासदेव और उनके शिष्य-प्रशिष्योंने महाभारतका ही विचित्र व्याख्यान और विस्तार किया है । महाभारतके प्राणस्थानीय श्रीकृष्णोपदिष्ट श्रीमद्भगवद्गीताके प्रकाशसे ही व्यासदेवने उपनिषदों—अपौरुषेय श्रुतिवाक्योंकी व्याख्या और उनका समन्वय करके ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-विज्ञानकी रचना की है । इन सबके अंदर ही उन्होंने श्रीकृष्णके जीवन, कर्मादर्श, भावादर्श और दार्शनिक सिद्धान्तको चिरस्थायी रूप प्रदान किया है । श्रीकृष्णके द्वारा प्रचारित आदर्शको ही व्यासदेवने सनातन आर्यसाधनाका यथार्थ तात्पर्य बतलाकर प्राचीन शास्त्रोंकी व्याख्या और नये शास्त्रोंका निर्माण किया है । पाराशर कृष्णका इस प्रकार सर्वाङ्गीण समर्थन सर्वजनमान्य अपौरुषेय वेदके समर्थनरूपसे वासुदेव श्रीकृष्णके जीवनव्रतको सार्थक करनेमें विशेष सहायक हुआ था ।

आदर्शका प्रचार, सुशिक्षाकी व्यवस्था, जाति और समाजके श्रेष्ठतम मनीषियोंका समर्थन, पुरानेको स्वाभाविक नियमोंके द्वारा नयी धारामें प्रवाहित करनेका कौशल—नवीन आदर्शको देशभरमें सुप्रतिष्ठित करनेके प्रधान उपाय यही हैं । इस प्रकारकी गठनमूलक पद्धतिसे जीवनीशक्तिके सम्यक् विकासमें बाधा देनेवाले सारे कुसंस्कार मिट जाते हैं, प्रतिकूल शक्तियाँ रास्ता छोड़कर अलग खड़ी हो जाती हैं, जाति और समाज मानो कुछ-कुछ अनजानमें ही सभ्यता और संस्कृतिके उच्चतर सोपानपर चढ़ जाते हैं । श्रीकृष्णने अपने विराट् महान् समुदार सार्वभौम आदर्शकी स्थापनाके लिये प्रधानतः इसी प्रकारकी गठनमूलक पद्धतिको अपनाया था । विश्वमानव और विश्वप्रकृतिकी परम ऐक्यभूमि सच्चित्प्रेमानन्दघन भगवान्‌को मानवजीवनका केन्द्र बनाकर, मानवजीवनको भागवतजीवनमें बदल देनेके चरम आदर्शको वास्तविक रूपसे सबके अंदर जगाकर, मनुष्यमात्रके पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय, आर्थिक जीवनको—जीवनके सभी विभागोंको भगवत्-केन्द्रिक और भगवत्-सेवामय बनाकर, मानवीय जीवन-साधनाकी सारी धाराओंको एक ही पारमार्थिक लक्ष्यकी ओर बहाकर, मनुष्यके प्रति मनुष्यके सब तरहके हिंसा, घृणा, भय, द्वेष और वैर-भावके सम्बन्धको एक सुन्दर भ्रातृभावके सम्बन्धमें विलीनकर विश्वके प्रत्येक मानवके प्राण-प्राणमें एकता उत्पन्न कर देना, प्राणीमात्रको एक अच्छेद्य प्रेमके सूत्रमें ग्रथित कर देना, सम्पूर्ण जगत्‌में एक सत्य-प्रेम-पवित्रताके राज्यकी प्रतिष्ठा करना—यही था श्रीकृष्णके अपने जीवनसाधनका लक्ष्य; और सहज-से-सहज तथा सुन्दर-से-सुन्दर उपायोंद्वारा इस लक्ष्यको सिद्ध करना, इसी ओर थी उनकी दृष्टि । भारतमें सम्यक् ऐक्यकी स्थापनाके द्वारा विश्वमें ऐक्य-प्रतिष्ठाका पथ प्रस्तुत करना ही उनका आन्तरिक अभिप्राय था । इसके लिये उन्होंने नाना प्रकारके संगठनमूलक उपायोंका ही अवलम्बन किया था, शान्तिके मार्गका ही अनुसन्धान किया था, यथासम्भव प्रेम-मैत्री, सुपरामर्श, सुशिक्षा, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिय सौहार्द-स्थापनकी ही चेष्टा उन्होंने सर्वत्र की थी । व्यासदेवने महाभारतमें इन सबका वर्णन किया है । श्रीकृष्णकी मानवीय साधनाओंको केन्द्र बनाकर ही महाभारतकी रचना की गयी है ।

परन्तु श्रीकृष्णकी यह सामनीति सर्वत्र सफल नहीं हो सकी । (यह भी उन्हींकी लीला थी ।) अहिंसा, प्रेम और

शान्तिके मार्गसे समग्र भारतमें ऐक्यकी प्रतिष्ठा और एक अखण्ड धर्मराज्यकी स्थापनामें प्रबल विघ्न था भारतकी सामरिक शक्ति और असुरबलगर्वित राज्य-सुख-भोगके प्यासे राजाओंकी क्षुद्र स्वार्थबुद्धि। देशके टुकड़े-टुकड़े करके जो लोग विभिन्न प्रदेशोंकी राष्ट्रशक्तिपर अधिकार जमाये बैठे थे, उनमेंसे बहुत-से ऐसे थे, जो सम्पूर्ण देशके नैतिक, आध्यात्मिक और आर्थिक कल्याणकी अपेक्षा अपनी प्रभुत्वरक्षा और ऐश्वर्यवृद्धिके लिये ही अत्यधिक उत्सुक थे। भारतीय महाजातिके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें प्रेमपूर्ण ऐक्य-स्थापनके लिये चेष्टा न करके वे अपनी सामरिक और आर्थिक शक्तिको केवल अपनी प्रधानताकी प्रतिष्ठामें ही लगाते थे। समरकुशल एक महान् सेनाका सङ्गठन करके दिग्विजयके लिये निकलना और दूसरोंके धनको लूटना उन पराक्रमी वीरोंका आदर्श था और इसीके द्वारा उनके नाम, यश और मर्यादाकी भी वृद्धि होती थी। अपने ऐश्वर्य और प्रभुत्वके विस्तारके लिये वे न्याय और धर्मका त्याग करनेमें गौरव समझते थे। इन राज्यलोलुप अर्थलोभी असुरभावापन्न राजाओंका आश्रय पाकर ही जगत्में अधर्मका अभ्युत्थान और धर्मकी ग्लानि हुआ करती है।

श्रीकृष्णके प्रेमधर्मकी वाणी, उनका ऐक्य और साम्यका आदर्श, उनकी अखण्ड महाभारत-प्रतिष्ठाकी कल्पना, उनका आध्यात्मिक नींवपर राष्ट्र और समाजके प्रासाद-निर्माणका सङ्कल्प इन आसुरभावापन्न परस्पर प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र-नियन्ताओंको अच्छा नहीं लगा। वे इसे आदरके साथ अपनानेको राजी नहीं हुए। श्रीकृष्णका आदर्श और समाजके समस्त स्तरोंमें उसका प्रचार उनकी स्वार्थदृष्टिमें नितान्त ही विप्लवात्मक था। उनकी धारणा हो गयी कि श्रीकृष्ण हमें हमारी शक्ति और कूटबुद्धिके द्वारा प्राप्त किये हुए ऐश्वर्य, प्रभुत्व, मान-सम्मान और निग्रहानुग्रहके सामर्थ्यसे वञ्चित करके एक विराट् आदर्शके बहाने सारे देशमें अपना प्रभुत्व फैलाना चाहते हैं। इसलिये वे पहलेसे ही श्रीकृष्णके प्रभावको घटाकर, श्रीकृष्णके आदर्शको देशसे निकाल फेंकनेके लिये कमर कसकर तैयार हो गये। उनकी इन कुचेष्टाओंसे श्रीकृष्णका प्रभाव घटा नहीं, वरं अधिकाधिक बढ़ता गया; और ज्यों-ज्यों वह बढ़ता गया और दल-के-दल लोग उनके अनुगत होकर उनके आदर्शको अपनाने लगे, त्यों-ही-त्यों असुरस्वभाव राजाओंमें भी उनकी शत्रु-संख्या बढ़ने लगी। कुछ वेदवादरत, परन्तु वेदके मर्मसे अनभिज्ञ, स्वार्थलोलुप ब्राह्मण भी असुरस्वभाव राजाओंके पक्षमें होकर श्रीकृष्णके सार्वभौम धर्मके आदर्शको, सुमहान् ऐक्यके आदर्शको, सर्वजीवोंके प्रति प्रेमके आदर्शको और भगवत्-सेवामय जीवनके आदर्शको वेदविरुद्ध और सनातनधर्मसे विपरीत बतलाने लगे। देशमें जो लोग सताये हुए, गिराये हुए, पददलित किये हुए और मान-मर्यादाको खोये हुए थे, वे श्रीकृष्णको परित्राण कर्ता कहकर, पतितपावन मानकर उनकी पूजा करने लगे और जो सतानेवाले थे, ऊँचे पदोंपर स्थित—प्रभाव-प्रतिपत्तिवाले लोग थे, उनमेंसे बहुत-से श्रीकृष्णके द्वेषी होकर उनसे डरने और उनके विरुद्ध आचरण करने लगे।

मानव-समाजमें धर्म, प्रेम, शान्ति और एकताके झंडेको नित्य नूतन और ऊँचा बनाये रखनेके लिये ही क्षात्रशक्तिकी आवश्यकता है। क्षत्रिय राजाओंकी प्रधानता और संग्राम-शक्तिकी रक्षाके लिये ही धर्मके आदर्शको छोड़ देना, ऐक्य-स्थापनके सङ्कल्पको त्याग देना एवं प्रेम और साम्यके प्रचारसे अलग हो जाना तो महान् कापुरुषता है—मनुष्यत्वका अपमान है। वासुदेव श्रीकृष्ण प्रेमघनमूर्ति होनेपर भी इस कापुरुषता-को वरण करना पसंद नहीं करते थे। विरोधी प्रबल शक्तियोंके भयसे या उनके साथ सङ्घर्षकी आशङ्कासे वे आदर्शका त्याग करनेके लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने जब यह अनुभव किया कि उनके आदर्श-प्रतिष्ठाके पथमें बहुत-से काँटे देश और समाजके साधनक्षेत्रमें अपनी दृढ़ जड़ जमाये फैले हैं, जिनको जड़से उखाड़े बिना लक्ष्यकी सिद्धि नहीं होगी, धर्मराज्यकी स्थापना नहीं होगी, प्रेम और ऐक्यका सर्वत्र प्रचार नहीं किया जा सकेगा, तब उन्होंने सचमुच ही अपनी विप्लव-मूर्ति प्रकट कर दी और अवस्थाके अनुसार क्षात्रभाव तथा दण्डनीतिका अवलम्बन करके वे दुर्वृत्तोंके दमनमें प्रवृत्त हो गये।

मूर्तिमान् प्रेमको आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिये योद्धाका स्वाँग धारण करना पड़ा। अहिंसा और सत्यकी प्रतिष्ठाके लिये उन्हें हिंसा और असत्यके विरुद्ध प्रबल पराक्रमके साथ खड़ा होना पड़ा। न्याय और धर्मकी मर्यादा स्थापन करनेके लिये उनको अन्याय और अधर्मके नाशके हेतु तलवार चलानी पड़ी। दुर्बलों और निरीहोंको बलवानोंके पंजेसे छुड़ानेके लिये उन्हें प्रयोजनानुरूप क्षात्रबलका प्रयोग करना पड़ा। जाति और समाजमें जब अप्रेम और अधर्मका, हिंसा और कलहका, विभेद और विषमताका निर्बाध आधिपत्य फैल जाता है, तब प्रेम और धर्मके अवतारको, अहिंसा और शान्तिके मूर्त विग्रहको अभेद और साम्यके स्वरूपको भी कहाँतक कठोरताका अवलम्बन करना पड़ता है—प्रेमघनमूर्ति सच्चिदानन्दविग्रह वासुदेव श्रीकृष्णका क्षात्रभावान्वित कर्ममय जीवन इसके लिये एक परम उत्कृष्ट दृष्टान्त है। महाभारत, हरिवंश और पुराणादिमें श्रीकृष्णके जीवनसे इस सम्बन्धकी अनेकों घटनाओंका वर्णन किया गया है। श्रीकृष्णकी सब

जीवोंके प्रति प्रीति, करुणा, सहानुभूति और समदृष्टि थी। उनका महान् ऐक्यका आदर्श था और अखण्ड महाभारत-प्रतिष्ठाका अटूट संकल्प था। इसीलिये उनको बहुत-से प्रबल पराक्रान्त असुर-दैत्य-दानवोंके साथ युद्ध करना पड़ा, अनेकों स्वार्थोद्धत मदोन्मत्त सम्राट् उनके शत्रु बने और अनेकों धनी-मानी पण्डितोंके लिये उन्हें भयका स्थान बनना पड़ा। भारतीय सभ्यताको महामानवताकी सुदृढ़ भूमिपर सुप्रतिष्ठित करनेके मार्गमें वे किसी भी विप्लवका सामना करनेके लिये बिना सङ्कोचके तैयार थे। उन्होंने स्वार्थसे अंधी और घमंडसे चूर सब प्रकारकी विद्रोही शक्तियोंको ध्वंस करनेका निश्चय कर लिया था; आवश्यकता होनेपर सब तरहके मित्र-द्रोह, जातिद्रोह, लोकक्षय और करुणक्रन्दनके अंदरसे होकर भी जाति और समाजको आदर्शकी ओर ले जानेमें उनका हृदय नहीं काँपता था; उनके प्रेमार्द्र चित्तमें शोक, ताप, भय, चिन्ता और खेद कभी उत्पन्न ही नहीं होते थे। महा-मानवताके नित्य सत्य विराट् आदर्शकी सुस्थापनाके लिये अपने प्रिय-से-प्रिय असंख्य मनुष्योंके अनित्य क्षणभङ्गुर शरीरोंकी बलि देनेमें भी उनका विशाल हृदय जरा भी संकुचित नहीं होता था। आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिये आवश्यक होनेपर वे 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' रूपमें अपनेको प्रकट करते थे।

बहुत-से भागोंमें बँटे हुए भारतको एक महाभारतके रूपमें परिणत करनेके लिये, आर्य और अनार्य, ब्राह्मण और म्लेच्छ, प्रबल और दुर्बल, ज्ञानी और अज्ञानी—सभीके हृदयोंमें एक अद्वितीय सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वगुणसम्पन्न निखिलरसामृतसिन्धु अनन्तप्रेमाधार सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारी भगवान्को प्रतिष्ठित करनेके लिये, सभी लोगोंके साधनजीवन और व्यावहारिक कर्मजीवनको एक विश्वजनीन विश्वमानवताके आदर्शके द्वारा अनुप्राणित करनेके लिये, एक भक्तिमूलक भागवत-योगधर्मके द्वारा सभी श्रेणियोंके, सभी सम्प्रदायोंके और सभी स्तरोंके नर-नारियोंके सब प्रकारके धर्ममत और साधनप्रणालियोंका समन्वय करनेके लिये महामानव श्री-कृष्णने अपनी अनन्य-साधारण संगठन-शक्ति और अनन्य-साधारण क्षात्रवीर्यका समभावसे प्रयोग किया। उनके संगठन-कार्यमें पाराशर-कृष्ण व्यासदेवने जैसे अपनी असामान्य ज्ञानशक्तिके द्वारा सहायता की, वैसे ही उनके मार्गके काँटोंको उखाड़ फेंकनेके कार्यमें उनके एकान्त अनुगत महावीर पाण्डवोंने—विशेषतः पाण्डव-कृष्ण अर्जुनने—उनका बड़ा हाथ बँटाया। भारतके इतिहासमें ययातिपुत्र त्यागवीर पूरु और उनके वंशधरोंका एक प्रधान स्थान था। पूरुकी पितृभक्ति और आत्मबलिदानपर इस वंशकी मर्यादा प्रतिष्ठित थी। भारतमें आर्यसभ्यताके विस्तारकार्यमें अपने तेज, वीर्य और धर्मज्ञानका परिचय देकर उन्होंने क्षात्रसमाजके केन्द्र-स्थानपर अधिकार प्राप्त कर लिया था। असाधारण महा-पुरुषोंने इस वंशमें जन्म ले-लेकर आर्य-संस्कृतिकी उन्नति और अनार्य शक्तिका दमन करके भारतके प्राचीन इतिहासको अलङ्कृत किया था। इस इतिहासप्रसिद्ध पूरुवंशके उपर्युक्त वंशज पाण्डवोंने श्रीकृष्णका आनुगत्य स्वीकार करके और श्रीकृष्णके आदर्शकी स्थापनाके लिये अपनी सारी शक्ति लगाकर श्रीकृष्णके मार्गको बहुत कुछ सुगम और निष्कण्टक बना दिया था। व्यासके ज्ञान और अर्जुनकी शूरताने श्रीकृष्णके मस्तिष्क और भुजाका कार्य किया था।

प्रथितकीर्ति पूरुवंशकी एक शाखाके नेता थे प्रबल पराक्रमी आत्म-गर्वित और दुरभिसन्धिसे प्रेरित दुर्योधन। इन दुर्योधनको केन्द्र बनाकर जब श्रीकृष्णके आदर्शस्थापनके विरोधी पक्षने अपना संगठन आरम्भ किया, तब इसी वंशकी दूसरी शाखाके धर्मवीर पाण्डवोंकी प्रभाववृद्धि और अधिकार-प्रतिष्ठा श्रीकृष्णके आदर्श-प्रचारके लिये अत्यन्त आवश्यक हो गयी। धर्मके लिये, मानवोचित जीवनादर्शके लिये, जाति और समाजके ऐक्य, शान्ति और सर्वाङ्गीण कल्याणके लिये सब प्रकारका क्लेश-सहन और त्याग करनेको पाण्डव सदा ही प्रस्तुत थे। उन्होंने श्रीकृष्णको अपने जीवनके सभी विभागोंमें नेतारूपसे वरण कर लिया था और वे श्रीकृष्णके जीवनव्रतको सफल बनानेके लिये अपने जीवनतकका उत्सर्ग करनेको उत्सुक थे। महाभारतके संगठनके लिये सूक्ष्मदर्शी श्रीकृष्णने केन्द्रीय राष्ट्रशक्तिको धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा परिचालित न्यायदण्डधारी अमितपराक्रमी पाण्डवोंके हाथोंमें सौंपना आवश्यक समझा था।

न्याय और धर्मकी दृष्टिसे पाण्डव ही कौरव-राज्यके उत्तराधिकारी थे और अपने चरित्रमाधुर्य तथा क्षात्रोचित गुणगरिमासे भी उन्होंने सबके हृदयोंपर अधिकार कर लिया था। इतनेपर भी लड़कपनसे ही उनका दण्ड, यातना और क्लेशकी गोदमें ही लालन-पालन हुआ था। दुर्योधन और उनके कूटबुद्धि बन्धु-बान्धवोंके षड्यन्त्रके कारण वे शैशवसे ही नाना प्रकारके अत्याचारोंसे पीडित और दुःख-कष्टसे जर्जरित थे। जीवनके प्रत्येक विभागमें धर्म, प्रेम, क्षमा और सहिष्णुताके आदर्शको अक्षुण्ण बनाये रखना उनका व्रत था; इसीसे उन्होंने प्रतीकारकी शक्ति रखते हुए भी सब तरहके अत्याचार-अविचार और निर्यातनको प्रसन्न चित्तसे सहन किया था। इस प्रकारकी तपस्याके द्वारा ही उन्होंने लोकसमाजमें श्रीकृष्णके महान् आदर्शकी पताका फहरानेकी योग्यता प्राप्त की थी। स्वयं भाँति-भाँतिके निग्रह, निर्यातन और लाञ्छना

सहकर जाति और समाजके सभी निगृहीत, पीडित, लाञ्छित और पददलित जनसाधारणके प्रतिनिधिरूपमें उन्होंने न्याय और धर्मकी प्रतिष्ठा और सब लोगोंके कल्याणके लिये संग्राम करके प्रतिकूल शक्तियोंके विनाशका नैतिक अधिकार प्राप्त कर लिया था। भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें जो राजा और क्षत्रियवीर पाण्डवोंके गुणोंपर मुग्ध थे, न्याय और धर्मके पक्षपाती थे और श्रीकृष्णके महान् आदर्शके प्रेमी थे, वे प्रेम और सहानुभूतिके साथ अपनी सारी शक्तिको लेकर उनके साथ आ मिले।

भारतकी राष्ट्रशक्तियाँ कार्यतः दो भागोंमें विभक्त हो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी बनकर सुसज्जित हो गयीं। एक भाग था न्यायके पक्षमें और दूसरा था बुनियादी स्वार्थका पक्षपाती; एक भाग सताये हुए नर-नारियोंका पक्ष करता था, तो दूसरा सतानेवालोंके पक्षमें था; एक ऐक्य और मिलनका पक्षपाती था, तो दूसरा भेद और विरोधका; और एक भाग श्रीकृष्णके महाराष्ट्र, महासमाज, महाधर्म और महाभारत-संगठनका पक्ष करता था तो दूसरा उस नवीन आदर्शके पक्षमें बाधा खड़ी करनेके पक्षमें था। श्रीकृष्णने अपने वंशजोंमें वीर्य-शौर्य जगाकर और उन्हें वीरोचित शिक्षा-दीक्षा देकर दुर्धर्ष क्षात्रशक्तिका सृजन किया। देशके लब्धप्रतिष्ठ क्षत्रिय राजालोग जिनको जरा भी नहीं मानते थे, जिनको किसी प्रकारका उच्चाधिकार और उन्नत शिक्षा-दीक्षा नहीं देते थे, उन्हीं सब अनादृत—अवज्ञात लोगों-को अपने झंडेके नीचे इकट्ठा करके, उन्हें समुन्नत धर्मज्ञान और वीरोचित शिक्षा-दीक्षा प्रदानकर श्रीकृष्णने एक विराट् नारायणी सेनाका संगठन किया। इन सब शक्तियोंका उचित-रूपसे संचालन करके महानायक श्रीकृष्ण अपने महाभारत-संगठनकी विरोधी शक्तियोंको प्रयोजनानुसार कठोरताके साथ कुचल डालनेको तैयार हो गये। अर्जुन और भीमकी सामरिक शक्तिसे सहायता लेकर भी उन्होंने कई काँटे उखाड़े। यह शत्रुदमन-कार्य—परिकल्पित धर्मराज्यकी स्थापनाके विघ्नोंके नाशका कार्य—वे ऐसे कौशलके साथ करते कि जिसमें निरीह प्रजाकी स्वच्छ जीवनधारामें जरा भी क्षोभ और अशान्तिका उदय नहीं होता।

आसुरी शक्तिके उत्पीड़नसे मानवात्माको छुटकारा दिलानेके लिये, आसुरी मनोवृत्तिके प्रभावसे मनुष्यकी चिन्ता-धारा और कर्मधाराको मुक्त करके उसे धर्मप्रेम और मोक्षके मार्गपर बहानेके लिये, भारतीय सभ्यताको आसुरी आदर्शके आधिपत्यसे छुड़ाकर विश्वमानवताका आदर्श प्रतिष्ठित करनेके लिये भारतके प्राणपुरुष प्रेमघनविग्रह वासुदेव श्रीकृष्णका आदर्शप्रचार और कण्टकोद्धार तथा संगठनलीला और ध्वंसलीला—दोनों एक ही साथ चलने लगे। साधुओंके परित्राण और प्रभाववृद्धि तथा दुष्टोंके पराभव और प्रभाव-नाशके लिये वे अपनी प्रेमशक्ति और संग्रामशक्ति दोनोंका ही समान व्यवहार करने लगे। ऐक्य और प्रेमकी वाणी, साम्य और सर्वजनीन स्वाधीनताकी वाणी, सत्य और अहिंसाकी वाणी, उदारता और विश्वमानवताकी वाणी असुरभावसे प्रभावित मानवसमाजमें सदा ही विप्लवकी वाणीके रूपमें प्रकट हुआ करती है। बुनियादी स्वार्थ, सुप्रतिष्ठित अन्यायमूलक प्रभुत्व, सङ्घबद्ध असत्य और हिंसा एवं मानप्राप्त दम्भ और परस्वापहरणके विरुद्ध विद्रोहकी घोषणा करके ही यथार्थ धर्मकी वाणी—विश्वमानवके महामिलनकी वाणी मानवजगत्में प्रकट हुआ करती है। अतएव श्रीकृष्ण भी महाविप्लवकी वाणी लेकर ही संसारके कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए थे। श्रीकृष्ण-की वाणीका जितना ही प्रचार होने लगा, उनका संगठनकार्य जितना ही अग्रसर होने लगा, सङ्घर्षके कारण भी उतने ही बढ़ने लगे। आसुरी शक्तियाँ उनको और उनके आदर्शको मटियामेट करनेके लिये सङ्घबद्ध होने लगीं, विप्लवका दावानल अधिक-से-अधिक जल उठा। देहराज्यमें विप्लव हुए बिना प्राणोंकी आत्मप्रतिष्ठा नहीं होती; असुर-राज्यमें विप्लवके बिना दैवादर्शकी आत्मप्रतिष्ठा नहीं हो सकती; और काम, क्रोध, लोभके राज्यमें विप्लवके बिना भगवान् प्रकट नहीं होते। भारतके और विश्वमानवके प्राणपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण इस देशव्यापी विप्लवके लिये प्रस्तुत थे। धर्मकी ग्लानि और अधर्मका प्रादुर्भाव कितना अधिक हो चुका था, इस विप्लवकी व्यापकता और बीभत्सता ही उसका निदर्शन है।

साम, दान, भेद और दण्ड—सभी नीतियोंको अपनाकर व्यासार्जुनकी सहायतासे श्रीकृष्णने अनेकों विरोधी शक्तियोंका दमन किया था, बहुत-से शत्रुओंको मित्र बना लिया था, अनेकों प्रतिकूलाचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और अनार्य वीरोंको अपने आदर्शका प्रेमी बनानेमें सफलता प्राप्त की थी। अनेकों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी राजशक्तियोंको विवाहसूत्रमें बाँधकर सामाजिक मैत्रीकी स्थापना की थी। उन्होंने स्वयं भी आर्य, अनार्य, मित्र और शत्रु अनेक वंशोंमें विवाह करके सबमें प्रेम-की प्रतिष्ठा की थी। परंतु इससे उनके संग्रामकी आवश्यकता दूर नहीं हुई। वे ध्वंसलीलाको अपनी कर्मपद्धतिसे अलग नहीं कर पाये।

अन्तमें देशव्यापी विप्लव घनीभूत होकर महाभारतीय महासमरके रूपमें प्रकट हुआ। धार्तराष्ट्र और पाण्डवोंके साम्राज्याधिकारका विवाद तो एक निमित्तमात्र था। श्रीकृष्णके महान् आदर्शकी विरोधी शक्तियाँ, बुनियादी स्वार्थकी पक्ष-पातिनी राष्ट्रशक्तियाँ दुर्योधनको केन्द्र बनाकर आत्मरक्षाके

लिये इकट्ठी हो गयीं। इधर श्रीकृष्णके आदर्शकी अनुरागिणी शक्तियाँ श्रीकृष्णके द्वारा संचालित पाण्डवोंके पक्षमें सम्मिलित हो गयीं। इस महासमरको अनिवार्य जानकर भी श्रीकृष्णने इसके निवारणके लिये लौकिक साम-उपायसे यथासाध्य चेष्टा की। श्रीकृष्णकी सलाहसे युद्धको बचानेके लिये धर्मराज युधिष्ठिरने दुर्योधनसे पाँचों भाइयोंके लिये केवल पाँच गाँव लेकर ही संतुष्ट होना स्वीकार किया। स्वयं श्रीकृष्ण दूत बनकर शान्तिस्थापनका प्रयत्न करने पधारे। बाल्यावस्थासे लेकर अबतक दुर्योधन और उनके पक्षवालोंने पाण्डवोंपर जो अत्याचार किये थे, उन सभीको क्षमा करनेके लिये तैयार होकर श्रीकृष्णाश्रित पाण्डवोंने महा-मानवताका आदर्श उपस्थित किया। भीमको विष देकर मार डालनेकी चेष्टा, कुन्तीसमेत पाँचों पाण्डवोंको लाक्षागृहमें जला डालनेके षड्यन्त्र, कपट-जूएमें धन-मान-राज्यसुखका अपहरण--यहाँतक कि राजदरबारमें असंख्य राजाओंके सामने राज-कुल-वधू एक-वस्त्रा वीराङ्गना द्रौपदीके केश खींचकर उसे नग्न करनेकी पापपूर्ण चेष्टा--इन सभी अत्याचारोंको देशमें एकता, शान्ति और प्रेमकी प्रतिष्ठाके लिये श्रीकृष्णानुगामी महावीर पाण्डव भुला देनेको राजी हो गये।

परंतु संधिस्थापनके सभी प्रयास व्यर्थ हुए। देशकी नैतिक, राष्ट्रिक और सामाजिक परिस्थिति जब महासमरके उपयुक्त हो उठती है, तब उसे कोई भी निवारण नहीं कर सकता। जबतक यह स्वार्थपरायण दाम्भिक आसुरभावापन्न क्षात्रशक्ति ध्वंस नहीं हो जाती तबतक एकता, शान्ति और प्रेमका आदर्श भगवद्भक्तिपूत विश्वमानवताका आदर्श मानवसमाजमें सुप्रतिष्ठित नहीं हो सकता--मानवात्माकी मुक्ति नहीं हो सकती। कालप्रभाव और भगवान्के विधानसे जब आसुरी प्रभावसे मानवात्माकी मुक्तिका समय आता है, तब आसुरी शक्तिका नाश करनेके लिये महासमर अनिवार्यरूपसे सम्पन्न होता है। लीलामय श्रीकृष्णने इसी नियमको मानकर मानो युद्धके लिये सम्मति प्रदान की थी। इस महासमरमें परस्पर प्रतिद्वन्द्वी किसी पक्षविशेषका जय-पराजय उनका लक्ष्य नहीं था। एक असुरसङ्घको पराजित और निगृहीत करके दूसरा एक असुरसङ्घ मर्यादा और प्रभुत्वके आसनपर आरूढ़ हो--यह उनकी इच्छा नहीं थी। वे चाहते हैं मानवात्माकी नैतिक और आध्यात्मिक मुक्ति; वे चाहते हैं मानव-समाजमें अधर्मका पराभव और धर्मका अभ्युदय; वे चाहते हैं मानवजातिमें सप्रेम ऐक्यप्रतिष्ठा--साम्य, मैत्री, पवित्रता और आनन्दकी प्रतिष्ठा; और वे चाहते हैं विश्व-जगत्में सत्य-शिव-सुन्दरकी सुस्थापना। मानव-प्राणकी यही चाह है। इस आदर्शकी विजय ही उनको अभिप्रेत है। इस आदर्शकी विजय ही मानव-प्राणोंमें स्वाराज्यकी प्रतिष्ठा--भारतप्राणोंमें आत्मप्रतिष्ठा होगी। इस सुमहान् सुमङ्गल आदर्शके विजय-ध्वजको गहरा गाड़नेके लिये ही श्रीकृष्ण विप्लव-तरङ्गमें कूदे थे और भारतकी क्षात्रशक्तिका ध्वंस करनेवाले महासमरका समर्थन करके उन्होंने उसमें योग-दान किया था।

दो दलोंमें बँटी हुई भारतीय राष्ट्रशक्तियाँ एक दूसरेका ध्वंस करनेके लिये सब प्रकारके मारणास्त्रोंसे सुसज्जित होकर तैयार हो गयीं। देशकी शान्तिप्रिय निरीह जनता महासमरकी विभीषिका और अशान्तिकी ज्वालासे बची रहे और आसुर-भावापन्न राजालोग परस्पर अपना ध्वंस कर सकें, इसके लिये युद्धको एक स्थानविशेषमें मर्यादित करके सीमाबद्ध कर दिया गया। कुरुक्षेत्रकी विशाल भूमिमें वे एक दूसरेका मुकाबला करनेके लिये आ डटे। यथासम्भव कम-से-कम समयमें ही महासमरको समाप्त कर देनेकी श्रीकृष्णने बड़े कौशलसे व्यवस्था की। उन्होंने स्वयं इस महासमरके महानायक होनेपर भी किसी पक्षमें अस्त्र धारण न करके अपनी निरपेक्षता प्रकट की; परंतु अर्जुनके सारथि बनकर उनके पक्षमें अपने नैतिक समर्थनकी घोषणा कर दी। दूसरी ओर, अर्जुनके विपक्षमें दुर्योधनको अपनी नारायणी सेना प्रदान करके वस्तुतः अर्जुनके अस्त्रोंसे अपनी सामरिक शक्तिका नाश करनेकी भी व्यवस्था कर दी।

अठारह दिनोंके युद्धमें भारतकी आत्मविस्मृत आसुर-भावापन्न क्षात्रशक्ति प्रायः निर्मूल हो गयी। बचे श्रीकृष्णके विशेष अनुग्रहपात्र, उनकी पताकाका वहन करनेवाले पाँच पाण्डव। और बचे--स्त्री, बालक तथा वृद्ध, जो युद्धमें सम्मिलित ही नहीं हुए थे। प्रायः निःक्षत्रिय भारतवर्षमें उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरको राजचक्रवर्ती-पदपर प्रतिष्ठित किया। क्षात्रशक्तिके या आसुरी शक्तिके श्मशानपर श्रीकृष्णके आदर्शकी प्रतिष्ठा हुई। अखण्ड महाभारतकी नींव पड़ी और नवयुगकी सूचना हुई। व्यासके शिष्यगण महाभारतके नैतिक और आध्यात्मिक सङ्गठनमें लगे रहे। महाभारतके महानायककी यह अनोखी लीला है!

महाभारतपर स्वर्गीय विद्वान् श्रीचिन्तामणि राव वैद्यके कुछ विचार

महाभारत एक महाकाव्य

'वस्तुतः 'महाभारत' शब्दसे ही मनमें विशाल तथा अत्यन्त वैविध्यसे युक्त किसी वस्तुकी भावना आ उपस्थित होती है; परंतु काव्यत्वके दृष्टिकोणसे महाभारतमें विषयोंकी विशालता और विविधताका भान बहुत कम लोगोंको होता है। काव्यरचनाके अनुकूल प्रसङ्ग महाभारतमें इतने क्रमबद्ध तथा वैविध्यसे भरपूर हैं कि अर्वाचीन संस्कृत कवियोंने जिस किसी रसमय प्रसङ्गका वर्णन किया है, उन सबका बीज महाभारतमें मिले बिना नहीं रह सकता। सूतजी स्वयं अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें अभिमानपूर्वक कहते हैं—'एक विशाल वटवृक्षके समान महाभारत सभी अर्वाचीन कवियोंके लिये आश्रय-स्थान है। इस अमरस्रोतसे अनेक कवियोंने सुधा-रसका पान किया है तथा नयी चेतना प्राप्त की है।'

'महाभारतके पृथक्-पृथक् तथा विविधतासे भरे प्रसङ्ग एक ही वार्ताके रूपमें इस प्रकार सुन्दरतासे ग्रथित हुए हैं कि इससे अधिक भव्य और सुयोजित कथानककी कल्पना करना शक्य नहीं है। अनेकों बार मेरे मनमें ऐसा आया है कि महाभारतकी कथा यदि ऐतिहासिक नहीं भी है तो भी इसकी रूप-रेखा जिस कथासे उत्पन्न हुई है उसकी कल्पना शेक्सपियरकी कल्पनाकी अपेक्षा भी अधिक समृद्ध होनी चाहिये। पात्रोंकी विविधता और स्वाभाविकता जितनी शेक्सपियरके नाटकोंमें देखनेमें आती है, उतनी ही महाभारतमें भी दीख पड़ती है; परंतु आश्चर्यकी बात यह है कि महाभारतमें एक ही कथानकके भीतर इतने अधिक पात्रोंका एकत्र समावेश हो जाता है! शेक्सपियरने अनेकों नाटकोंकी रचना करके जो दिखलाया है, उसे व्यासजीने एक विशाल कथानकके द्वारा प्रदर्शित कर दिया है। कथानकके अङ्ग विशाल होनेपर भी गजराजके अवयवके समान उनकी योजना एक सुबद्ध और सुन्दर शरीरमें हो जाती है।'

'यह तो जानी हुई बात है कि महाभारतके कुछ प्रसङ्गोंके आधारपर परवर्ती संस्कृत कवियोंने महाकाव्यों तथा नाटकोंके लिये अनुकूल विषयोंका चयन किया है। यह भी जानी बात है कि वर्तमान कथाकार इस विशाल ग्रन्थमेंसे कुछ फुटकर प्रसङ्गोंको लेकर उनके द्वारा घंटों-घंटों चलनेवाली कहानियोंकी रचना करते हैं। पर यह जानी बात नहीं है कि महाभारतकी कथा बड़ी और सुगठित है, इतना ही नहीं, बल्कि इसका अभी विशेष विस्तार होनेके लिये अवकाश बना हुआ है। वस्तुतः मुख्य विषय महाभारतके युद्धको कविने अपने मनश्चक्षुके सामने सदा रक्खा है और विस्तार करनेके लालचके अभिवश होकर भी वे कहीं बहुत दूर नहीं भटके हैं।'

'पैरेडाइज लास्ट' और 'महाभारत'—इन दोनोंकी तुलना नहीं की जा सकती; परंतु होमरके 'इलियड'के विषय तथा महाभारतके विषयकी तुलना भलीभाँति की जा सकती है। 'इलियड' जिस प्रकार ग्रीसकी जनताका महाकाव्य था, उसी प्रकार महाभारत भारतीय जनताका महाकाव्य था और अबतक है। भारतीय प्रजासे सम्बन्ध रखनेवाली वंशावली, दन्तकथाएँ तथा प्राचीन तत्त्वज्ञानका महान् संग्रह इस ग्रन्थमें प्राप्त होता है।'

पुरुष-पात्र

'जिस पात्रके उच्च पराक्रम और प्रौढ़ विचार महाभारतमें अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंगसे वर्णित हैं, उस पात्रकी योग्य प्रशंसा करनेके लिये शब्द हमको ढूँढ़े नहीं मिलते। श्रीकृष्णके अतिरिक्त युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, कर्ण, द्रौपदी, द्रोण और भीष्मपितामह—ये सभी पात्र महत्ता और नीतिमत्ताके आदर्शके रूपमें परिगणित हुए हैं, और सदा होते रहेंगे। कर्तव्य-पालनार्थ जिन कृत्योंमें आत्म-बलिदानकी आवश्यकता होती है, उनके लिये प्रेरणा-शक्ति इन पात्रोंके द्वारा भारतकी आर्य-प्रजाको सदासे मिलती रही है। दुर्योधन-जैसे पात्रमें भी कुछ और ही प्रताप और सौन्दर्य देखनेमें आता है। उनका अडिग निश्चय, मृत्यु और राज्य-मुकुट—इन दोनोंके मध्यके किसी भी अधकचरे मार्गको न स्वीकार करनेकी उनकी उच्चाभिलाषा—इनका निरूपण कविने अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक ढंगसे किया है। और इसके भीतरसे नये-नये उपदेश अपने-आप निकल आते हैं। पात्रोंके चरित्र-चित्रणके कार्यमें होमर और मिल्टनकी अपेक्षा भी महाभारतके कविकी विशिष्टता स्पष्ट दीख पड़ती है।

स्त्री-पात्र

महाभारतके स्त्री-पात्र भी इलियडके स्त्री-पात्रोंकी अपेक्षा बढ़े-चढ़े दीखते हैं। हेलेन और एण्ड्रोमश भी द्रौपदीकी तुलनामें नहीं आ सकतीं। द्रौपदी-जैसे पात्रद्वारा महाभारतकारने स्त्री-स्वभावकी उच्चताका ऐसा प्रबल उदाहरण हमारे सामने रक्खा है कि इस प्रकारके पात्रकी योग्य प्रशंसा करनेके लिये हमें खोजनेसे भी शब्द नहीं मिलते। द्रौपदी एक साध्वी स्त्री है। आत्मगौरवका भान वह कभी नहीं खोती है। महान्-से-महान् विपत्ति आ पड़नेपर भी वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ नहीं होती। वह इतनी पवित्र और निर्दोष है कि जिसकी कल्पना भी मनुष्य नहीं कर सकता, तथापि उसमें मनुष्यत्व भी है। बहुधा बातचीतके दौरानमें स्त्री-जाति-सुलभ हठ तथा अन्य मनोभाव उसमें दीख पड़ते हैं। बहुधा जिस

बातपर वह अड़ जाती है, उसको स्वीकार करना उसके पतियोंको भी आवश्यक हो जाता है। तथापि वह हल्की नहीं बनती। हेक्टर जिस प्रकार अपनी स्त्रीको घरके धंधेके ही योग्य समझता है, उस प्रकार द्रौपदीको तुच्छ नहीं गिन सकते। वह एक क्षत्रियाणी है। क्षात्र-शौर्य और मनोबल उसके चेहरेपर झलकता रहता है। अरे! जिस समय कीचक और जयद्रथ-जैसे मनुष्य उसको पकड़कर बलात्कार करनेका प्रयत्न करते हैं, उस समय एक क्षत्रियाणीके लिये शोभनीय जोशसे वह उनको ऐसा धक्का देती है कि वे जमीन पकड़ लेते हैं। अवसरदर्शिता भी उसमें ऐसी है कि वैसी अवसर-दर्शिता यदि पुरुषमें हो तो उसे अभिमान आये बिना न रहे। उदाहरणार्थ, स्वयंवरमें धनुष चढ़ानेके लिये कर्ण खड़ा होता है, उस समय 'मैं सूतके साथ ब्याह करना नहीं चाहती'—यह कहते हुए उसको जरा भी देर नहीं लगती। और 'चौपड़ खेलते समय तू दावपर रक्खी गयी है'—यह जब उससे कहा जाता है तो वह ऐसा प्रश्न उठाती है कि जिससे दुर्योधनके दरबारी बड़ी उलझनमें पड़ जाते हैं। सबसे बढ़कर तो, स्वयंवरमें अर्जुनको प्राप्त होकर उस समय गरीब ब्राह्मणके वेषमें खड़े अर्जुनके साथ सुख-दुःखमें सहचारिणी होनेका इसका उदार सङ्कल्प और दीर्घकालतक वनवासमें पाण्डवोंके साथ रहनेकी पूर्ण इच्छा, इन सारे संयोगोंमें हिंदू रमणीके लिये शोभनीय धैर्य और संतोषवृत्ति रखकर एक समान भक्तिपूर्वक पतिके साथ रहनेकी प्रेरणा इसके हृदयमें निरन्तर प्रवाहित होती है।'

'कुन्ती महाभारतकी दूसरी प्रतापशालिनी स्त्रीपात्र हैं। पाण्डव अपनी स्त्रीको लेकर बारह वर्षके लिये वनवासमें जाते हैं, उस समय विदुरके घरमें रहती हुई कुन्ती माताने श्रीकृष्णके द्वारा अपने पुत्रोंको जो संदेश भेजा है वह सचमुच क्षत्रियाणीके ही अनुरूप है, तथा युद्धमें उनको प्रबल उत्साह प्रदान करनेवाला है। 'विजय प्राप्त करो या मृत्युको प्राप्त हो' इस प्रकारकी इच्छा वह अपने पुत्रोंके सामने प्रकट करती है। इस प्रकार वह अपने पुत्रोंको युद्धके लिये उकसाती है, परंतु वह अपने स्वार्थके लिये नहीं। पाण्डवोंको जब विजय प्राप्त होती है और वे राज्यारूढ़ होते हैं तब कुन्ती उनको छोड़कर धृतराष्ट्रके साथ वनमें चली जाती है और उस अंधे जेठकी सेवा करते-करते अन्तमें मृत्युको प्राप्त होती है। वह जब जाती है, उस समय भीम बहुत विनती करते हुए कहते हैं—'तुम हमारे साथ रहो और तुम्हारी शिक्षाके अनुसार चलनेसे हमको जो फल प्राप्त हुआ है, उसको तुम भी हमारे साथ रहकर भोगो।' परंतु वह सुन्दरतापूर्वक उत्तर देती है कि—'मैं अपने पतिके जीवनकालमें बहुत ही भोगैश्वर्य प्राप्त कर चुकी हूँ। अब मुझको भोगकी इच्छा नहीं है। मैंने तुमको युद्ध करनेकी शिक्षा दी, युद्धके लिये मैंने तुमको उकसाया, इसका कारण केवल यही था कि मैं नहीं चाहती थी कि तुम भीख माँगो।' अलग होनेके समयकी ऐसी अन्तिम शिक्षा स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है—

'धर्ममें तुम अपनी बुद्धि रक्खो। सदा उदारचेता बने रहो (धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्ते महदस्तु च)।' सारे महाभारतका सार इस एक पङ्क्तिमें आ जाता है।'

'महाभारतके स्त्री-पात्र साधारण स्त्रियोंकी अपेक्षा बहुत चढ़े-बढ़े हैं; परंतु जो मनुष्यत्वका तत्त्व हमको अन्यत्र देखनेमें आता है वह इनमें भी है। जिस समय अर्जुन अपनी दूसरी स्त्री सुभद्राको इन्द्रप्रस्थमें लाता है, उस समय द्रौपदी एक प्रबल दृष्टान्तके द्वारा अपना ईर्ष्याभाव प्रकट करती है। वह कहती है कि, 'पहली गाँठ चाहे जितनी कड़ी और मजबूत हो; परंतु उसके पीछे जो दूसरी गाँठ आती है उससे वह ढीली पड़े बिना नहीं रहती।' युद्धके मैदानमें कर्णको देखनेके साथ ही कुन्तीको मूर्च्छा आ जाती है। कौरवोंके सामने आक्रमण करनेके लिये उत्तराका भाई जिस समय जाता है उस समय उत्तरा अर्जुनको उसके साथ रहनेके लिये कहती है, और 'मेरे गुड़ियोंके लिये अच्छे-अच्छे वस्त्र चुनकर लेते आना' यह विनती करती है, पर उत्तराके मनमें यह शङ्का भी नहीं आती कि कौरवोंकी बड़ी सेना मेरे भाईको पराजित कर देगी। स्त्रीजातिकी विशुद्धताके सूचक ऐसे-ऐसे प्रसङ्गोंका समावेश कविने अपने ग्रन्थमें किया है, जिसके कारण महाभारतके स्त्री-पात्रोंकी ओर हमारा विशेष प्रेम उत्पन्न होता है।'

देव-पात्र

पुरुष-पात्र और स्त्री-पात्रके अतिरिक्त देव-पात्र भी महाभारतमें आते हैं। ये पात्र सचमुच देवता ही हैं। इलियडके देवता पात्रोंके समान हास्य उत्पन्न नहीं करते। साधारणतः यह कहा जाता है कि, महाकाव्यकी गम्भीर और प्रौढ़ रचनामें हास्यरसके चित्रोंके लिये कुछ भी अवकाश नहीं रहता; तथापि इलियडमें यदि कुछ हास्यरस चित्रण हुआ है तो वह आलिम्पस पर्वतके ऊपरके देवताओंसे सम्बन्ध रखता है। स्वर्गके देवता भूमण्डलपर होनेवाली रचनाके लिये विवाद करते हैं। अति क्षुद्र हेतुसे प्रेरित होकर मनुष्यकी सहायता करनेमें अत्यन्त व्यस्त होकर वर्तते हैं। आश्चर्य तो यह है कि सबसे समर्थ देवता जुपिटर (बृहस्पति) भी कतिपय पक्षपातमें लिप्त अपनी स्त्री ज्यूनोंके हठसे अनेकों बार व्याकुल हो उठते हैं, और कभी-कभी तो अपनी स्त्रीको मार डालनेकी धमकी भी दे बैठते हैं। महाभारतके देवता अनेक दृष्टिसे ग्रीक लोगोंके देवताओंके समान हैं; परंतु कवि कभी उनको उनके उच्च स्थानसे पदभ्रष्ट नहीं करता।

कवितामें बहुत ही प्रभावोत्पादक ढंगसे कवि इन पात्रोंका प्रवेश कराता है, और इस प्रकार काव्यके पात्रोंकी विविधता-में वृद्धि करता है। मानवीय विषयोंमें व्यासके देवता शायद ही कहीं बीचमें पड़ते हैं, यदि कहीं पड़ते भी हैं तो अपना व्यवहार देवताओं-जैसा ही रखते हैं, स्वार्थी मनुष्योंके-जैसा बर्ताव वे नहीं करते। इसका एक उदाहरण मैं दूँगा। युद्धमें कर्ण अजेय है—ऐसा अर्जुनको न लगे, इसके लिये कर्णके प्राकृतिक कवचको जो उसके जन्मके साथ ही उत्पन्न हुआ था, लेनेके लिये कर्णके पास इन्द्रके जानेका वर्णन आता है। कर्ण ऐसा दानी प्रसिद्ध था, जो ब्राह्मणोंको किसी भी वस्तुके लिये खाली नहीं जाने देता था। इसलिये ब्राह्मणका वेष धारण करके इन्द्र कर्णके पास जाता है और कहता है कि 'तुम अपना कवच मुझको दे दो।' दानी कर्ण इन्द्र-को पहचान लेता है, फिर भी उसको अपना कवच दे देता है। यहाँ 'इन्द्र उस कवचको लेकर अभिमानपूर्वक चलता बना'—ऐसा वर्णन महाभारतमें नहीं दिया है, परंतु देवता-को जैसा शोभता है, वैसे ही बर्तावकी रक्षा करते हुए इसको प्रदर्शित किया गया है। कर्णके ऊपर वह प्रसन्न होता है और देवताके रूपमें कर्णको वरदान माँगनेके लिये कहता है। कर्ण यह वरदान माँगता है कि 'एक मर्त्यके विरुद्ध छोड़ा जा सके, ऐसा एक अमोघ अस्त्र मुझको दो।' पश्चात्, यह अस्त्र शायद अर्जुनके विरुद्ध ही प्रयोग करनेमें न आ जाय, इसकी आशङ्का न करके इन्द्र एक अस्त्र उसको देता है। फिर, अर्जुन स्वर्गमें अथवा इन्द्रके दरबारमें जाता है, वहाँ उसको शिवके दर्शन होते हैं, और शिव उसके ऊपर प्रसन्न होते हैं। यह विषय, जिसका विस्तार भारविने अपने 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्यमें किया है, महाभारतमें कुछ सुरम्य रेखाचित्रोंके द्वारा चित्रित हुआ है; और इसमें स्वर्गके पात्रोंका बर्ताव मनुष्यों-जैसा नहीं, बल्कि देवताओं-जैसा ही दिखलाया गया है।'

संवाद और भाषण

'व्यासजी अपने पात्रोंको कैसे प्रतिष्ठित करते हैं, उनकी कथा कैसे आगे बढ़ती है, अब इस प्रश्नके ऊपर हम विचार करेंगे। आर्नल्डने महाकाव्य (Epic Poem) का जो लक्षण दिया है, उसमें एक अंशका सारांश यहाँ हम देते हैं। 'संवाद, स्वगत-भाषण और वर्णन—इन तीनोंके मिश्रणके द्वारा महाकाव्यका विकास होता जाता है। महाभारतके ग्रन्थमें जिस प्रकार महाकाव्यके दूसरे लक्षण पुष्ट दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार यह लक्षण भी देखनेमें आता है। महाभारतमें संवाद अत्यन्त उत्तम होते हैं। वस्तुतः संवादोंमें ही इस काव्यकी विशेष शक्ति निहित है। इलियड और पैरेडाइज लास्ट (Iliad and Paradise Lost) के समान इस काव्यके सारे भाषण सुयोजित, वक्तृत्वसे भरपूर और जोशीले हैं, तथा पृथक्-पृथक् पात्रोंके मुखसे जो भाषण कराये जाते हैं, वह उन-उन पात्रोंके मुखसे ही शोभा देते हैं। कोई भाषण ऐसा नहीं है, जिसको विस्तारपूर्वक यहाँ लिखा जाय; इसलिये कुछ श्रेष्ठ भाषणोंकी सूचना देकर ही हमको विराम लेना पड़ेगा। आदिपर्वमें धनुर्विद्याके ज्ञानकी परीक्षाके समय दुर्योधन, कर्ण, अर्जुन और भीम—इन चारोंके बीच चलनेवाला संवाद; सभापर्वमें जिस संवादके अन्तमें श्रीकृष्णने सुदर्शनचक्र फेंककर शिशुपालका नाश किया था, वह शिशुपाल और भीष्मका संवाद; वनपर्वमें प्रपञ्चके सामने प्रपञ्च करनेकी सलाह जहाँ द्रौपदीके द्वारा दी गयी है; द्रौपदी, भीम और युधिष्ठिरका संवाद; द्रोणपर्वमें द्रोण जिस समय अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ थे, उस समय धृष्टद्युम्नने उनका वध किया, तत्पश्चात् सात्यकि, अर्जुन, धृष्टद्युम्न और युधिष्ठिर—इन चारोंके बीच चलनेवाला संवाद—ये विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य हैं। उभयपक्षके बीच संधि करानेके उद्देश्यसे श्रीकृष्ण जाते हैं, और कौरवोंके आगे जो भाषण करते हैं, वह साहित्यका एक श्रेष्ठ नमूना है। और यही एक नमूना समर्थ भाषणकी कल्पना करनेकी व्यासकी अद्भुत क्षमताका चित्र पाठकोंके हृदयमें अङ्कित कर देता है। श्रीकृष्णके उत्कृष्ट भाषणका एक दूसरा उदाहरण कर्णपर्वमें प्राप्त होता है; कर्णके साथ लड़नेके लिये अर्जुन आगे बढ़ता है, उस समय अर्जुनको प्रोत्साहन करनेके लिये श्रीकृष्ण जो भाषण करते हैं, वह बहुत ही रम्य और प्रभावोत्पादक है। यह और ऐसे अनेकों भाषण महाभारतके काव्यमें कुछ और ही रमणीयता-की सृष्टि करते हैं, और इस महाकाव्यको मानो नाटक-जैसा बना देते हैं।''

निर्भयता महाभारतके भीतरके भाषणोंका एक विशेष लक्षण है। सामनेके मनुष्यको मुखसे अपने अभिप्रायको हिम्मतसे कह सुनावे, इस प्रकारके निश्छल हृदय तथा प्रामाणिक मनुष्योंके वचन इस ग्रन्थमें व्यक्त किये गये हैं। उदाहरणार्थ, दुर्योधन जब-जब कोई बुरा कर्म करता है, तब-तब विदुर उसको कड़े-से-कड़े शब्दोंमें फटकारनेसे नहीं चूकते। परंतु विदुरके लिये तो कदाचित् यह भी कहा जा सकता है कि उनका पद तथा उनका सम्बन्ध इस प्रकारका था कि वह यदि पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक बोलें तो भी कोई हानि न हो। शकुन्तलाको इस प्रकारकी निर्भयता प्रदान करनेका कोई कारण न था, फिर भी व्यासकी शकुन्तला कालिदासकी शकुन्तलासे इस अर्थमें और ही है। यह ग्राम्यबाला, निश्छलहृदया, हिम्मतवाली तथा सद्गुणके गौरवको समझने-वाली है। भरी सभामें राजा दुष्यन्तने जब यह कहा कि 'मैंने तुझे कहीं देखा ही नहीं, फिर तेरे साथ परिणय कैसे हो गया ?' तब उसने उत्तर दिया कि 'सत्यके लिये यदि

तुम्हारे भीतर सम्मान नहीं है तो तुम्हारे-जैसे पुरुषका सङ्ग मुझे नहीं चाहिये । पति या पुत्रकी अपेक्षा भी सत्य अधिक मूल्यवान् वस्तु है ।' कालिदासके प्रख्यात नाटककी कुम्हली नायिकाके समान वह मूर्च्छित नहीं होती, परंतु वह रुष्ट होकर राजसभासे चल देती है ।'

कर्णपर्वमें शल्य और कर्णका संवाद, महाभारतके पात्र किस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक बोलते हैं—इसका एक दूसरा उदाहरण है । एक विशेष उपदेश देनेके उद्देश्यसे हंस और कौएकी वार्ता जो कही गयी है, वह बहुत ही सरस तथा पठनीय है । वस्तुतः व्यासजीने अपने पात्रोंके मुखसे नीतिका महान्-से-महान् उपदेश बड़ी सुन्दरतापूर्वक प्रदान कराया है और सत्यता, सरलता, स्वाभिमान, कर्त्तव्यपरायणता, उदारता, आत्मसंयम आदिके आवश्यकतानुसार असंख्य उपदेश और दृष्टान्त इस ग्रन्थमें प्राप्त होते हैं । केवल एक ही सद्गुण—स्वदेशाभिमानके विषयमें इस ग्रन्थमें कहीं भी कुछ कहनेमें नहीं आया है; 'इलियड' के कुछ भाषणोंमें देशाभिमानका जोर पूर्णतः देखनेमें आता है, पर उसका यहाँ पूर्ण अभाव है । इसका एकमात्र कारण यह है कि पश्चिमके देशोंमें राजकीय प्रभुता बढ़ानेके लिये प्रयोजनीय देशाभिमान आदि जिन-जिन सद्गुणोंका विकास हुआ था, वह भारतके आर्य लोगोंमें नहीं हुआ था; अथवा कदाचित् यह भी हो सकता है कि एक ही कुटुम्बके दो पक्षके बीचका युद्ध ही एक ऐसा विषय है कि इसमें स्वदेशाभिमानके उद्गारके लिये कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता ।

अब हम स्वगत भाषणको लेते हैं । संस्कृतके कवि नाटकोंके सिवा दूसरी रचनाओंमें स्वगत भाषणोंका कुछ भी उपयोग करते हुए नहीं दीखते । नाटकोंका 'स्वगत' भी बहुत ही संक्षिप्त होता है, और उसमें वक्तृत्वकी सुन्दरता अधिक नहीं देखी जाती । रणभूमिमें घायल होकर पड़ा हुआ दुर्योधन जो विलाप करता है, उसको यदि स्वगत भाषणमें न गिनें तो सारे महाभारतमें एक भी स्वगत भाषण नहीं आता, यह हम कह सकते हैं । मेरे विचारके अनुसार, 'स्वगत भाषण' कुछ अप्राकृतिक वस्तु है । मनुष्य कभी-कभी संक्षिप्त विचार करे तो यह सम्भव हो सकता है; परंतु मनमें विचार चलता हो, उस समय एक अखण्ड और जोशसे भरा हुआ भाषण दिया जाय—यह तो बहुत कम लोगोंसे ही बन सकता है । कदाचित् किसीसे भी नहीं बन सकता, परंतु इस विषयमें हम किसी प्रकारकी चर्चामें उतरना नहीं चाहते । महाभारतमें स्वगत-भाषण बिल्कुल ही नहीं हैं, यह बात नोट करके ही हम संतोष करेंगे ।

युद्धके वर्णन

वर्णनके विषयमें महाभारतके कविका सामर्थ्य होमर अथवा मिल्टनके जैसा ही देखनेमें आता है । इनकी बात कहनेकी रीतिमें सदा जोश और स्पष्टता देखनेमें आती है । और इनके वर्णन बहुत ही यथार्थ और प्रौढ़ होते हैं । युद्धका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेमें तो व्यासकी शक्ति सचमुच ही अद्भुत है । महाभारतके छोटे-छोटे द्वन्द्वयुद्धोंका जो वर्णन दिया गया है, उनके सम्बन्धमें कदाचित् ही कोई यह टीका करना चाहेगा कि इन वर्णनोंमें पुनरुक्तिकी अधिकता है । 'अमुक योद्धाने अपने प्रतिपक्षीके सामने इतने अस्त्र प्रहार किये और उसने बदलेमें इतने अस्त्र प्रहार किये' इस प्रकार द्वन्द्व-युद्धका वर्णन किया गया है । और इसी प्रकारके वर्णन बार-बार आते हैं, इससे पाठकका चित्त स्वभावतः उकताये बिना नहीं रहता । इलियडमें भी इसी प्रकारके वर्णन आते हैं, और उससे भी हमारा जी जरा उकता जाता है । परंतु जिस समय इस प्रकारके अस्त्र ही युद्धके मुख्य साधन थे, और जिस समय रणस्थलमें उभयपक्षके सरदारोंके मध्य द्वन्द्वयुद्ध ही अधिक देखनेमें आते थे, उस समयका पूरा-पूरा विचार भी हमको अपने मनमें रखना चाहिये । महाभारतमें युद्धके जो वर्णन देखनेमें आते हैं, उनमें भी कविने जो विविध प्रकारके चित्र चित्रित किये हैं, तथा जोशीले ढंगसे जो उनका वर्णन किया है, वह सचमुच ही आश्चर्यजनक है । इलियडके समान महाभारतकी, विशेषतः इसकी युद्धकी कथाओंसे श्रोताओंके हृदयमें शौर्यकी लहरें उठने लगती हैं । और शिवाजीके भीतर जो पराक्रमशीलता आयी थी, वह इस कथाके सुननेसे आयी थी—इस बातको सभी जानते हैं ।

दूसरे कतिपय वर्णन

सृष्टि—सौन्दर्यके वर्णनमें महाभारतका काव्य रामायणकी अपेक्षा कुछ उतरता हुआ जान पड़ता है । सारे ग्रन्थमें इस प्रकारके वर्णन बहुत कम ही देखनेमें आते हैं । परंतु वनपर्वमें हिमालयका वर्णन ऐसा हुआ है कि बर्फसे आच्छादित इस भारतके उत्तरी प्रदेशको जिसने अपनी आँखों देखा है, अथवा जिसने इस प्रदेशमें निवास किया है, उसके द्वारा यह वर्णन किया गया है—ऐसा हमको लगता है । पर्वतके ऊपर गिरती हुई हिम-राशिमें पाण्डव और द्रौपदी फँस गये थे, इसका वर्णन इतना सटीक हुआ है कि जैसे वर्तमान कालमें बर्फके तूफानमें बहुधा मेलट्रेन पड़ जाती है और मनुष्योंकी जान चली जाती है तथा उसका समाचार हम समाचारपत्रोंमें पढ़ते हैं, वैसा ही यह वर्णन भी हमको लगता है । परंतु गन्धमादन पर्वतका जो वर्णन दिया गया है, वह यद्यपि बहुत ही सुन्दर और पूर्ण है, तथापि उसमें कुछ विस्तारकी बातें अपनी ओरसे जोड़ी हुई जान पड़ती हैं । उदाहरणार्थ, पर्वतको सुशोभित करनेवाले वृक्षोंमें

तालवृक्षका भी उल्लेख किया गया है । इस प्रकारके कथनके लिये सच्ची वस्तुस्थितिका आधार नहीं है, किंतु कल्पनाका आधार लिया गया है—ऐसा लगता है ।'

'मनुष्योंका वर्णन करनेमें महाभारतकी शैली निर्मल और जोशीली जान पड़ती है । स्त्री-सौन्दर्यका वर्णन करनेमें परवर्ती कालके संस्कृत कवियोंके समान विषयपरायणता महाभारतमें नहीं देखनेमें आती । द्यूतक्रीडाके प्रसङ्गमें द्रौपदीको दावपर रखते समय युधिष्ठिरने जो उसका वर्णन किया है, वह इस प्रकारके वर्णनका एक उत्तम नमूना है—

नैव ह्रस्वा न महती न कृशा नापि रोहिणी ।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥
शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥
तथैव स्यादानृशंस्यात्तथा स्याद् रूपसम्पदा ।
तथा स्याच्छीलसम्पत्त्या यामिच्छेत् पुरुषः स्त्रियम् ॥
चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥
तथैवविधया राजन् पाञ्चाल्याहं सुमध्यमा ।
ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल ॥

अर्थात् 'न तो नाटी है और न ऊँची है, न दुबली है और न मोटी, ऐसी काले और कुञ्चित केशवाली द्रौपदीको मैं दावपर रखता हूँ । शरद्‌ऋतुके कमलपत्रके समान आँखोंवाली, शरद्‌ऋतुके कमलके समान गन्धवाली, शरद् ऋतुके कमलका सेवन करनेवाली तथा लक्ष्मी-जैसी कान्तिवाली, सौजन्यमें, रूपसम्पत्तिमें और शीलसम्पत्तिमें कोई भी पुरुष जैसी स्त्रीकी इच्छा करता है वैसी, पतिके सो जानेपर जो सोती है और पतिके उठनेके पहले जो उठती है ऐसी, गौ और भेड़ चरानेवालोंसे लेकर समस्त कर्मचारियोंके सारे कार्योंको जानती है, उस पतली कमरवाली और सुन्दर अङ्गोंवाली द्रौपदीको मैं दावपर रखता हूँ ।'

'कीचक जैसे विषयासक्त पात्रके मुखसे कविने द्रौपदीके सौन्दर्यकी जो प्रशंसा करायी है, वह भी जैसी दीख पड़ती है, वैसी दूषित नहीं है । बृहन्नलाके वेषमें छिपे अर्जुनका वर्णन दिया गया है, वह भी बहुत ही सुन्दर और सच्चा है । तथा भीष्म और द्रोण—ये दोनों योद्धा युद्धमें जाते हैं एवं आदिपर्वमें दूसरोंके साथ मुकाबलेमें उतरनेकी कर्ण तैयारी करता है, वह वर्णन भी ऐसा ही है । इस सम्बन्धमें उदाहरण-के रूपमें इतना ही लिखना बस होगा ।'

भाषा और छन्दरचना

''महाभारतमें प्रयुक्त छन्द और महाभारतकी भाषा, यह एक प्रश्न अब विचारनेके लिये शेष रह गया है । महाभारतका काव्य मुख्यतः अनुष्टुप् छन्दमें रचा गया है। इसमें बहुधा उपजाति छन्दका भी प्रयोग किया गया है। संस्कृत भाषामें महाकाव्यके भीतर इन दो छन्दोंका ही बहुतायतसे प्रयोग किया गया है । जो प्रसिद्ध महाकाव्य हैं, वे सभी अधिकांशमें इन्हीं दो छन्दोंमें रचे गये हैं; और बीचमें किसी-किसी स्थानमें दूसरे छन्द प्रयुक्त हुए हैं । पुराण, उपपुराण तथा काव्यकलाके ग्रन्थ, सभीमें अनुष्टुप् छन्दका उपयोग होनेके कारण इस छन्दका गौरव घट गया है । यह छन्द अतिशय प्रयुक्त हो चुका है तथा सहज है, ऐसा हमको लगता है; परंतु हमें याद रखना चाहिये कि जब समर्थ कवियोंके द्वारा इस छन्दका उपयोग होता है तो इसके प्रताप और सामर्थ्यमें बिल्कुल ही कमी आती नहीं दीख पड़ती। कालिदासने रघुवंश नामक काव्यकी रचना की है, उसका पहला और चौथा सर्ग अनुष्टुप् छन्दमें ही रचा गया है । फिर भी वह अति उत्तम समझा जाता है । एक ह्रस्व और एक दीर्घ, दो अक्षरके पदवाले अंग्रेजी (Iambic) के समान अनुष्टुप् छन्द यद्यपि सारे वीरचरित काव्योंमें और महाकाव्योंमें साधारणतः प्रयुक्त होता है, तथापि अंग्रेजी और संस्कृत इन दोनों भाषाओंमें काव्यके गौरवका आधार इस बातपर निर्भर करता है कि काव्यकी रचना करनेवाला कवि वास्तविक कवि है या तुकड़ है ।'

महाभारतकी भाषा भी गौरवयुक्त और महाकाव्यको सुशोभित करनेवाली है । इसके तीन मुख्य लक्षण देखनेमें आते हैं—सरलता, प्रौढ़ता और शुद्धता । सरलता और प्रौढ़ता दोनों ही एक साथ देखनेमें आवें, यह तो सचमुच क्वचित् ही बन पाता है । सारे अर्वाचीन महाकाव्योंमें वाणीका गौरव तो देखनेमें आता है, परंतु यह गौरव लानेमें स्पष्टार्थताकी बलि दिये बिना काम नहीं चलता । इन काव्यों-की वाणीका आनन्द हम श्रवणमात्रसे प्राप्त कर पाते हैं, परंतु अर्थ समझनेके पहले प्रत्येक अक्षरपर रुक-रुककर विचार करनेकी जरूरत पड़ती है । महाभारतकी भाषा इस प्रकारकी नहीं है । परवर्तीकालके पुराण इस सरलताके विषयमें कदाचित् महाभारतकी अपेक्षा आगे बढ़ गये हैं, परंतु बहुधा उनमें अशुद्ध भाषा प्रयुक्त हुई है और इन अशुद्ध प्रयोगोंके सम्बन्धमें स्थान-स्थानपर टीकाकारोंने भी 'यह आर्ष प्रयोग है'—ऐसा कहकर जान बचानेकी चेष्टा की है । बात-चीतमें प्रयुक्त होनेवाली भाषाके ऊपर अधिकार रखनेवाले एक समर्थ लेखककी छाप महाभारतकी भाषाके ऊपर अच्छी तरहसे पड़ी हुई दीख पड़ती है । मिल्टन कविके सम्बन्धमें आर्नल्डने कहा है कि मिल्टनकी भाषा वैषम्ययुक्त होते हुए भी विषयके गौरवके साथ भाषाका गौरव भी घटता बढ़ता जाता है, तथापि इसकी अंग्रेजी शुद्ध और निर्दोष नहीं होती । अंग्रेजी लिखनेमें लैटिन और ग्रीक शब्द, यही क्यों,

लैटिन और ग्रीक वाक्यरचनाको भी ठूँसते जाते हैं। मैं मानता हूँ कि महाभारतकी भाषा जो पैरेडाइज लास्ट (Paradise Lost) की भाषाके समान गौरवयुक्त नहीं है, तथापि शुद्धताकी दृष्टिसे यह भाषा 'पैरेडाइज लास्ट' की अपेक्षा ऊँचे दर्जेकी है।'

''महाभारतकी भाषाका सौन्दर्य समझनेकी जिसकी इच्छा हो, उसे भगवद्गीता बाँचनी चाहिये। गीताके विषयमें स्वयं कविने जो कहा है उसके अनुसार सारे महाभारतका अमृत और सर्वस्व इसमें आ जाता है। महाभारतकी उँची-से-ऊँची फिलासफीका उपदेश इसमें निहित है। इतना ही नहीं, बल्कि कविका संस्कृत भाषाके ऊपर कितना अधिकार है—यह भी इस कवितासे भलीभाँति ज्ञात हो जाता है। वैदिक कालके पीछेके अर्थात् शुद्ध संस्कृत साहित्यके सारे क्षेत्रमें एक भी ग्रन्थ नहीं है, जो भाषाकी सरलतामें, वाणीकी मिठासमें और शैलीकी प्रौढ़ता तथा रुचिरतामें भगवद्गीताकी समानता कर सके। इस श्रेष्ठ गीताके शब्द और वाक्य सचमुच शुद्ध सुवर्णके बने हैं; क्योंकि ये आकृतिमें छोटे, वजनदार और तेजस्वी हैं।'

नीतिके उपदेश

'महाकाव्यमें नीतिके उपदेशोंका समावेश होना ही चाहिये, ऐसी बात नहीं; परंतु महाभारतमेंसे ऐसे अच्छे उपदेश निकाले जा सकते हैं। ये उपदेश सम्पूर्ण विशाल पटमें फैले सारे तन्तुओंको जोड़नेवाले सूत्रके समान हैं। ये उपदेश क्यों हैं, यह तर्क उठानेकी आवश्यकता भी कविने नहीं रहने दी है। कविने स्वयं ही ये उपदेश हमको दिये हैं। प्रत्येक स्थितिमें, चाहे जैसी विपत्तिके प्रसङ्गमें भी धर्मपर आरूढ़ रहे, ऐसे उपदेश महाभारतमें स्थान-स्थानपर दिये गये हैं। 'धर्म' का अर्थ है ईश्वरके प्रति तथा मनुष्यके प्रति अपने सारे कर्तव्य। महाभारतके अन्तमें पाँच श्लोक हैं, उनमें यह उपदेश विशेषरूपसे कथित हुआ है। इन पाँचों श्लोकोंको एकत्र करके इनके लिये 'भारतसावित्री' यह नाम प्रयुक्त हुआ है। एक शास्त्रीजीने मुझे बतलाया था कि 'प्रातःस्मरण' करते समय प्रतिदित प्रातःकाल धर्मात्मा ब्राह्मण इस 'भारतसावित्री' का पाठ करते हैं। उनमेंसे एक श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

'मैं भुजाओंको उठाकर यह घोषित करता हूँ, कोई मेरी बात नहीं सुनता कि जिस धर्मसे अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है, उस धर्मका सेवन क्यों नहीं करते।'

क्या पाण्डव काल्पनिक हैं ?

'कुरु और पाञ्चाल, इन दो पड़ोसी आर्यलोगोंमें जो महायुद्ध हुआ था, उस महायुद्धमें भाग लेनेवाले पात्रोंके विषयमें इस प्रकरणमें हम चर्चा करेंगे। साधारणतः इतना तो स्वीकार ही किया जाता है कि 'पड़ोसके दो प्रजाजन पीछे एकत्र होकर एक प्रजाके रूपमें आ गये, उनके बीचके एक प्राचीन युद्धकी घटनाके आधारपर पीछे महाभारतकी रचना हुई है।' परंतु यह युद्ध कब हुआ था, यही नहीं; बल्कि इस युद्धमें भाग लेनेवाले कौन थे, इस सम्बन्धमें बहुत मतभेद है। वे बर आदिके तर्कोंका अनुसरण करते हुए श्रीदत्त ऐसा मानते हैं कि 'पाण्डवोंको दन्तकथाके कल्पित वीरके रूपमें मानना चाहिये।' क्योंकि महाभारतके जो दूसरे पात्र हैं, उनके विषयमें तत्कालीन वैदिक-साहित्यमें अनेक बार उल्लेख हुआ है, परंतु पाण्डवोंके विषयमें कहीं भी कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आता। उदाहरणार्थ, परीक्षित्के पुत्र जनमेजयका नाम वैदिक साहित्यमें अनेक बार आता है; परंतु भारतकी लड़ाईके मुख्य योद्धा तथा जनमेजयके प्रपितामह अर्जुनका नाम कहीं भी देखनेमें नहीं आता। ब्राह्मणग्रन्थोंमें अर्जुन शब्द इन्द्रके नामके रूपमें प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इस हेतुको लेकर, महाभारतमें वर्णित विषयोंका ऐतिहासिक दृष्टिसे सार प्रदान करनेके पहले इस प्रश्नकी चर्चा आवश्यक है कि 'क्या पाण्डव काल्पनिक व्यक्ति हैं?'

''साधारणतः तो ऐतिहासिक घटनाओंका जहाँ वर्णन हो, उस ग्रन्थमें घटनाविशेष या व्यक्तिविशेषके विषयमें हुए वर्णनके अनुसार इतना ही कह देना पर्याप्त हो जाता है कि अमुक व्यक्ति हो गया है तथा अमुक घटना घट चुकी है। मोज़ेज अथवा रोम्युलस हुए हैं या नहीं, इस सम्बन्धमें तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थ, अथवा तत्कालीन मनुष्योंने यदि इतिहास न लिखा हो तो परम्परासे प्राप्त मान्यताओंके आधारपर रची पुस्तकोंके सिवा किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं पड़ती। तथा दूसरा कोई प्रमाण प्राप्त होना सम्भव भी नहीं होता। अवश्य ही, परम्परासे आनेवाली मान्यताएँ अथवा ऐतिहासिक ग्रन्थ सत्य नहीं हैं, यह यदि प्रमाणित हो जाय अथवा इनके ऊपर भरोसा करना ठीक नहीं, ऐसा कोई दृढ़ तर्क दिया जा सके तो उन मान्यताओं तथा ऐतिहासिक ग्रन्थोंकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करनी चाहिये—यह बात ठीक है। परंतु जहाँ ऐसी स्थिति नहीं है, वहाँ इन मान्यताओं अथवा इन ऐतिहासिक ग्रन्थोंके ऊपर निर्भर न करनेका कोई कारण नहीं दीखता। महाभारतका महाकाव्य कोई उपन्यास नहीं है, बल्कि इसकी रचना इतिहासके रूपमें हुई है। इसलिये जबतक इसके विरुद्ध प्रबल तर्क नहीं आते, तबतक महाभारतके अन्तर्गत वर्णित पाण्डव और उनके शत्रु सचमुच ही हो गये हैं तथा उनके किये गये पराक्रमोंका जो वर्णन प्राप्त है, वह सचमुच ही हुआ है, यही हमको मानना चाहिये।''

"इस निर्णयके विरुद्ध जो विरोधी पक्षके लोग दलील देते हैं, वह बहुधा विचार-विहीन होती है। हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि तत्कालीन अथवा परवर्ती वैदिक साहित्यमें पाण्डवोंके विषयमें कोई उल्लेख नहीं दीख पड़ता, केवल इतनेसे ही कोई अनुमान नहीं निकाला जा सकता। जबतक यह सिद्ध नहीं हो जाता कि इस प्रकारके साहित्यमें उनका उल्लेख करना आवश्यक ही था, तबतक पाण्डवोंके विषयमें उल्लेखकी बात कोई महत्त्व नहीं रखती। और भी उत्कट उदाहरण लें तो पार-डी-वर्गकी जब लड़ाई हुई थी उस समय सैकड़ों पुस्तकें लिखी गयी थीं और उसके बाद ही लिखी गयीं। परंतु उनमें अधिकांश पुस्तकोंमें लार्ड राबर्ट्स अथवा लार्ड किचनर, जो निःसन्देह आधुनिक समयके महान्-से-महान् वीर पुरुष हुए हैं, इनका नाम बिल्कुल ही नहीं आया है। इसपर यदि हम यह कहें कि ये पुरुष हुए ही नहीं तो इससे बढ़कर मूर्खताकी बात न होगी। मराठों और अफगानोंके बीच पानीपतकी बड़ी लड़ाई हुई; इसके बाद मराठी, अंग्रजी आदि भाषाओंमें अनेकों पुस्तकें लिखी गयीं तथा अनेकों कविताएँ रची गयीं। परंतु प्रत्येक पुस्तक या प्रत्येक कवितामें इस लड़ाईके विषयमें अथवा इसके नेताओंके विषयमें सूचित किये जानेकी आशा करना हास्यास्पद है। पानीपतकी लड़ाईके बाद रची गयी किसी पुस्तकमें यदि सदाशिवराव भाऊ अथवा जंकोजी सिंधियाका नाम बिल्कुल ही देखनेमें न आवे तो इससे यह अनुमान करना कि 'ये लोग हुए ही नहीं थे' भूलसे भरा हुआ माना जायगा। इन प्रबल उदाहरणोंसे यह ज्ञात हो जाता है कि विरोधी पक्षका तर्क कितना हास्यास्पद है। ऊपर जिस पुस्तकोंके विषयमें हमने लिखा है वे पुस्तकें बोअर लोगोंका तथा मराठोंका इतिहास लिखनेके विशेष उद्देश्यसे उस समय या उसके कुछ बाद रची गयी होतीं तो बात दूसरी थी; क्योंकि ऐसे इतिहास-ग्रन्थोंमें तो स्वभावतः इन घटनाओं तथा इनमें भाग लेनेवाले मनुष्योंके विषयमें उल्लेख होना आवश्यक है। अब यह तो जानी हुई बात है कि वैदिक साहित्यमें साधारणतः धर्मानुष्ठानोंकी विधियाँ तथा कभी-कभी तत्त्वज्ञान और अध्यात्मविद्याके सिद्धान्त वर्णित हुए हैं। इनमें ऐतिहासिक विषयोंका उल्लेख कदाचित् ही कहीं है और वह भी उदाहरणके रूपमें दिया गया है। जो घटनाएँ घटी हैं तथा जो मनुष्य हो गये हैं, उनका सबका उल्लेख वैदिक ग्रन्थोंमें किया जाना कभी सम्भव नहीं है। हमारे मन्तव्यके अनुसार तो महाभारतकी लड़ाईके विषयमें अथवा पाण्डवोंके विषयमें इन ग्रन्थोंमें कहीं उल्लेख नहीं हुआ है, इस आधारपर यह अनुमान लगाना कि लड़ाई हुई ही नहीं अथवा पाण्डव हुए ही नहीं, तार्किक दृष्टिसे सम्भव नहीं है; क्योंकि महाभारतके भीतर जो ऐतिहासिक प्रमाण हमें प्राप्त हुए हैं, उन प्रमाणोंको काटनेवाले प्रबल कारण हमें उपलब्ध नहीं होते।'

'परंतु इसके सिवा, पाण्डव हुए ही नहीं—इस विचारके विरुद्ध दूसरे भी प्रबल तर्क हैं। अपने ग्रन्थके मूल संस्करणमें श्रीदत्तजीने यह अभिप्राय व्यक्त किया था कि 'महाभारतका युद्ध सचमुच ही हुआ था, परंतु पाण्डव कुछ विशिष्ट सद्गुणोंके मूर्त्तरूप हैं, और कवि-कल्पनाके द्वारा पीछेसे इन पात्रोंकी सृष्टि की गयी थी।' परंतु महाभारतके भीतर ही पाण्डवोंके जीवनचरित्र-सम्बन्धी कुछ तथ्य हैं, जिनका इस सिद्धान्तके साथ मेल नहीं खाता। उदाहरणार्थ, पाँच भाइयोंके विषयमें यह कहा गया है कि वे एक ही स्त्री (द्रौपदी) को ब्याहे थे। और भारतके आर्योंमें अनेक पतियोंके साथ ब्याह करनेका रिवाज कहीं भी नहीं था। वैदिक-कालके ऋषि ऐसा कहते थे कि 'यज्ञकी एक ही रज्जु अनेकों स्थाणुओंको लपेट नहीं सकती, उसी प्रकार एक ही स्त्री अनेक पुरुषोंको ब्याही नहीं जा सकती।' यदि उनके मन्तव्यके अनुसार एक ही स्थाणुको यज्ञकी अनेक रज्जुएँ घेर सकती हैं तो एक पुरुषको अनेक स्त्रियाँ भी ब्याही जा सकती हैं। तब सद्गुणके मूर्त्तस्वरूप समझे जानेवाले ये पात्र सद्वृत्तिविषयक आर्य विचारोंके विरुद्ध बर्तते हुए क्यों प्रदर्शित किये गये हैं ? महाभारतमें ही यह बात स्वीकार की गयी है कि इस प्रकारका व्यवहार साधारण न होकर अन्य ही प्रकारका था। और इस व्यवहारके समर्थनमें विभिन्न स्थलोंमें विभिन्न व्याख्याएँ दी गयी हैं, यह भी हमने स्पष्ट देखा है। बल्कि द्रौपदीके प्रति किये गये अपमानका बदला लेनेके लिये युद्धमें दुःशासनको मारकर उसका रुधिर पान करते हुए भीमने इसका वर्णन किया है। यह जंगली बर्ताव भी प्रत्येक मनुष्यकी सद्वृत्तिविषयक सामान्य विचारके विपरीत है, और पिछले समयके कल्पित वीरोंमें कविने इस प्रकारके लक्षणका आरोप किया हो—यह बात मान्य नहीं हो सकती। ऐसे अनेकों छोटे-छोटे प्रसङ्गोंसे हमें ऐसा जान पड़ता है कि पाण्डवलोग कल्पित नहीं हैं, बल्कि सचमुच होनेवाले वीर पुरुष थे। इस सम्बन्धमें कदाचित् यह तर्क उठाया जाय कि जिस समय आर्यलोगोंमें अनेक पतियोंसे ब्याह करनेका रिवाज था, तथा जिस समय मनुष्यका रुधिर-पान करना कोई त्रासदायक बात नहीं मानी जाती थी, उस समयके विचारोंका चित्र इस स्थलपर दिया गया है।' इस तर्ककी सत्यतामें बहुत संशय है; फिर भी इस तर्कको यदि हम सत्यरूपमें स्वीकार करें तो इतना मानना ही पड़ेगा कि जिस समय ऐसे विचारोंका आस्तित्व था, वह समय सचमुच ही बहुत प्राचीन होना चाहिये। इस तर्कसे 'पाण्डव सचमुच ही हो गये हैं' यह बात स्वीकार करनी पड़ती है—ऐसा न मानें तो भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि इस बातके स्वीकार करनेकी अपेक्षा कोई अधिक अच्छा परिणाम इससे नहीं निकलता।'

'इस प्रकरणका सार अब हम संक्षेपमें कहेंगे। घटित

घटनाओंका इतिहास लिखना वैदिक-साहित्यका उद्देश्य नहीं है, इसलिये इन ग्रन्थोंमें पाण्डवोंके विषयमें अथवा महाभारतके युद्धके विषयमें कोई उल्लेख नहीं हुआ तो इससे अनुमान नहीं किया जा सकता कि पाण्डव हुए ही नहीं अथवा महाभारतकी लड़ाई कभी हुई ही नहीं।

'इससे प्रमाणित होता है कि पाण्डव सचमुच हो गये हैं तथा महाभारतके युद्धमें भाग लेनेवाले भी (जनमेजय नहीं) पाण्डव ही थे।'

पाण्डवोंके पूर्वज

'मनुकी पुत्री इला और चन्द्रसे उत्पन्न क्षत्रिय चन्द्रवंशी कहलाते हैं। चन्द्रवंशके सबसे प्रथम राजा पुरूरवा हुए। पुरूरवा तथा उर्वशी नामक स्वर्गकी अप्सराके प्रेमकी कथा ऋग्वेदमें है, और कालिदासने अपने (विक्रमोर्वशी) नामक सुविख्यात नाटककी रचना करके इन दोनोंके प्रेमको अमर कर दिया है। इस वंशके दूसरे प्रसिद्ध राजा ययाति हुए। ययाति और उनकी दो रानियों, देवयानी और शर्मिष्ठाकी कथा महाभारतकी अत्यन्त रसमयी कथाओंमेंसे एक है और यह कथा यहाँ विस्तारपूर्वक देने योग्य है। चन्द्रवंशी क्षत्रिय सिन्धु नदीके उस पार राज्य करते थे, ऐसा ज्ञात होता है। क्योंकि असुरलोगोंके राजा वृषपर्वा (जो ईरानके राजा थे, यह ठीक-ठीक स्वीकार किया जाता है।) का राज्य ययातिके राज्यके समीप था, यह बात इस कथामें कही गयी है। शर्मिष्ठा ईरानके राजा वृषपर्वाकी पुत्री थी और देवयानी उनके गुरु शुक्रकी पुत्री थी। ये दोनों कन्याएँ एक बार वनमें घूमनेके लिये निकल पड़ीं और एक कुएँके पास स्नान करनेके लिये गयीं। उस समय भूलसे उनके वस्त्र अदल-बदल हो गये। ब्राह्मणकी पुत्री गर्वीली थी, वह राजकुमारीको मानो वह उसकी लौंड़ी हो इस प्रकार गाली देने लगी। इसपर राजकुमारी (शर्मिष्ठा) ने चिढ़कर उसको धक्का मारा और वह कुएँमें गिर गयी। अचानक राजा ययाति वहाँ जा पहुँचा और देवयानीकी चीत्कार सुनकर वह कुएँपर पहुँचा और उसको कुएँसे बाहर निकाला। इस उपकारके बदलेमें देवयानीने उससे ब्याह करनेकी अपनी इच्छा प्रकट की, और अपने पिताकी सम्मति लेकर देवयानीने ययातिके साथ ब्याह किया। मेरी सखी (शर्मिष्ठा) ने मेरा अपमान किया है, यह सोचकर देवयानीके हृदयमें वैर साधनेका विचार उठा। उसने दासीका काम करनेके लिये वृषपर्वासे शर्मिष्ठाको माँगा। वृषपर्वाको दूसरा उपाय न सूझा, इसलिये देवयानीकी यह अपमानयुक्त माँग भी उसने स्वीकार कर ली, और जिस लड़कीने अपराध किया था उसको उसने इस दम्पतिके हाथमें सौंप दिया।'

'देवयानीने उस लड़कीको ययातिके राजमहलमें वर्षों रक्खा, परंतु उसको जो उसने दण्ड दिया था वह उसके लिये वरदान हो जायगा, यह विचार देवयानीको स्वप्नमें भी न था। एक दिन वह सोयी थी, अचानक अपने पति-जैसे रूपवाले एक लड़केके आनेसे वह अचानक चौंक उठी। पता लगानेपर ज्ञात हुआ कि वह लड़का ययातिका था और शर्मिष्ठाके पेटसे पैदा हुआ था। यह समाचार सुनकर उसको बड़ा क्रोध आया और क्रोधमें पिताके पास जाकर पतिके अपराधका बदला लेनेकी प्रार्थना की। शुक्राचार्यने राजाको यह शाप दिया कि, 'जा, तू अकाल वृद्धावस्थाको प्राप्त हो जा।' इस प्रकार देवयानीने मूर्खतावश अपने शत्रुको हानि उठाने जाकर स्वयं अपना ही नुकसान किया और अन्तमें अपने पिताके पास जाकर प्रार्थना की कि 'इस शापकी उग्रता आप कम करें।' तत्पश्चात् शुक्राचार्यने कहा कि 'यह वृद्धावस्था दूसरा कोई लेनेके लिये तैयार हो तो दी जा सकेगी।' तब ययातिने अपने पुत्रोंसे एक-एक करके कहा कि 'तुम मेरी वृद्धावस्था स्वीकार करो।' परंतु पूरुके सिवा किसीने भी इसे स्वीकार न किया। पूरुसे प्राप्त किये यौवनके द्वारा ययातिने अनेकों वर्षोंतक इस जगत्के भोग-विलासका आनन्द उठाया। अन्तमें उसको ऐसा लगा कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

'कामनाओंके उपभोगसे कामनाका शमन कदापि नहीं होता बल्कि जिस प्रकार घृतादि हविष्यके पड़नेसे अग्नि सुदीप्त होती है उसी प्रकार भोगसे कामना और भी बढ़ती है। इस जगत्का सारा स्वर्ण, सारा अन्न, सारी स्त्रियाँ एक मनुष्यके लिये बस नहीं हो सकतीं, इसलिये इच्छाओंको वशमें रखकर संतोष धारण करना चाहिये।'

ययातिने अपने पुत्र पूरुको बुलाया और उसको उसका यौवन वापस कर दिया और अपना बुढ़ापा उससे वापस लेकर, प्राचीन भारतके प्रतिष्ठित राजाओंके समान अपनी दोनों रानियोंको साथ लेकर वनमें निवास किया। पूरुने पुत्रधर्मका यथार्थ पालन किया था, उसके बदलेमें उसको आशीर्वाद दिया और कहा कि राज्याधिकार पूरुके वंशको ही प्राप्त होगा।

ययातिकी कथासे उत्तम उपदेश प्राप्त होता है, उसके कारण यह कथा बहुत सुन्दर लगती है, परंतु इसके सिवा इतिहासकी दृष्टिसे भी यह कथा बहुत उपयोगी है। पहले तो हमने देखा कि उस समय चन्द्रवंशके आर्य लोग सिन्धुनदीके उस पार बसते थे। दूसरे, उस समय ब्राह्मण-क्षत्रियके बीच ब्याह-सम्बन्ध बिल्कुल साधारण बात थी।

तीसरे, ययातिके यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, पूरु और अनु—ये पाँच पुत्र थे। यदुके वंशज यादव, तुर्वसुके वंशज यवन, द्रुह्युके वंशज भोजलोग, पूरुके वंशज पौरव (जिनका पश्चात् भरत नाम पड़ा) और अनुके वंशज म्लेच्छ लोग थे। इस प्रकार इस कथासे ज्ञात होता है कि ययाति अनेकों जातियोंके पूर्वज थे। इनमें यादव, भोज और पौरव—ये तीन जातियाँ भारतमें प्रविष्ट हुईं। चौथी यवन जाति पश्चिम ओर चली गयी। यहाँ जिन नामोंका उल्लेख हुआ है, उनमें अदल-बदल हुआ हो, यह सम्भव है। कदाचित् अनुके वंशज यवन कहलाये हों। और ईरानियोंके तुरान तथा आधुनिक इतिहासके तुर्क—इन नामोंके साथ तुर्वसु नाम कुछ मिलता-जुलता है, अतएव सम्भव है कि तुर्वसुके वंशज म्लेच्छ कहे गये हों। वृद्धावस्था दूसरेको देनेकी जो बात है, उसको ऐतिहासिक दृष्टिसे इस प्रकारका साधारण रूप दिया जा सकता है:—'राजा ययातिने पर्याप्त वृद्ध होनेपर भी शायद देवयानीके पुत्रोंको राज्याधिकारमें भाग न लेने दिया होगा। ये लड़के अपनी माताके समान हो उद्धत होंगे। उन्होंने राज्याधिकार छोड़नेके लिये कहा होगा तथा उनको यह देखनेमें आया होगा कि यह वृद्ध अभी राज्य करनेमें समर्थ है और राज्याधिकार छोड़नेके लिये तैयार नहीं है, इसलिये उन्होंने उत्पात मचाया होगा। फलतः ययातिने उनको निकाल दिया होगा। और इस काममें उसके पुत्र पूरुने मदद की होगी। पुत्रधर्मका पालन करके अन्तमें उत्तराधिकार-के रूपमें पूरुको अपने पिताका राज्याधिकार प्राप्त हुआ होगा!'

'पूरुके वंशजोंमें पहला प्रसिद्ध राजा दुष्यन्त था। दुष्यन्त और शकुन्तलाकी कथा संस्कृत-काव्यके प्रत्येक पाठकको ज्ञात है; क्योंकि कालिदासके जिस सुन्दर नाटककी महाकवि गेटेने इतनी प्रशंसा की है, वह नाटक इस कथाके आधारपर ही प्रणीत हुआ है, परंतु महाभारतकी शकुन्तला और कालिदासकी शकुन्तलामें बड़ा अन्तर है। कालिदासने शकुन्तलाको एक सुघरी हुई और भीरु स्त्रीके रूपमें चित्रित किया है, परंतु महाभारतकी शकुन्तला ऐसी नहीं है। महाभारतकी शकुन्तलाको नीतिके गौरवका भान था। वह एक विशुद्ध हृदयकी ग्रामीण कन्या थी। अरण्यमें कण्वके आश्रमके सामने राजा दुष्यन्त अकस्मात् आ पहुँचे, उस समय शकुन्तलाके पालक पिता कण्व वहाँ मौजूद न थे। गान्धर्वरीतिसे राजा दुष्यन्तने उसके साथ ब्याह किया। इस विवाहका कोई साक्षी न था। कुछ वर्षोंके बाद अपने पुत्रको साथ लेकर और अरण्यके आश्रमको छोड़कर शकुन्तला अपने पतिकी राजधानीमें गयी। वहाँ भरी सभामें राजा दुष्यन्तने उसके साथ अपने ब्याहकी बात अस्वीकार कर दी, उस समय शकुन्तलाने कहा—'राजाकी अपेक्षा यही क्यों, पुत्रकी अपेक्षा भी सत्य अधिक मूल्यवान् वस्तु है। और जो मनुष्य सत्यकी उपेक्षा करता है, वह यदि मेरा पति भी हो तो भी उसका सङ्ग मुझे नहीं चाहिये।' राजाने अपनी प्रजाको संतुष्ट करनेके लिये ही यह युक्ति की थी, परंतु 'शकुन्तला सचमुच ही दुष्यन्तकी स्त्री है'—यह आकाशवाणी हुई और राजाने शकुन्तलाको अपनी धर्म-पत्नीके रूपमें स्वीकार किया। नीति-बलसे युक्त कन्याके साथ स्नेह-परिणयके फलस्वरूप भरत नामके संतानकी उत्पत्ति हुई। आगे चलकर वह पूरुवंशका सबसे यशस्वी राजा माना गया। भारतमें गङ्गा-यमुनाके सङ्गमतकके प्रदेशको उसने जीत लिया था तथा वहाँ यज्ञ किया था, ऐसा कहा जाता है। शतपथब्राह्मणके १९ वें काण्डमें एक मन्त्रमें गङ्गा-यमुनाके सङ्गमपर इसके द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ-की प्रशंसा की गयी है। इसके नामपर केवल इसके वंशजोंका ही नहीं, बल्कि सारे देशका नाम पड़ा था और आजतक संस्कृत-साहित्यमें भारतवर्षको 'भरतभूमि' नामसे ही पुकारा गया है।'

'भरतके वंशजोंमें हस्ती नामके एक राजा थे, उन्होंने गङ्गानदीके पश्चिमी किनारेपर हस्तिनापुर बसाया और वह हस्तिनापुर एक नये देशकी राजधानी बना। ऐसा जान पड़ता है कि भरतलोग धीरे-धीरे पंजाबको छोड़कर गङ्गानदीकी ओर बढ़ने लगे और हस्तीके प्रपौत्र कुरुने गङ्गा और यमुनाके दोआबेके ऊपरी भागमें आधुनिक दिल्लीके उत्तर और यमुनानदीके पश्चिमके उपजाऊ मैदानको 'कुरुक्षेत्र' नाम प्रदान किया। कुरुलोग अब बहुत अच्छी स्थितिमें आ गये। उनको तथा गङ्गाके पूर्व और कुछ दक्षिणकी ओर बसनेवाले पञ्चाललोगोंको ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें बहुत ही उन्नत और प्रतापी बतलाया है।'

'इस उपजाऊ तथा समृद्धिमान् भूदेशके ऊपर कुरुवंश-के जिन राजाओंने पीछे राज्य किया, उनकी हम पहले गणना कर चुके हैं। यहाँ इस वंशके विषयमें शन्तनु राजासे प्रारम्भ करके हम आगे चलेंगे। शन्तनु राजाको गङ्गानदीसे भीष्म नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह भीष्म महाभारतके एक अत्यन्त ही असाधारण पात्र थे। इस पुत्रके उत्पन्न होनेपर गङ्गानदीने राजा शन्तनुको त्याग दिया। उसके बाद राजा शन्तनुका प्रेम एक सत्यवती नामकी मत्स्यकन्याके साथ हो गया, परंतु सत्यवतीने कहा—'मेरे जो पुत्र होगा, उसको यदि राज्य देनेका तुम वचन दो तो मैं तुम्हारे साथ ब्याह करूँगी।' राजा शन्तनु यह शर्त मानकर भीष्मके राज्याधिकारको छीननेके लिये तैयार न थे, परंतु भीष्मने स्वयं ही अपने पिताको उलझनसे

मुक्त किया और अपने राज्याधिकारको त्याग दिया। इतना ही नहीं, बल्कि सत्यवतीको राजासे जो पुत्र उत्पन्न हो, उसके साथ लड़ाई करनेवाली संतान कहीं उत्पन्न न हो जाय, इस उद्देश्यसे स्वयं ब्याह न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा की। इस प्रतिज्ञाका पालन उन्होंने अन्तिम समयतक किया, तथा अपने स्वार्थत्याग और धर्म-बुद्धिके कारण ऐसी उज्ज्वल कीर्ति सम्पादन की कि आजतक भारतके लोग इनके नामका उच्चारण अत्यन्त आदरपूर्वक करते हैं।'

'सत्यवतीसे शन्तनुको दो पुत्र हुए, उनमें एक बचपनमें ही मर गया। कुरुओंके राजाका पद शन्तनुके बाद उनके पुत्र विचित्रवीर्यको मिला। काशिराजकी दो कन्याओं— अम्बिका और अम्बालिकाको भीष्मने बलपूर्वक जीता और दोनोंका ब्याह विचित्रवीर्यके साथ करा दिया। तथापि वह पुत्रहीन होकर ही मृत्युको प्राप्त हुए। शन्तनुके साथ ब्याह होनेके पहले ही सत्यवतीको पराशरमुनिसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ था और वह दूसरा कोई नहीं, बल्कि महाभारतके रचयिता तथा वेदोंकी व्यवस्था करनेवाले स्वयं व्यासजी थे।'

'अब भीष्मकी सम्मतिसे सत्यवतीने व्याससे अपने सौतेले भाई विचित्रवीर्यकी विधवाओंसे पुत्र उत्पन्न करनेके लिये कहा और इस प्रकार नियोगसे विचित्रवीर्यके धृतराष्ट्र और पाण्डु दो पुत्र हुए। एक दासीके पेटसे व्यासको तीसरा पुत्र विदुर पैदा हुआ। धृतराष्ट्र अन्धे थे, इस कारण कुछ समयतक पाण्डुने राज्य चलाया। पश्चात् पाण्डुने अरण्यमें निवास किया और वहाँ ही वह मृत्युको प्राप्त हुए। धृतराष्ट्रके विषयमें यह कहा जाता है कि इनकी स्त्री गान्धारी गन्धारके राजाकी पुत्री थी। उससे इनको सौ पुत्र हुए। उनमें दुर्योधन और दुःशासन मुख्य थे। इन्हीं लोगोंने पाण्डवों अथवा पाण्डुके पुत्रोंके साथ महाभारतका युद्ध किया था। राजा पाण्डुसे पाण्डवोंकी उत्पत्ति हुई थी। इस युद्धके तथा अन्यान्य रसमय और हृदय-द्रावक वर्णन महाभारतमें दिये गये हैं।'

द्रौपदीके पाँच पति थे या एक ?

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा, शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्यानिधि, विद्याभूषण)

महाभारतमें यह उल्लेख है कि द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी थी। पर इस विषयमें विभिन्न विचारोंके महानुभावोंमें बड़ा मतभेद है। अतएव इस सम्बन्धमें कुछ विवेचन किया जाता है।

कई पाश्चात्त्य संस्कृतिसे प्रभावित, पर हिंदू प्राच्य संस्कृतिसे भी प्रेम रखनेवाले महाशय पाश्चात्त्योंके समक्ष अपनी प्राच्य संस्कृतिको अपने परिष्कृत प्रकारोंसे इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि उन पाश्चात्त्योंकी हमारी पौरस्त्य संस्कृतिपर श्रद्धा बढ़े। पर वे उनके स्वपरिष्कृत प्रकार अमौलिक होनेसे हमारे शास्त्र और इतिहासको सर्वथा विरूप कर दिया करते हैं। हम चाहते हैं कि ऐसे परिष्कार उनमें किये जायँ कि 'साँप भी मर जाय, लाठी भी न टूटे।'

आज हम उन्हीं पाश्चात्त्य संस्कृतिसे प्रभावित महाशयोंका द्रौपदीविषयक आख्यानपर उसके एकपतिकत्वार्थ किया हुआ परिष्कार-प्रकार उपस्थित करते हैं। उसके अनन्तर हम उसपर शास्त्राविरोधपूर्वक उसके एकपतिकत्वका प्रकार लिखेंगे। उन लोगोंका कथन प्रायः यह होता है—

द्रौपदीके एकपतिकत्वका सुन्दर प्रकार

''परमात्मा तथा प्रकृतिकी कृति विचित्र है। प्रकृतिके गुणोंकी विचित्रतासे ही जीवके स्वभावकी विचित्रता भी नैसर्गिक है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार सब वैसे-वैसे कार्योंमें व्यापृत हुआ करते हैं। तब किसने, कब, कैसे क्या किया, यह बात बिना आधार किसीके द्वारा सहसा नहीं जानी जा सकती। उसी आधारको प्रामाणिक विद्वान् 'इतिहास' शब्दसे कहा करते हैं। आर्योंका प्राचीनतम पुरावृत्त ऋग्वेदमें मिलता है, उसके बाद 'रामायण', फिर 'महाभारत' में मिलता है—यह सब लोग निर्विवाद मानते ही हैं। परंतु वर्तमान कालमें 'महाभारत' जिस रूपमें उपलब्ध है, उसमें जैसे न माननेयोग्य उपाख्यान वर्णित किये गये हैं, वे सभी आर्योंकी रीति, व्यवहार तथा धर्म आदिमें भारतीयों तथा पाश्चात्त्योंके मनमें संदेह उत्पन्न कर दिया करते हैं। बहुत क्या कहा जाय ? वे—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २। २०)

'पृथिवीमण्डलमें सभी लोग इस ब्रह्मर्षिदेशमें उत्पन्न ब्राह्मणसे अपना-अपना चरित्र सीखें' इस मनुकी उक्तिको भी खण्डित करवा दिया करते हैं।

पाठकगण पहले प्रातःस्मरणीयनामा द्रौपदीके पञ्चपतित्वको ही देखें—पतिव्रता वीराङ्गना द्रौपदी तथा संसारविश्रुत धर्मप्राण पाण्डवोंके चरित्रोंको—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।

(महा० १। १९०। २)

इत्यादि पद्यके साधारण अर्थको भी न जाननेवाले लोगोंने दूषित कर दिया है, इसमें विद्वान् ही प्रमाण हैं।

वस्तुतः द्रौपदी अर्जुनकी ही पत्नी थी, अर्जुनने ही स्वयंवरमें लक्ष्य वेधकर प्रतिज्ञानुसार द्रौपदीका वरण किया था। उसने भी अर्जुनको ही जयमालासे अलंकृत किया था। द्रुपदकी इच्छा भी द्रौपदी अर्जुनको ही देनेकी थीं, जैसे कि 'महाभारत' में कहा गया है—

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः॥
(१। १८४। ८)

'राजा द्रुपदके मनमें सदा यही कामना थी कि मैं पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ द्रौपदीका विवाह करूँ, परंतु वे अपने मनोभावको प्रकट नहीं करते थे।' इसीलिये द्रुपदके मनोरथको जानकर युधिष्ठिरने धनुषसे लक्ष्यको नहीं वेधा, नहीं तो, वे भी समर्थ तथा ज्येष्ठ होनेसे अधिकारी थे। तभी युधिष्ठिरने अर्जुनसे ही द्रौपदीके साथ विवाहार्थ कहा था कि—

त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी················।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः॥
(१। १९०। ७)

'अर्जुन! तुमने द्रौपदीको जीता है। तुम अग्नि प्रज्वलित करो और विधिपूर्वक इस राजकन्याका पाणिग्रहण करो।'

'माता कुन्तीके वचनसे द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी बनी—यह बड़ा आश्चर्य है। जब कि माताकी वैसी इच्छा नहीं थी, तब ऐसा होना कैसे संगत हो सकता है? भीमसेन तथा अर्जुनने, द्रौपदीके लिये कुन्तीसे कहा था कि—'मातः! हम भिक्षा लाये हैं,' यह बात भी नहीं घट सकती। द्रौपदीको तो प्रतियोगितामें जीता गया था, भिक्षाकी तरह माँगा नहीं गया था, तब धर्मभीरु तथा सत्यवादी अर्जुन तथा भीमसेन द्रौपदीको झूठ-मूठ 'भिक्षा' कैसे कह सकते थे—यह बात विद्वानोंको सोचनी चाहिये।

'तो इसमें क्या रहस्य है? **'मातृदेवो भव'** यह वैदिक आदेश है। **'प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे'** यह माताका वचन भी अवश्य कर्तव्य है। माताका आदेश यदि पाण्डव न मानें, तब भी प्रत्यवाय है, यदि उसे पालें तो अभूतपूर्व धर्मसंकट है। इधर व्याघ्र है, उधर नदी है। इस उभयतः पाशा-रज्जुने अल्पज्ञ तथा यथार्थताको न जाननेवालोंको मोहमें डाल दिया, जिससे उन्होंने मूल इतिहासमें कई काल्पनिक भाव निविष्ट कर दिये।

'केवल भारतवर्षमें ही स्त्रीका बहुपतित्व निन्दित नहीं, अपि तु अन्य देशोंमें भी निन्दित है। तब युधिष्ठिर आदिमें श्रीव्यासके वाक्योंमें एवं तात्कालिक सामाजिक रीतियोंमें वैसी सम्भावना नहीं हो सकती। तात्कालिक इतिहाससे भी स्त्रीका बहुपतित्व वा पञ्चपतित्व सिद्ध नहीं होता। ब्राह्मणग्रन्थोंमें स्त्रियोंके बहुपतित्वका निषेध तथा कारणवश पुरुषकी बहुत पत्नियोंका विधान स्पष्ट तथा सहेतुक प्रतिपादित किया गया है। जैसे कि—

'ऋक् च वा इदमग्रे, साम च आस्ताम्, 'सैव' नाम ऋगासीत्, 'अमो' नाम साम। सा वा ऋक् साम उपावदत्-मिथुनं सम्भवाव प्रजात्या इति (शतपथ० ८। १। ३। ५)

न इत्यब्रवीत् साम, ज्यायान् वा अतो मम महिमा—इति।······तस्माद् एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्या बह्वः सहपतयः। (गोपथ ब्राह्मण ३। २०, ऐतरेय ब्रा० ३। २३)

यहाँपर सामका तीन ऋचाओंसे विवाह-सा बताया गया है, परंतु एक स्त्रीके बहुतपतित्वका निषेध किया गया है।

'तब यह द्रौपदीका पञ्चपतित्वका उपाख्यान सर्वथा काल्पनिक प्रतीत होता है। इसीलिये पाँच इन्द्रोंकी कथाका वर्णन, शिवद्वारा पाँच पतियोंका वर देनारूप उपाख्यान, बहुत पतियोंवाली नालायनी आदिका चरित्ररूप दृष्टान्त, युधिष्ठिर आदिके द्रौपदीसे एक-एक पुत्रका वर्णन किया गया है, पर यह सब अवैयासिक, अभारतीय एवं अधार्मिक है—यह निस्संशय है।

इससे महाभारतीय सारा ही उक्त उपाख्यान असत्य नहीं है, केवल शब्दोंका अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाना गया। जैसे आजकल भी कोई अर्थानभिज्ञ व्यक्ति **'स्वसुर्जारः शृणोतु नः'**-(ऋ० द ५५। ५), **'स्वसुर्यो जार उच्यते'** (ऋ० ६। ५५। ४) **'प्रजापतिः स्वदुहितृभ्यां दुराचचार'** ब्राह्मणभाग तथा पुराणोंमें उषा-सूर्यका सभापति-सभासमितिरूप अर्थ न जानते हुए बहिन-उपपति, ब्रह्मा, उसकी लड़की—ऐसा अर्थ करते हुए स्वयं भी भ्रान्त रहते हैं, दूसरोंको भी भ्रममें डालते हैं, वैसे ही—**'प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे'** यहाँपर भी भुज धातु पालनार्थक है, उपभोगार्थक नहीं। 'तुम सब मिलकर इस द्रौपदीरूप गृह-लक्ष्मीकी पालना करो।' यही कुन्तीका अभिप्राय था, जिसे आजकलके लोग नहीं समझ सके। **'भुङ्क्त'** पद परस्मैपदका प्रयोग है, परस्मैपदमें पालन-अर्थ होता है, उपभोग नहीं। **'श्रिया वा एतद् रूपं यत् पत्न्यः** (तै० ब्रा० ३। ९। ४। ७) यहाँपर पत्नीसे गृह-लक्ष्मी माना गया है। **'पा रक्षणे'** धातुसे डति प्रत्ययमें निष्पन्न पति, शब्द भी पालनार्थक ही है, तब पाँचों पाण्डवोंने द्रौपदीका पतित्व-पालन स्वीकृत किया और माताका वचन अन्ततक पाला।

कई महोदय **'पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा'** (शतपथ ब्रा० २। ६। २। १४) यहाँपर 'पतयः'में बहुवचन देखकर बहुपतित्व मानते हैं, यह भी ठीक नहीं। 'जात्या-

ख्यायामेकस्मिन् बहुमन्यतरस्याम् (पा० १ । २ । ५८) इस सूत्रसे उक्त स्थलमें 'पति' शब्दमें बहुवचन जात्यभिप्रायसे है, व्यक्त्यभिप्रायसे नहीं । वस्तुतः युधिष्ठिर आदि पाँचों प्रत्येकमें पाँच रूपसे अवस्थित थे । वही एक ही अर्जुन युद्धमें स्थिर होनेसे 'युधिष्ठिर' थे, शत्रुके लिये भयानक होनेसे 'भीम' थे, नियोगसे उत्पन्न होनेसे कुल न होनेके कारण 'नकुल' थे, कृष्ण-सारथि, जो देव थे, उनसे युक्त होनेसे 'सहदेव थे ; द्रौपदीका पति अकेला वीरवर अर्जुन ही था—यह निर्विवाद है, शेष सब रावणके दस सिरोंके समान, वा कुम्भकर्णकी छः मासकी नींदके समान रूपक या काल्पनिक हैं ।''

उपर्युक्त प्रकारका परिहार

यह अर्वाचीन विद्वानोंका कथन है । यह कल्पना साधारण लोगोंकी दृष्टिमें द्रौपदीको साध्वी या एकपतिका सिद्ध करनेके लिये है । इसके लिये हम इसकी स्तुति करते हैं, परंतु इसका आधार कल्पनामात्र तथा असत्य है, अतएव यह श्रद्धेय नहीं हो सकती ।

यदि 'किसने कब क्या, कैसे किया इत्यादिको जाननेके लिये आधार इतिहास है तो उस विषयमें उसीको पूछना चाहिये; निराधार तथा इतिहासकर्तासे विरुद्ध कल्पना प्रामाणिक कैसे हो सकती है ? इतिहासस्थित जो आचरण, वेदादि शास्त्रोंके वचनसे विरुद्ध हो, वह अवश्य ही अनादरयोग्य तथा अनाचरणीय तो हो सकता है, परंतु वेदादिसे विरुद्धता दीखनेपर भी इतिहासमें परिवर्तन करना कहाँतक उपयुक्त हो सकता है ? उसी इतिहासमें धर्मप्राण युधिष्ठिरकी द्यूतक्रीड़ा भी देखी गयी है, उसमें **'अक्षैर्मा दीव्यः'** (ऋ० १० । ३४ । १३) यह वेदविरोध भी है । तो क्या वहाँ आलङ्कारिता ही सिद्ध कर दी जाय ? ऐसा करनेपर तो इतिहासका रूप ही विरूप हो जायगा, और बड़ी अव्यवस्था हो जायगी । इस प्रकार तो सम्पूर्ण इतिहास ही अलङ्काररूप बन जायगा, जैसा कि कई पाश्चात्त्य और पाश्चात्त्य भावावेशित भारतीय विद्वान् बनाया करते हैं ।

वस्तुतः जैसे व्याकरणमें उदाहरण और प्रत्युदाहरण भी हुआ करते हैं, उत्सर्ग और अपवाद भी हुआ करते हैं, वैसे ही वेदके भाष्यरूप पुराणेतिहासमें भी वेदादिके सिद्धान्तों-के उदाहरण-प्रत्युदाहरण तथा उत्सर्ग एवं अपवाद भी हुआ करते हैं । तभी तो 'गौतमधर्मसूत्र' में कहा गया है—**'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम् । न तु दृष्टोऽर्थो वरो दौर्बल्यात् ॥'** (१ । २) इसी प्रकार 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' में भी कहा गया है—**'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्'** (२ । १३ । ७), **'तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते'** (२ । १३ । ८), **'तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः'** (२ । १३ । ९) । इतिहास आचरणके लिये सर्वथा आदर्श नहीं है । इसीलिये इतिहास देखकर अपना आचरण नहीं बनाया जा सकता । आचरणका निर्माण तो धर्मशास्त्रका अनुसरण करके ही किया जाता है । इतिहास तो मुख्यतः लोकमें घटी घटनाओं-का वर्णन प्रस्तुत करता है, लोकव्यवहार-व्यवस्था धर्मशास्त्रके अधीन रहा करती है । इसीलिये न्यायदर्शनमें कहा गया है—

यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य), लोकवृत्तम् इतिहासपुराणस्य । लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः ॥ तत्र एकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते, इति यथाविषयम् एतानि प्रमाणानि इन्द्रियादिवत् इति (४ । १ । ६२) । इसीलिये **'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः'** (मनु० २ । १२) यहाँपर सत्पुरुषोंके आचारको तीसरे पदमें रखा गया है । धर्मलक्षणमें पूर्व-पूर्व ही पर-परकी अपेक्षा बलवान् होता है । अतः अर्वाचीन विद्वानोंका यह प्रयास व्यर्थ है । तथापि उनसे उपक्षिप्त विषयपर भी विचार किया जाता है । वे लोग—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे ।
(१ । १९० । २)

—इस पद्यमें 'भुज्' धातुको परस्मैपद देखकर केवल उसके आधारपर कल्पनाका महल खड़ा करते हैं, परंतु उसका मूल शिथिल है, इसीलिये उस कल्पनाप्रासादको पाठकगण शीघ्र ही गिरता देखेंगे ।

उनका अभिप्राय यह है कि—

'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे'

यहाँपर **भुङ्क्ते** यह परस्मैपद है । **'भुजोऽनवने'** (पा० १ । ३ । ६६) इस पाणिनिके सूत्रसे 'पालन' अर्थमें ही परस्मैपद होता है, खाने तथा उपभोग अर्थमें तो आत्मनेपद होता है । जैसे कि **'वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते'** यहाँपर 'भुज' धातुका आत्मनेपदमें उपभोग अर्थ है । **'ओदनं भुङ्क्ते'** यहाँपर खाना अर्थ है, इस कारण दोनों स्थलोंमें आत्मनेपद हुआ है, परंतु **'महीं भुनक्ति'** इस परस्मैपदमें तो भुज् धातुका पालन अर्थ है, इस प्रकार प्रकृत 'महाभारतके' पद्यमें भी **'भुङ्क्त'** यह परस्मैपदमें लोटके मध्यम पुरुषके बहुवचनका प्रयोग है । तब कुन्तीका यह अभिप्राय था कि 'तुम सब मिलकर इस द्रौपदीरूप गृहलक्ष्मीको **'भुङ्क्त'** अर्थात् पालो, उसकी रक्षा करो । यहाँ उपभोग अर्थ नहीं हो सकता, अन्यथा 'भुङ्ग्ध्वम्' इस प्रकार आत्मनेपद होना चाहिये था ।

इस आशयपर हम विचार करते हैं । श्रीपाणिनिने अपनी 'अष्टाध्यायी' तथा 'गणपाठ' में उनके सहपाठी श्रीकात्यायनने अपने वार्तिकपाठमें जहाँ-तहाँ व्यास, शुक (४ । ३ । ९७) वासुदेव, अर्जुन (४ । ३ । ९८), युधिष्ठिर (८ । ३ ।

९५), साम्ब, गद, प्रद्युम्न, राम (४ । १ । ९६), अनिरुद्ध, नकुल, सहदेव (४ । १ । ११४) आदि महाभारतीय पात्रोंका नाम ग्रहण किया है। महान्' 'महाभारत (६ । २ । ३८) इस अपने सूत्रमें महाभारतका भी स्पष्ट नाम लिया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदव्यास आदि पाणिनिसे पूर्वकालीन थे। इसके अतिरिक्त पाणिनीय व्याकरणसे पूर्व भी अन्य व्याकरण थे, यह बात अष्टाध्यायीमें उपलभ्यमान गार्ग्य, शाकटायन आदि नामोंसे जानी जाती है।

इससे स्पष्ट है कि अन्य व्याकरणमें पाणिनिसे विरुद्ध प्रयोग भी सम्भव है। इस प्रकार पाणिनिसे पूर्वकालीन मुनियोंकी पुस्तकोंमें भी अपाणिनीय प्रयोग हो सकते हैं, यह स्वाभाविक है। वे प्रयोग अशुद्ध नहीं माने जाते; किंतु यदि कोई अपाणिनीय प्रयोग पाणिनिसे अनुकूल न दिखायी पड़े तो वहाँ आर्ष मानकर उसका समाधान कर देना पड़ता है। परंतु जहाँ पाणिनिसे पूर्वोत्पन्न किसीके ग्रन्थमें बहुत स्थलोंपर पाणिनिसे विरुद्ध प्रयोग दिखलायी पड़े, तो वहाँ अनुमान करना पड़ता है कि तब पाणिनिसे अन्य कोई व्याकरण रहा हो, जहाँ पाणिनिका वह नियम स्वीकृत न किया गया हो अथवा वहाँ अनियम कर दिया गया हो। इसीलिये श्रीव्यास-के लिये माहेन्द्र व्याकरणके अवलम्बनको बतानेवाला एक पद्य प्रसिद्ध है—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
तानि किं पदरत्नानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पाणिनीय व्याकरणमें पर्याप्त न्यूनता है, यद्यपि उसकी शैली असाधारण है। पाणिनिसे पूर्वकालीन श्रीव्यासने ऐन्द्र-व्याकरणका आश्रय लिया, उसमें इस प्रकारके बहुत-से प्रयोग थे, जो पाणिनिव्याकरणसे सिद्ध नहीं होते, यह उक्त पद्यसे प्रतीत होता है।

फलतः पाणिनिसे पूर्वकालीन श्रीवेदव्यासके बनाये हुए 'महाभारत'में भी पाणिनिके नियमसे विरुद्ध प्रयोग अवश्य हो सकते हैं। जैसे कि—'महाभारत' शान्तिपर्वमें—

ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु।
विवृतं च ततो मेऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती॥
(३१८ । ७)

यहाँ 'मेऽऽस्यम्'का 'मे आस्यम्' यह छन्द है। यहाँपर 'एङः पदान्तादति' (६ । १ । १०९) इस पाणिनिके सूत्रसे 'मेऽऽस्यम्'की सिद्धि कभी नहीं हो सकती; क्योंकि यहाँपर सामने 'ह्रस्व अकार' इष्ट है, किंतु उक्त पदमें दीर्घ आकार है, इससे स्पष्ट है कि श्रीपाणिनिके पूर्वज श्रीव्यासजीने इस संधिको या तो अन्य व्याकरणसे सिद्ध किया होगा, अथवा निरङ्कुशतावश उससे विरुद्ध प्रयोग किया होगा। इसी प्रकार प्रकृत विषयमें भी जानना चाहिये।

श्रीपाणिनिने 'भुज्' धातुको 'खाने' तथा 'उपभोग' अर्थमें ही आत्मनेपद किया है, 'पालन' अर्थमें तो उसने भुज् धातुको परस्मैपद ही किया है, परंतु पाणिनिसे पूर्वकालीन महाभारतमें तो स्वाभाविकतावश उस नियमकी अवहेलना हो सकती है, इस कारण उसमें भुज्धातुमें खाने तथा उपभोग अर्थमें आत्मनेपद भी हो सकता है, परस्मैपद भी। तो—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।

—इसमें जो कि 'भुजोऽनवने' इस पाणिनि-सूत्रके बलसे 'पालन-रक्षण' अर्थ ही किया जाता है, वह ठीक नहीं; क्योंकि पाणिनिसे पूर्वकालीन 'महाभारत'में उस नियमका अनुवर्तन कैसे होगा ?

इसके अतिरिक्त **'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति'** यह व्याकरण-की परिभाषा भी प्रसिद्ध है। वेदमें उपग्रह (परस्मैपद-आत्मनेपद) का व्यत्यय भी विख्यात ही है, तभी वहाँ कवि श्रीव्यासजीने 'भुङ्ग्ध्वम्'के स्थान 'भुङ्क्त' यह जोड़ दिया है। अन्य बात यह है कि अर्थमें दृष्टि रखनेवाले-का शब्ददृष्टिमें उतना आदर भी नहीं हुआ करता। इतिहास-पुराण 'अर्थप्रधान' प्रसिद्ध है, वेद 'शब्दप्रधान' तथा काव्य 'रस-प्रधान' प्रसिद्ध है। देखिये इसमें 'काव्यप्रकाश'का आरम्भ। इसी कारण अर्थदृष्टि रखनेवाले नैयायिकोंके लिये भी अतिशयोक्तिगर्भित यह प्रवाद प्रसिद्ध है—

'अस्माकूणां नैयायिकेषाम् अर्थरि तात्पर्यम् न तु शब्दरि', 'अस्माकूणामिति कथम् ? गुरूणामिति पथम्। नैयायिकेषामिति कथम् ? सर्वेषामिति पथम् ? शब्दरि कथम् ? छन्दसि इति पथम्। पथम्—इति कथम् ? कथम् इति पथम्।'

फलतः अर्थतात्पर्यवाले 'महाभारत'के वचनमें भी **'सर्वे समेत्य भुङ्क्त'** इसका अर्थ व्याकरणका विरोध होनेपर भी खाने वा उपभोग अर्थात् उपयोगमें हो सकता है।

इसमें अन्य प्रमाण भी हैं। वह यह कि महाभारत-कारको जहाँ 'भुज्' धातुका खाना वा उपभोग अर्थ विवक्षित होता है, वे वहाँपर पाणिनिके अनुसार केवल आत्मनेपद नहीं करते, किंतु परस्मैपद भी करते हैं, आत्मनेपद भी जैसे कि—

यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम्।
(१९४ । ७)

यहाँपर भुज् धातुका परस्मैपद है। 'तदन्नम्' इस अन्न पदकी संनिधिसे कोई भी पुरुष यहाँ 'पालन' अर्थ नहीं कर सकता, किंतु खाना वा उपभोग अर्थ ही करना पड़ेगा।

पाणिनिके अनुसार तो यहाँ 'बुभुजिरे' प्रयोग हो सकता है, परंतु वैसा नहीं है—यह प्रत्यक्ष ही है। इससे हमारी कही बात ठीक सिद्ध हुई। इसी प्रकार **'भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे'** यहाँ परस्मैपद होनेपर भी रक्षण अर्थ नहीं है, किंतु खाना वा उपभोग–उपयोग अर्थ है। इससे स्पष्ट है कि श्रीव्यास-जी खाने वा उपयोग अर्थमें जहाँ-तहाँ आत्मनेपद भी देते हैं, परस्मैपद भी। इससे परस्मैपदमें भी भुज् धातुका भक्षण वा उपभोग अर्थ सम्भव है। इस प्रकारके महाभारतके अन्य भी प्रयोग दिखलाये जा सकते हैं।

हमारे पास केवल यही अमोघ अस्त्र नहीं है कि श्रीव्यास-जी पाणिनिसे विरुद्ध प्रयोग भी करते हैं, प्रत्युत उसमें प्रकरण भी हमारे पक्षका अनुग्राहक है। **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** यह न्याय भी प्रसिद्ध है। शब्द जिस उद्देश्यसे प्रयुक्त किया जाता है, वही उसका अर्थ हुआ करता है। तब वहाँ ग्रन्थकारको भी पालन अर्थ इष्ट नहीं है, उस वाक्यका प्रयोग करनेवाली कुन्तीको भी वहाँ पालन अर्थ इष्ट नहीं है, कुन्तीके वाक्यके अर्थको जाननेवाले युधिष्ठिर आदिको भी वहाँ पालन अर्थ इष्ट नहीं है, और फिर 'पालन' अर्थ करनेसे वैसा आशय बतानेवालोंकी कोई इष्ट-सिद्धि भी नहीं है—यह आगेके विवेचनसे सिद्ध हो जायगा।

पूर्वपक्षवाले सज्जन अपने पक्षकी पुष्टिमें—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।

(१९० । २)

इस पाठको तो उद्धृत करते हैं, परंतु उसका पूर्वापर प्रकरण स्पष्टतया नहीं दिखलाते, जिससे अर्थका अनर्थ हो जाता है। अब वह प्रकरण दिखलाया जाता है, जिससे पूर्वपक्ष असिद्ध हो जाता है। आदिपर्वके १९० वें अध्यायका यह प्रथम पद्य है—

गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ॥ १ ॥

इसका आशय यह है कि भीमसेन और अर्जुन द्रौपदीको अपने साथ लाकर प्रतिदिनकी तरह कहने लगे कि—मातः! हमलोग भिक्षा लाये हैं। 'प्रतिदिनकी तरह' कहनेका यह आशय है कि—वे प्रतिदिन भिक्षा लाकर कुन्तीको दिया करते थे, जैसे कि—

चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते।
निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्षं सदा निशि।

(१ । १५६ । ४-५)

पूर्व उद्धृत पद्यके आगे ही यह पद्य है—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।

(१९० । २)

इसका यह अर्थ है कि—कुन्ती कुटीके अंदर थी, उसने भिक्षा लेकर आये हुए पुत्रों–भीम-अर्जुनको नहीं देखा, इस कारण उनके साथ लायी हुई विशिष्ट भिक्षा द्रौपदीको भी नहीं देखा, इसलिये वह सदाकी भाँति भिक्षा जानकर [क्योंकि वह कुन्ती भी उनको भिक्षाके लिये गये हुए और बहुत देर बीत जानेपर भी उनको न आया देखकर उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। जैसे कि—

अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्षकालेऽभिगच्छति।

(१८९ । ४४)]

—उनको सदाकी तरह कहने लगी कि तुम सब मिलकर **'भिक्षां भुङ्क्त'** भिक्षाका भोग—खाओ वा उपभोग करो।

क्या यहाँपर कोई मान सकता है कि कुन्तीको यहाँपर प्रतिदिन आनेवाली भिक्षाकी 'रक्षा' अभीष्ट थी? नहीं-नहीं, किंतु भिक्षाका उसको पूर्वकी भाँति उपभोग–उपयोग ही इष्ट था। इसके बाद उक्त पद्यका उत्तरार्ध यह है, जिसे पूर्वपक्षवाले जनताकी दृष्टिमें नहीं लाते—

पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥

(१९० । २)

इसका यह अर्थ है कि—जब कुन्तीने भिक्षाके रूपमें द्रौपदीको कुटीसे बाहर आकर देखा, तो पछताकर कहने लगी—'हा खेद! मैंने यह क्या कह दिया?' यदि उस कुन्तीको वस्तुतः ही 'भुङ्क्त' का अर्थ पालो अभीष्ट होता, तब उसे पछतानेका क्या अवसर था?

आगे तो इससे भी स्पष्ट कहा है—

साधर्मभीता परिचिन्तयन्ती तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम्।
पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम् ॥

(१९० । ३)

कुन्ती अधर्मके भयसे भीत हो गयी। द्रौपदी बहुत प्रसन्न थी। कुन्ती देवी द्रौपदीका हाथ पकड़कर युधिष्ठिरके पास गयी और उनसे कहा। इस पद्यमें **'सा कुन्ती अधर्मभीता'** यह पद भी 'भुङ्क्त' का 'पालो' यह अर्थ हटा रहा है, अन्यथा वह यदि अपने पुत्रोंको द्रौपदीके पालनार्थ कहना चाहती थी, तब यहाँ 'अधर्म' क्या था? भिक्षाका वा द्रौपदीका सबके द्वारा पालन अधर्म नहीं था। अथवा—यदि कुन्तीको भिक्षाका भी 'रक्षण' इष्ट था, फिर द्रौपदीको देखकर उसका भी 'रक्षण' अर्थ इष्ट था, तो उसे अनृत-भाषणरूप अधर्मसे कोई भय नहीं था; क्योंकि यह एक प्रसिद्ध न्याय है—**'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** शब्द जिस लक्ष्यसे कहा गया है, वही उसका अर्थ हुआ करता है।

इससे स्पष्ट है कि—कुन्तीको 'भुङ्क्त' का 'संरक्षण' अर्थ

नहीं, किंतु उपभोग-उपयोग अर्थ ही इष्ट था। यदि भिक्षा साधारण होती, तब तो सबके द्वारा उसका उपभोग-उपयोग करनेपर भी कोई अधर्म नहीं था, अपितु धर्म ही था, परंतु जब उस कुन्तीने भिक्षारूपमें द्रौपदीको देखा, तब सोचा कि—यदि इस द्रौपदीका सभी उपभोग-उपयोग करें, अर्थात् सभी उसके पति हो जायँ, तब तो अधर्म ही होगा; क्योंकि सुना जाता है—

'एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्या बहवः सहपतयः।
(गोपथब्रा० ३ । २०; ऐत० ब्रा० ३ । २३)

यदि मैं (कुन्ती) 'भुङ्क्त' यह भिक्षाके लिये कहकर द्रौपदी-रूप भिक्षाके लिये अन्य प्रयोगको—चाहे वह समान आकार-का पर भिन्नार्थक हो—करूँगी, तो असत्यका प्रसंग हो जानेसे अधर्म होगा; क्योंकि 'अर्थभेदसे ही शब्दभेद हुआ करता है। शब्दभेद हो जानेपर दो बार भिन्न-भिन्न बातें हो जानेसे असत्य उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार असमंजसमें पड़ी हुई कुन्ती ही 'भुङ्क्त' इस शब्दका उपभोग अर्थ सिद्ध कर रही है—यह अत्यन्त स्पष्ट है।

इसी कारण आगे उसने युधिष्ठिरके सामने स्वयं अपना प्रमाद स्वीकार किया है। जैसे कि—

इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञः तवानुजाभ्यां मयि संनिविष्टा।
यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं समेत्य भुङ्क्तेति नृप प्रमादात्॥
(१९० । ४)

कुन्तीने कहा—'युधिष्ठिर ! यह द्रुपदराजकन्या द्रौपदी है। तुम्हारे छोटे भाई भीम और अर्जुनने इसे भिक्षा कहकर मुझे समर्पित किया और मैंने भी भूलसे अनुरूप उत्तर दे दिया कि तुम सब मिलकर इसको उपभोग करो। यहाँपर 'प्रमादात्' यह शब्द 'भुङ्क्त'का उपभोग अर्थ ही कुन्तीको विवक्षित था, 'रक्षण' अर्थ नहीं—यह स्पष्ट कह रहा है; क्योंकि किसी स्त्रीकी रक्षार्थ आज्ञा देना प्रमाद नहीं हो सकता। उपभोग अर्थ होनेपर तो एक स्त्रीके साथ बहुतोंका उपभोग अशास्त्रीय होनेसे उस कुन्तीकी दृष्टिमें प्रमाद स्पष्ट ही है; क्योंकि वह पाण्डवोंके गत जन्मका वृत्त नहीं जानती थीं। इसलिये वह उसे अधर्म जानती हुई युधिष्ठिरको फिर कहने लगी—

मया कथं नानृतमुक्तमद्य भवेत् कुरूणामृषभ ब्रवीहि।

'कुरुश्रेष्ठ ! बताओ, अब मेरी बात झूठी न हो।' 'ब्रवीहि' यह प्रयोग भी पाणिनिसे विरुद्ध है—यह बात भी पूर्वपक्षियोंको याद रखनी चाहिये।—

'पाञ्चालराजस्य सुतामधर्मो न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च॥
(१९० । ५)

जिससे इस पाञ्चालराजकन्याको न तो पाप लगे, न नीच योनिमें भटकना पड़े। इस कुन्तीके वाक्यसे भी हमारा पक्ष सिद्ध होता है।

ग्रन्थकारको भी यही उपभोग अर्थ 'भुङ्क्त' का इष्ट है; क्योंकि वह अपने पात्रके द्वारा अपने अभिलषित अर्थको ही कहलवाता है। अथवा ग्रन्थकारका अपना अभिलषित अर्थ हो ही क्या सकता है ? उसे तो इतिहासके सम्पादक होनेसे वही लिखना है जो कि इतिहासमें हो चुका है। 'इति ह आस—इतिहासः' हो चुके हुएका नाम इतिहास होता है। तब वह उसके परिवर्तनमें अधिकारी ही कैसे हो सकता है ? इस प्रकार पूर्व समयमें द्रौपदीका पाँचों पाण्डवोंके साथ विवाह हुआ, तभी तो इतिहासके सम्पादक श्रीकृष्णद्वैपायनने उसमें ग्रन्थबद्ध किया।

अब फिर प्रकरणपर आना चाहिये। युधिष्ठिर आदिको भी मातासे कहे हुए 'भुङ्क्त' पदका उपभोग ही अर्थ इष्ट है। इसीलिये युधिष्ठिरने द्रुपदको कहा था—

सर्वेषां महिषी राजन् द्रौपदी नो (—अस्माकं पञ्चानां) भविष्यति।
एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशाम्पते॥
(१९४ । २३)

एष नः समयो राजन् रत्नस्य सहभोजनम्।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम॥
सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम्।
न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम्॥
(१९४ । २५, २९-३०)

'राजन् ! द्रौपदी हम सभी भाइयोंकी पटरानी होगी, मेरी माताने पहले ही हम सब लोगोंको ऐसी ही आज्ञा दे रक्खी है। महाराज ! हमलोगोंमें यह शर्त हो चुकी है कि दानको हम सब बाँटकर एक साथ उपभोग करेंगे। हे राजसत्तम ! हम अपनी उस शर्तको छोड़ना नहीं चाहते। महाराज ! धर्मका स्वरूप अति सूक्ष्म है। हम उसकी गतिको नहीं जानते।××मेरी वाणी कभी मिथ्या नहीं बोलती और मेरी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती। हमारी माताने हमें ऐसा ही करनेकी आज्ञा दी है और मेरे मनमें भी यही उचित जँचता है।' **'मम चैतन्मनोगतम्'** की व्याख्या **'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'**। (अभिज्ञान-शाकुन्तल १। २३) इन कालिदासके शब्दोंमें समझना चाहिये।

इस प्रकार युधिष्ठिरने श्रीव्यासजीको भी कहा था—

गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम।
गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः॥
(१९५ । १६)

'धर्मज्ञश्रेष्ठ व्यासजी ! गुरुजनोंकी आज्ञाको धर्मसंगत बताया गया है और समस्त गुरुओंमें माता परम गुरु मानी गयी है ।

सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्षवद् भुज्यतामिति ।
तस्मादेतदहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम ॥

(१९५ । १७)

हमारी उस माताने कहा है कि तुम सब लोग भिक्षाकी भाँति इसका उपभोग करो, अतः द्विजश्रेष्ठ ! हम सबके साथ होनेवाले विवाहको हम परमधर्म मानते हैं ।

यह वचन युधिष्ठिरने जो कहा, उसका कारण यह है कि—**'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया'** (रघुवंश १४ । ४६) **'अमीमांस्या गुरवः'** (चाणक्यसूत्र ४२१) अर्थात् गुरुओंकी बातपर विचार नहीं करना चाहिये । यदि कोई उनकी आज्ञा अनुचित भी है, तो उसका उत्तरदायित्व उनपर होगा, उसका पाप-पुण्य उन्हें ही होगा, हमें नहीं । इसीलिये 'तैत्तिरीयोपनिषद्'में कहा है—**'मातृदेवो भव'** (१ । ११ । १२) ।

इससे पूर्व युधिष्ठिरने जो कि—

त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी
त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री ।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह
गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः ॥

(१९० । ७)

अर्जुनको यह कहा था कि द्रौपदीको तुम ही जीत लाये हो, अतः तुम ही इससे विवाह करो, यह कथन अर्जुनकी परीक्षाके लिये हो सकता है । तभी तो अर्जुनने **'मातृदेवो भव'** (तै० १ । ११ । २) इस वैदिक आदेशके अनुसार कहा था कि—

'मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं
कृथा न धर्मोऽयमशिष्टदृष्टः ।
भवान् निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं
भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा ॥
अहं ततो नकुलोऽनन्तरं मे
पश्चादयं सहदेवस्तरस्वी ।

(१९० । ८-९)

अर्थात् हम सब ही माताकी आज्ञाके अनुसार इसके स्वामी बनेंगे । इस प्रकार अर्जुनकी परीक्षाके समाप्त होनेपर युधिष्ठिरने भी स्वयं इसका अनुमोदन किया और कहा—

सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ॥

(१९० । १६)

'कल्याणमयी द्रौपदी हम सब लोगोंकी भार्या बनेगी ।' कुन्तीने भी युधिष्ठिरकी तरह ही श्रीव्यासदेवको कहा—

एवमेतद् यथा प्राह धर्मचारी युधिष्ठिरः ।
अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येऽहमनृतात् कथम् ॥

(१९५ । १८)

धर्मका आचरण करनेवाले युधिष्ठिरने जैसा कहा है, वह ठीक है । मुझे झूठसे बड़ा भय लगता है । बताइये—मैं झूठसे कैसे बचूँगी । इससे स्पष्ट है कि—'भुङ्क्त' का ग्रन्थकारके मतमें, कुन्तीके मतमें तथा युधिष्ठिर आदिके मतमें समान ही 'उपभोग' अर्थ है । पूर्वपक्षवालोंके अनुसार 'रक्षण' अर्थ माननेपर भी कोई लाभ नहीं, तब तो वह द्रौपदी सब पाण्डवोंसे मिलकर ही संरक्षणीय ही हो जायगी । उसके साथ **'प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे'** इस पूर्वपक्षवालोंसे सम्मत माताकी आज्ञाको सूचित करनेवाले वचनके अनुसार अर्जुन भी विवाह नहीं कर सकेगा । वह भी सारी आयु उसे पाल ही सकता है, न उसका उपयोग कर सकता है, न उससे पुत्र ही उत्पन्न कर सकता है; क्योंकि कुन्तीका यह आदेश अर्जुनके लिये कुछ विशेषता नहीं बतलाता, किंतु सभीका द्रौपदीके साथ समान ही व्यवहार कहता है ।

अथवा यदि कुन्ती पाण्डवोंको **'भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे'** (१९३ । २) यह वचन न कहती, तो क्या अर्जुनके साथ विवाही हुई भी उसकी रक्षा सभी भाई न करते ? अवश्य करते । इस कारण पूर्वपक्षवालोंकी यह कल्पना कोई महत्त्व नहीं रखती, अतः उसका यह कल्पना-प्रासाद यहाँ गिर पड़ा है, यह पाठकोंने देखा होगा ।

पूर्वपक्षवालोंने 'तैत्तिरीय'के प्रमाणसे पत्नीको 'गृहलक्ष्मी' बताया है, तब जब उनके मतके अनुसार कुन्ती द्रौपदीको सबकी 'गृहलक्ष्मी' बनाना चाहती है और उसके पालनका आदेश देती है, जब पूर्वपक्षवालोंके अनुसार युधिष्ठिर आदि पाँचों प्रत्येकमें पञ्चभावसे रहते थे, तो वह भी सबकी वास्तविक पत्नी थी, वे भी उसके वास्तविक पति सिद्ध हुए, क्योंकि पूर्वपक्षके अनुसार पाँचोंका पञ्चत्व एक दूसरेमें है ।

जो कि यह कहा जाता है कि कल्पना करनेवालोंने मूलमें स्वसम्मत भाव मिला दिये सो यह बात प्रमाणहीन है, नहीं तो; महाभारतमें अग्निसे प्रकट हुई द्रौपदीको भी कल्पित मान लेना पड़ेगा । द्रौपदीकी तरह अन्य स्त्रियाँ भी कुरुवंशमें उस समय तीन-चार पतियोंवाली क्यों नहीं दिखलायी गयीं ? दुर्योधनकी स्त्री भानुमती भी सौ भाइयोंकी स्त्री क्यों नहीं बतायी गयी ? इससे स्पष्टतया यह 'अपवाद' है ।

इधर पद्यका—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।

(१९०।२)

इसका पूर्वार्ध वास्तविक मानकर—

'पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच।' (१९०।२)

उसके उत्तरार्धको काल्पनिक मानना पूर्वपक्षवालोंका अर्धजरतीय न्यायका अवलम्बन करना है। यदि पूर्वार्ध ही अनालङ्कारिक वा अप्रक्षिप्त वा वास्तविक है, इसीलिये उद्धृत किया जाता है, उसीसे अपने पक्षकी पुष्टि समझी जाती है, तो वह भी हमारे पक्षकी परिपुष्टि करता है—यह बात विज्ञ पाठक देखें।

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।

यही पूर्वपक्षसम्मत पूर्वार्ध है। इसमें **'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ'** ये पद साभिप्राय हैं। कुटीमें होनेसे, और पुत्रों (भीम, अर्जुन) को न देखनेसे ही कुन्तीने उक्त प्रमाद किया, यह बात उक्त पदोंसे सिद्ध होती है, नहीं तो, **'कुटीगता सा' 'पुत्रौ अनवेक्ष्य'** इन पदोंके कहनेकी आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि इन पदोंके असाभिप्राय होनेसे अपुष्ट दोष उपस्थित हो जाता है। इधर इस पद्यसे पूर्वके पद्यमें प्रतिदिनकी भिक्षाका संकेत किया गया है, उधर इस पद्यमें कुन्तीके कुटीमें होनेसे उसके द्वारा पुत्रोंको न देखना कहा है, तब उस भिक्षाका कुन्तीद्वारा कहे हुए 'भुङ्क्त' इस पदसे प्रतिदिनकी तरह 'उपभोग' अर्थ ही अभीष्ट है, 'संरक्षण' अर्थ नहीं। प्रतिदिनकी भिक्षाका 'संरक्षण नहीं होता था, किंतु परस्पर यथाविभाग उपभोग ही किया जाता था।

हाँ, यदि कुन्तीके द्वारा पुत्रोंका अनवेक्षण न होकर अवेक्षण-दर्शन होता, भिक्षाकी विलक्षणताका भी उसे ज्ञान होता, तब कुन्ती अवश्य यह न कहती। अतः 'भुज्' धातु यहाँ 'पालनार्थक है' तुम सब मिलकर इस द्रौपदीरूप गृहलक्ष्मीको पालो, यह कुन्तीका अभिप्राय था, यह पक्ष सिद्ध नहीं हुआ। इसमें उसी पूर्वपक्षवालोंसे उद्धृत, अप्रक्षिप्त तथा अनालङ्कारिक पद्यके **'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ'** इस प्रथम पादमें आये हुए **'कुटीगता' 'अनवेक्ष्य पुत्रौ'** ये ग्रन्थकारके पद प्रमाण हैं।

तात्पर्य यह है कि—यदि कुन्ती कुटीसे बाहर होती, भिक्षाको भी वह देख लेती, तब तो कुन्तीको 'उपभुङ्क्त' वही अर्थ विवक्षित होता, जो पूर्वपक्षवाले करते हैं, पर अब जब कुन्ती कुटीमें है, उसने पुत्रोंके साथकी भिक्षा भी नहीं देखी, तब किसी भी युक्तिसे कुन्तीका वह अभिप्राय कल्पित नहीं हो सकता। उसी कारण पूर्वपक्षवालोंको बलात् इस अभिप्रायको दिखलानेके लिये अर्थ 'करनेके अवसरपर अपने दिये हुए इस पद्यका प्रथमपाद लोकदृष्टिसे छिपाना पड़ जाता है। प्रथमपादके सामने रखनेपर वे अपने कहे हुए उक्त अभिप्रायको कदापि नहीं निकाल सकते। पूर्ण श्लोकके चार पादोंमें उन्हें केवल दूसरा पाद ही अपना अभिप्रेत अर्थ सिद्ध करनेके लिये लोकदृष्टिमें रखना पड़ता है। अब इस पादके शेष तीन पाद कौन-से हैं—यह बताना उनका कर्तव्य रह जाता है।

कई अन्य महाशयोंका यह अभिप्राय है कि—'जब अर्जुनने मत्स्यवेध किया था, तब धर्मसे वह द्रौपदीका पति हो गया, तब युधिष्ठिरका अनुजवधूके साथ सम्बन्ध कैसे युक्त हो सकता है?' इसपर जानना चाहिये—यदि मत्स्यवेधनमात्रसे अर्जुन पति तथा द्रौपदी पत्नी होती, तो उसके बाद विवाहकी आवश्यकता क्यों होती ? जैसे कि युधिष्ठिरने कहा था कि **"त्वया जिता पाण्डव याज्ञसेनी**

प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः।" (१९।७)

इससे स्पष्ट है कि विवाह ही पति-पत्नीत्वका साधक होता है। वह कुन्तीके पूर्ववचनसे द्रौपदीका सब पाण्डवोंसे भिन्न-भिन्न हुआ, केवल अर्जुनसे ही नहीं हुआ। तब वह पत्नी भी पाँचोंकी हुई, एकमात्र अर्जुनकी नहीं।

एक यह भी प्रश्न सम्भव है कि—'विवाहिता कन्या नहीं रह जाती, तब युधिष्ठिर आदिसे विवाहित हुई, उसका अकन्या होनेसे भी भीम आदिसे विवाह कैसे हुआ ?' इसमें यह जानना चाहिये कि यह अपवादस्थल है; क्योंकि—वह विवाहित भी पुनः कन्याभावको प्राप्त कर लेती थी। जैसे कि 'महाभारत'में कहा गया है—

> **'क्रमेण चानेन नराधिपात्मजाः'** (भीमार्जुननकुलसहदेवाः)
> **वरस्त्रियास्ते जगृहुस्तदा करम्।**
> **अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो महारथाः कौरववंशवर्धनाः॥**
> (१।१९७।१३)
>
> **इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं**
> **जगाद देवर्षिरतीतमानुषम्।**
> **महानुभावा किल सा सुमध्यमा**
> **बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि॥**
> (१।१९७।१४)

क्रमसे कौरववंशकी वृद्धि करनेवाले, उत्तम शोभा धारण-करनेवाले महारथी राजकुमार पाण्डवोंने एक-एक दिन परम-

सुन्दरी द्रौपदीका पाणिग्रहण किया। देवर्षि नारदने वहाँ घटित हुई इस अद्भुत उत्तम और अलौकिक घटनाका वर्णन किया है कि 'सुन्दर कटिप्रदेशवाली महानुभावा द्रौपदी प्रतिबार विवाहके दूसरे दिन कन्याभावको प्राप्त हो जाती थी।'

दिव्यदृष्टि श्रीव्यासजीने अग्निसे उत्पन्न दिव्य कन्या द्रौपदीके कन्यात्वको दिव्यदृष्टिसे देख लिया, अतएव उन्होंने वैसा लिखा। तब इस प्रकार अलौकिक होनेसे द्रौपदीका विवाह सामान्य विवाहका विषय नहीं, अतः यह अपवादस्थल ही जानना चाहिये। न तो यह दूसरेसे अनुकरणीय ही है और न यह प्रथा ही उस समय प्रचलित थी।

यह जो कहा जाता है कि 'कृष्णा तो प्रतियोगितामें जीती गयी थी, भिक्षाकी तरह नहीं माँगी गयी थी। तब धर्मभीरु एवं सत्यवादी अर्जुन अथवा भीम द्रौपदीको 'भिक्षा' शब्दसे कैसे कह सकते थे?' इसपर जानना चाहिये कि क्षत्रिय होनेसे उन्हें भिक्षाका अधिकार ही नहीं था, तब वे भिक्षाके लिये ही कैसे जाते थे? वस्तुतः यहाँ रहस्य यह है कि पाण्डवोंने लाक्षागृहसे अपने-आपको बचाकर तब दुर्योधनको प्रतारित करनेके लिये ब्राह्मणका रूप धारण कर लिया था। ब्राह्मण-रूपको ही प्रसिद्ध करनेके लिये वे भिक्षाका अभिनय करते थे, जिस किसी भी लायी हुई वस्तुको 'भिक्षा' शब्दसे पुकारा करते थे। इसीलिये 'महाभारत'में कहा है—

तत्र भैक्षं समाजह्रुर्ब्राह्मणीं वृत्तिमाश्रिताः।
तान् सम्प्राप्तांस्तथा वीरान्जज्ञिरे न नराः क्वचित्॥
(१। १८४। ७)

वहाँ ब्राह्मणवृत्तिका आश्रय ले वे भिक्षा माँगकर लाते थे। इस प्रकार वहाँ पहुँचे हुए पाण्डववीरोंको कोई भी मनुष्य पहचान न सके। यहाँ स्पष्ट है कि उन्होंने भिक्षाको अपने छिपानेका साधन बनाया था। ब्राह्मणरूपकी प्रसिद्धिमें ही अर्जुन आदिने द्रौपदीको प्राप्त किया था। भार्गवकी कर्मशालामें प्राप्त होकर जनदृष्टिमें अपने-आपको ब्राह्मण परिचायित करनेके लिये ही जैसे वे प्रतिदिन 'हम भिक्षा लाये हैं' यह कहा करते थे, वैसे ही द्रौपदीके लानेके दिन भी कुटीसे बाहर ही उन्होंने ऊँचे स्वरसे 'हम भिक्षा लाये हैं' यह कहा। यह सब कुछ **'चारैः पश्यन्ति राजानः'** इस नीतिसे राजा दुर्योधनकी दृष्टिमें (क्योंकि वे लोग भी वहाँ उपस्थित थे) अपने छिपानेके लिये था। तभी दुःशासनने भी पीछेसे कहा था—

यद्यसौ ब्राह्मणो न स्याद् विन्देत द्रौपदीं न सः।
(२०२। ११)

अर्थात् यदि अर्जुनने ब्राह्मणका रूप धारण न किया होता, तब वह द्रौपदीको न पा सकता।

अर्जुन 'धर्मभीरु' तथा सत्यवादी'—ये दो विशेषण अपने पक्षके सिद्ध करनेके लिये ही दिये गये मालूम होते हैं। परंतु अर्जुन आदि इस अपने ब्राह्मणत्वको परिचायित करनेके लिये आपत्कालकी नीतिके अनुसार सर्वत्र असत्य ही बोलते थे। तभी जब ब्राह्मणवेषधारी अर्जुनने लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको जीता था, तब कर्ण आदि-आदि उससे युद्ध करने लगे। उस समय कर्णने उससे पूछा कि—'तुम ब्राह्मण हो वा कोई अन्य?'

तमेवंवादिनं तत्र फाल्गुनः (अर्जुनः) प्रत्यभाषत।
ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठ सर्वशस्त्रभृतां वरः।
(१। १९२। २०-२१)

सर्वशस्त्रभृतां वरः। (१। १९०। २०-२१)

यहाँपर बताना चाहिये कि—'धर्मभीरु' और 'सत्यवादी' अर्जुनने अपने आपको ब्राह्मण सत्य कहा वा असत्य?

एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णो न्यवर्तत।
ब्राह्मं तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः॥
(१८९। २२-२३)

यह असत्य भाषण अपने ब्राह्मणत्वके परिचायित करनेके लिये दुर्योधनकी दृष्टिमें (क्योंकि वे लोग भी वहाँ उपस्थित थे) अपने-आपको छिपानेके लिये था। जब द्रौपदीको जीत-कर वे घरमें ले गये, तब कुटियासे बाहर ही उन्होंने ऊँचे स्वरसे (क्योंकि कुन्ती उस समय अंदर थी) 'भिक्षा लानेके' शब्दका उच्चारण किया, तब अनुसंधानके लिये आये हुए लोगोंने उन्हें 'भिक्षा' शब्दसे वास्तविक ब्राह्मण माना। सायंकाल वे फिर भिक्षा माँगनेके लिये गये। जैसे कि—

सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी
जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ।
भैक्षं चरित्वा तु युधिष्ठिराय
निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः॥
(१। १९१। ३)

सन्ध्या होनेपर शत्रुओंको मथ डालनेवाले भीमसेन, अर्जुन और महानुभाव नकुल-सहदेवने भिक्षा लाकर युधिष्ठिर-को निवेदन की। यह सुनकर संदेहमें पड़े हुए द्रुपदने भी उनसे पूछा—

कथं जानीम भवतः क्षत्रियान् ब्राह्मणानुत।
(१। १९४। २

जहाँ इस प्रकरणसे कर्मसे वर्णव्यवस्था हटती है, वहाँ द्रौपदीको 'भिक्षा' शब्दसे कहनेपर भी प्रकाश पड़ता है।

जो यह कहा जाता है कि—'द्रुपद अर्जुनको ही द्रौपदीको देना चाहता था, यही जानकर युधिष्ठिरने लक्ष्यवेध नहीं किया, नहीं तो, वह भी समर्थ था और बड़ा भाई होनेसे अधिकारी भी था, सो यह बात भी ठीक नहीं प्रतीत होती, प्रत्युत पूर्वपक्षसे उपस्थापित पद्यसे भी विरुद्ध है। 'महाभारतमें यह संकेत ही नहीं दिया गया कि युधिष्ठिर आदि इस विषयमें द्रुपदकी अभिलाषा जानते थे'—

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः॥
(१ । १८४ । ८)

इस पद्यके चौथे पादमें तो यह बताया है कि—द्रुपद अपनी उक्त अभिलाषाको किसीके आगे प्रकट नहीं करते थे। यही बात—

अयं हि कामो द्रुपदस्य राज्ञो
हृदि स्थितो नित्यमनिन्दिताङ्गाः।
यदर्जुनो वै पृथुदीर्घबाहु-
र्धर्मेण विन्देत सुतां ममैताम्॥
(१ । १९२ । १९)

इस पद्यमें भी 'हृदि स्थितः' इस पदसे अप्रकट, द्रुपदके हृदयस्थित मनोरथको युधिष्ठिर कैसे जान गये, कर्ण आदि क्यों न जान सके—इस प्रकार यह पद्य उद्धरण करनेवालोंके ही पक्षको ही काट रहा है।

इधर युधिष्ठिरके लिये 'समर्थ' यह पद भी महाभारतसे विरुद्ध है। युधिष्ठिरने जो कि लक्ष्यवेध नहीं किया, उसमें कारण उसका असामर्थ्य ही था। इसलिये श्रीद्रोणाचार्यने भी वैसी सामर्थ्य न होनेसे युधिष्ठिरको इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण कर दिया था। जैसे कि—

नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन्।
(१३१ । ७७)।

अर्जुनने जो कि इसमें साहस किया था, उसका कारण उसकी सामर्थ्य थी—यह द्रोणाचार्यकी परीक्षामें १३५ अध्यायमें स्पष्ट है, इस कारण अर्जुनने ही लक्ष्यवेध किया था।

यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्रै
राधेयदुर्योधनशल्यशाल्वैः।
तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः
कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात्॥
(१ । १८७ । १९)

इस प्रकार जिस धनुषको कर्ण तथा दुर्योधनादि डोरीसे नहीं जोड़ सके, तब उनसे न्यूनशक्तिवाले युधिष्ठिरकी भला उस लक्ष्यभेदमें क्या शक्ति थी?

इधर यह भी जानना चाहिये कि यदि द्रौपदीकी पञ्चपतिकी कथा कल्पनामात्र या असत्य होती, तो असत्यका मूल स्थिर नहीं हुआ करता। उसके लिये 'महाभारत' या अन्य ग्रन्थमें कोई संकेत होता, अथवा कहीं असङ्गति पड़ती, पर कहीं भी असंगति नहीं दीखती। 'प्रत्युत द्रौपदीका पञ्चपतित्व अन्य प्रकरणोंमें कई बार आवृत्ति किया गया है। इस कारण यहाँ अवैयासिकता भी नहीं है। तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंमें उपक्रम, उपसंहार तथा अभ्यास आदि मुख्य हुआ करते हैं, अभ्यासका अर्थ है पुनः-पुनः आवृत्ति। तो द्रौपदीका पञ्चपतित्व महाभारतमें बहुत बार आवृत्त हुआ है। उसके विवाहके उपक्रममें उसका पञ्चपतित्व बतलाया ही जा चुका है, अब उपसंहारमें भी उसका संकेत देखना चाहिये। (क) महाप्रस्थानमें जब पाण्डव हिमालयकी ओर गये, तब मार्गमें सबसे पूर्व द्रौपदी गिरी। भीमसेनने उसका कारण पूछा '(महाप्रस्थानिकपर्व २ । ३–५)। तब युधिष्ठिरने बताया—

पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनंजये।
तस्यैतत्फलमद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम॥
(महा० २ । ६)

इसका पक्षपात अर्जुनमें अधिक था—इसलिये गिरी है। यहाँ द्रौपदीका पञ्चपतित्व स्पष्ट है। यदि अर्जुन ही एकमात्र उसका पति होता, पाँचों पाण्डव नहीं, तब उसका अर्जुनमें पक्षपात उचित ही था। पाँचोंकी पत्नी होनेपर तो उसका एकके साथ पक्षपात अनुचित होनेसे गिरना सोपपत्तिक है। तब द्रौपदीका पाँचोंकी पत्नी होना महाभारतके तात्पर्यका विषय सिद्ध हुआ।

इस प्रकार जहाँ उपक्रम-उपसंहारमें उसका पञ्चपतित्व स्पष्ट है, वैसे ही अन्य प्रकरणोंमें भी उसकी बहुत आवृत्ति हुई है। दिङ्मात्र प्रदर्शन किया जाता है। (ख) नारदजीने पाँचों पाण्डवोंको कहा था—

पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तथा नीतिर्विधीयताम्॥
(आदिपर्व २०७ । १८)

'यह यशस्विनी पाञ्चाली आप पाँचोंकी एक पत्नी है, जिस प्रकार आपलोगोंमें परस्पर भेद—फूट न हो जाय, वैसी नीति कर लें।' यदि यह पाँचोंकी पत्नी न होती, तो नारदजीका यह कथन व्यर्थ था। (ग)

तै (पाण्डवैः) लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह।
सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥
(सभापर्व ४८ । ४)

'उन पाँचोंने पत्नीरूपमें द्रौपदीको प्राप्त किया है' यह शकुनिने दुर्योधनको पाण्डवोंकी स्त्री द्रौपदीके लिये कहा है।

(घ) द्यूतक्रीड़ाके समय शकुनिने युधिष्ठिरको कहा—

अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजितः।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय ॥
(२ । ६५ । ३२)

यदि द्रौपदी एकमात्र अर्जुनकी पत्नी होती तो शकुनि युधिष्ठिरको द्रौपदीका दाँव लगानेके लिये न कह सकता। युधिष्ठिरके भी उसके पति होनेसे वह उससे स्वेच्छा व्यवहार कर सकता है, तब उसका पञ्चपतित्व स्पष्ट हो गया। महाभारतकी यह प्रसिद्ध घटना कभी आलङ्कारिक नहीं हो सकती।

(ङ) द्रौपदीने जुएमें हारकर दुर्योधनके दास्यसे अपने-आपको छुड़ानेके लिये भीष्म आदिसे पूछा कि 'जब युधिष्ठिर द्यूतमें पहले अपने-आपको हार गये थे, तब उनको मुझे दाँवपर लगानेका क्या अधिकार था ? इसमें आप व्यवस्था दीजिये।' तब श्रीभीष्मने उत्तर दिया कि—

न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं
शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं
स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥
(२ । ६७ । ४७)

'पति स्वयं पराजित होकर स्त्रीका स्वामी न होनेसे उसे दावमें नहीं लगा सकता, अथवा स्त्री सभी अवस्थाओंमें भर्ताके अधीन होती है और भर्ता स्वयं पराजित होकर भी स्त्रीमें स्वामित्व होनेसे उसे दाव लगा सकता है—यह मैं धर्मकी सूक्ष्मतावश व्यवस्थापित नहीं कर सकता।' इस भीष्म-वचनसे भी द्रौपदी युधिष्ठिरकी भी स्त्री सिद्ध होती है। तब एकमात्र अर्जुन ही उसका पति 'महाभारत' को इष्ट नहीं।

(च)—

तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा
भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत्।
सा पाण्डवान् कोपपरीतदेहान्
संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥
(२ । ६७ । ४२)

वैशम्पायनके इस वचनमें क्रोधमें भरे हुए द्रौपदीने अपने पतियोंकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखा······। 'सा भर्तॄन् पाण्डवान्' इस पदसे द्रौपदी पाँचोंकी पत्नी ग्रन्थकारको सम्मत सिद्ध होती है।

(छ)—

साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता।
जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन (युधिष्ठिरेण) कृतः पणः॥
(२ । ६८ । २३)

एतत् सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम्।
(२ । ६८ । २४)

विकर्णके इस वचनसे द्रौपदी सब पाण्डवोंकी समान पत्नी सिद्ध होती है।

(ज) कर्णने कहा था—

एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन।
इयं (द्रौपदी) त्वनेक (पञ्च) वशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥
(२ । ६८ । ३५)

अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः।
(२ । ६८ । ३६)

यदि द्रौपदी एकमात्र अर्जुनकी पत्नी होती, पाँचोंकी नहीं, तो कर्णको ऐसी निन्दा करनेका साहस न होता।

(झ) दुर्योधनने द्रौपदीको कहा था—

तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे
भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि
वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् ॥
(२ । ७० । ३)

न विब्रुवन्त्यार्यसखा यथावत्
पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान्।
(२ । ७० । ६)

यहाँपर तृतीय पद्यमें दुर्योधन द्रौपदीको सम्बोधित करके 'पति' शब्दका सम्बन्ध युधिष्ठिरके साथ करके युधिष्ठिरको उसका ज्येष्ठ पति बताता है और छठे पद्यमें 'ते पतीन्' इससे उसे पाँचोंकी पत्नी बता रहा है। इससे भी प्रकृतकी पुष्टि हो रही है।

(ञ) द्रौपदीने (२ । ७१ । २९-३० पद्यमें) अपनेमें युधिष्ठिरसे उत्पन्न हुए प्रतिविन्ध्य नामक पुत्रकी दासपुत्रता हटानेके लिये धृतराष्ट्रसे वर माँगा, फिर (७१ । ३२ पद्यमें) अवशिष्ट चार पाण्डवोंके दास्य हटानेके लिये दूसरा वर माँगा।

इससे स्पष्ट है कि वह केवल अर्जुनकी स्त्री नहीं थी, अपितु युधिष्ठिर आदि सबकी पत्नी थी।

(ट)—

महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः
कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय।
अकार्षीद् वै सुकृतं नेह किंचित्
क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः॥
(२।७७।१०)

यहाँ द्रौपदीको दुःशासनने पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी बताया है।

(ठ)—

कुन्ती वनवासके गमनके समय द्रौपदीको उपदेश देती है—

वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत्।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा॥
(२।७९।४)

न त्वां सन्देष्टुमर्हामि भर्तॄन् प्रति शुचिस्मिते।

यहाँके 'भर्तॄन्' इस बहुवचनसे द्रौपदी पाँचोंकी समान पत्नी सिद्ध होती है।

इस प्रकार 'महाभारतमें अन्यत्र भी पुनः-पुनः आवृत्ति-रूप अभ्याससे तथा उपक्रम-उपसंहार आदिसे स्पष्ट हो जाता है कि महाभारतकारको द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी वास्तविक ही पत्नी अभिप्रेत है, एकमात्र अर्जुनकी नहीं। जब पूर्वपक्षानुसार युधिष्ठिर आदि पाँचों प्रत्येकमें पञ्चभावसे थे, तब सबकी गृह-लक्ष्मी द्रौपदी भी उनकी वास्तविक पत्नी और वे भी सब उसके वास्तविक पति सिद्ध हुए, अन्यथा यदि पूर्वपक्षप्रोक्त व्युत्पत्तिके अनुसार अर्जुन ही पञ्चपाण्डवात्मक था, तो अर्जुनसे अतिरिक्त चार पाण्डवोंको भी आलङ्कारिक मानना पड़ेगा, पर पूर्वपक्षीको भी यह इष्ट नहीं। वैसे ही वह एक अर्जुनकी ही स्त्री थी; दूसरोंसे केवल 'पालनीय' थी; दूसरे उसके संरक्षक थे, वास्तविक पति नहीं, यह बात सिद्ध न हो सकी। इस कारण प्रत्येकसे द्रौपदीके पाँच पुत्र उत्पन्न होनेका वर्णन भी काल्पनिक सिद्ध नहीं हो सका (१।२२३।७८–८०–८६)।

इसके अतिरिक्त उस कालके लोग 'नैकस्यै बहवः सह-पतयः' इस सिद्धान्तके भी जाननेवाले थे। यह सिद्धान्त उस समय अपरिचित नहीं था। तभी द्रुपद आदिने स्वयं भी कहा था।

एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन।
नैकस्या बहवः पुंसः।

(यह भी अपाणिनीय प्रयोग है।)

श्रूयन्ते पतयः क्वचित्। (१।१९४।२७)
लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धर्मविच्छुचिः।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात् ते बुद्धिरीदृशी॥
(१।१९४।२८)

—तथापि धर्मभीरु पाण्डवोंका उसके अनुसरणमें एक कारण है, वह है—

आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।
(रघुवंश १४।४६)

इस अर्थको बतानेवाले 'मातृदेवो भव' इस प्रबल वैदिक आदर्शका पालन। दूसरा कारण यह है कि—पाँचों पाण्डव पूर्वजन्ममें एक थे, तो वहाँ प्रेरणा भी वैसी होनी थी।

जो यह कहा जाता है कि—'शेष सब रावणके दस सिरों-की तरह कुम्भकर्णकी छः मासकी नींदकी तरह रूपक वा काल्पनिक है' इसपर यह जानना चाहिये कि रावणके दस सिर भी वास्तविक थे, तथा कुम्भमर्णकी छः मासकी नींद भी वास्तविक थी, इसपर अन्य किसी निबन्धोंमें विचार होगा। तब द्रौपदीको साध्वी अथवा एक पतिका सिद्ध करनेके लिये बताया गया उपाय कल्पित ही सिद्ध हुआ है, उसमें किसी प्राचीन या अर्वाचीनकी सहमति नहीं। जो कि नियोगसे उत्पन्न होनेसे 'न कुलमस्य' इस व्युत्पत्तिसे अर्जुनको 'नकुल' माना जाता है, यह भी संगत नहीं जान पड़ता। क्या नकुल-का यह नाम इसी कारण था? नियोगसे उत्पन्न भी कुलरहित नहीं हुआ करते। क्या एकमात्र नकुल ही नियोगोत्पन्न थे। यदि सभी, तो सभीको नकुल—कुलरहित क्यों नहीं कहा गया? क्यों क्षत्रिय वा कुरु माना गया। वस्तुतः यहाँ नियोग ही साध्य है, क्योंकि धर्म, इन्द्र, वायु आदि मनुष्य नहीं थे।

अब हम महाभारतके अभिप्रायानुसार द्रौपदीको एक पतिका एवं साध्वी सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, जिसमें न तो कहीं प्रक्षिप्तता बतानी पड़ती है, न आलङ्कारिकता ही और न कहीं असङ्गति ही पड़ती है। विज्ञ पाठकगण अब इस प्रकारकी भी परीक्षा करें।

पूर्वपक्षकी भाँति द्रुपदका भी यही आक्षेप था कि—

'अधर्मोऽयं मम मतो विरुद्धो लोकवेदयोः।
न ह्येका विद्यते पत्नी बहूनां द्विजसत्तम॥
(१९८।७-८-९)

राजा द्रुपद योगविद्याके तत्त्वज्ञ ही नहीं थे, कुन्ती भी नहीं थी। वहाँपर योगिराज श्रीमान् व्यासजी उपस्थित हो

गये। उन्होंने कुन्तीसे कहा कि—तुमने जो सब पुत्रोंको अज्ञानसे कहा था कि—जो वस्तु तुम लाये हो, उसको 'समेत्य भुङ्क्त' विभक्त करके इकट्ठे उपभुक्त करो, तब एकके साथ द्रौपदीके विवाहमें तुम्हारा कथन अनृत—असत्य हो जायगा और अनृतमें दोष होगा। पर तुम डरो नहीं। तुम अनृतभाषणके दोषसे मुक्त हो जाओगी। क्योंकि—द्रौपदीके साथ पाँच पाण्डवोंका विवाह अनिवार्य है। (१।९५।१९-२०)

इस विषयमें विज्ञ पाठक यह याद रखें कि—

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।
कुर्याद् योगी बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्।
प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥

यह पद्य वेदान्तदर्शन (१।३।२७) शाङ्करभाष्यमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी मिलता है। मार्कण्डेयपुराणमें भी कहा है—

योगीश्वराः शरीराणि कुर्वन्ति बहुलान्यपि। (५।२५)

'योगदर्शन' में भी कहा है—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकचित्तम् एकमनेकेषाम्। (४।५)

इन प्रमाणोंमें योगीकी अनेक शरीरोंके बनानेमें तथा उनसे अनेक कार्य करनेमें शक्ति बतायी गयी है। इसके अनुसार कोई पुरुष ब्रह्मचर्याश्रममें पूर्व-प्रारब्धके योगसे योग-सिद्धिको प्राप्त करके अपने एक शरीरके अनेक शरीर बना ले और वह एक उत्तम कन्याके साथ विवाह कर ले, तो उस एकके अनेक शरीरोंके साथ एक कन्याके विवाह करनेपर वह विवाह एक पुरुषके साथ ही सम्पन्न हुआ माना जायगा। वे आपाततः देखनेसे तो अनेक पुरुष हैं, परंतु वास्तवमें वह एक ही पुरुष है। आशा है योगसिद्धि माननेवाले आस्तिकों-को इसमें कोई भी आक्षेपका अवसर न होगा।

आर्य-समाजके स्वामी श्रीदयानन्दजीके लिये उनके जीवनचरित्रमें एक घटना मिलती है। श्रीमद्दयानन्दप्रकाशके अन्तिम प्रकरणमें लिखा है—'उन्हीं श्रीगुरुदत्तने क्या देखा कि एक ओर तो परम धामको पधारनेके लिये प्रभु परमहंस पलंगपर बैठे प्रार्थना कर रहे हैं, और दूसरी ओर वे व्याख्यान देनेके वेशमें सुसज्जित उसी कमरेकी छतके साथ लगे बैठे हैं। इस आत्मयोगके प्रत्यक्ष प्रमाणको पाकर पण्डित महाशय गुरुदत्तका चित्तस्फटिक आस्तिक भावोंकी प्रभासे चमचमा उठा (पृ० ५३०)। जब आजकलके अशक्तिमय समयमें भी यह योगशक्ति मानी जाती है, तो प्राचीनकालके शक्तिमय समयमें योगप्रक्रियाकी उन्नति न हो, ऐसा नहीं माना जा सकता।

यदि एकके अनेक अंश उससे अभिन्न न माने जायँ, तो हमारे एक शरीरमें भी हाथ-पाँव आदि अनेकों अंग हैं, तब उन सबके साथ हो रहा हुआ एक कन्याका विवाह भी अनेकोंके साथ हुआ माना जाय। परंतु ऐसा नहीं है। इसके अनुसार श्रीवेदव्यासने 'महाभारत' के आदिपर्वमें १९ अध्याय-में पञ्च-इन्द्रोपाख्यान सुनाया है, जिसका अभिप्राय यह है कि एक ही इन्द्रदेवने पाँच पाण्डवोंका रूप धारण किया है। उसी इन्द्रकी दिव्यलक्ष्मी दूसरे जन्ममें राजा द्रुपदके घर द्रौपदीके रूपमें प्रकट हुई है। इन्द्रदेव भी पाँच रूपोंमें प्रकट हुए हैं। जब योगी मनुष्य भी पूर्वकथित प्रमाणसे तथा **'योगी खलु ऋद्धौ अणिमादिसिद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा (इन्द्रियाणां विशिष्टसामर्थ्यवान्) निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि'** (३।२।१९) इस 'न्यायदर्शन' के प्रमाणसे बहुत-से रूप और बहुतसे शरीर बना सकते हैं, तो स्वभावसिद्ध योगी देवताओंके लिये तो क्या कहना ?

यही बात ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीस्वामी शंकराचार्यचरणोंने भी कही है—**'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।'···'इत्येवंजातीयका स्मृतिरपि प्राप्ताणिमाद्यै-श्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति, किमु वक्तव्यम् आजन्मसिद्धानां देवानाम्। अनेकरूपप्रतिपत्ति-सम्भवाच्च एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य'···।** (१।३।२७)।

इस प्रकार इन्द्रदेवताके विषयमें उसके द्वारा बहुत शरीर धारण करनेके सम्बन्धमें भी जान लेना चाहिये। इसीलिये 'महाभाष्य' में भी इन्द्रदेवताके लिये कहा गया है—

एक इन्द्रो नैकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति (१।२।६४)

अर्थात् एक ही इन्द्र सैकड़ों यज्ञोंमें बुलाया जाता हुआ एक दम सर्वत्र होता है। इस प्रकार वेदमें भी इन्द्रके अनेक शरीर धारण करनेका वर्णन आता है। जैसे कि—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० ६।४७।१८)
'रूपं रूपं मघवा इन्द्रः, बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्' (ऋ० ३।५३।८)

इस प्रकार निरुक्तमें देवताके बहुत रूपधारण दिखलाये हैं—

'महाभाग्याद् देवतायाः' (७।४।८)

भाग्य अणिमा आदि ऐश्वर्योंका नाम है।

इस प्रकार एक ही इन्द्र पाँच पाण्डवोंके रूपमें था। इन्द्रका अंश अर्जुन है, यह तो सुप्रसिद्ध ही है। उसके इधर दो बड़े भाई हैं, इधर दो छोटे भाई। तो इन्द्र ही युद्धमें स्थिर होनेसे 'युधिष्ठिर' नामवाला हुआ। शत्रुओंके लिये भयानक होनेसे 'भीम' वा भयानक सेनावाला होनेसे 'भीम-सेन' हुआ। मनुष्यकुलवाला न होनेसे 'नकुल' हुआ।

इन्द्रज्येष्ठा अस्मान् अवन्तु देवाः (यजुः ३३ । ५०)

इस प्रकार देवोंके सहित होनेसे 'सहदेव' नामका हुआ। युधिष्ठिरका वह 'धर्म' रूपसे, भीमका 'वायुरूपसे', नकुल-सहदेवका 'अश्विनीकुमार' रूपसे उत्पादक हुआ। इसीलिये वेदमें कहा है—

इन्द्रः सर्वा देवताः (शतपथ० ३ । ४ । २ । २)
'इन्द्रो वै सर्वे देवाः' (शत० १३ । २ । ७)

यहाँपर इन्द्रको सर्वदेवमय कहा है। इस प्रकार स्वर्गकी लक्ष्मी द्रौपदीरूपमें संसारमें प्रकट हुई। इस भाँति एक द्रौपदीका विवाह एक ही इन्द्रकी पाँच व्यक्तियोंसे जो हुआ, वह वास्तवमें एक ही इन्द्रसे हुआ। तब द्रौपदीके पातिव्रत्यमें अथवा पाण्डवोंकी धर्मप्राणतामें अथवा उनके चरित्रमें कोई भी त्रुटि नहीं पड़ती, क्योंकि पति वस्तुतः एक है।

इसीलिये मार्कण्डेय पुराणमें भी—

कस्माच्च पाण्डुपुत्राणामेका सा द्रुपदात्मजा।
पञ्चानां महिषी कृष्णा सुमहानत्र संशयः॥
(४ । ३२)

पाँच पाण्डवोंकी एक ही रानी द्रौपदी कैसे हुई ? यह शङ्का करके वहाँ उत्तर दिलवाया गया है—

तेजोभागैस्ततो देवा अवतेरुर्दिवो महीम्।
प्रजानामुपकारार्थं भूभारहरणाय च॥
यदिन्द्रदेहजं तेजस्तन्मुमोच स्वयं वृषः।
कुन्त्यां जातो महातेजास्ततो राजा युधिष्ठिरः॥
बलं मुमोच पवनस्ततो भीमो व्यजायत।
शक्रवीर्यार्पितश्चैव जज्ञे पार्थो धनंजयः॥
उत्पन्नौ यमलौ माद्र्यां शक्ररूपौ महाद्युती।
पञ्चधा भगवान् इत्थमवतीर्णः शतक्रतुः॥
तस्योत्पन्ना महाभागा पत्नी कृष्णा हुताशनात्।
शक्रस्यैकस्य सा पत्नी कृष्णा नान्यस्य कस्यचित्।
योगीश्वराः शरीराणि कुर्वन्ति बहुलान्यपि॥
(५ । २५)

इसका यह भाव है कि योगीश्वर अपने शरीर बहुत बना लिया करते हैं। इन्द्रने भी अपने एक शरीरके कई अंश बना लिये, जिन्हें धर्म, वायु तथा स्वयं इन्द्रने कुन्तीमें तथा अश्विनीकुमारोंने माद्रीमें रखकर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेवको उत्पन्न किया।

बात स्पष्ट हो गयी, तब **'नैकस्यै बहवः सहपतयः।'**
(गोपथ० २ । ३ । २०)

यह विरोध सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि वास्तवमें पति एक ही था। व्यावहारिक बाहरी भिन्नतामें उन्होंने जनताके हितार्थ बाहरी नियमोंका भी यथावत् पालन किया। इस प्रकार उक्त विषयमें ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कहा है—

पञ्चेन्द्राश्च हरेरंशा भविष्यन्ति प्रियास्तव।
(१५१ । १)

स्वर्गलक्ष्मीर्महेन्द्राणां सा च पश्चाद् भविष्यति॥४॥
अर्जुनाय ददौ राजा कन्यायाश्च स्वयंवरे।
पप्रच्छ मातरं वीरो वस्तु प्राप्तं मयाधुना॥५॥
तमुवाच स्वयं माता गृहाण भ्रातृभिः सह।
शम्भोर्वरेण पूर्वं च परत्र मातुराज्ञया॥६॥
द्रौपद्याः स्वामिनस्तेन हेतुना पञ्च पाण्डवाः।
चतुर्दशानामिन्द्राणां पञ्चेन्द्राः पञ्च पाण्डवाः॥
(श्रीकृष्णखण्ड ११५ । ७)

यहाँपर बताया गया है कि इन्द्रके चौदह भेद होते हैं, उनमें पाँच इन्द्रके रूप पाँच पाण्डव बने, स्वर्गकी लक्ष्मी द्रौपदी बनी। पूर्वजन्ममें महादेवके वरके कारण इस जन्ममें माताकी आज्ञासे द्रौपदीके पाँच पाण्डव पति बने। वस्तुतः इन्द्रदेव एक ही थे, द्रौपदी उन्हीं इन्द्रदेवकी स्वर्गकी लक्ष्मी थी। जैसे एक सूर्य मासोंकी उपाधिके भेदसे बारहकी संख्याका माना जाता है, वैसे ही एक इन्द्र चौदह प्रकारका माना जाता है। जैसे एकके अनेक अंश भिन्न-भिन्न नहीं माने जाते, वैसे पाण्डव भी कथनमात्रमें पाँच थे, वस्तुतः एक ही इन्द्र था। इससे द्रौपदी तथा पाण्डवोंके चरित्रमें कोई त्रुटि नहीं आती।

फलतः द्रौपदीको एक पतिका तथा साध्वी सिद्ध करनेका यही वास्तविक प्रकार है। इस प्रकारमें न कहीं प्रक्षिप्तता माननी पड़ती है, न कहीं कोई असङ्गति पड़ती है, न यहाँ बलात् कोई कृत्रिमता करनी पड़ती है। पूर्वपक्षोक्त प्रकारमें तो बहुत स्थलोंमें असंगति जान पड़ती है, बहुत स्थलोंमें 'महाभारत' के इतिहासका रूप परिवर्तित करना पड़ जाता है। जहाँ सर्वथा निर्मूलता हो जाती है। कहीं उस पक्षमें प्रक्षिप्तता वा स्वेच्छामात्रसे आलङ्कारिकता माननी पड़ जाती है। प्रत्युत उस पक्षको स्वीकार करनेमें उसके सिद्ध करनेके लिये दिये गये महाभारतीय पद्य भी उस पक्षसे स्वयं विद्रोह करने लग जाते हैं, तब हमें निर्मूल पक्षके आश्रयणकी क्या आवश्यकता है ? द्रौपदीके बाहर देखनेमें पाँच पति थे। पर वस्तुतः वह पाँच रूप बने हुए एक ही इन्द्रकी पत्नी थी। इस विषयमें पाश्चात्त्य संस्कृति प्रभावित पौरस्त्यों तथा शुद्ध पौरस्त्योंके अभिप्रायमें तारतम्यका विश्लेषण अपनी सूक्ष्म बुद्धिद्वारा कर लिया होगा।
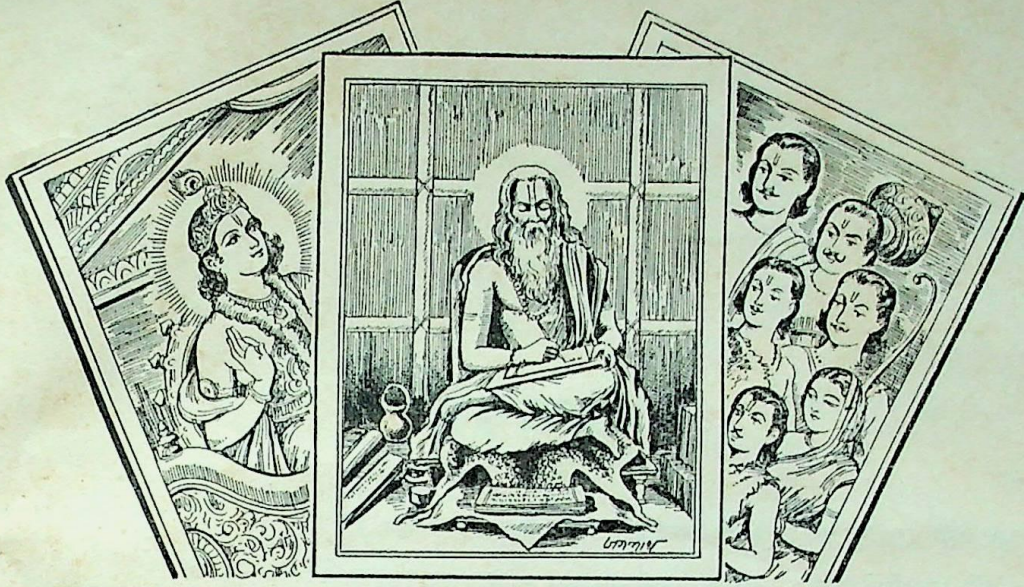
महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष ३ | गोरखपुर, भाद्रपद २०१५, सितम्बर १९५८ | संख्या ११ पूर्ण संख्या ३५

मधुसूदनसे प्रार्थना

यं वेदाः प्रवदन्ति देवनिवहा जाता यतो यद्रता
ब्रह्माद्याः सनकादियोगिभिरहोरात्रं य आस्वाद्यते ।
यं संश्रित्य शरण्यपादकमलं प्रेम्णाञ्जसा संसृते-
र्मुक्ता भ्रान्तिमपोह्य सोऽत्र मधुहा दद्यात्परां मे मतिम् ॥

सम्पूर्ण वेद जिनकी महिमाका प्रतिपादन करते हैं, ब्रह्मा आदि देवताओंके समुदाय जिनसे उत्पन्न हुए हैं और जिनमें वे सदा अनुरक्त रहते हैं, सनक-सनन्दन आदि योगी दिन-रात ध्यानके द्वारा जिनके सच्चिदानन्दघन रसस्वरूप विग्रहका आस्वादन करते रहते हैं तथा जिनके शरणागतवत्सल चरणारविन्दोंका प्रेमपूर्वक आश्रय ले भक्तजन अपनी भ्रान्तिको दूर भगाकर जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनसे अनायास ही मुक्त हो जाते हैं, वे भगवान् मधुसूदन यहाँ मुझे सर्वोत्तम बुद्धि प्रदान करें ।

विषय-सूची

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें २०)
विदेशमें २६॥)
(४० शिलिंग)

सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

एक प्रतिका
भारतमें २)
विदेशमें २॥)
(४ शिलिंग)

गुरु द्रोणाचार्य

महाभारत और पाश्चात्य विद्वान्

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशंकरजी मिश्र, एम्० ए०)

महाभारतके आलोचनात्मक अध्ययनकी ओर सर्व-प्रथम क्रिश्चियन लासेनका ध्यान गया। सन् १८३७ में उन्होंने उसपर विचार करना आरम्भ किया। उनकी 'इण्डियन ऐंटिक्विटीज़' नामक पुस्तकमें उनके विचार मिलते हैं। उनका कहना है कि "जिस महाभारतको सूतने कहा, वह वास्तवमें मूल पुराण 'भारत'का द्वितीय संस्करण है। 'आश्वलायन गृह्यसूत्र'में 'भारत'के साथ 'महाभारत'का भी उल्लेख मिलता है। आश्वलायन-का समय ३५० वर्ष ईसा पूर्व हो सकता है। इस तरह 'महाभारत'का निर्माणकाल ४६० वर्ष ईसा पूर्वसे अधिक पहले नहीं हो सकता। बादमें वैष्णव आख्यानोंका समावेश उसमें होता रहा। पञ्च पाण्डव वास्तवमें किसी राजनीतिक संघके प्रतिनिधिरूप भिन्न-भिन्न सदस्य थे।"

१८५२ से प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेबरका ध्यान 'महाभारत'की ओर गया। उनके विचार 'इण्डियन स्टूडियेन्' में मिलते हैं। उनका कहना है कि "ऋग्वेद-की 'नाराशंस्य' गाथाएँ और 'दानस्तुतियाँ' महाभारत-का मूल स्रोत हैं, यज्ञके अवसरोंपर इनका गान होता था। कुरुवंशकी कुछ ऐसी ही गाथाएँ रही होंगी। विस्तार होते-होते उन्हींका 'महाभारत' बन गया। प्रायः ब्राह्मण यह नहीं चाहते थे कि यज्ञके अवसरोंपर क्षत्रियों-का यश-कीर्तन हो। इसलिये वैदिक गाथाओंमें देवताओं-के ही नाम आये हैं, बादमें पुराण-रचयिताओंने उनके स्थानपर मनुष्यके नाम बैठा दिये। 'पाणिनिके समयतक महाभारत नहीं रचा गया था। क्योंकि पाणिनिके युधिष्ठिर, हस्तिनापुर, वासुदेव आदिका उल्लेख करनेपर भी उन्होंने 'महाभारत', 'पाण्डु' अथवा 'पाण्डव' शब्दोंका उल्लेखतक नहीं किया है। 'आश्वलायन' और 'शाङ्खायन' गृह्यसूत्रमें 'भारत' और 'महाभारत'का उल्लेख रहनेपर भी वह अंश प्रक्षिप्त ही समझा जायगा। 'वाजसनेयसंहिता'में इन्द्रको ही 'अर्जुन' कहा गया है। 'यजुर्वेद'की समीक्षा करनेसे ज्ञात होगा कि 'कुरु' और 'पाञ्चाल'में किसी प्रकारका विरोध नहीं था, दोनोंमें गाढ़ी मित्रता थी। 'शतपथ ब्राह्मण' देखनेसे ही जाना जाता है कि परीक्षित्के लड़के जनमेजयका चरित्र उस समय भी जनसाधारणके स्मृतिपटपर समुज्ज्वल था। उनके अभ्युदय और अधःपतनको उस समय भी जनसाधारण भूले नहीं थे। समस्त 'महाभारत' तीन अंशोंमें विभक्त है—पहले मूल अंशमें महाभारतका वर्णन, दूसरे अंशमें प्राचीन आख्यान और उपाख्यान-संग्रह तथा तीसरे आधुनिक अंशमें क्षत्रियोंके कर्तव्य, विशेषतः ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठताका प्रसङ्ग है। इसी अंशमें शक, यवन, पह्लवादिका उल्लेख देखा जाता है। महासमरका वर्णन ही महाभारतका मूल उद्देश्य है। किंतु इस सम्बन्धमें २० हजारसे अधिक श्लोक नहीं हैं। यह अंश रामायणके मूल अंशके समयकी रचना है। किंतु रामायणका रूपकांश इससे भी बहुत पीछेकी रचना है। वेद, ब्राह्मण और उपनिषदोंमें जिस इतिहासका उल्लेख है, उसी विपुल आख्यायिकाका सार-संग्रह ही महाभारतका दूसरा अंश है।" तीसरे अंशमें पह्लव आदि आधुनिक नामों-का उल्लेख देखकर वेबर साहबने नोल्डको साहबका मतानुसरण करते हुए लिखा है कि "'पार्थिव' शब्दसे पहली शतीमें 'पह्लव' शब्दकी उत्पत्ति हुई। दूसरीसे चौथी शतीके मध्य भारतवासियोंने यह शब्द काममें लिया होगा। कहनेका तात्पर्य यह कि जब मेगस्थिनीजने महाभारतके किसी प्रसङ्गका उल्लेख नहीं किया तथा पहली शतीमें डूयन क्रिससष्टसने उल्लेख किया, तब यह स्पष्ट है कि ईसाके जन्मसे पहले तीसरीसे पहली शताब्दीके मध्य मूल महाभारत रचा गया होगा तथा इसका तीसरा अंश उससे भी बहुत पीछे ब्राह्मण-धर्मके अभ्युदयके समय अर्थात् तीसरी और चौथी शतीके मध्य रचा गया, इसमें संदेह नहीं।"

सन् १८८४ से एक दूसरे जर्मन विद्वान् लुडविगने 'महाभारत'पर विचार आरम्भ किया। सन् १८९५ में प्रागमें 'यूबेरदाइ मिथिशगुंडलेज दे महाभारत' नामसे

उनकी एक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने भी वेबरकी तरह 'महाभारत'का मूल वेदोंमें ढूँढ़नेका प्रयत्न किया। परंतु उनका मत वेबरसे भिन्न है। उनका कहना है कि "पाण्डव कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं थे। इस तरह 'महाभारत'को ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। वास्तवमें उसमें देव-देवियोंकी कथाएँ हैं, जिनका बहुत कुछ सम्बन्ध ऋतु-परिवर्तनसे है। 'महाभारत' एक प्रकारसे ऋतु-परिवर्तनका आलंकारिक भाषामें रूपक है। पाण्डुसे अभिप्राय 'पीले सूर्य'का है। धृतराष्ट्रके अंधे होनेका अर्थ है—शक्तिहीन 'शरत्कालीन सूर्य'। गान्धारीका आँखमें पट्टी बाँधना सूर्यका बादलोंमें छिप जाना है। द्रौपदीका 'कृष्णा' नाम पृथ्वीका अनुमान कराता है। सभामें उसका एकवस्त्रा होना पृथ्वीका शीतकालमें शस्यहीन होना सिद्ध करता है।" श्रीकृष्णके काले होनेका कारण लुडविग महोदयको पहले समझमें न आया। उन्होंने बहुत दिमाग लड़ाया, तब उन्हें पता लगा कि 'सम्भवतः वसंतकालीन सूर्यको, जो यज्ञोंमें निरन्तर धुएँसे धुँधला दिखायी देता होगा, श्रीकृष्णका नाम दिया गया होगा।'

इन्हीं दिनों चचा-भतीजे जर्मन विद्वान् हो-ज्मान्ने 'महाभारत' का अध्ययन आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप सन् १८९२ में कीलसे चार जिल्दोंमें 'महाभारत एंडसेनटेल' शीर्षक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। हो-ज्मान्को यह समझमें नहीं आ रहा था कि युधिष्ठिर धर्मराज होते हुए भी छली तथा कपटी कैसे हुए। इस परस्पर विरोधकी गुत्थी सुलझानेके लिये उनके दिमागने एक विचित्र बात खोज निकाली। वे लिखते हैं कि "वास्तवमें कौरव ही धर्मभीरु एवं न्यायप्रिय थे। यद्यपि द्यूत उन्होंने छलसे जीता, तथापि युद्धमें सारा छल पाण्डवोंकी ही ओरसे हुआ। इसलिये महाभारतके जितने अंशोंमें कौरवोंकी प्रशंसा है, वे ही प्राचीन हैं और जिनमें पाण्डवोंकी प्रशंसा है, वे सब नवीन हैं। कौरवोंका नाम वेद-ब्राह्मणादिमें भी आता है। इससे भी उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। कौरव शैव और पाण्डव वैष्णव थे। इन दोनों सिद्धान्तोंमें बराबर विरोध रहा। शैव-सिद्धान्तका बौद्धधर्मपर अवश्य कुछ प्रभाव जान पड़ता है। इसलिये सम्भव है कौरवोंने बुद्धके कुछ उपदेशोंको अपनाया हो। प्राचीन कालमें सूतोंके संघ रहते थे। इसमें किसी योग्य कविने किसी बौद्ध राजा, सम्भवतः अशोककी प्रशंसामें एक काव्य रच डाला। परंतु जब ब्राह्मणोंद्वारा बौद्धधर्मका पराभव हुआ, तब उन्होंने बहुत हेर-फेर करके इस काव्यको अपने साँचेमें ढाल लिया और कौरवोंकी सारी प्रशंसा पाण्डवोंके, जो उसके रक्षक थे, नाम कर दी। धीरे-धीरे इस महाकाव्यसे बौद्धधर्मका नाम ही उठ गया और यह एक वैष्णवग्रन्थ बन गया। जिस रूपमें 'महाभारत' आज उपलब्ध है, वह ईसवी सन्की बारहवीं शताब्दीसे अधिक प्राचीन नहीं हो सकता।"

जर्मन विद्वान् फान श्राडरने भी 'महाभारत'की आलोचना की है। उनका कहना है कि "जिस समय ब्रह्मा सर्वप्रधान देवता समझे जाते थे, उस समय ईसा जन्मसे ५०० वा ४०० वर्ष पहले महाभारतके आदि कविने जन्म ग्रहण किया। वह गायक कुरुभूमिका रहनेवाला था। उन्होंने लोगोंके मुखसे कुरुवंशके पराभव और एक अज्ञातपूर्व जातिके हाथसे उनकी पराजय-कहानी सुनी थी। उसी वियोगान्त घटनाके आधारपर उसने स्वदेशीय वीरोंको क्षात्रधर्मके मूर्तिमान् आदर्श तथा यादववीर कृष्णके साथ पाण्डव, मत्स्य आदि विजातियोंको नीच-कुलोद्भव और अन्यायरूपसे जयकारी बतलाकर चित्रित किया था। वही प्राचीन 'भारत' गान 'आश्वलायन' गृह्यसूत्रमें गाया गया है। उसके बहुत समय बाद जब कृष्णने अवतार लिया, तब पाण्डुवंशियोंकी सहायतासे कृष्णभक्त पुरोहितोंने बुद्धके विरुद्ध कृष्ण या विष्णुको खड़ा किया। उन लोगोंकी चेष्टा सफल हुई। चौथी शताब्दीमें विष्णु ही प्रधान देव हुए। उनके अनुरक्त पुरोहितोंने 'भारतकाव्य'से लेकर उसे बिल्कुल बदल डाला। उनके प्रधान सहायक पाण्डु-वंशधर थे। अतएव आदि 'महाभारत'में जहाँ-जहाँ उनकी अपकीर्तिका वर्णन था, वहाँ-वहाँ उनकी कीर्ति तथा उनके विपक्ष कुरुओंकी निन्दा की गयी। पाण्डुवंश यथार्थमें दाक्षिणात्य-वंशोद्भव होनेपर भी इस समय कुरुवंशकी एक शाखारूपमें माने गये।"

प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर भी इन्हीं दिनों 'महाभारतके' पीछे पड़े थे। सन् १८५९ में उनका 'प्राचीन संस्कृत साहित्यका इतिहास' प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने लासनके मतका कुछ अंशोंमें समर्थन करते हुए लिखा कि ''महाभारत किसी एक कविकी कृति कभी नहीं हो सकता। रचयिता अवश्य मनुप्रोक्त धर्मके पक्के अनुयायी ब्राह्मण रहे होंगे। परंतु इसके लीपापोती करनेपर भी पाण्डवोंकी प्राचीन परम्परा जहाँ-तहाँ फूट ही निकलती है। बचपनमें पाण्डवोंकी ब्राह्मण-सम्प्रदायमें शिक्षा हुई। ब्राह्मणोंसे उनका बराबर संसर्ग रहा। पर तब भी पाँचों भाई एक ही स्त्रीसे विवाह कर बैठे। प्रत्यक्ष धर्मविरुद्ध इस घटनापर 'महाभारत'के ब्राह्मण सम्पादकोंने तरह-तरहके रंग चढ़ाये, पर यह दाग नहीं छिप सका। एक और बात है, प्रधानरूपसे केवल पहली ही स्त्री विवाहिता समझी जाती है और पतिके साथ सती होनेका उसे ही अधिकार होता है। परंतु पाण्डुने दो विवाह किये और उनके साथ सती हुई माद्री, न कि पहली स्त्री कुन्ती। यह भी धर्मविरुद्ध ही हुआ। प्राचीन शक, यवन, ट्यूटन आदि जातियोंमें यह प्रथा थी कि जिस स्त्रीके प्रति पतिका सबसे अधिक प्रेम होता था, उसीका पतिकी समाधि-पर वध कर दिया जाता था। यहाँ भी उसीकी झलक दिखायी पड़ रही है।''

डेन्मार्कके डाक्टर सोर्यनसेन वहाँके कोपेनहेगेन् विश्वविद्यालयके अध्यापक थे। सन् १८८३ में इन्हें भी 'महाभारत' के अध्ययनका शौक हुआ; बड़े परिश्रमके साथ कई वर्षोंमें उन्होंने 'महाभारत'में आनेवाले नामोंकी एक बृहद्वर्णानुक्रमणिका (इन्डेक्स) तैयार की, जो उस ग्रन्थके अध्ययनके लिये बड़ी उपयोगी है। डैनिश सरकारकी सहायतासे उनकी मृत्युके बाद इसका प्रकाशन सन् १९२५ में समाप्त हुआ। ''महाभारत और भारतीय संस्कृतिमें उसका स्थान'' शीर्षक निबन्ध लिखनेके कारण उन्हें 'आचार्य' पदवी मिली थी, उनका भी मत है कि ''महाभारतका मूल कोई प्राचीन पौराणिक गाथा ही रही होगी। उसकी एकतासे यह सिद्ध होता है कि उसका रचयिता भी कोई एक ही व्यक्ति रहा होगा।'' उसमें परस्पर विरोधी सिद्धान्त, पुनरुक्ति और बिना प्रसङ्गकी बातें नहीं आनी चाहिये; जो ऐसे अंश हैं, उन्हें प्रक्षिप्त समझना चाहिये—इस कसौटीपर कसते हुए विद्वान् लेखकको सात-आठ हजार श्लोकसे अधिक न मिल सके, जिनको उपलब्ध 'महाभारत' का मूल कहा जा सके।

बुहलर भी संस्कृतके अच्छे विद्वान् समझे जाते थे; वे भी जर्मन थे। बंबई प्रान्तके शिक्षा-विभागमें उन्होंने बहुत दिनोंतक काम किया था, कई संस्कृत ग्रन्थोंका उन्होंने जर्मनमें अनुवाद भी किया है। 'बंबई संस्कृत-ग्रन्थमाला' के निकालनेका श्रेय बहुत कुछ उन्हींको प्राप्त है, 'महाभारतके इतिहास' पर उन्होंने भी एक निबन्ध लिखा। संक्षेपमें उनका मत है कि ''महाभारत कोई इतिहास या पुराण नहीं है, वास्तवमें वह एक स्मृति या धर्मशास्त्र है।' उनके सुयोग्य शिष्य जोज़फ डालमान्ने उनके इस मतकी अपने ग्रन्थमें पूरी व्याख्या की है। १८९५ तथा १८९९ में बर्लिनसे उनके दो ग्रन्थ इस विषयपर प्रकाशित हुए। इसमें दूसरे ग्रन्थ 'जेनेसिस दे महाभारत' (महाभारतका मूल) में उन्होंने यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि ''कई पीढ़ियोंमें धीरे-धीरे इस महाकाव्यका विकास हुआ और समय-समयपर उसमें आख्यान जुड़ते गये, यह मत भ्रान्त है; वास्तवमें एक ही समयमें एक सम्पादकमण्डलद्वारा इसकी रचना हुई। सब विभिन्न आख्यान एक ही सूत्रमें पिरोये हुए हैं। इस तरह इसकी एकता प्रत्यक्ष है। वे लिखते हैं कि ''वास्तविक युद्ध केवल कवि-की कल्पना है; यदि कोई हुआ होता तो उसका ऐतिहासिक प्रमाण मिलता। इसमें तो धर्म और अधर्मका युद्ध दिखलाया गया है, जो बराबर चलता रहता है। इस तरह यह केवल एक रूपक है, जिसमें पाण्डव धर्म और कौरव अधर्मके केवल प्रतिनिधिरूप हैं। पहले दो प्रकारका साहित्य रहा होगा—एक तो प्राचीन राजवंशोंकी पौराणिक गाथाएँ और दूसरे उपदेशपरक कविताएँ। सर्वसाधारणमें धर्म-प्रचारकी दृष्टिसे किसी कविमण्डलने इन दोनों भावोंको एक नवीन काव्यके रूपमें मिला दिया, पौराणिक अंशमें

उन्होंने कौरवोंके पतन और पाञ्चालोंके उत्थानका प्राचीन आख्यान ले लिया और विभिन्न धार्मिक उपदेशोंको स्पष्ट करनेके लिये बीच-बीचमें तरह-तरहके आख्यान जोड़ दिये । धार्मिक उपदेशमें द्रौपदीके पाँच पति अवश्य बाधा डालते हैं; पर यह केवल ऋतुओंका, जैसा कि लुडविग-का मत है, या सम्पत्तिके बँटवारेका रूपक हो सकता है।'' उन्होंने 'महाभारत'की क्रम-पुष्टिकी आलोचना करके दिखलाया है कि ''महाभारतके 'उपाख्यान' अंशका पहले नीतिकथाके रूपमें प्रचार था; किंतु उसमें दूसरे-दूसरे विषयोंका समावेश हो जानेसे वह ऐसा हो गया कि उसमें उपाख्यान-अंशको बाद देकर नीतिकथाको चुन लेना एक प्रकार असम्भव है। पितृहीन पाण्डवोंने दुष्ट दुर्योधनके हाथसे कष्ट पाकर आखिर महासमरमें स्वार्थ-साधन किया। अधर्मद्वारा धर्म-उत्पीडन और पीछे धर्मकी जयघोषणा करना ही नीति-कथाका उद्देश्य है। बादमें इस दृष्टान्तको अलंकारसे सजानेके लिये इसमें बहुत-सी बातें जोड़ दी गयीं। नायक युधिष्ठिर दुर्दशाके मारे कहीं अधीर न हो जायँ, इसलिये किसी कविने नलोपाख्यानकी सृष्टि की। इसी प्रकार किसी कविने गान्धर्व-विधानमें विवाहकी वैधता प्रमाणित करनेके लिये शकुन्तलोपाख्यान एवं आसुर विवाहके उदाहरण-स्वरूप माद्री, लक्ष्मणा, सुभद्रा, अम्बा और अम्बालिकाके हरणका समावेश किया। कदाचित् इसी प्रकार नियोग-प्रचारद्वारा संतानोत्पादनके दृष्टान्तस्वरूप पराशरद्वारा सत्यवतीके, व्यासद्वारा अम्बालिकाके और देवगणद्वारा कुन्ती-माद्रीके पुत्रलाभका विवरण प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त वैष्णव और शैव-धर्मकी प्रधानताकी घोषणा करनेके लिये दार्शनिक तत्त्व और अनेक प्रकारके उपाख्यानोंकी सृष्टि हुई।''

बार्थने भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। उनके ग्रन्थ-संग्रहमें 'महाभारत'पर पाश्चात्त्य विद्वानोंके मतोंका अच्छा संकलन मिलता है। फ्रांसीसी विद्वान् सिल्वाँ लेवीने भी, जो प्राच्य विषयोंके अच्छे पण्डित माने जाते हैं, 'भण्डारकर-स्मारक' ग्रन्थके एक निबन्धमें अपना कुछ ऐसा ही मत प्रकट किया है। वे लिखते हैं कि ''कृष्णके अनुयायी क्षत्रिय राजाओंकी शिक्षा-दीक्षाके लिये इसकी रचना हुई थी। इस तरह यह एक नीति या धर्मशास्त्र-का ग्रन्थ है।''

विंटरनिज़का 'भारतीय साहित्यका इतिहास' जर्मन-भाषामें सन् १९०७ में प्रागसे प्रकाशित हुआ। इसका श्रीमती केतकरने, जो एक जर्मन महिला हैं, अंग्रेजीमें अनुवाद किया, जो कलकत्ता-विश्वविद्यालयकी ओरसे सन् १९२७ में प्रकाशित हुआ। यह बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें विंटरनिज़ लिखते हैं कि भारतयुद्धका ऐतिहासिक मूल सम्भवतः मानना ही पड़ेगा; पर एक साधारण घटना न लेकर आख्यानों तथा विभिन्न विषयोंका एक तूमार खड़ा कर दिया गया। भारतके प्राचीन साहित्यका निर्माण बहुत कुछ ब्राह्मणोंके हाथमें रहा। अथर्ववेदके प्राचीन जादू-टोनेके गीतोंमें उन्होंने अपने उपदेशोंको ऐसा घुसेड़ दिया कि अब उनको पहचानातक नहीं जा सकता। अपने उपदेशोंमें उपनिषदोंके ज्ञानको भी वे घसीट लाये, जो उनके ही बतलाये धर्मके विरुद्ध पड़ता है। वीर-गाथाओंका जैसे-जैसे सर्वसाधारणमें प्रचार बढ़ता गया, ब्राह्मण भी वैसे-ही-वैसे उनको अपने साँचेमें ढालनेके लिये उत्सुक होते गये। इन लौकिक गाथाओंमें अपने धार्मिक उपदेशोंका रंग लानेकी कलामें वे बड़े निपुण थे। इस तरह देव-देवियोंके आख्यानों, ब्राह्मण-सम्प्रदायके उपदेशों, दर्शनों और नीतियोंका 'महाभारत'में समावेश हो गया। समाजपर अपना प्रभुत्व दृढ़ करनेके लिये ब्राह्मणोंने प्राचीन लोकप्रिय गाथाओंका स्वागत किया। ये ब्राह्मण ही थे, जिन्होंने उनमें प्राचीन ऋषि-महर्षियोंके इतिहास भर दिये और यह दिखलाया कि अपने तप और यज्ञोंके बलसे वे केवल मनुष्यको ही नहीं, देवोंको भी प्रभावित कर सकते थे। वर और शापसे जिसको जो चाहे बना देनेकी उनमें सामर्थ्य थी। यह करतूत विद्वान् वैदिकोंकी नहीं थी; यदि ऐसा होता तो 'महाभारत'में भी यज्ञादि क्रियाकलापकी भरमार होती। वास्तवमें यह करतूत थी पुरोहितोंकी, जो राजदरबारमें सूत-मागधोंकी तरह भरे रहते थे। यहाँ उन्हें वीर-गाथाओंके सुननेका अच्छा अवसर मिलता था। मन्दिरोंके पुजारी भी प्रायः ऐसे ही पुरोहित

हुआ करते थे। शिव, विष्णु आदिके सम्बन्धमें जो कुछ उन्होंने सुना, उन सबको छन्दोबद्धकर 'महाभारत'में घुसेड़ दिया। जिन प्रदेशोंमें विष्णुकी उपासना बहुत चलती थी, वहीं ऐसी गाथाओंका प्रचार भी अधिक था; इसलिये उन्होंने 'महाभारत'में प्राधान्य विष्णुके अवतार कृष्णको ही दिया। जब शैव प्रदेशमें भी उसका कुछ प्रचार हुआ, तब उसमें शिवाख्यानोंको भी जोड़ दिया गया। ब्राह्मण पुरोहितोंके अतिरिक्त इन दिनों एक वर्ग और था, जिसका भी तत्कालीन साहित्यके निर्माणमें हाथ था और जनसाधारणपर उसका प्रभाव भी पूरा पड़ता था। उन्होंने अपना एक विशेष साहित्य बना रखा था, जिसमें संसारको मिथ्या बतलाते हुए त्याग और वैराग्यका उपदेश दिया गया था। इन्हें समझानेके लिये उन्होंने पशु-पक्षियों, देव-दानवों, भूत-प्रेतोंकी कितनी ही कहानियाँ गढ़ डाली थीं। यह 'संत-साहित्य' भी अधिकांशरूपसे 'महाभारत'में समा गया।''

वे फिर लिखते हैं कि ''हमलोगोंके लिये, जो एक श्रद्धालु हिंदूकी दृष्टिसे नहीं, बल्कि साहित्यके आलोचक इतिहासकारकी दृष्टिसे 'महाभारत'को देखते हैं, वह एक 'कलाकी कृति' कभी नहीं हो सकती। यह तो निश्चित है कि उसकी रचना किसी एकने नहीं की और संग्रहकर्ता भी चतुर नहीं था। 'महाभारत' सचमुच एक 'साहित्यिक दानव' है। यदि 'महाभारत'का रचयिता कोई एक ही व्यक्ति माना जायगा, जैसा कि कृष्ण-द्वैपायनको बतलाया जाता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह एक साथ ही महाकवि और टुच्चा लेखक, एक चतुर साधु और मूर्ख एवं एक सुयोग्य कलाकार तथा पक्का नक्काल रहा होगा। इसके अतिरिक्त यह विचित्र व्यक्ति अत्यन्त परस्परविरोधी धार्मिक भावों और दार्शनिक सिद्धान्तोंमें विश्वास या उनका ज्ञान रखता होगा। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस काव्यके जंगलमें, जिसको साफ करना विद्वानोंने अब आरम्भ किया है, घास-फूस तथा लता-पत्तोंमें छिपे हुए सच्ची कविताके भी कुछ पौधे हैं। साहित्यके इस बेतुके ढेरमें अमर कला और गम्भीर बुद्धिके कुछ रत्न भी चमक रहे हैं।''

अंग्रेजीके विद्वानोंमें सर मानियर विलियम्सका, जिनका संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोष प्रसिद्ध है, महाभारतकी ओर ध्यान गया। सन् १८९३ में प्रकाशित 'इण्डियन विज्डम्' (भारतीय ज्ञान) नामक पुस्तकमें उन्होंने अपने विचार प्रकट किये। वे लिखते हैं कि ''ब्राह्मण-सम्प्रदायका अड्डा अवध था, जो रामायणका निर्माणक्षेत्र है; परंतु उससे आगे कुरुपञ्चाल प्रदेशमें इस सम्प्रदायका अधिक प्रचार न था। इसलिये 'महाभारत'में बौद्ध नास्तिकवादकी गन्ध है। उसमें जिस समाजका वर्णन है, वह रामायणवर्णित समाजसे कम सभ्य है। रामायणकी अपेक्षा उसमें वर्णित धर्म-व्यवस्था अधिक लोकप्रिय, उदार तथा व्यापक जान पड़ती है। यह ठीक है कि उसके विष्णुका सम्बन्ध श्रीकृष्णसे है, जैसा कि 'रामायण'में श्रीरामचन्द्रसे। रामायणके नायक श्रीरामचन्द्र हैं; पर 'महाभारत'में श्रीकृष्णको वैसा स्थान प्राप्त नहीं है। उसमें तो उसीके पात्रोंको श्रीकृष्णके ईश्वरत्वमें प्रायः संदेह हो उठता है। पाण्डवोंमें कभी किसीको, तो कभी किसीको प्रधानता प्रदान की गयी है। किसी तरह शिव भी घुस आये, कभी वे कृष्णकी और कभी कृष्ण उनकी पूजा करते हैं। ये सब परस्परविरोधी बातें हैं। 'महाभारत'में वर्तमान हिंदू-धर्मका चित्र मिलता है, जिसमें अद्वैत तथा द्वैतवाद, अध्यात्म तथा भौतिकवाद, नियमोंकी कड़ाई तथा ढिलाई, पुरोहितवादका पक्षपात और उसका विरोध, वर्णभेदकी अनुदारता तथा असहिष्णुता और दर्शनोंके बुद्धिवादको घोट-पीटकर एकमें मिलानेका प्रयत्न किया गया है। यूनानी महाकवि होमरके 'इलियड' और 'ओडेसी' दोनों मिलाकर जितने बड़े काव्य हैं, 'महाभारत' उनसे अठगुना है; परंतु कलाकी दृष्टिसे 'महाभारत'की तुलना उससे वैसे ही नहीं हो सकती, जैसे कि दस सिर और बीस भुजा-वाले राक्षस रावणकी तुलना किसी सुन्दर सुडौल यूनानी पाषाण मूर्तिसे नहीं हो सकती। यदि यूनानी काव्यमें सादगी है, तो इस प्राच्य 'महाकाव्य'में भद्दी अतिशयोक्ति। हाँ, यह बात अवश्य है कि रणक्षेत्रमें भारतीय योद्धा यूनानियोंकी अपेक्षा उच्चकोटिकी उदारता, पूर्ण वीरता-का परिचय देते हैं और उनका गार्हस्थ्य-जीवन-चित्र भी अधिक आकर्षक है।'' इस प्रसङ्गमें वे एक जगह लिखते हैं कि 'जब 'रामायण', 'महाभारत' धर्मव्यवस्था

और प्राचीन परम्पराके पवित्र आगार नहीं माने जायँगे, तब भी हमें आशा है कि इसमें प्रदर्शित स्त्री-स्वातन्त्र्य-का स्मरण करके भारतका पुरुषसमाज आधुनिक स्त्रियों-को उनकी प्राचीन स्वतन्त्रता प्रदान करेगा, जिसे प्राप्त-कर वे ईसाई धर्मका शुभाशीर्वाद ग्रहण कर सकें और हमारे प्राच्य साम्राज्यके लिये वही करें जो उसने यूरोपके लिये किया, अर्थात् वहाँके लोगोंके आचरणको मृदु, शक्तिशाली तथा प्रतिष्ठित बनायें।'' सन् १८९९ में प्रकाशित 'संस्कृत-साहित्यके इतिहास'में मैकडोनेलने जर्मन विद्वान् डालमानके मतका ही समर्थन किया। वे लिखते हैं कि 'यह प्राचीन भागवतोंका धर्म ग्रन्थ है, जैसा कि इसके दूसरे नाम 'कार्ष्ण वेद'से प्रकट है।

सन् १९०१ में 'येल विश्वविद्यालय, अमेरिका'के संस्कृत अध्यापक वाशबर्न हापकिन्सकी पुस्तक 'दि ग्रेट एपिक' (महापुराण) प्रकाशित हुई। उसमें उन्होंने 'महाभारत'में वर्णित विषयोंका बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण किया है। अन्तमें उन्होंने भी यही निश्चित किया कि ''प्राचीन गाथाओंमें कितने ही उपाख्यान और धर्मोपदेश जोड़-जाड़कर 'भारत'का 'महाभारत' बना दिया गया। प्राचीन गाथाएँ कुरु और पाञ्चालवंशसम्बन्धी हैं; पाण्डव-गाथाएँ भी प्राचीन हैं, पर वे बादकी हैं। 'महाभारत'में दोनोंको मिलानेका प्रयत्न किया गया है। पाण्डुवंशके पुरोहितोंने पाण्डुवंशकी विजयघोषणाके समय उनका गौरव बढ़ानेके लिये ही कुरुवंशको वेदका प्रभावशाली कुरु बतलाया था, और इसी कारण इन्होंने वेदके धृतराष्ट्रको राजा कुरुकी जगह बैठाया है। यथार्थमें वेदोक्त धृतराष्ट्रके बहुत पीछे पाण्डुवंशका अभ्युदय हुआ। इसी प्रकार वे ब्राह्मणोक्त जनमेजयको वर्तमान भारतके नायकका पुत्र बतलानेसे बाज नहीं आये। वे जानते थे कि जो जितने पुराने हैं, उनका उतना ही आदर होता है और जिनका जितना आदर होता है, वे उतना ही उत्तरोत्तर गौरव-प्रकाशक हैं। इस महाकाव्यकी परीक्षा करनेसे ज्ञात होगा कि दो कारणोंसे इस महाकाव्यका आकार बड़ा हो गया। पहला कारण है महाकाव्यके बीच-बीचमें उपाख्यानादिका समावेश और दूसरा अस्वाभाविक रूप-में अभिनव घटनाओंका संयोजन।

मिस्टर ग्रियर्सनके नामसे हम सभी परिचित हैं। सन् १९०८ में 'जर्नल ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसायटी'में प्रकाशित एक लेखमें उन्होंने अपना मत प्रकट किया। उनका कहना है कि ''प्राचीन भारतमें ब्राह्मण-क्षत्रियोंका झगड़ा बराबर चलता रहा। मध्यप्रदेश-में ब्राह्मणोंका जोर था, पर कुरुप्रदेशोंमें अधिक स्वतन्त्रता थी। पञ्चालमें बहुपति-विवाह भी जायज समझा जाता था। पञ्चाल देशके राजा द्रुपदने द्रोणाचार्यका अपमान किया था, जिन्होंने कौरवोंके यहाँ शरण ली। उसी अपमानका बदला चुकानेके लिये कौरव-पाञ्चालोंमें युद्ध हुआ। इस तरह 'महाभारत' कौरव-पाण्डवोंका नहीं, कौरव-पाञ्चालोंका युद्ध था।' सर बेरिडेल कीथने भी भारतीय साहित्यका बहुत अध्ययन किया और उसका एक इतिहास भी लिखा है। उनका कहना है कि 'बहुपति-विवाह'की प्रथासे जान पड़ता है कि पाण्डव मंगोलियन थे, अन्य कई विद्वानोंने भी यही लिखा है। सन् १८९६ में प्रकाशित 'ट्राइब्स एण्ड कास्टस् आफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविन्स' (पश्चिमोत्तर प्रान्तकी जातियाँ) नामक ग्रन्थमें कूकने भी ऐसा ही लिखा है और जर्मन विद्वान् मायर्सने 'सेक्सुअल लाइफ इन् एन्शेण्ट इण्डिया' (प्राचीन भारतमें स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध) नामक पुस्तकमें इसी मतकी पुष्टि की है। सन् १९३५ में विद्वान् हेल्डकी भी एक पुस्तक 'दि महाभारत ऐन ऐन्थालाजिकस्टडी' हालैंडसे प्रकाशित हुई। इसमें जाति, कुल, वंश आदिकी प्राचीन परम्पराओंके आधारपर महाभारतका अध्ययन किया गया है, और यह दिखलाया गया है कि पञ्च पाण्डव दुर्योधनादि-के चचेरे भाई न थे, भारत-युद्ध वास्तवमें भिन्न-भिन्न जातियोंका बूतके कारण युद्ध था। रूसी भाषामें 'महाभारत' का अनुवाद सन् १९४२ से हो रहा था, अब वह पूरा हो गया है। कम्युनिस्ट रूसी विद्वानोंका 'महाभारत'के सम्बन्धमें क्या मत है, यह अभी पढ़नेको नहीं मिला; सम्भवतः उसे शोषक-शोषित युद्धका ही रूप उन्होंने दिया होगा।

जिस महाभारतके लिये कहा गया है कि इस इतिहास-रूपी दीपकने अँधेरेको हरकर सम्पूर्ण भुवनरूपी गुहामें उजेला कर दिया; जिसके लिये यह प्रतिज्ञा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धमें जो इसमें है, वह

अन्यत्र नहीं और जो इसमें नहीं, वह कहीं भी नहीं,' उसी 'महाभारत'के सम्बन्धमें पाश्चात्त्य विद्वानोंका ऐसा मत है। उसपर उनका पूरा साहित्य तैयार हो गया। उस बड़े ढेरमेंसे यहाँ कुछ ऐसे विद्वानोंके मत दिये गये हैं, जो संस्कृत-साहित्यमें अपने प्रखर पाण्डित्यके लिये प्रसिद्ध हैं। ऐसे साहित्यको पढ़कर किसीको 'महाभारत'में क्या श्रद्धा रह सकती है ? परंतु हमारे विद्यालयोंमें आजकल यही सब पढ़ाया जाता है। हमारे यहाँके नवीन विद्वानोंपर इसीकी छाप लगी हुई है। रायबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्यने 'महाभारतमीमांसा'में अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ताका परिचय दिया है। उसमें उन्होंने वेबर, हापकिन्स आदिके कुछ मतोंका अवश्य खण्डन किया है; पर 'महाभारत'की रचनाशैली, उसके निर्माता तथा निर्माण-कालके सम्बन्धमें उनका मत भी पाश्चात्य विद्वानोंके मतसे मिलता-जुलता है । द्रौपदीके पाँच पतियोंकी कथा वे भी हजम नहीं कर सकते। इस सम्बन्धमें वे लिखते हैं—"एक स्त्रीके अनेक पति करनेकी प्रथा पहले उन चन्द्रवंशी आर्योंमें थी, जो हिमालयसे नये-नये आये थे; द्रौपदीके उदाहरणसे यह बात माननी पड़ती है। आजकल भी हिमालयकी ओर पहाड़ी लोगोंमें जहाँ-तहाँ यह प्रथा जारी है। महाभारतकारके लिये द्रौपदीके पाँच पति होना एक पहेली ही था; और इसका निराकरण करनेके लिये सौतिने 'महाभारत'में दो-तीन कथाएँ मिला दीं।" प्रोफेसर ठडानाने बड़े परिश्रमके साथ पाँच जिल्दोंमें 'मिस्ट्री आफ दि महाभारत' (महाभारतका रहस्य) नामक पुस्तक लिखी है; पर इसमें भी जर्मन विद्वान् डालमानके मतकी छाया स्पष्ट झलक रही है ।

पाश्चात्योंका ध्यान बहुत कुछ प्राचीन ग्रन्थोंकी बहिरङ्ग-परीक्षाकी ओर रहता है। उन्हें किसने लिखा, कब लिखा और कैसे लिखा—इन सब बातोंकी छानबीन बड़े परिश्रम-से की जाती है। यह भी आवश्यक है; क्योंकि प्रत्येक ग्रन्थका देश-कालके साथ सम्बन्ध रहता ही है। पर उस ग्रन्थकी मुख्य शिक्षा क्या है, किस ध्येयसे वह लिखा गया—इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता। सन् १९१२में डाक्टर ओटो स्ट्रासकी एक पुस्तक फ्लोरेंससे प्रकाशित हुई थी, जिसका नाम है 'एथिक्स प्राबलम् आउस देम महाभारत' अर्थात् (महाभारतकी नैतिक समस्याएँ)। उसमें उन्होंने बहुत कुछ लिखा है और अन्ततः जिस निष्कर्षपर पहुँचे हैं, वह यह है कि 'महाभारतमें रोचक सामग्री तो बहुत है, पर दार्शनिक महत्त्वकी नाम-मात्र ही।'

पाश्चात्योंके विद्याव्यसन, अनुसंधान, उनकी अनोखी सूझ, लगन और धुनकी हम प्रशंसा करते हैं; परंतु जब वे हमारे शास्त्र, इतिहास, पुराणोंकी—जो सर्वथा लौकिक नहीं कहे जा सकते—छान-बीन करने बैठते हैं, तब वे उलटे ही परिणामपर पहुँचते हैं । अनुसंधानकी वेदीपर हमारे इन पवित्र ग्रन्थोंकी छीछालेदर हुई है। क्या कोई मनुष्यकी हड्डी-पसली पीसकर उसके प्राणोंका पता लगा सकता है ? क्या बिना वैसे संस्कारोंके, बिना अधिकार और योग्यताके शास्त्रोंके गूढ़ रहस्योंको समझ सकता है। फिर यह सारा अनुसंधान किसी गूढ़ उद्देश्यसे भी खाली नहीं है, केवल 'ज्ञानके लिये ज्ञानकी उच्च भावनासे यह प्रेरित नहीं है । भारतमें अंग्रेजी शिक्षाके प्रबल प्रचारक लार्ड मैकालेने लिखा है कि हिंदुओंको ईसाई बनानेके लिये हिंदू-धर्मके खण्डनकी आवश्यकता नहीं, पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए किसी भी हिंदूको मूर्तिपूजन आदिमें विश्वास नहीं रह जायगा। और तो और, स्वयं मैक्समूलर, जो अपने भारत-प्रेमके लिये प्रसिद्ध हैं, अपनी 'आत्मकथा' में लिखते हैं कि 'वेद-मन्त्र दकियानूसी और निरर्थक हैं। जिस वातावरणमें हम रह रहे हैं, उसमें मँडराते रहनेका उन्हें कोई अधिकार नहीं। अजायबघरोंमें उन्हें प्रतिष्ठित पद देनेके लिये हम तैयार हैं, परंतु हम कभी अपने जीवनको उनके द्वारा प्रभावित नहीं होने दे सकते।' दूसरी पुस्तक 'चिप्स फ्राम दि जर्मन वर्कशाप'में वे और खुलकर लिखते हैं कि "वेद हिंदू-धर्मकी चाभी हैं; और उनका अच्छा ज्ञान—उनके दृढ़ तथा दुर्बल स्थानोंका ज्ञान धर्मके विद्यार्थियोंके लिये—विशेषतः ऐसे मिशनरियोंके लिये अनिवार्य है, जिन्हें ईसाई बनानेकी उत्कट इच्छा है। ऐसी दशामें यही बात मनमें आयी कि भारतवर्षमें ईसाई-धर्मके प्रचारकोंके कामकी चीज वेदके एक संस्करणसे बढ़कर और कुछ न होगा।" ऐसे वाक्यों-

से इन विद्वानोंके मनके भावोंका पता लगता है। हमारे यहाँके शास्त्रोंका अनुवाद करना, उनपर लंबी-चौड़ी आलोचनाएँ लिखना—इन सबका प्रायः उद्देश्य होता है इनकी पोल खोलकर धार्मिक या राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करना। निष्पक्षताका ढोंग रचनेके लिये बीचमें कहीं-कहीं प्रशंसाके वाक्य भी डाल दिये जाते हैं। 'रामायण', 'महाभारत' आदि हमारे लिये किसी समय जीवित इतिहास थे। बचपनसे हमारे कानोंमें उनकी कहानियाँ पड़ती थीं, खेलोंमें हम उन्हींको खेलते थे, गीतोंमें हम उन्हींको सुनते थे, नाटकोंमें हम उन्हींको देखते थे; पर आजकल हमें बतलाया जा रहा है कि 'वे सब कवियों-की कोरी कल्पनाएँ हैं।' यदि इतिहासका प्रभाव हमारे जीवनपर नहीं पड़ता तो उससे लाभ ही क्या? गड़े मुर्दे खोदनेमें क्या रखा है? इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि हम अपने पवित्र ग्रन्थोंके सम्बन्धमें पाश्चात्त्य विद्वानोंके मतोंसे सदा सावधान रहें।

महाभारतमें मानसनिरोध तथा ब्रह्मचर्यकी महिमा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

वेदोंमें आता है कि ब्रह्मचर्य एवं तपके द्वारा देवताओंने मृत्युपर विजय पायी—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्यु मपाघ्नत।' (अथर्ववेद) छान्दोग्योपनिषद् (२ । २३ । १) में नैष्ठिक ब्रह्मचारीके अमर होनेकी बात कही गयी है—'ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयो····ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।' दक्षस्मृतिमें इस ब्रह्मचर्यके आठ भेद बतलाये गये हैं, जिसमें स्त्रियोंको स्मरण करना, उनकी बात करना, उनसे हँसी-मजाक करना, उन्हें ध्यानसे देखना, उनसे रहस्यकी बात करना, कामका संकल्प; निश्चय तथा उसका आचरण करना—ये सब सम्मिलित हैं।

ऊपरके इन आठ भेदोंपर ध्यान देनेसे पता लगता है कि मनसे स्त्रीका चिन्तन करना, उनमें भोगबुद्धि करना—यह आठोंमें सम्मिलित है। इसीलिये महाभारत-में स्त्री-चिन्तन या काम-संकल्पको ही प्रधान काम तथा सारी कामनाओंकी जड़ बतलाया गया है। 'मंकी-उपाख्यान'में अत्यन्त विरक्त होकर मंकी कहते हैं—

'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
संकल्पं न करिष्यामि ततो त्वं न भविष्यसि॥'

(शान्तिपर्व १७७ । २५)

इसलिये महाभारतके मोक्षधर्म तथा योगवासिष्ठ आदि वेदान्तग्रन्थोंमें मनकी पूर्ण विश्रान्ति, पूर्ण अन्तःशीतलताको ही वास्तविक ब्रह्मचर्य कहा गया है। 'योगदर्शन'में भी चित्तवृत्तिके रोकनेको ही परम योग कहा गया है (१ । १)। गीता (२ । ५८) तथा भागवतमें भी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन तथा उद्धवसे कहते हैं कि मनको चारों ओरसे समेट लेना, अपने वशमें कर लेना ही परम योग है—'एव वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।' (भागवत ११ । २० । २१) इसी ग्रन्थमें अन्यत्र कहा गया है कि सभी शास्त्रोंका तात्पर्य मनके निरोधमें ही है और मनके निरोधका भी तात्पर्य भगवान्‌में उसे स्थिर कर देनेमें है; यदि यह न हुआ तो सब परिश्रम व्यर्थ हुआ—'तदन्ता यदि नो योगा सर्व एव श्रमावहाः।' (७ । १५)।

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां
क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या॥

(४ । २२ । २१)

महाभारतरूपी महासागरके सर्वश्रेष्ठरत्न गीतामें प्रशान्तमनवाले योगीके सुखको सर्वोत्तम कहा गया है—'प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्' (६ । २७)। इस सुखको वहाँ अतीन्द्रिय, बुद्धिग्राह्य तथा आत्यन्तिक कहा है—'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।' (६ । २१)। महाभारत, शान्तिपर्वके व्यास-शुक-संवादमें बतलाया गया है कि मनको अमन कर देनेसे—कहीं भी जानेसे रोक देनेसे जो सुख तथा आनन्द मिलता है, उसे किसी भी दूसरे उपायसे नहीं प्राप्त किया जा सकता—

निष्प्रचारं मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः।
यामयं लभते तुष्टिं सा न शक्याऽऽत्मनोऽन्यथा॥

(२५१ । १७)

मनके माहात्म्यसे योगवासिष्ठ तो भरा पड़ा है। इस सम्बन्धमें उसके उत्पत्ति-प्रकरणके ४२ तथा ११० अध्याय बड़े ही महत्त्वके हैं। स्थिति-प्रकरणके पैंतीसवें अध्यायमें कहा गया है कि सर्वोपद्रवकारी इस संसाररूपी दुःखकी एकमात्र यही दवा है कि उसका चिन्तन बंद किया जाय——मनको रोका जाय——

संसारस्यास्य दुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः॥
(योगवा० स्थिति० ३५। २)

अन्तःशीतलचित्तको इस ग्रन्थमें जीवन्मुक्त कहा गया है——

अन्तःशीतलचित्तो हि मुक्त इत्यभिधीयते।
(योगवा० निर्वाण, उत्तरा० १२५। ३५)

ब्रह्मचर्य-रहस्य

संतोंने प्रायः मनको मतङ्गसे तथा कामको अग्निसे उपमा दी है——कामरूपी अग्निका चिन्तन करते ही यह मन जलने लगता है——

मन करि बिषय अनल बन जरई।
कामाग्निना स च रुषा च सुदुर्भरेण।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी ते।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।
(मनु० विष्णु० महा० आदि)
रात्रौ न कुरुते निद्रां कामाग्निपरिखेदितः।
(पद्मपुराण, भूमि० ६६। ११०)
विशालविषयाटवीवलयलग्नदावानल-
प्रसृत्वरशिखावलीविकलितं मदीयं मनः।
(करुणालहरी ५९, भामिनीविलास ४। १)

मनमें काम आदिकी उत्पत्ति मूर्खको भले ही सरस जान पड़े; किंतु अन्तर्मुख, शान्तिके साधकके लिये तो वह बड़ा ही अशान्तिकर, उद्वेजक, आन्दोलक तथा उपद्रव-सा प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट ही मन जलता हुआ जान पड़ता है। इस जलनसे एक प्रकारका आत्मीय ह्रास होता है, जो जीवकी मृत्युका कारण होता है। योगवासिष्ठके भुशुण्डोपाख्यानमें बतलाया गया है कि कामादिसे अनुपहत, प्रशान्तचापल्य, वीतशोक, शान्त एवं स्वस्थ मन होनेके कारण ही उन (काकभुशुण्ड) का महाप्रलयमें भी नाश नहीं होता——

प्रशान्तचापलं वीतशोकं स्वस्थं समाहितम्।
मनो मम मुने शान्तं तेन जीवाम्यनामयः॥
आशापाशविनुन्नायाश्चित्तवृत्तेः समाहितः।
संस्पर्शं न ददाम्यन्तस्तेन जीवाम्यनामयः॥
(योगवा० निर्वाण० पूर्वा० २६। १६, ३१)

इसीलिये ब्रह्मचर्यको जीवन तथा कामुकताको मरण कहा गया है। इसीलिये परदारचिन्तन तथा संयोगको मनु तथा महर्षि वाल्मीकिने सर्वोपरि पाप तथा सर्वाधिक अनायुष्यकर बतलाया है——

नहीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥
(मनु०)
परदाराभिमर्शात्तु नान्यत् पापतरं महत्।
(वाल्मी० ३। ३८। ३९)
नयन्ति निकृतिप्रज्ञं परदाराः पराभवम्।
(वाल्मी० ५। २१। ९)

वास्तविक स्थिति

नारदपरिव्राजकोपनिषद्, महोपनिषद्, महाभारत शान्तिपर्व, योगवासिष्ठके मुमुक्षु, व्यवहार तथा वैराग्य-प्रकरण एवं पद्मपुराण, भूमिखण्डके ६६ वें अध्यायोंमें विषयोंकी हेयता तथा निस्सारता दिखलायी गयी है। शिवपुराणकी वायवीय संहितामें कहा गया है कि जैसा सुख अपानवायुके छोड़नेमें होता है, विषय-संभोगमें उससे रंचमात्र भी अधिक सुख नहीं है——

यादृशं मन्यते सौख्यं गण्डे पूतिविनिर्गमात्।
तादृशं स्त्रीषु मन्तव्यं नाधिकं तासु विद्यते॥
(शिवपुराण, वायवीय० २३। २७)

महाभारतमें बार-बार आता है कि पृथ्वीके सारे अन्न, धन, सोना, पशु तथा उत्तम स्त्रियाँ एक पुरुषके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं (अर्थात् भोगोंसे मन तृप्त नहीं हो सकता)——यह सोचकर शान्त हो जाना चाहिये, मनको रोक लेना चाहिये——

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
सर्वं नैकस्य पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥
(महा० आदि० ८५। १३ आदि)

मानसनिरोधका उपाय

मानसनिरोधके उपायोंको बतलाते हुए महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्ममें बतलाया गया है कि जैसे मशकमें

कहीं एक जगह भी छेद हो जानेसे सारा पानी बह जाता है, उसी प्रकार साधककी कोई भी इन्द्रिय यदि विषयमें प्रवृत्त हुई तो उसका शास्त्रीय ज्ञान लुप्त हो जाता है। अतः जैसे मछुआ पहले उस मछलीको पकड़ता है, जो जालको ही काट डालती है, वैसे ही साधकको पहले मनको ही वशमें करना चाहिये। तत्पश्चात् सभी इन्द्रियोंको मनमें, मनको बुद्धिमें और बुद्धिको परमात्मामें लीन कर दे। इस प्रकारके अभ्याससे थोड़े समयमें ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है—

जन्तोः पञ्चेन्द्रियस्यास्य यदेकं छिद्रमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवते प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥
मनस्तु पूर्वमादद्यात् कुमीनमिव मत्स्यहा।
पञ्चेन्द्रियाणि संधाय मनसि स्थापयेद् यतिः।
यदैतान्यवतिष्ठन्ति मनःषष्ठान्यथात्मनि॥
प्रसीदन्ति च संस्थाय तदा ब्रह्म प्रकाशते॥

(महा० शा० २४०। १५-१६, १८-१९)

साधक मनको उद्विग्न कभी न होने दे। जिस उपाय (प्राणायाम, जप, सत्सङ्ग, विचार आदि) से भी चञ्चल मनको रोका जा सके, उसका अभ्यास करे। वह नियमित भोजन करे। क्योंकि मनुष्य सभी इन्द्रियोंको जीतकर भी तबतक जितेन्द्रिय नहीं होता, जबतक रसको जीत नहीं लेता—

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेत् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

(श्रीमद्भा० ११। ८। २१)

साधकको जन-समूहसे साँपकी तरह, मिष्टान्न-भोजनसे नरककी तरह तथा स्त्रीसे मुर्देकी तरह डरना चाहिये—

अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

(म० शा० २४५। १३)

तजेउ भोग जिमि रोग लोग अहिगन जनु।

(पार्वतीमङ्गल)

वह सबके प्रति समभाव रखे, सर्वत्र अनासक्त रहे। इस प्रकार स्वस्थ तथा शान्त चित्तवाले योगीको छः महीनेतक सदा ध्यान करनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है—

एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः।
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(महा० शा० २४०। ३२)

साधक रजोगुणकी वृत्तियोंको रोक रखे। स्त्रियोंकी बात न सुने। मनमें कामविकार उत्पन्न हो जानेपर कृच्छ्रव्रत करे। स्वप्नदोष हो जानेपर जलमें गोता लगाकर अघमर्षणका जप करे। हृदयमें एक मनोवहा नाड़ी है, जो संकल्पमात्रसे शुक्रको सारे शरीरसे खींचकर बाहर निकाल देती है। स्वप्नमें इसीलिये वास्तविक स्त्रीसंसर्ग न होनेपर भी केवल संकल्पके प्रभावसे ही मनोवहा नाड़ी वीर्यको बाहर निकाल देती है—

स्वप्नेऽप्येवं यथाभ्येति मनःसंकल्पजं रजः।
शुक्रं संकल्पजं देहात् सृजत्यस्य मनोवहा॥

(महा० शा० २१४। २२)

निष्कलङ्क ब्रह्मचर्य पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको स्वप्नके दोषोंको समझकर बहुत कम सोना चाहिये या निद्राका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि स्वप्नमें जीव प्रायः रज या तमसे ही घिरा रहता है। योगाभ्यास तथा विचार करनेसे जागनेमें सहायता मिलती है—

निष्कल्मषं ब्रह्मचर्यमिच्छता चरितुं सदा।
निद्रा सर्वात्मना त्याज्या स्वप्नदोषानवेक्षता॥
स्वप्ने हि रजसा देही तमसा चाभिभूयते।

(महा० शा० २१६। १-२)

उपसंहार

वस्तुतः ब्रह्मचर्य यथानाम ब्रह्मप्राप्तिका साधन है। गीता तथा कठोपनिषद्में यह बात बहुत स्पष्ट शब्दोंमें कही गयी है—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।' श्रीमद्भागवतके गजेन्द्रमोक्षके—

'चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने'

इस कथनका भी यही तात्पर्य है। इस श्लोकमें आये 'अव्रणव्रत' का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारोंने 'निश्छिद्र ब्रह्मचर्यव्रत' किया है। शास्त्रोंमें इसकी बड़ी महिमा है। इसीके प्रभावसे हनुमान्, भीष्म आदि इतने मेधावी एवं पराक्रमी होकर सफल व्यक्तित्व लाभ कर सके थे। इसपर 'विष्णुधर्मोत्तर'के ३। २५८ तथा २। ८६ आदि कई स्वतन्त्र अध्याय ही हैं। इसमें तो 'यथाभीष्टमवाप्नोति ब्रह्मचर्येण मानवः' (३। २५८। ४) से ब्रह्मचर्यको सर्वार्थसाधक बतलाया है। प्राचीन महर्षियों तथा राजर्षियोंकी दीर्घ आयु, तेज तथा सद्गुणशालिताका मूल कारण ब्रह्मचर्य था। इसलिये प्रत्येक द्विजातिको नियमित रूपसे गुरुकुलमें २५ वर्षोंतक इस

व्रतका पालन करना पड़ता था। कई लोग मोक्षकी इच्छासे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाते थे। फलतः राष्ट्रमें सभी प्रकारके सुयोग्य व्यक्ति तथा पदार्थ उपलब्ध होते थे।

पर आजकी तो संतति-नियमनकी योजना ब्रह्मचर्यका खुला उपहास है। इसमें सभी सम्भाव्य उपायोंसे ऐसा प्रयत्न किया जाता है जिसमें संतान न हो, पर इन्द्रिय-तर्पण हो जाय। विधवाविवाह, असवर्णविवाह, युवक-युवतियोंकी सहशिक्षा, समानाधिकारका नाटक, मिलने-जुलनेकी खुली छूट—यह सब भारतीय परम्पराके प्रतिकूल, अवाञ्छनीय वर्णसंकरवर्धक तथा ब्रह्मचर्य-विरोधी विनाशकारी कार्य हैं। इनका भीषण परिणाम भी सामने है। पाश्चात्त्य राष्ट्रोंके अनुगमनका परिणाम प्रलयको समीप बुला रहा है। जिस भौतिक सुखके लिये हमने अपना आदर्श छोड़ा, वह भी हमसे दूर हो गया। भोजन-वस्त्रके लिये भी लाले पड़ रहे हैं। हजारों स्त्री-पुरुष भूखसे काल-कवलित हो रहे हैं, पर दूसरे लोग निश्चिन्त हैं। बहुत-से लोग तो आज इसीको उन्नति मानकर गर्व कर रहे हैं। आज परदाराभिमर्श, भीषण व्यभिचारको भी लोग पाप नहीं मानते। इसे व्यक्तिस्वातन्त्र्य समझा जाता है। यह सब देख-सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है। पर इसका उपाय क्या है? एकमात्र भगवान्‌के चरण ही अब शरण हैं। वे सत्य-संकल्प, सत्यवचा हैं। उनकी धर्मरक्षाकी प्रतिज्ञा कभी असत्य नहीं होगी, इतना ही विश्वास है। यद्यपि आजके युगमें ब्रह्मचर्य तथा धार्मिकता विशुद्ध मूर्खताकी निशानी समझे जाते हैं तथापि हमारी ईश्वर तथा धर्मपर विश्वास रखनेवाली जनतासे प्रार्थना है कि वह सर्वात्मा प्रभुके शरण होकर धर्म, ब्रह्मचर्य आदिका अनुष्ठान करे। वह समय अब दूर नहीं जब कि एक बार भगवान् इन पापियोंको उचित शिक्षा देकर पुनः धर्मकी संस्थापना करेंगे।

महाभारतपर कुछ विचार*

(लेखक—स्वनामधन्य पं० श्रीकरुणाशङ्करजी शास्त्री)

महाभारतकी महत्ता

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

(महाभारत १। ६२। ५३)

'हे भरतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धमें जिन-जिन विषयोंका समावेश महाभारतमें हुआ है, वे ही विषय अन्य ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं; और जो विषय इसमें नहीं हैं, वे अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं।'

भारतवर्षमें महाभारत सारस्वत नन्दनवनका धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी विविध फलोंको प्रदान करनेवाला कल्पवृक्ष है, ज्ञानसिन्धुको उल्लसित करनेवाला चन्द्र है, विविध कथारूपी रत्नोंका रत्नाकर है, रस-समूहका रसायन है, धर्मोत्पत्तिका अक्षय क्षेत्र है, आनन्दका उदधि है, महापुरुषोंका अक्षय शरीर है, अज्ञानान्धकारमें निमग्न पुरुषोंको प्रकाश देनेवाला सूर्य है तथा भवाटवीमें भटकनेवालोंके हेतु विश्वसनीय मार्गदर्शक है। इतना ही नहीं, इस ग्रन्थको हम चाहे जितने शुभ विशेषण प्रदान करें, यह उन सबका पात्र है। भारतवर्षकी आर्य-प्रजाको वर्तमान स्थितिमें भी अभिमान करने योग्य, प्राचीन महर्षियोंकी ओरसे शास्त्र-सम्पत्तिका जो अमूल्य उत्तराधिकार प्राप्त है, उसमें महाभारत एक विविध प्रभापुञ्जका प्रसारक हृदयाह्लादक महामणि है। आर्य-जातिके आचार, विचार, व्यवहार और धर्मका रहस्य, अर्थशास्त्र, नियामक कामशास्त्र, वर्णाश्रमके सामान्य धर्म और विशेष धर्म, स्त्री-धर्म, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा आदिके पारस्परिक धर्म, राजनीति, सामान्य नीति, कपट-नीति, युद्ध-कला, युद्ध-समयमें नगर आदिकी व्यवस्था, विविध कौशल, सृष्टि-सौन्दर्य, अध्यात्मज्ञान तथा सर्वनियामक परमेश्वरका निरूपण—इत्यादि सब विषयोंको एक ही ग्रन्थमें देखना हो तो महाभारतको देख लीजिये। इसी हेतुसे एक जनोक्ति प्रसरित है—'यन्न भारते तन्न भारते।' अर्थात् जो महाभारतमें नहीं है, वह भरतखण्डमें भी नहीं है। महाभारत यद्यपि वीररसप्रधान काव्य है, तथापि इसमें अन्य-रसोंकी भी इतनी अधिक रेलपेल है कि इसके किसी भी भागको पढ़ते समय रसिक हृदय उसे छोड़ना नहीं चाहता। सचमुच यह विविध ज्ञानकी समृद्धिसे समृद्ध है, और इसी कारण इसने अपने विभिन्न स्वरूपोंसे विद्वानोंको तथा निरक्षरोंको, नागरिकोंको तथा ग्रामीणोंको, बालकोंको तथा वृद्धोंको और स्त्रियोंको तथा पुरुषोंको अपनी ओर आकर्षित किया है। कदाचित् ही कोई ऐसा स्थान होगा, जहाँ इसके नामको अथवा

* गुजराती महाभारतकी भूमिकामें प्रकाशित लेखका कुछ अंश—सम्पादक।

इसके एकाध प्रसङ्गको जाननेवाला कोई न हो। अपने भारतवर्षके लोग इसके प्रति प्रीति और ममता रखें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है; सारे इतिहासवेत्ता पाश्चात्त्य पण्डितोंको भी इस ग्रन्थने ऐसी भूल-भुलैयामें डाला है, जिसके कारण वे लोग इस ग्रन्थके पीछे बहुत मन्थन कर गये हैं, कर रहे हैं और करते रहेंगे। एक यूरोपियन पण्डित-को किसीने महाभारतकी योग्यताके विषयमें पूछा तो उसने उत्तर दिया—'यह ग्रन्थ इतना उत्कृष्ट है कि मुझे इस भारत (महाभारत) के बदलेमें भारत (भारत देश) मिले, तो भी मैं भारत (ग्रन्थ) को न छोड़ूँ।

महाभारत रहस्य-ज्ञानका भंडार है

महाभारतमें सनत्सुजात, बन्धूपाख्यान, अनुगीता, मोक्ष-धर्म, विष्णुसहस्रनाम आदि पवित्र करनेवाले अनेक रहस्य-ज्ञानके भंडार भरे हैं। इससे भी यह ग्रन्थ महापूज्य है। अजी, दूसरी बातोंको जाने दें और केवल इसके अन्तर्गत भगवद्गीता नामक रहस्यपूर्ण पर्वविभागपर दृष्टिपात करें, तो भी इस ग्रन्थका गौरव सहज ही ध्यानमें आ जायगा। जिसके ऊपर विभिन्न भाषाओंमें अनेकानेक रहस्यभरी टीकाएँ लिखी गयी हैं, लिखी जा रही हैं और लिखी जायँगी, तथापि जिसके रहस्यका पार नहीं है, और न पार लगनेवाला है, जिसके ऊपर अनेकों व्याख्याता वर्षों-वर्षों व्याख्यान दिया करते हैं, तिसपर भी जिसके भीतरसे कोई-न-कोई नया रहस्य निकला ही करता है, जो प्रस्थान-त्रयमेंसे एक प्रस्थान है, शंकराचार्य आदि अनेकों आचार्योंने जिसके ऊपर भाष्य रचे हैं, प्रमाण देनेमें आचार्य लोग जिसका स्मृति नामसे प्रयोग करते हैं, जिसके वाक्य महा-प्रमाणरूप माने जाते हैं, जो ग्रन्थ लाखों मनुष्योंके मनके ऊपर गौरवपूर्ण छाप डाल रहा है, जो कर्म, उपासना और ज्ञानके सच्चे रहस्यको समझाता है और जिसने असंख्य जिज्ञासुओंको अपनी मोहिनी रागिनीमें फँसा रखा है, वह भगवद्गीतारूपी अनुपम ग्रन्थ भी महाभारतरूपी रत्नहारमें मध्यमणिके स्थानपर शोभा देता हुआ महाभारतके गौरवकी सूचना देता है।

मुख्य पर्व और अवान्तर पर्व

महर्षि कृष्ण द्वैपायनने कलिके आरम्भमें देश, काल, धर्म तथा आयुष्य आदिकी गम्भीर स्थितिको देखकर, परम कृपा-पूर्वक सबके कल्याणके लिये इस ग्रन्थका निर्माण किया। इस ग्रन्थको राजा जनमेजयके सर्पयज्ञमें राजाके पूछनेपर महर्षि व्यासकी आज्ञासे वैशम्पायन मुनिने सौ पर्वोंके विभागसे सुनाया था। उसके बाद सूतपुत्र उग्रश्रवाने सौ पर्वोंका अन्तर्गत करके निम्नाङ्कित अठारह पर्वोंके रूपमें नैमिषारण्यवासी शौनक आदि ऋषियोंको इसे सुनाया था—

१– आदिपर्व, २–सभापर्व, ३–वनपर्व, ४–विराटपर्व, ५–उद्योगपर्व, ६–भीष्मपर्व, ७–द्रोणपर्व, ८–कर्णपर्व, ९–शल्यपर्व, १०–सौप्तिकपर्व, ११–स्त्रीपर्व, १२–शान्तिपर्व, १३–अनुशासनपर्व, १४–आश्वमेधिकपर्व, १५–आश्रम-वासिकपर्व, १६–मौसलपर्व, १७–महाप्रास्थानिकपर्व और १८–स्वर्गारोहणपर्व।

महाभारतके अवान्तर पर्वोंकी संख्या १०० कही गयी है। वे उपलब्ध छपी प्रतियोंमें इस प्रकार हैं—

१–आदिपर्व (१९)

१–अनुक्रमणिकापर्व	११–चैत्ररथपर्व
२–पर्वसंग्रहपर्व	१२–स्वयंवरपर्व
३–पौष्यपर्व	१३–वैवाहिकपर्व
४–पौलोमपर्व	१४–विदुरागमनराज्यलम्भपर्व
५–आस्तीकपर्व	१५–अर्जुनवनवासपर्व
६–अंशावतरणपर्व	१६–सुभद्रा-हरणपर्व
७–सम्भवपर्व	१७–हरणाहरणपर्व
८–जतुगृहपर्व	१८–खाण्डवदाहपर्व
९–हिडिम्ब-वधपर्व	१९–मयदर्शनपर्व
१०–बक-वधपर्व	

२–सभापर्व (१०)

२०–सभा-क्रियापर्व	२५–राजसूयपर्व
२१–लोकपालसभाख्यानपर्व	२६–अर्घाभिहरणपर्व
२२–राजसूयारम्भपर्व	२७–शिशुपाल-वधपर्व
२३–जरासंध-वधपर्व	२८–द्यूतपर्व
२४–दिग्विजयपर्व	२९–अनुद्यूतपर्व

३–वनपर्व (२२)

३०–अरण्यपर्व	४१–मार्कण्डेय-समास्यापर्व
३१–किर्मीरवधपर्व	४२–द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद-पर्व
३२–अर्जुनाभिगमनपर्व	४३–घोषयात्रापर्व
३३–कैरातपर्व	४४–मृगस्वप्नोद्भवपर्व
३४–इन्द्रलोकाभिगमनपर्व	४५–व्रीहिद्रौणिकपर्व
३५–नलोपाख्यानपर्व	४६–द्रौपदी-हरणपर्व
३६–तीर्थयात्रापर्व	४७–जयद्रथविमोक्षणपर्व
३७–जटासुरवधपर्व	४८–रामोपाख्यानपर्व
३८–यक्षयुद्धपर्व	४९–पतिव्रता-माहात्म्यपर्व
३९–निवातकवचयुद्धपर्व	५०–कुण्डलाहरणपर्व
४०–आजगरपर्व	५१–आरणेयपर्व

४–विराटपर्व (५)

५२–पाण्डव-प्रवेशपर्व	५५–गोहरणपर्व
५३–समय-पालनपर्व	
५४–कीचक-वधपर्व	५६–वैवाहिकपर्व

५–उद्योगपर्व (१०)

५७–सैनोद्योगपर्व	५९–प्रजागरपर्व
५८–संजययानपर्व	६०–सनत्सुजातपर्व

६१–यानसंधिपर्व
६२–भगवद्यानपर्व
६३–सैन्यनिर्याणपर्व
६४–उलूकदूतागमनपर्व
६५–रथातिरथसंख्यानपर्व
६६–अम्बोपाख्यानपर्व

६–भीष्मपर्व (४)

६७–जम्बूखण्डविनिर्माणपर्व
६८–भूमिपर्व
६९–श्रीभगवद्गीतापर्व
७०–भीष्म-वधपर्व

७–द्रोणपर्व (८)

७१–द्रोणाभिषेकपर्व
७२–संशप्तक-वधपर्व
७३–अभिमन्युवधपर्व
७४–प्रतिज्ञापर्व
७५–जयद्रथ-वधपर्व
७६–घटोत्कच-वधपर्व
७७–द्रोण-वधपर्व
७८–नारायणास्त्रमोक्षपर्व

८–कर्णपर्व (१)

७९–कर्णपर्व

९–शल्यपर्व (३)

८०–शल्यवधपर्व
८१–ह्रदप्रवेशपर्व
८२–गदापर्व

१०–सौप्तिकपर्व (२)

८३–सौप्तिकपर्व
८४–ऐषीकपर्व

११–स्त्रीपर्व (३)

८५–जलप्रदानिकपर्व
८६–स्त्रीविलापपर्व
८७–श्राद्धपर्व

१२–शान्तिपर्व (३)

८८–राजधर्मानुशासनपर्व
८९–आपद्धर्मपर्व
९०–मोक्षधर्मपर्व

१३–अनुशासनपर्व (२)

९१–दानधर्मपर्व
९२–भीष्मस्वर्गारोहणपर्व

१४–आश्वमेधिकपर्व (२)

९३–आश्वमेधपर्व
९४–अनुगीतापर्व

१५–आश्रमवासिकपर्व (३)

९५–आश्रमवासपर्व
९६–पुत्रदर्शनपर्व
९७–नारदागमनपर्व

१६–मौसलपर्व (१)

९८–मौसलपर्व

१७–महाप्रास्थानिकपर्व (१)

९९–महाप्रस्थानपर्व

१८–स्वर्गारोहणपर्व (१)

१००–स्वर्गारोहणपर्व

इस प्रकार महाभारतमें कुल १०० पर्व होनेके अतिरिक्त [दाक्षिणात्य प्रतिमें आश्वमेधिक पर्वमें वैष्णवधर्मपर्व और है, यों १०१ हो जाते हैं। इसके सिवा] हरिवंशमें निम्न-लिखित ३ पर्व और हैं—

१९–हरिवंशपर्व

१–हरिवंशपर्व
२–विष्णुपर्व
३–भविष्यपर्व

इस तरह यदि हरिवंशपर्वको भी महाभारतके भीतर गिनें तो व्यासोक्त संख्याकी अपेक्षा तीन पर्व बढ़ जाते हैं।

बुद्धिवादियोंका मन्तव्य

कुछ बुद्धिवादी अपनी बुद्धिमें (तर्कमें) न उतरनेवाली प्राचीन इतिहास तथा पुराणोंकी दैवी सामर्थ्यसे पूर्ण कथाओं-की निन्दा करते हैं तथा कुछ लोग उन कथाओंको मानुषी भावमें लानेके लिये उनके रूपक गढ़ने लगे हैं। और कुछ लोग मानते हैं कि चमत्कारप्रिय लोगोंने इन कथाओंको पीछेसे महाभारतमें घुसेड़ दिया है। इन बुद्धिवादियोंके इस प्रकारके मन्तव्योंके कारणोंका तथा उनके सत्यासत्यका थोड़ा विचार करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

प्रमाण

किसी भी वस्तुकी यथार्थताके ज्ञानके लिये प्रमाणोंकी आवश्यकता होती है। प्रमाण चार प्रकारके होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। कुछ लोग 'अर्थापत्ति' और 'अनुपपत्ति' नामक दो और प्रमाणोंको मिलाकर छः प्रमाण मानते हैं। इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण मुख्य हैं, इसलिये यहाँ इन्हींके सम्बन्धमें विचार किया जायगा।

प्रत्यक्ष प्रमाण

नास्तिक चार्वाकमतानुयायी केवल प्रत्यक्ष (इन्द्रिय-जन्य ज्ञान) को ही प्रमाण मानते हैं। वे दूसरे प्रमाणों—अनुमान और शब्दको नहीं मानते। अतएव उन्होंने प्रत्यक्षका अनुसरण करके कुछ सूत्रोंका प्रणयन किया है, जो सूत्र उनके उदयकालमें तदनुयायियोंमें महासूत्र माने जाते थे। उनमें कुछ सूत्र उनका मन्तव्य दिखलाने तथा यह बतलानेके लिये कि पहले भी शास्त्र तथा धर्मके घाती थे, यहाँ दिये जाते हैं—**'न धर्मांश्चरेत्।' 'एष्यत्फलत्वात्।' 'सांशयिकत्वाच्च।' 'वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्।'** (कामसूत्र १। २। २५–२९) **'को ह्यबालिशो हस्तगतं परगतं कुर्यात्।'** शास्त्रोक्त धर्मोंका आचरण न करे; क्योंकि उन धर्मोंका आचरण करके पीछे फलकी इच्छा रखनी पड़ती है, अर्थात् तत्काल फल नहीं

मिलता है; तथा वह फल संशयग्रस्त भी है, क्योंकि यदि मोर कल मिलनेवाला हो तो आज हाथमें आया हुआ कबूतर ही श्रेष्ठ है । कौन बुद्धिमान् मनुष्य हाथमें आया हुआ धन दूसरेके हाथमें जाने देता है ?' इत्यादि वाद करके वे स्वयं भ्रममें पड़ते थे, और दूसरोंको भी भ्रममें डालते थे । इतना ही नहीं, बल्कि वे सर्वव्यापक चैतन्यको भी, जो जीवभावसे देहको प्रवर्तित करता है, नहीं मानते थे; परंतु जैसे कत्था, चूना और पानके मिलनेसे लाल रंग होता है, जैसे अन्नादिमें मादकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चारोंके योग्य संयोगसे देह, इन्द्रिय आदिकी प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार मानते थे ।

अनुमान-प्रमाण

उनका यह प्रत्यक्षवाद बहुतोंको अनुकूल न जान पड़ा; क्योंकि उन्होंने विचारा कि यदि देहातिरिक्त चैतन्य न हो तो पुनर्जन्म भी नहीं माना जा सकता, और यदि ऐसी बात है तो तत्काल उत्पन्न हुआ बछड़ा दौड़ने क्यों लगता है ? क्योंकि संस्कारके बिना उसकी यह प्रवृत्ति प्रत्यक्ष-विरुद्ध है । यों समझकर उन्होंने दूसरा अनुमान नामका प्रमाण स्वीकार किया और उसके द्वारा सिद्ध किया कि 'कोई भी प्रवृत्ति अनुभवपूर्वक होती है' । इस प्रकार उन्होंने प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षोपजीवी अनुमान (प्रत्यक्ष है मूल जिसका, अर्थात् प्रथम धूमवाली अग्निको जिसने देखा है, वही पीछे पर्वतपर धूम देखकर पर्वत वह्निमान् है यह अनुमान कर सकता है)—इन दो प्रमाणोंको स्वीकार किया ।

शब्द-प्रमाण

परंतु आस्तिकोंकी दृष्टिमें केवल इन दो प्रमाणोंसे ईश्वर और परलोक आदिकी सिद्धि न हुई; क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष हो सकती है, उसीका अनुमान किया जा सकता है, अप्रत्यक्ष वस्तुमें अनुमानकी गति नहीं होती । और ईश्वरादि अगोचर भावोंको जाननेकी आवश्यकता तो है ही; क्योंकि शुभाशुभ कर्मोंका फल अवश्य प्राप्त होता है, और जड कर्म स्वतन्त्रता-पूर्वक फल देनेमें समर्थ नहीं होते । इसलिये उनसे पृथक् सब कर्मोंका संचालन करनेवाला तथा फल प्रदान करनेवाला कोई होना ही चाहिये, ऐसा विचार उपस्थित होता है । भगवान् व्यासजीने ब्रह्मसूत्रमें दिखलाया है—'फलमत उपपत्तेः' (३ । २ । ३८) अर्थात् जीवोंके कर्मफलकी उपपत्ति ईश्वरके द्वारा होती है, केवल कर्मसे फल उत्पन्न नहीं होता । क्योंकि चैतन्यमय ईश्वरमें ही फलोत्पादकत्व सिद्ध हो सकता है; परंतु जड कर्मका स्वतन्त्रतापूर्वक फलोत्पादकत्व सिद्ध नहीं हो सकता । फिर—

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः

—इस श्रुतिमें ईश्वरका कर्माध्यक्षत्व कथित हुआ है, अर्थात् ईश्वर ही कर्मोंके अनुरूप फल देता है । इस फलदाताकी उपासना करने, उसका ज्ञान प्राप्त होनेके पहले प्रथम दोनों प्रमाण स्वतन्त्र रीतिसे उपयोगी नहीं होते; अतएव इनके अतिरिक्त शुभाशुभ कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग-नरक आदि लोक तथा उन नाशवान् लोकोंसे मुक्त होकर अविनाशी पदकी प्राप्तिके साधनका ज्ञान प्रत्यक्ष करनेके लिये उन्होंने शब्द (आगम-शास्त्र) प्रमाणकी आवश्यकताका अनुभव किया । क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान नहीं पहुँच सकते । वे नरकादि लोक हैं, और इसमें शास्त्र ही प्रमाणभूत हैं । जैसे श्रुति भगवती कहती है—

वैवस्वतं संगमनं जनानाम्

पापी लोगोंको यमलोकमें जाना पड़ता है, तथा **'स्मरन्ति च'** (ब्रह्मसूत्र ३ । १ । १४)—स्मृतिकार भी दुष्कर्मियोंके लिये नरकलोककी प्राप्तिका प्रतिपादन करते हैं । और—

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च

(ब्रह्मसूत्र ३ । १ । ८)

स्वर्गोद्देश्यसे किये हुए पुण्यका नाश होनेपर पुण्यात्मा यहाँसे जिस मार्गसे स्वर्गलोकमें गया होता है, उसी मार्गसे अथवा अन्य मार्गसे भोगावशिष्ट संचित कर्मोंको लेकर भूलोकमें आता है—इत्यादिसे इहलोक और परलोकके गमनागमन तथा उसके हेतु 'शब्द' प्रमाणद्वारा ही प्राप्त होते हैं । पुनः मुक्तिके लिये भी—

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्

(ब्रह्मसूत्र ३ । २ । २६)

जीव तथा ब्रह्मके अभेद-साक्षात्कारके द्वारा जीवोपाधिभूत अविद्याकी निवृत्तिके उपरान्त शुद्ध जीव अनन्त ब्रह्मके साथ अभिन्न हो जाता है, मिथ्याभूत भेदको त्यागकर अत्यन्त अभेदको प्राप्त होता है । श्रुति भी कहती है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।' अर्थात् ब्रह्मको जो जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ब्रह्मवेत्ता परमपदको प्राप्त होता है ।

शुष्क तर्क अप्रतिष्ठित है

इस प्रकारके परोक्ष भावोंतक प्रत्यक्ष और अनुमान (तर्क) पहुँचते ही नहीं । वहाँ केवल शब्द-प्रमाण ही मुख्य है, इसीसे भगवान् व्यासने कहा है—'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्रह्मसूत्र २ । १ । ११) 'तर्क और अनुमान बहुधा मिथ्या हो जाते हैं, अतएव वे प्रमाणरूप नहीं हैं ।' पुनः इसी सूत्रके भाष्यमें भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम् । यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति ।

यहाँसे शास्त्रगम्य जो पदार्थ हैं, उनमें केवल तर्कमात्रसे प्रत्यवस्थान नहीं करना चाहिये; क्योंकि आगम (शास्त्र)-

का अनुसरण न करनेवाले तथा केवल पुरुषकी कल्पनासे बँधे हुए तर्क प्रतिष्ठित नहीं होते ।'

बुद्धिगम्य न होनेसे वस्तुस्थिति बदलती नहीं ।

इस प्रकार शास्त्र-प्रमाणको छोड़कर अथवा शास्त्रका मनमाना अर्थ करके जो अपने तर्कबलसे प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें संदेह उत्पन्न करते हैं, उनके वे तर्कजन्य संदेह प्रतिष्ठाके योग्य नहीं । यदि कोई कहे कि 'ऐसी बातें मेरी बुद्धिमें उतरती नहीं, अतएव मैं उन्हें कैसे मानूँ ?' उनको यह जानना चाहिये कि छोटे बालकके सामने कोई अध्यात्म-ज्ञानका उपदेश करे और वह बालककी बुद्धिमें न उतरे तथा वह उसको मिथ्या कहे तो क्या वह अध्यात्मज्ञान मिथ्या हो जायगा ? कदापि नहीं । इससे तो वही उलटा बालबुद्धि-वाला समझा जायगा । बुद्धिमें उतरने या न उतरनेसे किसी प्रकार वस्तुकी स्थिति नहीं बदलती । द्रष्टाके दृष्टिभेदसे यदि वस्तुस्थिति बदलती हो तो रज्जु भी सर्प बन जाय ! और तो क्या, ब्रह्म भी सदाके लिये जगत्-भावको प्राप्त हो जाय । परंतु ऐसा न होकर, इस प्रकारके विवर्त तो द्रष्टाके लिये ही बाधक बन जाते हैं । संशयदृष्टिसे देखनेवाला संशयमें ही डूबता-उतराता रहता है; क्योंकि उसको वस्तु-तत्त्वका ज्ञान न होकर संशय-ज्ञान ही होता रहता है, और ऐसे लोगोंके लिये श्रीकृष्णने कहा है—'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् संशय-ग्रस्त विनाशको प्राप्त होते हैं—आदर्शसे च्युत हो जाते हैं । यहाँ एक सुप्रसिद्ध दृष्टान्त लीजिये । अपने देशमें जब रेल, तार, मोटर, विद्युत्के यन्त्र, बेतारके तारके द्वारा संदेश-वहन, हवाई-जहाज आदि न थे, उस समय कोई यदि हमको कहता कि यूरोपमें तो खींचनेवालेके बिना ही गाड़ी चलती है, तारके द्वारा संदेश जाता है, बिजलीसे दीपक जलते हैं, आकाशमें विमान उड़ते हैं और बेतारका संदेश आकाशमार्गसे पहुँचता है, तो हम कहते कि ये बातें झूठी हैं; क्योंकि वे हमारे ध्यानमें नहीं जँचतीं ।' क्या हमारे कहनेसे ये बातें झूठी हो जायँगी ? कदापि नहीं । पहले जो बातें हमारी बुद्धिमें नहीं उतरती थीं तथा आश्चर्यजनक जान पड़ती थीं, उन्हीं वस्तुओंको आज हम आश्चर्यरहित होकर इच्छानुसार उपयोगमें लाते हैं । इसका कारण इतना ही है कि इन वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये तदनुरूप उद्योग हुआ, इसलिये वे अतर्कित वस्तुएँ भी तर्कमें आयीं और उनका उपयोग भी हुआ ।

इसी प्रकार प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थोंमें वर्णित अद्भुत शक्तियोंको जो श्रद्धाकी दृष्टिसे नहीं देखते, तथा उनको समझने भरकी योग्यता भी नहीं रखते, वे भले ही उनको मिथ्या कहें तथा उनके रूपक रचें; परंतु इससे उन दैवी-शक्तियोंका अस्तित्व मिथ्या नहीं हो जाता । जैसे कोई पर्वतके शिखरके ऊपरसे आकर उस शिखरपर स्थित सुन्दर नगरका वर्णन उस आदमीसे करे, जो वहाँपर चढ़नेमें समर्थ न हो, और वह सुननेवाला असमर्थ मनुष्य उस वर्णनको मिथ्या कहे तो क्या इससे वह वर्णन करनेवाला तथा वह नगर मिथ्या हो जायँगे ? कदापि नहीं । उलटे वह आदमी ही हास्यास्पद हो जायगा । अतएव इससे बचनेके लिये उत्तम मार्ग यही है कि उसको भी किसी उपायसे पर्वतके ऊपर चढ़कर उस नगरको प्रत्यक्ष देख लेना चाहिये । यों करनेपर ही वह प्रत्यक्ष द्रष्टा जो कहता है, वह प्रमाणभूत माना जायगा । उसी प्रकार दैवी शक्तियोंको मिथ्या कहनेवालोंको भी वैसी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये, अथवा वैसी शक्ति प्राप्त न हो तो व्यास आदि महर्षियोंके समान तपोनिष्ठ और ज्ञानपरायण होना चाहिये, जिससे उन महर्षियोंका आशय समझनेकी शक्ति प्राप्त हो । अर्जुनको श्रीहरिका विश्वरूप देखनेके लिये अर्जुनके चर्मचक्षु काम नहीं दे सकते थे, इसी कारण श्रीकृष्ण-ने **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'** कहकर उसको दिव्यदृष्टि प्रदान की थी । इसी प्रकार दैवी शक्तियोंको समझनेके लिये भी दैवी बुद्धि ही उपयोगी होती है, वहाँ मानुषी मन्दबुद्धि तो घबरा जाती है । इसी कारण कहा गया है कि—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत् ।
नाप्रतिष्ठिततर्केण गम्भीरार्थस्य निश्चयः ॥

अर्थात् जो अचिन्त्य भाव हैं, उनको तर्कसे सिद्ध न करे, क्योंकि अप्रतिष्ठित तर्कके द्वारा गम्भीर अर्थका निश्चय नहीं होता ।

श्रद्धापूर्वक शास्त्रपरिशीलन करनेसे ही वस्तु-तत्त्व समझमें आता है ।

उपर्युक्त प्रमाणोंकी योग्यता सम्पादन करनेके लिये यदि अपनी शक्ति न हो तो श्रद्धापूर्वक महर्षिजनप्रोक्त श्रेष्ठ ग्रन्थोंका श्रवण-मनन करे, उनमें भी जो रुचे वह ग्रहण करे, और जो न रुचे, उनको रहने दे; परंतु **'न बुद्धिभेदं जनयेत्'**—इस भगवद्वाक्यको सदा याद रखकर श्रद्धालु लोगोंके हृदयमें शङ्काका बीज न बोये । क्योंकि धार्मिक ग्रन्थोंका मुख्य अवलम्बन श्रद्धा ही है, और श्रद्धालु ही उनके रसको, आनन्दको प्राप्त होता है । बल्कि ऐसे लोगोंको तो इसमें कोई असम्भव बात नहीं जान पड़ती । क्योंकि सर्व-शक्तिमान् ईश्वर सर्वत्र व्याप्त हैं; अतएव जहाँ-जहाँ उनकी अधिक-अधिक अभिव्यक्ति होती है, वहाँ-वहाँ अधिक शक्तियों-का ज्ञान हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं । ऐसे श्रद्धालु भक्त तो यही कहते हैं—

देवस्य मायया स्पृष्टाः ये केचिदसदाश्रिताः ।
भिद्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ ॥

(उद्धव-वाक्य)

अर्थात् आत्मरूप हरिमें अर्पित मनवाले भक्तकी बुद्धि

ईश्वरकी मायासे स्पृष्ट तथा मिथ्यावस्तुका आश्रय लेनेवाले पुरुषोंके वाक्यसे भेदको नहीं प्राप्त होती।

महाभारतके तीन संस्करण

कुछ लोग मानते हैं कि महाभारतके तीन संस्करण हुए हैं— पहला व्यासोक्त २४ हजार श्लोकोंका, जिसमें वे निम्नाङ्कित प्रमाण देते हैं—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।

—व्यासने २४ हजार श्लोकोंकी भारतसंहिता रची थी। दूसरा संस्करण था वैशम्पायन और जनमेजयके संवादरूपमें। और तीसरा संस्करण सौति तथा शौनकके संवादरूपमें था, जो आजकल उपलब्ध होकर महाभारतके नामसे पुकारा जाता है। ये पिछले दोनों संस्करण व्यासरचित नहीं हैं। इसमें वे कारण देते हैं कि 'इन पीछेसे हुए संवादोंको व्यासमुनि पहलेसे ही अपने ग्रन्थमें किस प्रकार स्थान दे सकते थे? बल्कि सौतिका संस्करण तो ईस्वी सदीसे २०० वर्ष पूर्व ही तैयार हो गया था, इत्यादि।'

भारतकी चार कृतियाँ

अब इनके मन्तव्यके ऊपर हम विचार करते हैं। इसमें प्रथम 'चतुर्विंशतिसाहस्रीं' श्लोक जिस स्थानमें दिया गया है, उसके आगे-पीछेके श्लोकोंका सम्बन्ध देखिये। आदिपर्वके प्रथम अध्यायमें ये श्लोक इस प्रकार दिये गये हैं—

इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्॥
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः।
ततोऽध्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः॥
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तानां सपर्वणाम्।
इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम्॥
ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ विभुः।
षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम्॥
त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम्।
पित्र्ये पञ्चदश प्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश॥
एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम्।
नारदोऽश्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन्॥
गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः।
अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्॥
शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत॥

(१०१–१०९)

(भावार्थ) सौति कहते हैं कि यह पुण्यकर्मवाले लोगोंके उपाख्यानके साथ एक लाख श्लोकोंका उत्तम आदि-भारत है, यह तुम जान लो। व्यासने उपाख्यानरहित २४ हजार श्लोकोंकी भारतसंहिताकी रचना की थी और विद्वान् उसीको भारत कहते हैं। इसके बाद ऋषिने पुनः संक्षेप करके डेढ़ सौ श्लोकोंकी पर्वके साथ वृत्तान्तोंकी एक अनुक्रमणिका रची। द्वैपायनने यह भारत पहले अपने पुत्र शुकदेवको सुनाया। उसके बाद उन समर्थ ऋषिने उसे दूसरे योग्य शिष्योंको सुनाया। फिर महर्षि व्यासने साठ लाख श्लोकोंकी एक दूसरी भारत-संहिता रची। उनमें तीस लाख श्लोकोंको नारदजीने देवलोकमें सुनाया, और वे वहीं रह गये। असित-देवल ऋषिने पितरोंको पंद्रह लाख श्लोक सुनाये; शुकदेवजीने गन्धर्व-यक्ष आदिको चौदह लाख श्लोक सुनाये, और इस मनुष्यलोकमें व्यासके धर्मात्मा तथा समस्त वेदविदोंमें श्रेष्ठ शिष्य वैशम्पायनको एक लाख श्लोक सुनाये। उस वैशम्पायनोक्त भारतको मैं कहता हूँ। उसको तुम यथार्थतः जान लो।

समन्वय

ऊपर दिये गये श्लोकोंसे विदित हो गया कि महर्षि व्यासने केवल २४ हजार श्लोकोंका भारत नहीं रचा था परंतु उन्होंने लाख श्लोकोंकी, २४ हजार श्लोकोंकी, डेढ़ सौ श्लोकोंकी तथा साठ लाख श्लोकोंकी पृथक्-पृथक् चार भारत-संहिताएँ रची थीं। उनमें साठ लाखवाली भारतसंहितामेंसे हमारे लोकमें केवल एक लाख श्लोक ही रह गये हैं। इससे ५९ लाख श्लोकोंका हमको विचार नहीं करना है। बल्कि उन्होंने जो साठ लाख श्लोक कहे थे, वे भी प्रथम लाख श्लोकोंको मिलाकर ही कहे होंगे। क्योंकि ऐसा न होता तो पूर्वोक्त लाख श्लोक, और ये साठ लाखमेंके लाख श्लोक मिलकर हमारे लोकमें दो लाख श्लोकोंका भारत होना चाहिये, अथवा लाख-लाख श्लोकोंके दो भारत मिलने चाहिये। परंतु वे मिलते नहीं; इससे सिद्ध होता है कि इन लाख श्लोकोंके साथ ही साठ लाख श्लोकवाली भारतसंहिता थी। इनमेंसे एक लाख श्लोक, जो पहले बतला चुके हैं, वे ही हमारे यहाँ रह गये। अब चौबीस हजार श्लोकवाली भारतसंहिताका विचार करें, तो भारत-जैसा बड़ा महल तैयार करनेमें पहले उसका एक सामान्यरूप खड़ा करना पड़ा है, जिस प्रकार कोई बड़ा उपन्यास लिखना होता है तो पहले उसका एक रेखाचित्र बनाना पड़ता है। उसी प्रकार वह केवल भरतवंशी लोगोंके इतिहासके दूसरे आख्यानों तथा उपाख्यानोंसे रहित रचना जान पड़ती है। वह चौबीस हजार श्लोकका भारत भगवान् व्यासके मनमें तैयार हुआ, और उन्होंने भरतवंशियोंके चरित्रके साथ धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षप्रतिपादक अनेकों आख्यानों तथा उपाख्यानों आदिको जोड़कर पूरा एक लाख श्लोकका ग्रन्थ तैयार कर दिया और उसीमें २४ हजार श्लोकोंका अन्तर्भाव हो गया। क्योंकि वह चौबीस हजार श्लोकवाला भारत हमारे देखनेमें नहीं आता, तथा उसका किसी ग्रन्थमें वर्णन भी नहीं मिलता। इससे उनका लाख श्लोकोंमें ही

समावेश हो गया जान पड़ता है। तत्पश्चात् इस ग्रन्थका यथार्थ स्वरूप बनाये रखनेके लिये व्यासजीने डेढ़ सौ श्लोकोंका अनुक्रमणिका-अध्याय रचा, और उसको भी प्रथम अध्यायमें मिला दिया। इसलिये आज जो भारत हमें प्राप्त है, उसका स्वरूप तैयार हो गया। इस प्रकार 'चतुर्विंशतिसाहस्रीं' इस उद्धरणका विचार करके हमने देख लिया कि कृष्णद्वैपायन मुनिने केवल चौबीस हजार श्लोकोंका ही ग्रन्थ नहीं रचा था।

व्यासने त्रिकालज्ञतासे महाभारतकी रचना की

अब इस प्रश्नपर विचार करना है कि वैशम्पायन तथा जनमेजयके संवादको और सौति तथा शौनकके संवादको उनके पहले ही व्यासजीने अपने ग्रन्थमें कैसे दे दिया। इस सम्बन्धमें श्रद्धालु जनोंको अधिक परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि उनको तो व्यास मुनिका स्वरूप समझनेपर यह सब कुछ शक्य जान पड़ता है। अतएव हमें यह देखना चाहिये कि व्यासजीके सम्बन्धमें इतिहास और पुराणोंमें क्या वर्णन आया है। पुराणोंमें व्यासजीको भगवान्‌के अवतारोंमें गिना गया है।

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः॥

(श्रीमद्भा० १।३।२१)

'तत्पश्चात् भगवान् सतरहवें अवतारमें पराशरसे सत्यवतीमें उत्पन्न हुए और उन्होंने पुरुषोंको अल्पबुद्धिवाला देखकर वेदवृक्षकी शाखाएँ बनायीं।' पुनः—

जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः।

(श्रीमद्भा० १।४।१४)

'योगी व्यासजी श्रीहरिकी कलाके द्वारा वसुकी कन्या सत्यवतीमें पराशरसे उत्पन्न हुए। 'व्यासो नारायणो हरिः'—व्यासजी स्वयं श्रीहरि नारायण हैं। इस प्रकारके वाक्य पुराणोंमें बहुतायतसे प्राप्त होते हैं। महाभारतमें भी उनके माहात्म्यको सूचित करनेवाले अनेक वाक्य हैं; उनमेंसे यहाँ एक-दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

जातमात्रश्च यः सद्य इष्ट्या देहमवीवृधत्।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान् सेतिहासान् महायशाः॥
विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः।
परावरज्ञो ब्रह्मर्षिः कविः सत्यव्रतः शुचिः॥

(म० भा० १।५०।३–५)

'जिसने उत्पन्न होते ही अपनी इच्छाके अनुसार देह बढ़ा ली, और उस महायशस्वीने स्वयं इतिहास तथा वेदाङ्गोंके सहित सारे वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया। पुनः वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ, निरुपाधिक तथा सोपाधिक ब्रह्मको जाननेवाले, त्रिकालज्ञ, सत्य संकल्पवाले तथा पवित्र, ब्रह्मर्षि श्रीव्यासजीने एक वेदको (चातुर्होत्रिक कर्मके लिये) चार विभागोंमें बाँटा।

इस प्रकारके अद्भुत दैवी सामर्थ्यसे युक्त, त्रिकालज्ञ और भगवत्-अवतारस्वरूप श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने यदि उन संवादोंके होनेके पूर्व ही अपने भविष्य ज्ञानके बलसे उन संवादोंसे युक्त महाभारतकी रचना कर दी तो इसमें आश्चर्यकी बात क्या है? ईश्वरकी शक्तिमें श्रद्धा रखनेवालोंको तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं जान पड़ता, और न संशय ही उत्पन्न होता है; इसलिये उनके लिये इतना कहना भी अनावश्यक है। परंतु अपनेको अनुकूल लगनेवाले वचनोंको प्रामाणिक माननेवालों और प्रतिकूल लगनेवाले वचनोंको 'पीछेसे मिलाया हुआ' कहनेवालों तथा मनुष्य-देह धारण करनेवाले ईश्वरांशमें भी दैवी सामर्थ्यको न माननेवालोंका एक वर्ग है। अतः इनके विचारोंकी छाप कहीं श्रद्धालु हृदयपर पड़कर अनिष्ट उत्पादन न करे, इसलिये इस विषयमें इतनी बात यहाँ लिखी गयी है। इसके सिवा, पूर्वकालके महाविद्वान् टीकाकार स्वयं जिस ग्रन्थकी टीका करते थे, उस ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयोंका समन्वय करनेमें ही अपना पाण्डित्य समझते थे। यदि कहीं उनकी दृष्टिमें कोई महान् अशुद्ध प्रयोग देखनेमें आता था और उसका समन्वय नहीं हो पाता था तो वे मधुर शब्दोंमें उसको 'आर्षोऽयं प्रयोगः' (यह प्रयोग ऋषिकृत है)—इत्यादि कहकर आगे बढ़ते थे। परंतु आजकलके सुधरे हुए ग्रन्थालोचक तो कोई और ही चश्मा लगाकर ग्रन्थोंका अवलोकन करते हैं; अतएव उन्हें प्राचीन ग्रन्थोंमें अनेकों त्रुटियाँ दीख पड़ती हैं और देखते ही वे ग्रन्थके गौरव, उसके ऊपर लोगोंकी श्रद्धा, ग्रन्थकी योग्यता आदिका विचार न करके अपने संहारास्त्रका प्रयोग कर उसका खण्डन करनेमें ही पिल पड़ते हैं, यद्यपि उनमें एक ग्रन्थ लिखनेकी भी अपनी शक्ति नहीं होती, यह और बात है। ऐसे दोषदर्शी लोगोंसे श्रद्धालु धार्मिक लोगोंको बचाना ही हमारे इस मण्डनका हेतु है।

दूसरे प्रकारसे विचार

अब हम भारतका रचना-काल, व्यासजीकी काव्य-शक्ति, भारतमें वर्णित तत्त्वोंका तथा उनको लिखनेके लिये महासामर्थ्यशाली लेखककी अपेक्षाका विचार करेंगे, जिससे सहज ही समझमें आ जायगा कि व्यासजीने केवल चौबीस हजार श्लोकोंकी ही रचना नहीं की थी, बल्कि सम्पूर्ण महाभारतको रचा था। महाभारतकी रचनाका काल देते हुए वैशम्पायन कहते हैं—

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम्॥

(म० भा० १।६२।५२)

'कृष्णद्वैपायन मुनिने नित्य उद्योगपरायण रहकर तीन वर्षमें इस अद्भुत महाभारतके आख्यानकी रचना की।'

पाठक विचार करें कि जिन व्यासजीकी कविता रचने और बोलनेकी शीघ्रता बुद्धिपति श्रीगणेशजीकी प्रवाहमयी लेखनीको भी थका देती थी, उन व्यासजीको केवल २४ हजार श्लोक रचनेमें तीन-तीन वर्ष तथा उसमें भी सतत प्रवृत्तिकी अपेक्षा हो सकती है ? कदापि नहीं। इस एक कारणसे ही सिद्ध होता है कि यह लाख श्लोकोंवाला सम्पूर्ण ग्रन्थ निश्चय व्यासरचित ही है।

भारत-लेखन-प्रसङ्ग

अब दूसरे कारणका अनुसंधान करनेके लिये यह सारा भारत-लेखन-प्रसङ्ग यहाँ उद्धृत करते हैं—

तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम्।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः॥
तदाख्यानवरिष्ठं स कृत्वा द्वैपायनः प्रभुः।
कथमध्यापयानीह शिष्यानित्यन्वचिन्तयत्॥

(म० भा० १। १। ५५)

'सत्यवतीके पुत्र व्यासजीने तपश्चर्या और ब्रह्मचर्यके द्वारा वेदोंका विभाग करके इस पवित्र इतिहासकी रचना की है प्रभु द्वैपायन इस श्रेष्ठ आख्यानकी रचना करके सोचने लगे कि अब मैं यह ग्रन्थ शिष्योंको किस प्रकार पढ़ाऊँ ? व्यासजीके इस विचारको जानकर लोकगुरु ब्रह्माजी स्वयं उनको प्रसन्न करने और लोगोंके हितकी कामनासे वहाँ गये। उनको देखकर सब मुनियोंके बीच स्थित व्यासजी चकित हो उठे, हाथ जोड़कर खड़े हो गये तथा ब्रह्माजीको बैठनेके लिये उन्होंने आसन प्रदान किया। उस उत्तम आसनपर बैठे ब्रह्माजीकी प्रदक्षिणा करके उस आसनके पास स्वयं खड़े हो गये। पश्चात् परमेष्ठी ब्रह्माजीके कहनेसे व्यासजी शुद्ध भावसे मुसकराते हुए प्रसन्न होकर आसनके पास बैठ गये और महातेजस्वी परमेष्ठी ब्रह्माजीसे कहने लगे—'भगवन् ! मैंने सर्वोत्कृष्ट काव्यकी रचना की है। ब्रह्मन् ! इस ग्रन्थमें मैंने वेदोंका रहस्य, वेदाङ्ग, उपनिषद् एवं वेदोंका विस्तार तथा अन्य जो कुछ वेदमें है, वह सब; पुनः इतिहास-पुराण; भूत, भविष्य और वर्तमान कालकी स्थिति; जरा-मृत्यु, भय-व्याधि, अस्तित्व और विनाशका निश्चय; विभिन्न धर्मों तथा आश्रमोंके लक्षण, चारों वर्णोंके धर्म तथा पुराणोंका समग्र तात्पर्य; तप एवं ब्रह्मचर्य; पृथ्वी, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा तथा युगोंका प्रमाण; ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अध्यात्मशास्त्र, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान, अन्तर्यामीका माहात्म्य, कर्मानुरूप दिव्य तथा मानुष-जन्म, पवित्र तीर्थ, देश, नदियाँ, पर्वत, वन, समुद्र, दिव्य नगर, दुर्ग तथा व्यूहरचना, विभिन्न कोटिके मनुष्योंकी भाषण-पद्धति, नीतिशास्त्र तथा सर्वव्यापक ब्रह्मका निरूपण भी किया है; परंतु पृथ्वीपर मुझको कोई लेखक नहीं मिलता।'

ब्रह्माजी बोले—'तुम रहस्य-ज्ञानकी निधि हो, इससे मैं तुमको तपस्वी और श्रेष्ठ मुनियोंकी अपेक्षा भी अतिशय श्रेष्ठ मानता हूँ। जन्मसे लेकर तुम्हारी वेदवादिनी सत्यवाणीको मैं जानता हूँ। तुमने अपने ग्रन्थको काव्य कहा, इसलिये वह 'काव्य' कहलायेगा। जिस प्रकार दूसरे तीनों आश्रम गृहस्थाश्रमसे बढ़कर नहीं होते, उसी प्रकार तुम्हारे इस काव्यसे बढ़कर काव्य करनेकी सामर्थ्य कवियोंमें न होगी। अब हे मुनि ! तुम अपने काव्यको लिखनेके लिये गणपतिका स्मरण करो।

सौति कहते हैं—इस प्रकार व्यासजीको आदेश देकर ब्रह्माजी अपने स्थानको चले गये। तत्पश्चात् सत्यवतीके पुत्र व्यासजीने गणपतिका स्मरण किया। स्मरण करते ही भक्तकी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेवाले विघ्नेश्वर गणपतिजी वहाँ आ पहुँचे, जहाँ व्यासजी बैठे थे। हे निष्पाप शौनक ! उनकी विधिवत् पूजा करने तथा बैठनेके बाद व्यासजीने कहा—'हे गणनायक ! मैं मनमें तैयार किये इस भारतको स्वयं बोलता हूँ और आप इसके लेखक बनें।' यह सुनकर गणपतिने कहा कि 'लिखते-लिखते मेरी लेखनी एक क्षणके लिये भी न रुके, इस प्रकार यदि तुम लिखाओ तो मैं भारतका लेखक बन सकता।' तब व्यासने उनसे कहा कि 'आप समझे बिना कदापि न लिखें।' पश्चात् ओम् (अच्छा !) कहकर गणपति लिखने लगे।

तत्पश्चात् व्यासजी कुतूहलपूर्वक ग्रन्थकी गूढ़ रचना करने लगे। उन श्लोकोंके विषयमें द्वैपायन मुनिने प्रतिज्ञापूर्वक कहा है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

'भारतके आठ हजार आठ सौ श्लोकोंको मैं समझता हूँ और शुक समझते हैं; संजय उन्हें समझते हैं या नहीं, इसमें संशय है।'

हे मुनि ! उन दृढ़ रचनावाले कूट श्लोकोंमें गूढ़ अर्थ होनेके कारण शब्दादि प्रमाणोंका आश्रय लेनेपर भी आजतक उनके अर्थ स्पष्ट नहीं हुए। अहा ! सर्वज्ञ गणपति भी उन श्लोकोंका विचार करनेके लिये क्षणभर रुक जाते थे, और इस बीचमें व्यासजी अनेकों श्लोकोंकी रचना कर डालते थे।

तात्पर्य

महाभारतके प्रारम्भमें दिये गये भारत-लेखनके प्रसङ्गसे भी समझमें आ जाता है कि व्यासजीके मनमें निर्मित यह ग्रन्थ बहुत ही बड़ा होना चाहिये। अन्यथा इस प्रकारके समर्थ पुरुषको साधारण छोटा ग्रन्थ लिखनेके लिये लेखककी चिन्ता नहीं करनी पड़ती। न तो ब्रह्माजीको आनेकी

आवश्यकता पड़ती और न श्रीगणेशजीको लेखक ही बनना पड़ता। इसलिये उपर्युक्त सारे संयोगोंको देखते हुए तथा इस ग्रन्थगत विषयोंके गौरवको देखते हुए यह ग्रन्थ बहुत ही बड़ा होना चाहिये। क्योंकि गणपतिको सरसर चलनेवाली लेखनीको सामग्री पहुँचानेके लिये उनको विचारमें फँसाकर व्यासजीने स्थान-स्थानपर कूट श्लोक रचे हैं, जिनकी संख्या वे स्वयं ही आठ हजार आठ सौ बतलाते हैं। अतः यदि चौबीस हजार श्लोकोंकी भारतसंहितामें इतने कूट श्लोक आ जायँ तो वह वज्र-जैसी दुर्भेद्य बन जाय। इस हेतुसे तथा देवाधिदेव गणपतिकी लेखनीको पूरा पड़ने जैसी काव्यरचनाकी शक्ति और ग्रन्थनिर्माणका तीन वर्ष-जितना लंबा समय तथा उसमें सतत प्रवृत्ति— इन सब बातोंको देखनेसे यह निश्चय होता है कि तीन वर्षोंमें तैयार करके गणपतिके द्वारा लिखायी गयी भारत-संहिता चौबीस हजारको नहीं, बल्कि व्यासकी त्रिकालज्ञताके द्वारा निर्मित सम्पूर्ण महाभारत है।

वैशम्पायन और सौतिने पुस्तकके बिना मौखिक कथन किया है

इस प्रकार व्यासजीकी भविष्यदर्शिताके विचारसे तो यह स्पष्ट हो जाता है और महाभारतका एक ही संस्करण सिद्ध होता है; परंतु यह बात जिनके गले नहीं उतरती, उनके लिये एक और ही विचारसे देखें। पाण्डवोंके अवसानके बाद व्यासजीने भारतकी रचना की तथा वैशम्पायनको जनमेजयके सर्पयज्ञमें पहले-पहल उसे सुनाया था, यह बात निम्नाङ्कित श्लोकोंसे स्पष्ट हो जाती है—

तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम्।
अब्रवीद् भारतं लोके मानुषेऽस्मिन् महानृषिः॥
जनमेजयेन पृष्टः सन् ब्राह्मणैश्च सहस्रशः॥
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके।
स सदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम्॥
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः।

(म० भा० १।१।९७-९८)

वे (धृतराष्ट्र आदि) उत्पन्न होकर तथा (पुत्र-पौत्रादि रूपसे) वृद्धिको प्राप्त होकर परम गतिको प्राप्त हुए। तत्पश्चात् महर्षि व्यासने इस मनुष्यलोकमें महाभारत कहा। जनमेजय तथा हजारों ब्राह्मणोंके पूछनेपर व्यासजीने अपने पास बैठे हुए शिष्य वैशम्पायनको भारतकी कथा कहनेकी आज्ञा दी, और यज्ञकर्मके बीच-बीचमें बारंबार प्रेरित होकर वैशम्पायनने सभासदोंके साथ बैठकर भारत श्रवण कराया।

इससे स्पष्ट होता है कि व्यासजीने मानसिक भारत भी पाण्डवोंके स्वधाम-गमनके पश्चात् परीक्षित्के समयमें ही अपने शिष्योंको सुनाया था, और वह भारत जनमेजयके सर्पयज्ञके समय ही लोकमें पहले प्रसिद्ध हुआ। उस समय वैशम्पायनने पुस्तक लेकर बाँची या व्यासजीने उन्हें पुस्तक दी हो, ऐसी कोई बात नहीं है। परंतु इसमें केवल कथन करनेकी आज्ञा ही देखनेमें आती है। फिर वैशम्पायनने आगे कहा है—

शृणु राजन् पुरा सम्यग् मया द्वैपायनाच्छ्रुतम्।

'राजन्! पूर्वकालमें मैंने द्वैपायनसे अच्छी तरह सुना था, उसे तुम सुनो।' इससे मौखिक पाठका सुनाना ही जान पड़ता है, लिखे ग्रन्थका सुनाना नहीं! पुनः भारतका दूसरा व्याख्यान सौतिने शौनकादिके सामने किया। उन्होंने भी कहा है—

कृष्णद्वैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः।
कथिताश्चापि विधिवद् या वैशम्पायनेन वै॥
श्रुत्वाहं ता विचित्रार्था महाभारतसंश्रिताः॥

(म० भा० १।१।११)

बहूनि संपरिक्रम्य तीर्थान्यायतनानि च।
× × × ×
गतवानस्मि तं देशं युद्धं यत्राभवत्पुरा।
× × × ×
दिदृक्षुरागतस्तस्मात्समीपं भवतामिह॥

'कृष्णद्वैपायनके द्वारा कही अतिशय पुण्यजनक विविध कथाएँ जो वैशम्पायनने विधिपूर्वक सुनायी थीं, उन विचित्र अर्थोंवाली महाभारतसम्बन्धी कथाओंको सुनकर मैं अनेकों तीर्थों तथा मन्दिरोंमें घूमता हुआ पहले जहाँ युद्ध हुआ था, उस कुरुक्षेत्रमें गया था। वहाँसे आपके दर्शनकी इच्छासे आपके पास यहाँ आया हूँ।'

यहाँ सौतिने भी 'श्रवण करके आया हूँ'—यह कहा है। ग्रन्थका संकेततक नहीं किया है। 'कृष्णद्वैपायनके द्वारा उक्त तथा वैशम्पायनके द्वारा दुहरायी गयी'—इस वाक्यांशसे यह जान पड़ता है कि उस समय महाभारतको कण्ठस्थ रखकर कहनेका ही व्यवहार प्रचलित था। अब यह ग्रन्थ जिन तीन वर्षकी अवधिमें निर्माण करके गणपतिसे लिखाया गया, वह समय सौतिके मुखसे कथा हो जानेके पीछेका है—यों मान लेनेमें तथा इसीमें श्रीकृष्णद्वैपायन मुनि, वैशम्पायन तथा जनमेजयका सौति तथा नैमिषारण्य-वासियोंके साथ संवाद तथा गणेशजीका लेखन-प्रसङ्ग समाविष्ट है—यह माननेमें भी कोई बाधा नहीं पड़ती; क्योंकि व्यासजीने जब शिष्योंको भारत सुनाया, उसके बाद थोड़े ही समय बाद वैशम्पायनने जनमेजयके सर्पयज्ञमें कथा कही, और उसके थोड़े ही समय बाद सौतिने नैमिषारण्यनिवासी ऋषियोंको भारतकी कथा सुनायी। वैशम्पायनकी कथा और सौतिकी कथा बहुत समयके अन्तरसे नहीं हुई होगी, ऐसी

हमको ऊपरके श्लोकोंसे जान पड़ती है। बल्कि श्रीमद्भागवत-में शौनकने कहा है—

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम्।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः॥
(१।१।२१)

'हम कलियुगको आया हुआ जानकर इस विष्णुक्षेत्रमें दीर्घ-सत्रका प्रारम्भ करके हरिकी कथा श्रवण करनेके लिये सावधान होकर बैठे हैं।' इससे ज्ञात होता है कि कलिके आरम्भमें ही अर्थात् परीक्षित्‌के समयमें ही ऋषिलोग जब नैमिषारण्यमें बैठे, और जनमेजयके सर्पयज्ञमें भारतकी कथा सुनकर सौतिने वहाँ जाकर जब यह कथा सुनायी; ये दोनों समय भी आस-पास-के ही जान पड़ते हैं। इन दोनों कथाओंके हो जानेके बाद, महाभारत ग्रन्थरूपमें रहे और ब्राह्मणादि वर्णोंके लोग उससे लाभ उठायें—इस इच्छासे श्रीकृष्ण-द्वैपायनने ब्रह्माकी आज्ञासे गणपतिको बुलाकर इस ग्रन्थको लिखाया—यह मान लिया जाय अथवा यों समझ लें कि उन कथाओंके होनेके पूर्व उन्होंने उसे भविष्यदर्शितासे लिखाया हो।

भारतकी पाँच संहिताओंका भ्रम

कुछ लोग नीचेके श्लोकोंके अनुसार भारतकी पाँच संहिताओंको मानते हैं। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम्॥
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः॥
(१।६३।८९-९०)

वे लोग इन श्लोकोंका इस प्रकार अर्थ करते हैं—'श्रेष्ठ तथा वरदायक प्रभु व्यासजीने चारों वेद और पाँचवाँ वेद महाभारत सुमन्तुको, जैमिनिको, पैलको, अपने पुत्र शुकदेवको तथा वैशम्पायनको पढ़ाया और उन्होंने भारतकी पृथक्-पृथक् संहिताएँ प्रकट कीं।'

ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं; क्योंकि इनमें एक भी संहिता आज हमको प्राप्त नहीं तथा इनका नाम भी नहीं सुनायी देता। केवल एक जैमिनिकृत पाण्डवाश्वमेध मिलता है (इसमें वर्णित अश्वमेध महाभारतके अश्वमेधकी अपेक्षा अधिक चमत्कारमय है)। परंतु जैमिनिने सारी भारत-संहिता रची थी या नहीं, यह संदेहजनक है। हाँ, एक ऐसी किंवदन्ती भी है कि 'जब व्यासजीने महाभारतकी रचना की, तब जैमिनिजीने एक महाभारत रची थी। उसके तैयार होनेपर उन्होंने उसे अपने गुरु श्रीव्यासजीको दिखलाया। गुरुने चमत्कारविशिष्ट उस महाभारतको देखकर अपने शिष्यसे कहा कि 'या तो मेरा भारत इस जगत्‌में रहेगा या तुम्हारा। परंतु दो भारत नहीं रहने चाहिये।' तब गुरुभक्त शिष्यने अपने भारतका कुछ अंश छोड़कर शेषको डुबा देना स्वीकार किया, और गुरुकी आज्ञासे उसका केवल अश्वमेधवाला शेष रह गया।'

इस बातपर कितना विश्वास किया जाय, यह पाठककी इच्छापर छोड़कर हम प्रस्तुत विषयका विचार करते हैं। ऊपर बतलायी हुई कोई भी भारत-संहिता नहीं मिलती। उपर्युक्त अर्थोंकी अपेक्षा पण्डित नीलकण्ठकी टीकामें दिया हुआ अर्थ अधिक सुसंगत जान पड़ता है। टीकाकार कहते हैं—'**भारतस्य मूलभूताः संहिता मन्त्रब्राह्मणरूपा वेदाः ते सुमन्तुप्रभृतिभिः प्रकाशिता इदमस्य मूलमिदमस्य मूलमिति स्पष्टीकृतास्तेन प्रत्यक्षवेदमूलमेतदिति भावः।** अर्थात् भारतकी मूलभूत संहिता—मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेदोंको सुमन्तु आदिने प्रकाशित किया, अर्थात् इस वस्तुका यह मूल है, इस वस्तुका यह मूल है—इस प्रकार स्पष्ट करके बतला दिया कि भारत प्रत्यक्ष ही वेदमूलक है। भारत वेद-मूलक है, इस सम्बन्धमें टीकारूपसे व्यासके प्रति नारदजीका भागवतमें यह वचन प्रमाण है—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।

'आपने भारतके बहानेसे वेदोंका अर्थ दिखलाया है।' इससे भी टीकाकारका अर्थ ही ठीक लगता है। बल्कि इस प्रकार अर्थ करनेसे भारतकी विभिन्न संहिताओंका विचार भी नहीं करना पड़ता।

ऐतिहासिकतासम्बन्धी शङ्काका समाधान

आर्यावर्तके प्राचीन ग्रन्थोंमें महाभारत और वाल्मीकि-रामायण—इन दो ग्रन्थोंकी ही 'इतिहास' संज्ञा है। प्राचीन ग्रन्थोंमें महाभारतको बारंबार '**इतिहास**' नामसे पुकारा गया है। कहीं-कहीं इसके पुराण, काव्य, आख्यान आदि नाम भी व्यवहृत होते देखे जाते हैं। सचमुच ही महाभारत इन सभी नामोंका पात्र है। महाभारतमें व्यासजीने जो विभिन्न तत्त्वोंके पुष्पोंको गूँथा है, उसे देखकर बहुतेरे योरोपीय विद्वानों-को यह संशय होता है कि इसमें कौरव-पाण्डवोंका यथार्थ इतिहास है या ये व्यास मुनिके कल्पित पात्र हैं। इतना ही नहीं, वे यह भी कहते हैं कि कवियोंने पीछेसे कल्पना करके इसे घुसेड़ दिया है। अर्थात् वे महाभारतकी ऐतिहासिकताके विषयमें शङ्का करते हैं।

उनके इस संशयकी निवृत्तिका यही उत्तर है कि यदि पात्र ऐतिहासिक न होते, केवल कल्पित होते, तो इन पात्रों-को दूसरे ग्रन्थकर्ता अपने ग्रन्थमें शायद ही स्थान देते। परंतु पाण्डवादि पात्र ऐसे हैं कि महाभारतके पश्चात् लिखे गये पुराणों तथा साहित्यके ग्रन्थोंमें भी उनके नाम तथा अनेकानेक वर्णन देखनेमें आते हैं। ज्यौतिषशास्त्रमें भी '**शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ**' इत्यादि वाक्य देखनेमें आते हैं। बल्कि सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनिके

'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' (४ । ३ ९८)—इत्यादि सूत्रोंमें भी भारतीय पात्रोंके नाम आते हैं। इनके सिवा पाण्डवोंकी ऐतिहासिकताके लिये दूसरा क्या प्रमाण चाहिये ? जो लोग वर्तमान स्कूली इतिहासके जैसा इतिहास देखना चाहते हैं तथा जिनका प्राचीन भारतीय ग्रन्थ-प्रणालीके साथ परिचय नहीं है, वे इस प्रकारके अनेक विषयोंसे पूर्ण रामायण और महाभारत-जैसे ग्रन्थोंकी ऐतिहासिकताके विषयमें संदेह करें तो वह और बात है । संस्कृत-साहित्यमें तो इतिहासका यही स्वरूप है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

अर्थात् जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षके उपदेशसे युक्त, तथा पूर्व हो चुकनेवाले वृत्तान्तोंकी कथासे युक्त हो, उसे इतिहास कहेंगे ।'

पुराणरूपमें महाभारत

महाभारतको 'पुराण' नाम भी दिया गया है । देखिये १ । १ । १७—

'द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।'
'इतिहासमिमं विप्राः पुराणं परिचक्षते ॥'
(१ । १२)

श्राव्याणामुत्तमं चेदं पुराणं ऋषिसंस्तुतम् ।
(१ । ६२)

इस प्रकार इसको कितनी बार 'पुराण' कहा गया है । पुराणका लक्षण है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशामन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण)

'सृष्टिकी उत्पत्ति, सृष्टिका लय, वंशावली, मन्वन्तर और वंशोंका चरित्र—ये पाँच लक्षण जिनमें हों, वे पुराण कहलाते हैं ।' ये लक्षण भी महाभारतमें देखनेमें आते हैं, अतएव इनको पुराण कहनेमें कोई बाधा नहीं है ।

महाभारत काव्य

परंतु महाभारतको स्वयं व्यासजीने 'काव्य' नाम प्रदान किया है । देखिये—**कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्** (१ । १ । ६१)—'भगवन् ! मैंने यह सर्वोत्कृष्ट काव्य रचा है ।' ब्रह्माजीने भी कहा है—**त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात्काव्यं भविष्यति** । 'तुमने इसको काव्य कहा है, इसलिये यह काव्य कहलायेगा ।' साहित्यदर्पणकारने काव्यका सूत्ररूपमें लक्षण किया है—**'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है ।' इस लक्षणके अनुसार महाभारत, जो रससे सराबोर है, काव्य या महाकाव्य कहलाये तो इसमें विचारकी कोई बात नहीं ।

महाभारतमें साम्प्रदायिक तत्त्व

महाभारतमें शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य, प्रकृति तथा देवोंकी स्तुति, उपासना आदि देखनेमें आती है । यह देखकर कुछ लोग कहते हैं कि इन्हें शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदाय-प्रवर्तकोंने यह दिखलानेके लिये पीछेसे मिला दिया है कि महाभारतमें भी अपने सम्प्रदायका मूल है ।

अब इस सम्बन्धमें हम इतना ही पूछते हैं कि 'आपने प्राचीन इतिहास अथवा पुराणोंका ऐसा कोई ग्रन्थ देखा है, जिसमें एक ही विषयका वर्णन करके उस महाग्रन्थकी समाप्ति कर दी गयी हो ?' उत्तर नकारात्मक ही मिलेगा । वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थोंकी यही पद्धति है । वे सर्वज्ञ महर्षि जानते थे कि, त्रिगुणात्मक सृष्टिमें विभिन्न प्रकृतिके लोग हैं; अतएव उनको यदि एक ब्रह्मकी अथवा एक सात्त्विक देवताकी उपासना करनेके लिये कहेंगे तो इससे उनका मन उसमें नहीं लगेगा । इसलिये विभिन्न गुणोंसे युक्त स्वभाववाले लोगोंकी किसी भी उपासनाके द्वारा परमात्मामें प्रवृत्ति हो, इस उद्देश्यको सामने रखकर उन्होंने विभिन्न रूपोंमें एक ही ईश्वरका वर्णन किया है; परंतु उनका परम तात्पर्य क्रमशः परमात्माकी भक्ति, उनके ज्ञानमें ही परिसमाप्त होता है । और यह मार्ग नया नहीं है, परम्परागत है । कहा है—

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥

'जैसे आकाशसे गिरा हुआ मेघका जल समुद्रमें जाता है, उसी प्रकार सर्वदेवताओंको किया हुआ नमस्कार केशवको प्राप्त होता है ।' श्रीकृष्ण स्वयं ही कहते हैं—**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।** 'हे पार्थ ! मनुष्य किसीकी भी आराधना करता हुआ मेरे ही मार्गका अनुसरण करता है, अर्थात् मेरी ही आराधना करता है । इस उद्देश्यसे ही व्यासादि महर्षियोंने अपने ग्रन्थोंमें अनेक देवी-देवताओंकी आराधनाका वर्णन किया है । इतना ही नहीं, विचारशील तत्त्वान्वेषियोंको सही तात्पर्य समझमें आ जाय—इस उद्देश्यसे जिस ग्रन्थमें विष्णुकी महत्ताका वर्णन किया गया है, उसीमें दूसरी जगह शिवकी महत्ताका भी वर्णन हुआ है । तात्पर्य यह है कि विभिन्न उपाधियोंसे ही भगवत्स्वरूपकी विभिन्नता है । उन उपाधियोंका त्याग करके अभिन्नोपासना ही इसका लक्ष्य है ।

प्राचीन महर्षि केवल इतिहास जान लेनेमें ही अपने कर्तव्यकी परिसमाप्ति नहीं मानते थे; क्योंकि वे ऐहिक क्षणिक भावकी अपेक्षा किसी चिरंतन भावको ही अधिक उपकारक समझते थे और इसी कारण वे स्वयं ऐहिक जालमें अधिक आसक्त नहीं होते थे । तब फिर वे दूसरोंको उसमें क्यों फँसाते ? कदापि नहीं । उन परम कृपालु ऋषियोंका तो यही

मन्तव्य था कि विभिन्न प्रकृतिवालोंको जैसे रुचे वैसे मुक्त होने, परम श्रेय प्राप्त करनेका मार्ग दिखलायें। इस उद्देश्यसे लिखे गये ग्रन्थोंमें यदि हम केवल ऐतिहासिक तत्त्व ढूँढ़ने जायँ और चाहें कि इसके बिना उसमें और कुछ भी न हो तो यह कहाँतक ठीक है।

बल्कि महर्षि व्यासकी महाभारत-रचनाका कारण दिखलाते हुए वैशम्पायन कहते हैं—

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्यं तथैव च।
कृष्णद्वैपायनेनेदं कृतं पुण्यचिकीर्षुणा॥
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम्।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम्॥
(१। ६२। २७-२८)

'पुण्य करनेकी इच्छावाले कृष्णद्वैपायन मुनिने महात्मा पाण्डवोंकी तथा दूसरे पुष्कल वैभव और तेजवाले क्षत्रियोंकी कीर्ति जगत्में फैलानेके लिये इस धनप्रद, यशस्कर, आयुष्यवर्धक, पुण्यकारक तथा स्वर्गप्रद महाभारतकी रचना की है।'

उपर्युक्त श्लोकोंमें भारतकी योग्यता और निर्माणके जो हेतु दिये गये हैं, उनमें दो हेतु स्पष्ट जान पड़ते हैं—एक पुण्य करनेकी इच्छा तथा दूसरी पाण्डवोंकी तथा क्षत्रियोंकी कीर्तिका विस्तार। पुण्य करनेकी इच्छा किसीका वृत्तान्त लिखनेसे कहीं पूरी नहीं होती; बल्कि इतर दीन-दुखी प्राणियोंका उद्धार करनेसे अथवा उसका मार्ग दिखलानेसे होती है। महाभारतमें जितने धर्म, भक्ति या ज्ञानप्रधान विषय आये हैं, उन सबका समावेश इस हेतुके भीतर हो जाता है। पाण्डवोंकी कीर्तिमें ऐतिहासिक हेतु है, और वह हेतु भी 'उन आदर्श पुरुषोंका जीवन लोगोंके सामने रखकर युधिष्ठिर आदिके समान बर्तना चाहिये, दुर्योधन आदिके समान नहीं'—इस महान् उपदेशसे चरितार्थ होता है। तात्पर्य यह कि महर्षियोंके ग्रन्थोंमें केवल इतिहास ही नहीं होता अपितु उनमें परमतत्त्वदर्शक साधन भी गुँथे हुए होते हैं।

कविताके भेदसे कर्त्ताके भेदकी कल्पना

कुछ काव्यसमीक्षक कहते हैं कि 'भारतके श्लोकोंकी रचना विभिन्न प्रकारकी है; इनमें कुछ श्लोक तो सरल बातचीत-जैसे हैं तथा कुछ श्लोक क्लिष्ट हैं। अतएव इस काव्यभेदसे इनके कर्ता भी अलग-अलग होने चाहिये।'

इसका उत्तर यह है कि व्यासजी स्वयं कहते हैं—आठ हजार आठ सौ श्लोकोंको मैं समझता हूँ और शुक समझते हैं, अर्थात् वे श्लोक इतने क्लिष्ट हैं कि इनको दूसरे नहीं समझ सकते। व्यासजीने इस प्रकारके कूट श्लोक क्यों कहे, यह हम पहले भारत-लेखन-प्रसङ्गमें बता चुके हैं। उसके यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। दूसरी बात यह है कि जिस प्रसङ्गकी कविता होती है, उसके लिये अनुकूल संयोग मिलनेपर जैसी कविता बन पाती है, प्रतिकूल संयोगमें वैसी नहीं बन पाती—यह सुकवियोंको ज्ञात है। संयोगकी अनुकूलता और प्रतिकूलता भी कविताके स्वरूपका निर्माण करनेमें योग्य भाग लेती है। व्यासजीका कविता-लेखनका कैसा संयोग था, यह सुविदित ही है। तथापि यह कहे बिना हम नहीं रह सकते कि यह कविता रसात्मक, सरल और भावपूर्ण है। वृत्तोंका फेर-फार तो प्रसङ्गको यथार्थरूपसे दीप्त करनेका एक ढंग है तथा कवि-चातुर्य है; अतएव जो विभिन्न कर्त्ता माननेकी बात है, वह ठीक नहीं है। तथा अनुष्टुप् छन्द लिखनेवाले दूसरे उपजाति आदि छन्द नहीं लिख सकते, यह भी माननेयोग्य नहीं। तात्पर्य यह है कि कविताके भेदसे कर्त्ताके भेदकी कल्पना कोरी कल्पना है।

ग्रन्थ-प्रचारकी शैली

महाभारतमें एक ऐसा श्लोक है—

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथा परे।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते॥
(१। १। ५२)

''कुछ ब्राह्मण 'नारायणं नमस्कृत्य' अथवा 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इस मन्त्रसे आरम्भ करके, दूसरे कुछ लोग आस्तीकके आख्यानसे आरम्भ करके तथा कुछ लोग उपरिचर वसुके आख्यानसे आरम्भ करके भारतको भलीभाँति पढ़ते हैं।''

इस श्लोकसे कुछ लोग इसको भारतके तीन संस्करणोंका आरम्भ मानते हैं, परंतु इसके द्वारा भारतके तीन संस्करण सिद्ध नहीं होते। इससे तो यह जान पड़ता है कि जब यह ग्रन्थ मौखिक पढ़ा जाता था, तब जिन विद्वान्को जहाँसे उपयुक्त जान पड़ता था, वहींसे वे उसे पढ़ना या व्याख्यान देना प्रारम्भ कर देते थे। यदि दूसरोंके कथनानुसार इसको सौति, वैशम्पायन और व्यासके तीन संस्करणोंका प्रारम्भ मानें तो यह घटित नहीं हो सकता। क्योंकि सौतिने **जनमेजयस्य राजर्षेः**—इस नवें श्लोकसे बोलना प्रारम्भ किया है, वैशम्पायनने ६१ वें अध्यायके **'गुरवे प्राङ् नमस्कृत्य'**—इस आद्यश्लोकसे आरम्भ किया है, और व्यासके आरम्भका तो पता ही नहीं लगता। अथवा मान लीजिये कि उन्होंने **'नारायणं नमस्कृत्य'**—इस आद्य श्लोकसे ही प्रारम्भ किया है, और इससे सारा ग्रन्थ उन्हींका कहा हुआ ठहरता है।

वस्तुतः उस समय ब्राह्मणसमाजमें इस ग्रन्थका किस प्रकार उपयोग होता था, यह दिखलाना ही इसमें हेतु है

और यह बादके श्लोकसे स्पष्ट हो जाता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

विविधं संहिताज्ञानं दीपयन्ति मनीषिणः।
व्याख्यातुं कुशलाः केचिद् ग्रन्थान्धारयितुं परे॥
(१।१।५३)

अर्थात् बुद्धिमान् लोग इस भारतसंहिताके ज्ञानको विविध प्रकारसे प्रकाशित करते हैं; कुछ लोग व्याख्या करनेमें कुशल हैं तो कुछ ग्रन्थको धारण करनेमें—ध्यानमें रखनेमें कुशल हैं।' इससे जान पड़ता है कि उस श्लोकमें उस समयका ग्रन्थ-प्रचार वर्णित है।

भारतमें पुनरुक्ति

महाभारतमें जरत्कारुका आख्यान, परिक्षित्-शापका आख्यान, लाक्षाभवन-दाह आदि कुछ कथाएँ दो बार आती हैं। यद्यपि इनमें संक्षेपका और विस्तारभेद है, तथापि कुछ लोगोंको इनमें पुनरुक्ति तथा पुनरुक्ति करनेवाले दूसरे लेखकोंकी गन्ध आती है। इस सम्बन्धमें ठीक-ठीक समाधान भारतमें पहले ही दे दिया गया है—

विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत्।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्॥
(१।१।५१)

'व्यासजीने इस महान् ज्ञानको विस्तारपूर्वक तथा संक्षेपमें कहा है; क्योंकि लोकमें विद्वानोंको संक्षेपमें तथा विस्तारपूर्वक—दोनों प्रकारसे किसी ज्ञानको धारण कराना इष्ट होता है।' इस हेतुसे ही ये कथाएँ दुहरायी गयी हैं, अन्यान्य कर्त्ताओंके द्वारा बढ़ायी हुई नहीं हैं; क्योंकि यदि उनमें बढ़ानेकी शक्ति होती तो उन विद्वानोंको पुनरुक्तिका भान क्यों नहीं होता और ज्ञात होनेपर वे पहलेकी आख्यायिकाको निकाल बाहर क्यों नहीं कर देते।

कौरव-पाण्डव युद्ध था या कौरव-पाञ्चाल ?

कौरव-पाण्डव-युद्धको कुछ लोग कौरव-पाञ्चाल-युद्ध कहते हैं। इसमें वे कारण यह देते हैं कि दुर्योधन आदि कुरुवंशी थे और पाण्डव भी कुरुवंशी थे, इसलिये 'कौरव' नाममें उन सबका समावेश हो जाता है। यदि वह युद्ध उनके बीच हुआ होता तो यथार्थतया धार्तराष्ट्र और पाण्डवोंका युद्ध कहलाता। बल्कि द्रोण, भीष्म, कृपाचार्य आदिका धृतराष्ट्रके पुत्रोंके साथ जितना स्नेह तथा सम्बन्ध था, उतना ही पाण्डवोंके साथ भी था। इस कारण वे दुर्योधनका पक्ष लेकर पाण्डवोंका बिगाड़ करनेके लिये खड़े नहीं होते। अतएव वह युद्ध कौरवों और पाञ्चालोंका था। क्योंकि द्रोणका आश्रय लेकर कौरवोंने द्रुपदको पराजित किया था; इसलिये हो सकता है कि पाञ्चाल लोगोंने हस्तिनापुरपर चढ़ाई की हो और पाण्डवोंने अपने ससुरकी सहायता की हो, इत्यादि।'

इस बातपर अब हम विचार करें। पहले पञ्चालराज द्रुपद और कुरुवंशियोंमें शत्रुता न थी, परंतु द्रोणाचार्य और द्रुपदके बीच मित्रकलहमें शत्रुता हो गयी थी, और इस कारणसे द्रुपदका पराभव करनेके उद्देश्यसे द्रोणाचार्यने गुरुकुलके कुमारोंसे गुरु-दक्षिणामें द्रुपदको बाँधकर अपने सामने लानेकी माँग की थी। कुमारोंने दक्षिणा देना स्वीकार करके द्रोणाचार्यकी अधीनतामें द्रुपदके ऊपर चढ़ाई कर दी। परंतु अन्य कुमार पराजित हो गये, अन्तमें अर्जुनने अपने तीनों भाइयोंको साथ लेकर द्रुपदकी राजधानीपर आक्रमण कर दिया और द्रुपदको पराजित करके तथा बाँधकर द्रोणाचार्यके सामने ला उपस्थित किया। तभीसे द्रुपदका द्रोणाचार्यके प्रति पूर्ण वैरभाव बढ़ गया, और इस कारणसे उन्होंने द्रोणाचार्यको मारनेके लिये अग्निकुण्डसे धृष्टद्युम्नको उत्पन्न किया। इस वृत्तान्तके द्वारा यह जान पड़ता है कि कौरवोंका द्रुपदसे वैर न था, परंतु वे द्रोणाचार्यके साथ थे, और वे भी उदार थे। क्योंकि द्रोणाचार्यने यह जानकर भी कि धृष्टद्युम्न उनको मारनेके लिये उत्पन्न हुआ है, उसे धनुर्वेदकी शिक्षा दी थी। द्रुपदके पराभवमें कुरुवंशी कुमारोंका ही हाथ था, और उसमें भी विशेष करके पाण्डवोंने ही उनको पराजित किया था। अतएव द्रोणाचार्य और पाण्डवोंके बीचमें वैर बढ़ानेकी द्रुपदकी इच्छा हो सकती थी। (क्योंकि द्रुपदका पाण्डवोंके साथ वैर न था, यदि होता तो वह अपनी पुत्रीके लिये अर्जुनको प्राप्त करनेके हेतु स्वयंवरकी प्रतिज्ञा नहीं करते)। पश्चात् पाण्डव तो द्रुपदके जामाता बन गये, किंतु उनका वैर-भाव द्रोणाचार्यके प्रति बना रह गया। अब यदि यह वैर साधनेके लिये पाञ्चालोंने चढ़ाई की होती तो उसके लिये कोई नया भारत रचना पड़ता, अथवा किसी नये व्यासजीके मनमें यह भारत हो तो उसे वे जानें। परंतु महाभारतमें तो जब पाण्डवोंके वनवासके तेरह वर्ष पूरे हो गये, सुलहके सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गये और पाण्डव रणभूमिमें युद्ध करने आये, तभी पाञ्चाल अपने जामाताओंकी सहायताके लिये आये और जिस प्रकार दूसरे राजाओंने युद्ध किया, वैसे ही उन्होंने भी युद्ध किया। उसमें जिसनेजिसने जिसको-जिसको मारनेकी प्रतिज्ञा की थी, तथा जिसकीजिसकी मृत्युमें जो-जो निमित्तभूत थे, उन्होंने उनको-उनको मारा। बल्कि धृष्टद्युम्नको पाण्डवोंने सेनापति बनाया था, उसमें भी कारण यह था कि 'सेनापति किसको बनाया जाय?' इस प्रकारका विमर्श जब उद्योगपर्वमें हुआ, तब धृष्टद्युम्नकी अधिक योग्यताके विचारसे उनको सेनापति बनानेके लिये बहुमत प्राप्त हुआ, और इसी कारणसे वे सेनापति चुने गये।

इस विचारसे तो यह कौरवों और पाञ्चालोंका युद्ध नहीं सिद्ध होता। अब यह देखना है कि इसको कौरवोंका युद्ध अथवा धार्तराष्ट्रों और पाण्डवोंका युद्ध क्यों नहीं कहा गया? अपितु इसे कौरव-पाण्डवोंका युद्ध क्यों कहा गया? यद्यपि सभी

कुरुवंशी थे, इसलिये वे कौरव ही कहलाते थे, फिर भी यह भाई-भाईका युद्ध था, इसलिये 'कौरवोंका युद्ध किसके साथ' यह प्रश्न बना ही रह जाता। इस एक कारणसे, तथा दुर्योधनके पक्षमें बाह्लीक, सोमदत्त, भूरिश्रवा, भीष्म आदि बहुतेरे कुरुवंशी युद्ध करनेवाले थे तथा पाण्डवोंकी ओर इस वंशके केवल वे ही थे। इसलिये धार्तराष्ट्र न कहकर एक ओर कौरव और दूसरी ओर कौरव होते हुए भी विशिष्टता व्यक्त करनेके लिये पाण्डव कहनेमें क्या बाधा उपस्थित होती है, जिससे भारतोक्त वस्तुस्थितिका अतिक्रमण करके पाञ्चालोंकी ओर बुद्धि दौड़ानेकी आवश्यकता समझी जाय ?

बल्कि भीष्म आदि न्यायी तथा धर्मपरायण थे और उनके लिये धार्तराष्ट्र और पाण्डव समान थे, तथापि उन्होंने किस कारण धार्तराष्ट्रोंका पक्ष लिया—इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उन लोगोंने युद्धके मौकेपर जब युधिष्ठिर उन्हें प्रणाम करनेके लिये आये, उस समय जो वचन कहे थे, वे ही पर्याप्त हैं। उन्होंने कहा था—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥
(भीष्म० १९। ४१)

'महाराज! पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं—यह सत्य है। मुझको कौरवोंने अर्थसे बाँध लिया है।'

यह बात उनमेंसे प्रत्येकने कही, इससे वे दुर्योधनके पक्षमें क्यों रहे, यह समझमें आ जाता है। उपर्युक्त हेतुओंसे यह युद्ध कौरव-पाञ्चालोंका नहीं, बल्कि कौरव-पाण्डवोंका था—यह ठीक-ठीक समझमें आ जाता है।

महाभारतके विषयमें इस प्रकारकी अनेक शङ्काएँ होती हैं, परंतु उनका इस ग्रन्थके द्वारा ही निराकरण हो जाता है।

वंशावलि

पाण्डव चन्द्रवंशी थे। उनकी वंशावलि महाभारतके आदिपर्वके ९४ वें ९५ वें अध्यायमें दी गयी है। ९४ वे की अपेक्षा भी ९५ वें अध्यायमें वह विस्तारपूर्वक है। उसमेंसे सीधा वंश चलानेवाले एक-एक आदमीका नाम लेकर नीचे वंशावलि दी जाती है—

१. नारायण
|
२. ब्रह्मा

सूर्यवंश	चंद्रवंश
३. मरीचि	३. अत्रि
४. कश्यप	४. चन्द्र
५. विवस्वान् (सूर्य)	५. बुध
६. वैवस्वत (मनु)	६. पुरूरवा
७. इला (सुद्युम्न)	७. आयुष्

उपर्युक्त दो वंशोंमें चन्द्रवंशकी अगली वंशावली इस प्रकार है—८—नहुष, ९—ययाति, १०—पूरु (इनसे ही पौरव कहलाये) ११—जनमेजय, १२—प्राचिन्वान्, १३—संयाति, १४—अहंयाति, १५—सार्वभौम, १६—जयत्सेन, १७—अवाचीन, १८—अरिह, १९—महाभौम, २०—अयुतनायी, २१—अक्रोधन, २२—देवातिथि, २३—अरिह, २४—ऋक्ष, २५—मतिनार, २६—तंसु, २७, इलिन, २८—दुष्यन्त, २९—भरत (इनके नामपर भारत कहलाता है), ३०—सुमन्यु, ३१—सुहोत्र, ३२—हस्ती (इन्होंने हस्तिनापुर बसाया), ३३—विकुण्ठन, ३४—अजमीढ, ३५—संवरण, ३६—कुरु, ३७—विदुर, ३८—अनश्वा, ३९—परिक्षित्, ४०—भीमसेन, ४१—प्रतिश्रवा, ४२—प्रतीप, ४३—शंतनु, ४४—विचित्रवीर्य, ४५—धृतराष्ट्र तथा पाण्डु, ४६—धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि तथा पाण्डुके युधिष्ठिर आदि पाण्डव। इस प्रकार पाण्डव आदिनारायणसे ४६ वीं पीढ़ीमें आते हैं। परंतु पूर्वके राजा महातपस्वी तथा योगसिद्ध थे, अतएव इस वंशको पाण्डवोंतक आनेमें अनेक युग बीत गये होंगे। उपर्युक्त वैवस्वत मनुका यह २८ वाँ कलियुग चल रहा है।

टीकाकार नीलकण्ठ

महाभारतके अनेकों स्थल बहुत कठिन हैं। उन स्थानोंके श्लोक बड़े-बड़े विद्वानोंकी बुद्धिको भी भ्रममें डाल देते हैं, और विचारमग्न कर देते हैं। इस प्रकारके कठिन श्लोकरूपी दुर्भेद्य भँवरवाले महाभारतरूपी समुद्रको पार करनेके लिये जैसे-जैसे अधिक टीकाएँ मिलेंगी, वैसे-वैसे अधिक सुगमताका होना स्वाभाविक ही है। महाभारतके ऊपर अनेकों टीकाएँ हुई होंगी। परंतु आजकल पं० नीलकण्ठजीकी 'भारत-भाव-प्रदीप' नामक टीका ही समस्त भारतमें एक अति उत्तम टीकाके रूपमें उपलब्ध है। [प्रसन्नताकी बात है कि हिंदीमें प्रत्येक श्लोकके अनुवादके साथ सारी महाभारत 'गीताप्रेस'के द्वारा प्रकाशित की गयी है।] पण्डित नीलकण्ठने अपनी टीकामें 'रत्नगर्भ' नामक किसी टीकाकारका तथा 'गाणेशी' नामक टीकाका नाम देकर महाभारतके आख्यानोंके तात्पर्य-सूचक श्लोक दिये हैं। इससे ज्ञात होता है कि 'रत्नगर्भ' और 'गणेश' नामके पण्डितोंने भी इस ग्रन्थके ऊपर टीकाएँ की होंगी। पण्डित नीलकण्ठने 'भावदीप' लिखते समय कितना परिश्रम और शोध किया है, यह उनकी महाभारतकी टीकाके आरम्भमें आये हुए दो श्लोकोंसे समझमें आ जाता है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

बहून् समाहृत्य विभिन्नदेशयान्
कोशान् विनिश्चित्य च पाठमग्र्यम्।
प्राचां गुरूणामनुसृत्य वाच-
मारभ्यते भारतभावदीपः॥

टीकान्तराणीन्दुरविप्रभाणि
बाह्यार्थरत्नानि चकासयन्तु ।
अन्तर्निगूढार्थचयप्रकाशे
दीपः क्षमो भारतमन्दिरेऽस्मिन् ॥

'विभिन्न देशोंके अनेकों कोषोंको एकत्र करके, मुख्य पाठ निश्चय करके तथा प्राचीन गुरुओंकी वाणीका अनुसरण करके इस 'भारतभावदीप'को प्रारम्भ करते हैं। सूर्य-चन्द्र-जैसी कान्तिवाली दूसरी टीकाएँ बाह्यार्थरूपी रत्नोंको भले ही प्रकाशित करें, परंतु इस भारतमन्दिरमें निहित अत्यन्त गूढ़ अर्थसमूहको प्रकाशित करनेमें यह भारतभावदीप ही समर्थ है।'

इससे यह समझमें आ जाता है कि नीलकण्ठकी टीका बहुत विचारपूर्ण है तथा उनके समयमें दूसरी टीकाएँ भी प्रचलित थीं। पण्डित नीलकण्ठ दक्षिण देशके पण्डित थे, और वे पेशवाओंके समयके राजपण्डित थे—ऐसी किंवदन्ती है। वे श्रीधर स्वामीके बाद हुए थे, यह सभापर्वके ४१ वें अध्यायके प्रथम श्लोककी टीकासे ज्ञात होता है। वे लिखते हैं—'**अतएव श्रीमद्भागवतेऽपि हरिनिन्दाग्रन्थः स्तुतिपरत्वेनैव व्याख्यातः श्रीधरस्वामिभिः**। इस प्रकार श्रीमद्भागवतके टीकाकार श्रीधर स्वामीके उल्लेखसे नीलकण्ठ उनसे पीछे हुए थे, यह स्पष्ट हो जाता है। श्रीधर स्वामीको हुए सम्भवतः चार सौ वर्ष हो गये। उनके बाद नीलकण्ठ हुए हैं। बल्कि भगवद्गीताके दूसरे अध्यायकी समाप्तिमें पण्डित नीलकण्ठ लिखते हैं—**अस्याध्यायस्यार्थः संगृहीतो मधुसूदनश्रीपादैः**। इस प्रकार वे गीताके टीकाकार मधुसूदन सरस्वतीका उल्लेख करते हैं। इससे संदेह नहीं रह जाता कि पण्डित नीलकण्ठ उनके भी पीछे हुए थे। मधुसूदन सरस्वती शाके १६०० में हुए थे, ऐसा माना जाता है। पण्डित नीलकण्ठके पिताका नाम 'गोविन्दसूरिसूनोः' लिखनेके कारण गोविन्द था, यह स्पष्ट ज्ञात होता है। वे चतुर्धर नामक विप्रकुलमें पैदा हुए थे। उनके मुख्य गुरु सर्वशास्त्रनिष्णात लक्ष्मणाचार्य थे, यह उनके पुनः-पुनः कथनके द्वारा ज्ञात होता है। पुनः वे नारायण तथा धीरेश नामके दो विद्वान् पूर्वपुरुषोंको हरि तथा हररूपमें मानकर नमस्कार करते हैं। पण्डित नीलकण्ठ चतुर्धर सर्वशास्त्रोंमें निपुण थे, यह उनकी टीकासे जान पड़ता है। वे वेदान्त तथा मीमांसाके असाधारण पण्डित थे। उनको भूगोल तथा खगोलसम्बन्धी प्राचीन ज्ञान होनेके साथ-साथ अर्वाचीन विचारोंका भी ज्ञान था, यह उनके भीष्मपर्वमें आये हुए भूगोल-वर्णनके प्रसङ्गसे स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने सारे महाभारतपर तथा उसके खिलभाग हरिवंशके ऊपर भी सम्पूर्ण टीका लिखी है। पण्डित नीलकण्ठकी टीका कितनी योग्य है, यह इससे समझ लेनी चाहिये कि जैसे सूर्यके उदय होते ही तारागण अदृश्य हो जाते हैं, उसी प्रकार पण्डित नीलकण्ठकी टीका प्रकाशित होते ही दूसरी टीकाएँ अदृश्य हो गयीं। इन्होंने टीका लिखनेमें कितना परिश्रम किया है, यह बात इनकी अतिविस्तृत भगवद्गीताकी टीका देखनेसे समझमें आ जाती है। बल्कि अश्विनीकुमारकी स्तुति, म्लेच्छ भाषाके श्लोक, सनत्सुजातका उपदेश, मोक्षधर्म तथा अनुगीता-जैसे कठिन स्थलोंपर यदि यह टीका न होती तो उनमें बहुतेरे श्लोकोंका समझना भी दुष्कर हो जाता। पुनः महाभारतमें बहुतेरे कूट श्लोक हैं, उनमें अतिक्लिष्ट दो श्लोकोंका नमूना यहाँ देते हैं—

नदीज लङ्केशवनारिकेतु-
र्नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः ।
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी
जित्वाव यं नेष्यति चाद्य गावः ॥
(विराट० ३९ । १०)

गोकर्णा सुमुखी कृतेन इषुणा गोपुत्रसम्प्रेषिता
गोशब्दात्मजभूषणं सुविहितं सुव्यक्तगोऽसुप्रभम् ।
दृष्ट्वा गोगतकं जहार मुकुटं गोशब्दगोपूरि वै
गोकर्णासनमर्दनश्च न ययावप्राप्य मृत्योर्वशम् ॥
(कर्ण० ९० । ४२)

प्रथम श्लोकमें द्रोणाचार्यने अर्जुनका वर्णन करते हुए भीष्मको दुर्योधनकी रक्षा करनेके लिये कहा है, और दूसरे श्लोकमें 'गो' शब्दके विभिन्न अर्थ हैं। उसमें कर्णने अर्जुनके वधके लिये छोड़े हुए बाणसे अर्जुनका केवल मुकुट-छेदन किया है, यह बात कही गयी है। यद्यपि इस प्रकारके कूट श्लोक बहुत नहीं हैं, फिर भी कठिन श्लोक बहुत हैं। यदि टीका न हो तो निस्संदेह उनका अर्थ करना कठिन हो जाता है। पण्डित नीलकण्ठने सहज लगनेके कारण या दूसरे कारणोंसे कुछ श्लोकोंकी टीका नहीं की है, इसलिये उन श्लोकोंके ऊपर व्याख्याता लोग अपने-अपने मनरूपी तुरङ्गको यथेष्ट दौड़ने देते हैं। पण्डित नीलकण्ठ बड़े समर्थ पण्डित थे, इसमें संदेह नहीं; यह बात अनुवादमें उनकी टीकामें दी गयी टिप्पणियोंसे व्यक्त हो जाती है। उन्होंने देवीभागवतके ऊपर भी टीका लिखी है तथा वेदान्तका एक 'वेदान्तक' नामका ग्रन्थ लिखा है। बल्कि ज्योतिषशास्त्रमें भी 'नीलकण्ठी' नामका ग्रन्थ देखनेमें आता है। सचमुच विद्वद्वर नीलकण्ठ निःस्वार्थतापूर्वक असाधारण श्रम उठाकर सम्पूर्ण महाभारतके ऊपर टीका करके भारतवर्षकी जनताका असीम उपकार कर गये हैं।

सौति ब्राह्मण थे

नैमिषारण्यनिवासी ऋषियोंके सामने महाभारत सुनाने-वाले सौति ब्राह्मण थे, यह पं० नीलकण्ठ अपनी आदिपर्वके

चौथे अध्यायकी टीकामें प्रतिपादन करते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि **ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतः**—'ब्राह्मणीमें क्षत्रियसे उत्पन्न हुआ सूत कहलाता है' इस स्मृतिवाक्यके अनुसार विलोमजन्मा जाति सूत कहलाती है। और ऐसा ही संजय, अधिरथ आदिको समझना चाहिये। उनकी जीविका सारथिके कामसे अथवा प्राचीन राजाओंके शौर्य, औदार्य आदिका वर्णन करके स्वामीको प्रोत्साहन देनेसे चलती थी और इसी कारण वे पौराणिक नामसे पुकारे जाते हैं। उग्रश्रवा तो सौति अर्थात् सूतपुत्र थे, जातिसूत न थे। इस सूतके लिये पुराणान्तरमें कहा गया है—**अग्निकुण्डसमुद्भूत सूत निर्मलमानस**—'हे अग्निकुण्डसे उत्पन्न निर्मल मनवाले सूत!' यह शौनकका वचन है। फिर **अग्निजो रोमहर्षणः**—रोमहर्षण अग्निसे उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार अग्निकुण्डसे उत्पन्न हुए सूतको ब्राह्मणके संकल्पके द्वारा ब्रह्मासनकी योग्यता प्राप्त हुई थी, जैसे अग्निकुण्डसे उत्पन्न धृष्टद्युम्नको संकल्पके बलसे क्षत्रियत्व प्राप्त हुआ था। बल्कि ब्रह्मासनकी प्राप्ति वैशम्पायन, शान्तव्रत, मार्कण्डेय आदिके समान तथा उनकी जातिके लोगोंको ही हो सकती है, हीन जातिवालोंको नहीं। तथा महात्मा शौनक आदि भी हीनसे परम रहस्यको ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि **न हीनतः परमभ्याददीत**—'हीन जातिवालोंसे परम तत्त्व ग्रहण न करे'—यह निषेध है। जो 'नीचसे भी उत्तम विद्या ग्रहण करे'—यह वचन है, वह आपत्कालके लिये ही है। बल्कि सौतिमें ब्राह्मणत्वका संकल्प था, इसीसे बलरामने भी ब्रह्महत्याकी निवृत्तिके लिये व्रत किया था। रोमहर्षणको जो सूत कहते हैं, वह कथा-वक्ता होनेके कारण ही। जातिसे सूत वे नहीं थे। इससे यह फलित होता है कि पुराण-श्रवणकी इच्छावाले ब्राह्मणसे ही पुराणश्रवण करें, हीनपुरुषसे नहीं। बल्कि पौराणिकका पद भी जातिसूतके लिये नहीं, अपितु पुराणपाठी ब्राह्मणके लिये समझना चाहिये।' इस प्रकार पं० नीलकण्ठने उग्रश्रवा सौतिको ब्राह्मण सिद्ध करनेके लिये तर्क उपस्थित किया है।

'नारायणं नमस्कृत्य'—इस श्लोककी पुनरावृत्ति

महाभारतमें **'नारायणं नमस्कृत्य'**—यह श्लोक प्रत्येक पर्वके आरम्भमें प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थमें नरावतार अर्जुन और नारायणावतार श्रीकृष्ण—ये दो मुख्य नायक हैं। महाभारत इन दोनोंके चरित्रोंसे तथा गुणोंसे भरपूर है और वे ही सारे कल्याणके धामस्वरूप हैं। इसी कारण नर-नारायणके प्रति नमस्कारसूचक ये श्लोक बारंबार आरम्भमें दिये गये हैं। बल्कि नर और नारायण (जीव और ईश) दोनों नरोत्तमपदवाच्य ब्रह्मरूप हैं तथा ये प्रत्येक पर्वके मुख्य विषय हैं, यह सूचित करनेके लिये भी यह श्लोक दिया गया है।

जय

उपर्युक्त श्लोकमें इस ग्रन्थका 'जय' नाम दिया गया है। यद्यपि अष्टादशपुराण आदि अनेकों ग्रन्थ 'जय' नामसे पुकारे जाते हैं, फिर भी महाभारत तो 'जय' नामके लिये सहेतुक पात्र है। 'जय' अठारहकी संज्ञा है। वाल्मीकि-रामायणके टीकाकार ग्रन्थके श्लोकोंमें घटी-बढ़ी न हो, इसलिये प्रत्येक अध्यायकी टीकाके अन्तमें इस अक्षरजन्य संख्याका उपयोग करते हैं। कौन-सा अक्षर किस संख्याका वाचक है, यह इस श्लोकसे पता चलता है—

कादयोऽङ्काष्टादयोऽङ्काः पाद्याः पञ्च प्रकीर्तिताः।
यादयोऽष्टौ ञनौ पूर्णे विज्ञेयाः स्वरशास्त्रके॥

(समरसार)

क से झ तकके अक्षर क्रमशः १ से ९ तककी संख्याके वाचक हैं, ट से ध तकके अक्षर भी १ से ९ तककी संख्याके वाचक हैं, प से म तकके अक्षर १ से ५ तककी संख्याके वाचक हैं, य से ह तकके आठ अक्षर १ से ८ तककी संख्याके वाचक हैं और ञ तथा न—ये दो पूर्णवाचक हैं, अर्थात् क से १, ख से २—इस प्रकार संख्याके स्थानमें अक्षर लेना चाहिये। लंबी संख्या भी अक्षरोंके द्वारा कही जा सकती है। इस उद्देश्यसे अक्षर-विशेषको एक विशेष संख्या-वाचक माना है। कौन अक्षर किस संख्याका वाचक है, यह नीचेके कोष्ठकद्वारा सुलभतासे जाना जा सकता है।

संख्या	वाचक अक्षर	संख्या	वाचक अक्षर
१	क ट प य	६	च त ष
२	ख ठ फ र	७	छ थ स
३	ग ड ब ल	८	ज द ह
४	घ ढ भ व	९	ञ ध
५	ङ ण म श	०	स न

इस प्रकारकी गणनाका क्रम जैमिनिसूत्रमें तथा लघु आर्यसिद्धान्तमें भी दिया गया है। उपर्युक्त रीतिसे देखनेपर 'जय' शब्दमें ज ८ की संख्याका वाचक है, और य १ की संख्याका वाचक है। संस्कृतके ग्रन्थोंमें अङ्कोंकी वामगति देखी जाती है। इस प्रकार पहले १ और पीछे ८ लेनेपर १८ की संख्या बनती है। इस जयसूचक १८ का मेल महाभारतमें विशेषरूपसे देखनेमें आता है। महाभारतमें मुख्य पर्व १८ हैं, दोनों पक्षोंकी सेना १८ अक्षौहिणी है, उनके बीच १८ दिन युद्ध चला। युद्धके बाद धृतराष्ट्र १८ वर्ष जीते रहे, उसके बाद युधिष्ठिरने १८ वर्ष राज्य किया। इस ग्रन्थमें आयी हुई ज्ञानमयी गीता १८ अध्यायोंकी है, और इस ग्रन्थमें इस मङ्गलाचरण-श्लोककी भी १८ बार आवृत्ति हुई है। बल्कि कथाके सारांशमें भी धर्मकी जय है। इस प्रकार

इस ग्रन्थमें 'जय'का अनुस्यूत प्रयोग देखनेमें आता है। जैसे वाल्मीकि-रामायणके प्रत्येक हजार श्लोकके आरम्भमें गायत्री-के क्रमशः एक-एक अक्षरका प्रयोग हुआ है, और इस प्रकार गायत्रीके २४ अक्षरोंसे युक्त २४ हजार श्लोकोंकी रामायण मोक्षदा गायत्रीरूप है—यह संकेतसे बतलाया गया है, उसी प्रकार इस ग्रन्थमें भी जय (१८) का बारंबार प्रयोग करके सांकेतिक रीतिसे ग्रन्थको जय अर्थात् संसारको जीतनेवाला सूचित किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थका 'जय' नाम अर्थसूचक लगता है।

महाभारत ग्रन्थरत्नोंका रत्नाकर है

महाभारत ग्रन्थ अनेक ग्रन्थोंका रत्नाकर है। इसमेंसे सैकड़ों संस्कृत तथा प्राकृतके ग्रन्थ, एवं फुटकर गद्य-पद्यात्मक लेखरूपी रत्न प्रकट हुए हैं और आगे भी प्रकट होते रहेंगे। संस्कृतमें उत्तम गिने जानेवाले तीन महाकाव्य—किरातार्जुनीय, नैषध और माघकविकृत शिशुपालवध—ये महाभारतकी ही विभूतियाँ हैं। बल्कि चम्पूभारत, नलचम्पू, धनंजय-विजय-व्यायोग, वेणीसंहार, प्रचण्डपाण्डव, अभिज्ञानशाकुन्तल, सावित्री-चरित्र, सुभद्राहरण, सौगन्धिकाहरण इत्यादि चम्पू, व्यायोग, नाटक, नाटिका आदि अनेकों ग्रन्थ महाभारतके आधारसे ही रचे गये हैं। भारतकी कथासे प्राकृतमें भी अनेक काव्य रचे गये हैं और आर्यावर्तके निवासी उनको बड़े चावसे गाते हैं। मराठी, बँगला भारतकी विभिन्न भाषाओंमें लेखकों तथा कवियोंने नये-नये भावोंका समावेश करके लोगोंको रसास्वादन करानेके लिये स्वतन्त्र कल्पनाएँ जोड़कर तथा अपनी इच्छाके अनुसार पात्रोंका चरित्र-चित्रण करके स्थान-स्थानपर महाभारतकी विजय-दुन्दुभि बजायी है। यद्यपि उनकी कथा मिश्रित होती है, फिर भी वे भी धन्यवादके पात्र हैं; क्योंकि महाभारत मूल ग्रन्थके लिये लोकमें एक विलक्षण भ्रम फैल गया है, और उस भ्रमके मूलकारण केवल दुर्बल मनके संदेहशील स्त्री-पुरुष हैं। इसलिये मूलग्रन्थकी विशेषताका अनुभव न करनेवाले मनुष्योंको वह भारतकी जिस-किसी कथामें फँसाकर बारंबार बली भीम तथा धनुर्धर अर्जुनका स्मरण कराते हैं, और भारतीय पात्रोंकी तथा महर्षि व्यासकी विजय-पताका फहराते हैं। यह भी प्रशंसनीय है।

महाभारतसम्बन्धी भ्रम

अब हम इस भ्रमके सम्बन्धमें विचार करेंगे। महाभारत ग्रन्थ बहुत ही बड़ा है तथा उसके कितने ही भाग इतने महान् हैं कि उनका व्याख्यान करनेमें बहुत लंबा समय भी कम ही जान पड़ता है। सारे ग्रन्थके साधारण व्याख्यानमें ही लगभग पाँच वर्ष निकल जाते हैं। इस नश्वर जगत्में ऐसी अनश्वरता कहाँसे आ सकती है, जिसमें पाँच बर्षके समयमें कोई आदमी मरे ही नहीं अथवा कोई विपरीत प्रसङ्ग उपस्थित ही न हो ? बल्कि उनका उपस्थित होना ही अधिक सम्भव है। इसका फल यह होता है कि वे मनुष्य भी गम्भीर विचार न करके महाभारतकी होनेवाली कथाके ऊपर ही उन दोषोंको मढ़ देते हैं। यदि कहीं महाभारतकी कथा होती है, और इस बीचमें वहाँ कोई अनिष्ट हो जाता है, तो वहाँ वह बहमकी बात चालू हो जाती है! 'भाई! यह तो महाभारतकी, युद्धकी तथा मार-काटकी कथा ही ऐसी है! अमुकके यहाँ महाभारतकी कथा होती थी, और अमुक आदमी मर गया, और अमुकके यहाँ कथा बँचायी गयी तो अमुक विग्रह हो गया!' इस प्रकार सौसे हजार बनती हुई तथा एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाती हुई बहमकी मरीचिका मनुष्योंके दुर्बल हृदयमें घर करके बैठ गयी है और उनके अवरोधसे सबल मनके मनुष्य भी प्रभावित होते देखे जाते हैं। हमने देखा है कि कितने ही मनुष्य उपर्युक्त कारणोंसे महाभारत-श्रवण करनेकी इच्छा मनकी मनमें ही रखकर मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं और मूर्खतावश इस महान् सौभाग्यसे वञ्चित रह जाते हैं। बहम वस्तु ही ऐसी है जो ठूँठको भूत बना देती है और देव-जैसा मनुष्य भी पिशाचवत् दीखने लगता है!

अब यह विचार करना है कि प्रारब्धको बदलने तथा आयुको कम करनेमें कोई कैसे समर्थ होता है। प्रारब्धके लिये तो **प्रारब्धं भोगतो नश्येत्**—यह ध्रुव सिद्धान्त है। छूटे हुए बाणके समान प्रारब्धके भोगको कोई बदल नहीं सकता और इसके लिये जीवन्मुक्त पुरुषका शरीर भी टिका रहता है। अतएव वह निश्चयपूर्वक भोगनेसे ही नष्ट होता है। अब आयुके सम्बन्धमें देखिये। कहा है—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

अर्थात् आयु, करनेके कर्म, धन, विद्या और मरनेका कारण—ये पाँच जीवके लिये गर्भमें रहते ही सिरज दिये जाते हैं।' इस प्रकार जब प्राणी गर्भमें रहता है, तभीसे निर्मित आयु तथा मृत्युके कारण क्या महाभारत सुनने या बाँचनेसे बदल जाते हैं? कदापि नहीं। बल्कि आयुका संगठन श्वास-गणनाके ऊपर है; अतएव कोई शङ्का कर सकता है कि वीररस-प्रधान कथा-श्रवण करनेसे श्वास जल्दी निकलनेके कारण आयु घट जायगी! इसका उत्तर यह है कि महाभारतमें जैसे वीर-रस प्रधान कथा है, वैसे ही उसमें परम शान्ति देनेवाली कथाएँ भी कम नहीं हैं। अतएव जल्दी-जल्दी निकला हुआ श्वास फिर बहुत धीरे-धीरे चलनेसे समसंख्यामें आ जायगा, और महाभारतके कथन-श्रवणसे मृत्युका प्रसङ्ग नहीं आयेगा। बल्कि महाभारत-श्रवण करनेसे यदि मृत्यु या कोई अन्य अनर्थ होता तो महाभारतको न सुननेवाले लोगों-को सर्वविघ्नोंसे मुक्त होकर अमर हो जाना चाहिये था।

परंतु ऐसा कोई भी देखनेमें नहीं आता। ऐसे बहुत-से मनुष्य हैं, जो महाभारतका नाम भी नहीं जानते पर दुःखमें व्याकुल होते हैं और मरते हैं। इससे प्रत्येकके समझमें आ जायगा कि महाभारतका श्रवण विघ्नकारक नहीं है, बल्कि अपने कर्म ही विघ्न प्रदान करनेमें हेतु हैं। महाभारतका श्रवण-पठन यदि विघ्नकारक होता तो यह ग्रन्थ पूर्णतः लिखा ही न गया होता तथा इसके टीकाकार सम्पूर्ण ग्रन्थके ऊपर टीका भी नहीं लिख सकते। बल्कि सर्वज्ञ भगवान् व्यासजी इस प्रकारके विघ्नकारी ग्रन्थकी रचना ही नहीं करते। वे बड़े ही दयालु थे। उनके ऊपर विश्वास करके भी महाभारतके श्रवण तथा वाचनसे विमुख नहीं होना चाहिये। बड़े-बड़े पण्डित भी महाभारतको ज्ञानका भंडार मानते हैं और शिष्योंको उपदेश देते हैं कि 'महाभारत पढ़े बिना जीवन चरितार्थ नहीं होता, अतएव महाभारत अवश्य पढ़ना चाहिये।' महाभारत अनिष्टकारक तो है ही नहीं, प्रत्युत महापुण्यदायक और चतुर्विध पुरुषार्थप्रद है—यह महर्षि व्यासके वचनसे समझा जा सकता है। यहाँ उनका एक श्लोक देकर विशेष माहात्म्य जाननेकी इच्छा करनेवालोंसे इस ग्रन्थके आदिपर्वके पहले और दूसरे अध्यायका अन्त तथा बासठवें अध्यायको देखनेका मैं अनुरोध करता हूँ—

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं नियतात्मभिः॥

'यह महाभारत वेदके तुल्य है, पवित्र है, उत्तम है और धन, यश तथा आयुको देनेवाला है; इसलिये संयमी मनुष्योंसे इसका श्रवण करे।'

तात्पर्य यह है कि महाभारतसम्बन्धी भ्रम सर्वथा मिथ्या हैं। इसलिये चित्तको दृढ़ रखकर तथा यह समझकर कि अवश्यम्भावी बात होकर ही रहती है, इस श्रेष्ठ ग्रन्थसे विमुख न हों। इसके श्रवणसे तो लौकिक, पारलौकिक, पारमार्थिक—सभी प्रकारका लाभ-ही-लाभ है।

उपसंहार

आर्यावर्तके सभी ग्रन्थोंमें महाभारत महान् ग्रन्थ है और वह आर्यजातिको हृदयङ्गम हो गया है। कोई भी महत्ता दिखलानी होती है तो लोग दूसरा उदाहरण न देकर महाभारतके दृष्टान्त देते हैं। वस्तुतः अज्ञानान्धकारसे अंधा बनकर संसारमें भटकनेवाले लोगोंकी आँखें ज्ञानाञ्जनकी शलाकासे खोलनेके लिये ही व्यासजीने महाभारतकी रचना की है। जैसे सूर्यसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चतुर्विध पुरुषार्थके संक्षिप्त और विस्तृत वर्णनवाले महाभारतरूपी सूर्यसे मनुष्योंका अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है तथा भारतरूपी पूर्णचन्द्रके द्वारा श्रुति-चन्द्रिकाके प्रकाशसे मनुष्यकी बुद्धिरूपी कुमुदिनीका विकास होता है। इस ग्रन्थकी यह महान् योग्यता है कि अनेकों विद्वान् इस ग्रन्थके एक अंशको लेकर काव्यरचना करके कवि बन गये हैं, तथा अनेकों व्याख्याता इसके अंश-विशेषका सभामें वर्णन करके वक्ताके रूपमें प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। पूर्वके विद्वान् इस ग्रन्थकी व्याख्या करते थे, अब भी कर रहे हैं। और जबतक यह ग्रन्थ भूमण्डलपर रहेगा, तबतक विद्वान्लोग इस कल्पवृक्षका त्याग न करेंगे। यही भगवान् व्यासकी सफलता है। यही पाण्डवोंका अमरत्व है, और यही ग्रन्थका महान् जय है! अन्तमें महाभारतका यह महावाक्य—

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।

—याद करके हम इस लेखका उपसंहार करते हैं। ॐ तत्सत्।

श्रीराधाकी वन्दना

(१)

हरि मुख-चन्दको प्रकाश पूर्ण देने हेतु पुण्य पूर्णमासीकी निशा जो अति प्यारी हैं।
नटवर नागरके नयन-चकोर-हित रहित-कलङ्क जो मयङ्क-कला न्यारी हैं॥
भाव-रस-सिन्धुमें निमग्न जिनके हो सदा होते दिव्य रसके रसिक बनवारी हैं।
काम-कामिनी-सी घन-अङ्क दामिनी-सी उन श्याम भामिनीको अभिवन्दना हमारी है॥

(२)

जिनकी उदार दयादृष्टि कर देती दूर भूरि भक्तजनकी निखिल भवबाधा है।
जिनके प्रबल प्रेम-पाशने ही पास खींच नित्यमुक्तको भी अनायास अहो बाँधा है॥
भरती असीम श्याम-सिन्धुको समोद सदा जिनकी नवल नेह-सरित अगाधा है।
जिनके रकार बिना राधा कृष्ण आधा कृष्ण, राध्या हरिकी वे धन्य धन्य धन्य राधा हैं॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

महाभारत-संहिता और उसका रचनाकाल

(लेखक—पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी) *

निर्हेतुकी कृपा यस्य भ्रान्तानां मार्गदर्शिनी ।
इतिहासान्धकारं स विनाशयतु माधवः ॥

वर्तमानकालमें उपलब्ध दक्षिणपाठ सहित महाभारत-संहिताको आद्योपान्त पढ़नेसे यह प्रतीत होता है कि भगवान् वेदव्यासजीने जिस महाभारत-संहिताको अपने त्रिकालज्ञानके द्वारा तीन वर्षके परिश्रमसे तैयार किया और ब्रह्माजीकी प्रेरणासे श्रीगणेशजीसे लिखवाया, अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीको तथा वैशम्पायन आदि शिष्योंको पढ़ाया और जिसका प्रवचन उन्हींकी आज्ञासे महाराज जनमेजयके सर्प-सत्र (यज्ञ) में वैशम्पायन-जीने किया था, वह 'आदि महाभारत' संहिता लक्ष-श्लोकात्मक ही थी और उसीका नाम 'जय इतिहास', 'भारत' और 'महाभारत' है, जय इतिहास, भारत और महाभारत—ये तीनों ही नाम पर्यायवाची हैं; हम भारतवासियोंका पूर्ण विश्वास है कि ये तीनों नाम एक-मात्र श्रीवेदव्यासप्रणीत लक्षश्लोकात्मक प्रचलित महाभारत-संहिताके ही बोधक हैं । हमारा यह विश्वास अन्धविश्वास नहीं; इसके लिये प्रबल प्रमाण हैं, जिनमेंसे प्रथम अन्तः-प्रमाणोंको हम आगे उद्धृत करते हैं—

इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम् ॥
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ॥
(आदि० १ । १०१-२)

एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम् ॥
(आदि० १ । १०७)

अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान् ॥
(आदि० १ । १०८)

तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् ॥†
(आदि० १ । २७३)

इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम् ।
सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा ॥
(आदि० ६२ । १४)

मुच्यते सर्वपापेभ्यो राहुणा चन्द्रमा यथा ।
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ॥
(आदि० ६२ । २०)

तन्महाभारताख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते ।
भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ॥
(आदि० ६२ । ३९)

पुण्यकर्मा मानवोंके उपाख्यानोंसहित एक लाख श्लोकोंके इस उत्तम ग्रन्थको आद्यभारत (महाभारत) जानना चाहिये ॥ १०१-½ ॥

इस मनुष्यलोकमें एक लाख श्लोकोंका भारत (महाभारत) प्रतिष्ठित है ॥ १०७ ॥

इस मनुष्यलोकमें वैशम्पायनजीने इसका प्रवचन किया है ॥ १०८ ॥

(परंतु जब यह रहस्यसहित चारों वेदोंकी अपेक्षा अधिक भारी निकला), तभीसे संसारमें यह महाभारतके नामसे कहा जाने लगा । सत्यके तराजूपर तौलनेसे यह ग्रन्थ महत्त्व, गौरव अथवा गम्भीरतामें वेदोंसे भी अधिक सिद्ध हुआ है ॥ २७३ ॥

असीम प्रभावशाली सत्यवतीनन्दन व्यासजीने पुण्यात्मा पाण्डवोंकी यह कथा एक लाख श्लोकोंमें कही है ॥ १४ ॥ (इतिहासको श्रवण करके अत्यन्त क्रूर मनुष्य भी) राहुसे छूटे हुए चन्द्रमाकी भाँति सब पापों-से मुक्त हो जाता है । यह 'जय' नामक इतिहास विजयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको अवश्य सुनना चाहिये ॥ २० ॥ (मनुष्य जान या अनजानमें मन अथवा इन्द्रियोंद्वारा जो पाप कर बैठता है) वह सब महाभारतकी कथा सुनते ही नष्ट हो जाता है; इसमें भरतवंशियोंके महान् जन्मवृत्तान्तका वर्णन है, इस लिये इसको 'महाभारत' कहते हैं ॥ ३९ ॥

---

* श्रीद्विवेदीजी ज्यौतिषशास्त्रके वयोवृद्ध प्रकाण्ड विद्वान् हैं । महामना मालवीयजी महाराज आपको बहुत मानते थे । आपने ८० वर्षसे ऊपरकी अवस्थामें इतना अच्छा खोजपूर्ण लेख लिखनेकी कृपा की है, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं—
—सम्पादक

† इसी श्लोकके अनुरूप स्वर्गारोहण-पर्वके पाँचवें अध्यायका ४५ वाँ श्लोक है ।

त्रिभिर्वर्षैरिदं पूर्णं कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
अखिलं भारतं चेदं चकार भगवान् मुनिः ॥
आकर्ण्य भक्त्या सततं जयाख्यं भारतं महत् ।
श्रीश्च कीर्तिस्तथा विद्या भवन्ति सहिताः सदा ॥
(स्वर्गारोहण० ५ । ४८-४९)

'मुनिवर भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने तीन वर्षोंमें इस सम्पूर्ण महाभारतको पूर्ण किया था । जो जयनामक इस महाभारत इतिहासको सदा भक्तिपूर्वक सुनता रहता है, उसके यहाँ श्री, कीर्ति और विद्या तीनों साथ-साथ रहती हैं' ॥ ४८-४९ ॥

इन अन्तःप्रमाणोंके अतिरिक्त बहिःप्रमाण भी हमारे विश्वासके पोषक मिलते हैं——जैसे ईसवीय सन् ४४५ के महाराज सर्वनाथके लेखमें तथा ईसवी सन्की प्रथम शताब्दीके ग्रीक पर्यटक डायोन क्रायस्टोस्टोमके लेखमें एक लक्ष श्लोकके महाभारतका प्रमाण मिलता है । यद्यपि ग्रीक पर्यटकने महाभारत नामका उल्लेख नहीं किया, केवल लक्ष श्लोकके हिंदुस्तानी इलियडका उल्लेख किया है, तथापि वह इलियडके समान राष्ट्रिय महाकाव्य हमारी महाभारतसंहिता ही है——ऐसा इतिहासके विद्वानोंका दृढ़ मत है । इतना ही नहीं, इसके विरुद्ध हमको आभ्यन्तर अथवा बाह्य एक भी प्रमाण ऐसा नहीं मिलता, जिससे यह प्रमाणित हो कि महाभारतसंहिता लक्षश्लोकात्मक नहीं——चौबीस हजार श्लोकात्मक है और न आजतक भारतवर्षके किसी भी पुस्तकालयमें लक्षश्लोकात्मकसे पृथक् कोई दूसरी महाभारत-संहिता चौबीस हजार श्लोककी देखी या सुनी गयी है । और न यही प्रमाण मिलता है कि महाभारत-संहिताका रचयिता महर्षि वेदव्यासके अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति है ।

ऊपरके प्रमाणोंसे हमारा विश्वास साधार पुष्ट हो जाता है और इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि सम्पूर्ण लक्षश्लोकात्मक महाभारतसंहिता महर्षि वेद-व्यास-प्रणीत ही है, इसके कर्ता अन्य कोई विद्वान् नहीं हैं । अवश्य ही जनमेजय-वैशम्पायनसंवादके प्रसङ्गमें तथा सौति-शौनक-संवादके प्रसङ्गमें प्रश्नोत्तररूपसे कुछ विषय ऐसे आ जाते हैं, जिनको लोग वेदव्यास-की रचना न मानकर वैशम्पायन अथवा सौतिकी रचना मानते हैं; किंतु यह उनका भ्रम है । उन प्रसङ्गोंके सारे-के-सारे विषय महर्षि वेदव्यासकी प्रेरणाके ही आधारपर अवलम्बित हैं, अतएव उनको हम महर्षि वेद-व्यासकी रचनासे बाह्य नहीं समझते——उसी तरह जिस तरह समस्त पुराणोंमें शुक-परीक्षित्, सूत-शौनक आदिके संवादोंके प्रसङ्गमें आये हुए विषयोंको हम श्रीमद्भागवतादि पुराणोंसे बाह्य अथवा यों कहें कि वेदव्यासकी रचनासे बाह्य नहीं समझते । सारांश यह कि सम्पूर्ण महाभारत जिसको वेदव्यासजीने बनाया और जो अद्यावधि भारत-वर्षमें प्रचलित है, उसमें महर्षि वेदव्यासकी रचनाके अतिरिक्त किसी दूसरे विद्वान्की रचनाका कोई अंश नहीं है । अवश्य ही महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १ के श्लोक १०२—३ में—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥

'तदनन्तर व्यासजीने उपाख्यान भागको छोड़कर चौबीस हजार श्लोकोंकी भारत-संहिता बनायी, जिसे विद्वान् पुरुष भारत कहते हैं' इस श्लोकके आधारपर जो विद्वज्जन महर्षि वेदव्यासप्रणीत संहिता-को केवल चौबीस हजार श्लोककी मानते हैं और उसका नाम 'भारत' कहते हैं तथा उपाख्यान-भागको सौतिकी रचना और उपाख्यानोंसहित भारतको 'महाभारत' मानते हैं, वे भ्रममें हैं; क्योंकि इस श्लोकके आगे और पीछेके श्लोकोंको पढ़नेसे अर्थात् इस श्लोकके प्रथम १०१½ और इसके बादके श्लोक १०३ और १०४ के देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि वेदव्यासजीने लक्षश्लोकात्मक भारत इतिहासकी रचना की है जो आदि भारतके नामसे प्रसिद्ध हुआ । उस भारतमें उपाख्यानके अतिरिक्त चौबीस हजार श्लोक हैं, जिसको 'भारत' कहते हैं और एक अध्याय डेढ़ सौ श्लोकोंका है, जिसमें महर्षिने भारतकी कथाओंकी संक्षिप्त सूची दी है और इस प्रकार २४ हजारमें भारतीय कथा और ७६ हजारमें विविध उपाख्यान और आदिपर्वके प्रथम अध्यायमें ग्रन्थकी सार-सूची है । इन तीनोंको पृथक्-पृथक् मानना और उनके रचयिता भी पृथक्-पृथक्

मानना सर्वथा प्रमाणरहित है। 'आदि भारत' का ही नाम उसकी गुरुता और भरत-वंशकी महत्ताके कारण 'महाभारत' पड़ा। इसकी निरुक्ति महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १, श्लोक २७३ में तथा अध्याय ६२, श्लोक ३९ में स्पष्टरूपसे मिलती है। आधुनिक विद्वानोंमें अनेक विद्वान् महाभारतसंहिताके तीन रूप और उसकी रचना करनेवाले तीन आचार्य मानते हैं—प्रथमका रचयिता महर्षि वेदव्यासको और उनकी संहिताका नाम 'जय', दूसरीके रचयिता वैशम्पायनको और उनकी संहिताका नाम 'भारत', तीसरीके रचयिता सौतिको और उनकी संहिताका नाम 'महाभारत' बतलाते हैं (देखो महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय १)। किंतु उनके अनुमानके अतिरिक्त कथनमें कोई प्रमाण नहीं। अवश्य ही महाभारतके अर्थमें 'जयो नामेतिहासोऽयं' बार-बार कहा गया है किंतु वह शब्द लक्षश्लोकात्मक महाभारतके ही अर्थमें आया है। हाँ, उद्योगपर्वके अध्याय १३३ से १३६ तकको जो विदुलोपाख्यानके नामसे प्रसिद्ध है, कुन्तीदेवीद्वारा जयेतिहास कहा जाता है, जैसा कि १३६ वें अध्यायके १८ वें श्लोकमें कहा गया है—

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।

विदुलोपाख्यान नामसे प्रसिद्ध महाभारतके ये चार अध्याय बड़े ही उदात्त और जयेतिहासके नामसे प्रसिद्ध हैं और यदि हम इस उपाख्यानको, जो संदेशके रूपमें कुन्तीदेवीने श्रीकृष्णके द्वारा अपने पुत्रोंको भेजा था, महाभारत युद्धका बीज मानें और उस बीजका महावृक्ष सम्पूर्ण लक्षश्लोकात्मक महाभारत-संहिताको मानकर उसका भी नाम 'जयेतिहास' मानें तो अनुचित न होगा। सारांश यह कि वर्तमान लक्ष-श्लोकात्मक महाभारत-संहिताके अतिरिक्त कोई दूसरी 'जय' नामकी महाभारत-संहिता व्यासप्रणीत थी, यह अनुमान प्रमाणरहित और मानने योग्य नहीं। यद्यपि प्राचीन लोगोंने अठारहों पुराण, वाल्मीकीय रामायण आदि सभी आर्ष ग्रन्थोंको 'जय' कहा है, तथापि महाभारत-संहितामें केवल लक्षश्लोकात्मक सम्पूर्ण संहिताको ही 'जय' कहा है।

उपलब्ध महाभारत-संहिताके सम्बन्धमें विदेशीय और भारतीय आधुनिक विद्वानोंने बड़े विस्तारके साथ उसके रचयिता और उसकी रचना-कालके ऊपर विचार किया है, और इस विषयमें उनमेंसे प्रायः सभी विद्वान् एकमत हैं कि लक्षश्लोकात्मक 'उपलब्ध' महाभारत-संहिताके रचयिता केवल महर्षि वेदव्यास ही नहीं हैं; इसके रचयिता कम-से-कम तीन महापुरुष हैं—महर्षि वेदव्यास, वैशम्पायन और सूतपुत्र उग्रश्रवा। इसके लिये उन लोगोंने विविध युक्तियाँ दी हैं, और महाभारत-संहिताके भिन्न-भिन्न भागोंको उसके रचयिताके आधारपर भिन्न-भिन्न समयके रचित अथवा संग्रहीत प्रतिपादित किया है। यदि हम उन विद्वानों-के सब मतोंको लिखकर उनकी समालोचना करें तो लेखका कलेवर बहुत बढ़ जायगा। अतएव भिन्न-भिन्न विद्वानोंके नाम, उनकी पुस्तकों अथवा लेखों और मतोंका उल्लेख न करके केवल समष्टिरूपसे हम उनके उन विचारोंकी आलोचना करेंगे, जो भारतकी सनातन सभ्यता, इतिहास और ऐतिहासिक कालोंके विरुद्ध हमको प्रतीत होते हैं। सबसे प्रथम हमको यह देखना है कि महर्षि वेदव्यासजीने अपनी संहितामें किन-किन विषयोंका वर्णन किया है और उनके आधार क्या हैं।

महर्षि वेदव्यासजीने स्वयमेव अपनी संहिताके विषयोंका वर्णन ब्रह्माजीसे किया है, जो इस प्रकार है—

उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्॥
ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया।
साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया॥
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत्।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम्॥
जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम्॥
चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च॥
न्यायशिक्षा चिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यं मानुषसंज्ञितम्॥

तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम्।
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥
पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम्।
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥
यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम्।
परं न लेखकः कश्चिदेतस्य भुवि विद्यते ॥
(आदि० १। ६१—७०)

परम तेजस्वी व्यासजीने परमेष्ठी ब्रह्माजीसे निवेदन किया—'भगवन्! मैंने यह सम्पूर्ण लोकोंसे अत्यन्त पूजित एक महाकाव्यकी रचना की है। ब्रह्मन्! मैंने इस महाकाव्यमें सम्पूर्ण वेदोंका गुप्ततम रहस्य तथा अन्य सब शास्त्रोंका सार-सार संकलित करके स्थापित कर दिया है। केवल वेदोंका ही नहीं, उनके अङ्ग एवं उपनिषदोंका भी इसमें विस्तारसे निरूपण किया है। इस ग्रन्थमें इतिहास और पुराणोंका मन्थन करके उनका प्रशस्तरूप प्रकट किया गया है। भूत, वर्तमान और भविष्यकालकी इन तीनों संज्ञाओंका भी वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थमें बुढ़ापा, मृत्यु, भय, रोग और पदार्थोंके सत्यत्व और मिथ्यात्वका विशेषरूपसे निश्चय किया गया है तथा अधिकारी-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके धर्मों एवं आश्रमोंका भी लक्षण बताया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके कर्तव्यका विधान तथा पुराणोंका सम्पूर्णमूलत्व भी प्रकट हुआ है। तपस्या एवं ब्रह्मचर्यके स्वरूप, अनुष्ठान एवं फलोंका विवरण, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग—इन सबके परिणाम और प्रमाण, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और इनके आध्यात्मिक अभिप्राय और अध्यात्मशास्त्रका इस ग्रन्थमें विस्तारसे वर्णन किया गया है। न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान तथा पाशुपत शास्त्रका भी इसमें विशद निरूपण है। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि देवता, मनुष्य आदि भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्मका कारण क्या है। लोकपावन तीर्थों, देशों, नदियों, पर्वतों, वनों और समुद्रका भी इसमें वर्णन किया गया है। दिव्य नगर एवं दुर्गोंके निर्माणका कौशल तथा युद्धकी निपुणताका भी वर्णन है। भिन्न-भिन्न भाषाओं और जातियोंकी जो विशेषताएँ हैं, लोकव्यवहारकी सिद्धिके लिये जो कुछ आवश्यक है तथा और भी जितने लोकोपयोगी पदार्थ हो सकते हैं, उन सबका इसमें प्रतिपादन किया गया है। परंतु मुझे इस बातकी चिन्ता है कि पृथ्वीमें इस ग्रन्थको लिख सके, ऐसा कोई नहीं है ॥ ६१-७० ॥

महर्षि वेदव्यासद्वारा दिये गये ऊपरके विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके महाभारत-संहितारूपी महाकाव्यमें समस्त ज्ञान-भंडारका संग्रह किया गया है। महाभारतमें विविध प्राचीन पुराणों और इतिहास-ग्रन्थोंके उपाख्यान संगृहीत किये गये हैं, तथा ऋग्वेदादिके विशिष्ट विषयोंका संग्रह किया गया है; अतएव उन सबकी भाषाओं और छन्दोंमें भिन्नता होना स्वाभाविक है। ऐसी दशामें आधुनिक भाषाविज्ञान-वेत्ताओं-द्वारा भाषा अथवा विविध छन्दोंके आधारपर महाभारत-संहिताके भिन्न-भिन्न भागोंका समय-निरूपण करना और उसीके आधारपर महाभारत-संहिताके वर्तमान स्वरूपकी रचनाका समय-निरूपण करना युक्तिसंगत नहीं है।

सारांश यह कि लक्षश्लोकात्मक वर्तमान महाभारत-संहिताको महर्षि वेदव्यासजीने अपनी त्रिकाल-दृष्टिसे भूत, वर्तमान और भविष्यके वृत्तान्तोंके रूपमें तीन वर्षके परिश्रमसे एक ही समयमें बनाया है—इसमें संदेह नहीं।

महाभारत-संहिताका रचनाकाल भी महाभारतमें ही स्पष्ट शब्दोंमें निम्नलिखित श्लोकोंद्वारा बतलाया गया है—

त्रीनग्नीनिव कौरव्यान् जनयामास वीर्यवान्।
उत्पाद्य धृतराष्ट्रं च पाण्डुं विदुरमेव च ॥
जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति।
तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम् ॥
अब्रवीद् भारतं लोके मानुषेऽस्मिन्महानृषिः।
जनमेजयेन पृष्टः सन् ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ॥
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके।
स सदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम् ॥
(आदि० १। ९५—९८)

'महर्षि वेदव्यासजीने तीन अग्नियोंके समान तेजस्वी तीन कुरुवंशी पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम

हैं—धृतराष्ट्र पाण्डु और विदुर। इन तीन पुत्रोंको जन्म देकर परमज्ञानी व्यासजी फिर अपने आश्रमपर चले गये। जब वे तीनों पुत्र वृद्ध हो परमगतिको प्राप्त हुए, तब महर्षि व्यासजीने इस मनुष्य-लोकमें महाभारतका प्रवचन किया। महाराज जनमेजय और हजारों ब्राह्मणोंके प्रश्न करनेपर व्यासजीने पास ही बैठे अपने शिष्य वैशम्पायनको आज्ञा दी की तुम इन लोगोंको महाभारत सुनाओ। वैशम्पायन याज्ञिक सदस्योंके साथ ही बैठे थे। अतः जब यज्ञ-कर्मसे बीच-बीचमें अवकाश मिलता, तब यजमान आदिके बार-बार आग्रह करनेपर वे उन्हें महाभारत सुनाया करते थे॥ ९५—९८½॥

उपर्युक्त श्लोकोंसे यह प्रमाणित होता है कि पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुरजीके परमपदको प्राप्त हो जानेके पश्चात् और जनमेजयके सर्प-सत्र (यज्ञ) आरम्भ होनेसे पूर्व महर्षि वेदव्यासजीने महाभारत-संहिताकी रचना की। राजर्षि पाण्डुको परमपद जिस समय प्राप्त हुआ, उस समय महाराज युधिष्ठिरकी अवस्था सोलह वर्षकी थी, जो अर्जुनसे दो वर्ष बड़े थे; क्योंकि अर्जुनके चौदहवें वर्धापन-वर्षके समय माद्रीके संयोगसे पाण्डुकी मृत्यु हुई थी। और विदुरसहित राजर्षि धृतराष्ट्रको परमपदकी प्राप्ति महाभारतयुद्धके समयसे बीसवें वर्षमें होना इस प्रमाणसे सिद्ध होता है कि आश्रमवासिकपर्व, अध्याय ३, पृष्ठ ६३८७ में लिखा है—

ततः पञ्चदशे वर्षे समतीते नराधिपः ॥ १२ ॥
राजा निर्वेदमापेदे भीमवाग्बाणपीडितः ।

उस समय उन्हें राजा युधिष्ठिरके आश्रयमें रहते पंद्रह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। पंद्रहवाँ वर्ष बीतनेपर भीमसेनके वाग्बाणोंसे पीड़ित हुए राजा धृतराष्ट्रको खेद एवं वैराग्य हुआ ॥ १२½ ॥

और व्यासजीकी प्रेरणा और युधिष्ठिरकी अनुमतिसे राजर्षि धृतराष्ट्रने महाभारत-युद्धसे सोलहवें वर्ष वनमें प्रवेश किया। वहाँ सम्भवतः एक वर्ष धर्मकृत्य करते हुए उनको जब बीत गया, तब उनके स्थानपर आकर देवर्षि नारदने कहा कि 'राजर्षि धृतराष्ट्रके जीवनके अब तीन वर्ष शेष हैं।' यथा आश्रमवासिकपर्व, अध्याय २०, श्लोक ३२ में—

तत्राहमिदमश्रौषं शक्रस्य वदतः स्वयम् ।
वर्षाणि त्रीणि शिष्टानि राज्ञोऽस्य परमायुषः ॥

—साक्षात् इन्द्रके मुखसे मैंने सुना था कि इन राजा धृतराष्ट्रकी आयुकी जो अन्तिम सीमा है, उसके पूर्ण होनेमें अब केवल तीन वर्ष ही शेष रह गये हैं।

सारांश यह कि महाभारतयुद्धके पश्चात् बीसवें वर्षमें विदुरके सहित राजर्षि धृतराष्ट्रका परम पद प्राप्त होना सिद्ध होता है। अतएव महाभारत-संहिताकी रचना महर्षि वेदव्यासजीने महाभारत युद्धके २० वर्ष व्यतीत होनेपर की और राजा जनमेजयके सर्प-सत्र (यज्ञ) में वैशम्पायनजीने उसका प्रवचन किया। महाभारतयुद्धके ३६ वर्ष व्यतीत होनेपर महाराज परीक्षित्‌का राज्याभिषेक हुआ और राजा परीक्षित्‌ने ६० वर्षोंतक राज्य किया, जैसा कि महाभारत-संहिता, आदिपर्व, अध्याय ४९, पृष्ठ १४३ में लिखा है—

प्रजा इमास्तव पिता षष्टिवर्षाण्यपालयत् ।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन् ॥१७॥

मन्त्रियोंने राजा जनमेजयसे कहा था कि 'तुम्हारे पिताने साठ वर्षपर्यन्त प्रजाका पालन किया था, तदनन्तर हम सबको दुःख देकर उन्होंने विदेह कैवल्य प्राप्त किया था।'

इसी वचनका पोषक सौप्तिकपर्व, अध्याय १६ में कुन्तीके प्रति भगवान् श्रीकृष्णका वचन है—

विदित्वा परमास्त्राणि क्षत्रधर्मव्रते स्थितः ।
षष्टिवर्षाणि धर्मात्मा वसुधां पालयिष्यति ॥ १४॥

'इस प्रकार उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्तकर क्षत्रिय-धर्ममें स्थित हो, परीक्षित् साठ वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन करेगा।'

इससे यह प्रमाणित होता है कि महाभारतयुद्धके ३६ वर्ष बीतनेपर राजा परीक्षित्‌का राज्याभिषेक हुआ, और उन्होंने ६० वर्षपर्यन्त राज्य किया। उनके परलोक-वासी होनेपर महाभारतयुद्ध-कालसे ९६ वर्षपर*

* आदिपर्व, अध्याय ४९ के श्लोक २६ में लिखा है—'परिश्रान्तो वयःस्थश्च षष्टिवर्षो जरान्वितः।' अर्थात् (राजा परीक्षित्) ६० वर्षकी वयमें जरान्वित (मृत्युको प्राप्त)

बहुत छोटी अवस्थामें राजा जनमेजयका राज्याभिषेक हुआ, और वयस्क होनेपर राजा जनमेजयका विवाह हुआ और उसके भी कुछ दिनों बाद महर्षि उत्तङ्ककी प्रेरणासे राजा जनमेजयने सर्पसत्र आरम्भ किया, जिसमें वैशम्पायनजीने महर्षि वेदव्यासप्रणीत लक्षश्लोकात्मक महाभारत-संहिता सुनायी ।

यदि हम यह मान लें कि राजा जनमेजयने अपने राज्याभिषेकके चौबीस वर्ष बाद सर्पसत्रका आरम्भ किया तो सबसे प्रथम महाभारत-संहिताका प्रवचन वैशम्पायनद्वारा महाभारत-युद्ध-कालसे १२० वर्ष पश्चात् प्रचारित होता है । उसकी रचना कब हुई, यह तो निश्चित नहीं होता; किंतु महाभारत-संहिताको महर्षि वेदव्यासजीने 'जय' नामका इतिहास और महाकाव्य कहा है, जो महाराज युधिष्ठिरके विजयके उपलक्षमें लिखा गया विविध उपाख्यानोंके सहित भारतीय युद्धका विशद इतिहास है। अतएव यदि हम यह विश्वास करें कि महर्षि वेदव्यासजीने महाराज युधिष्ठिरके राजत्वकालमें ही राजर्षि धृतराष्ट्रके परमपदगामी होनेपर अर्थात् महाभारत युद्धके समयसे २० वर्ष बाद और ३६ वर्षके भीतर किसी समय महाभारत-संहिताकी रचना की तो अनुचित न होगा । क्योंकि महाभारत-संहिता महाराज युधिष्ठिरके विजयका इतिहास है और इस प्रकारके इतिहास प्रायः विजयके पश्चात् तुरंत ही लिखे जाते हैं । अवश्य ही महर्षि वेदव्यासजीने राजर्षि धृतराष्ट्रके जीवितकालमें महाभारत-संहिताकी रचना करना इस कारण उचित नहीं समझा होगा कि महाराज युधिष्ठिर राजर्षि धृतराष्ट्रको साक्षात् पिता मानते थे, और उनका अपने भाइयों और मन्त्रियोंके लिये आदेश था—

यथा पुत्रवियुक्तोऽयं न किंचिद् दुःखमाप्नुयात् ।
इति तानन्वशाद् भ्रातॄन् नित्यमेव युधिष्ठिरः ॥
आनृशंसस्यपरो राजा प्रीयमाणो युधिष्ठिरः ।
उवाच स तदा भ्रातॄनमात्यांश्च महीपतिः ॥
मया चैव भवद्भिश्च मान्य एष नराधिपः ।
निदेशे धृतराष्ट्रस्य यस्तिष्ठति स मे सुहृत् ॥
विपरीतश्च मे शत्रुर्नियम्यश्च भवेन्नरः ।

(आश्रमवासिक० १ । २५; २ । ३-४½)

'''बन्धुओ ! तुमलोग ऐसा बर्ताव करो, जिससे अपने पुत्रोंसे बिछुड़े हुए इन राजा धृतराष्ट्रको किंचिन्मात्र भी दुःख न प्राप्त हो ।' राजा युधिष्ठिर बड़े दयालु थे, वे सदा प्रसन्न रहकर अपने भाइयों और मन्त्रियोंसे कहा करते थे कि 'ये राजा धृतराष्ट्र मेरे और आपलोगोंके माननीय हैं। जो इनकी आज्ञाके अधीन रहता है, वही मेरा सुहृद् है । विपरीत आचरण करनेवाला मेरा शत्रु है, वह मेरे दण्डका भागी होगा ।'''

इसके अतिरिक्त इसी महाभारतसंहिता महाकाव्यमें धृतराष्ट्र आदि कौरवोंके दोषोंका विस्तारपूर्वक दिग्दर्शन कराया गया है और पाण्डवोंकी सर्वथा प्रशंसा की गयी है, जैसा कि आदिपर्व, अध्याय १, श्लोक ९९-१०१ में लिखा है—

विस्तरं कुरुवंशस्य गान्धार्या धर्मशीलताम् ॥
क्षत्तुः प्रज्ञां धृतिं कुन्त्याः सम्यग् द्वैपायनोऽब्रवीत् ।
वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानां च सत्यताम् ॥
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान् भगवानृषिः ।

'इस महाभारत ग्रन्थमें व्यासजीने कुरुवंशके विस्तार, गान्धारीकी धर्मशीलता, विदुरकी उत्तम प्रज्ञा और कुन्तीदेवीके धैर्यका भलीभाँति वर्णन किया है । महर्षि भगवान् व्यासने इसमें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके माहात्म्य, पाण्डवोंकी सत्यपरायणता तथा धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन आदिके दुर्व्यवहारोंका स्पष्ट उल्लेख किया है ।' इतना ही नहीं, समस्त महाभारत ग्रन्थमें धृतराष्ट्र तथा दुर्योधनादि कौरवोंके विस्तृत पापाचरणोंका विशद वर्णन है, जो सत्य होनेपर भी महाराज युधिष्ठिरके दयापूर्ण विचारानुसार राजर्षि धृतराष्ट्रके सुनने योग्य नहीं था । अतएव महर्षि वेदव्यासजीने राजर्षि धृतराष्ट्रके जीवनकालमें महाभारत-संहिताकी रचना नहीं की और उनके परमपदगामी होते ही महाराज युधिष्ठिरके राजत्वकालमें भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम जानेके पहले महर्षि वेदव्यासजीने महाभारतकी रचना की—यह हमारा अनुमान असंगत नहीं ।

हुए । यदि यह श्लोक कूट नहीं है तो परीक्षित्की मृत्युके बाद महाभारत-युद्धकालसे ६० वर्ष बीतनेपर जनमेजयका राज्याभिषेक प्रमाणित होता है ।

भगवद्गीताका प्रादुर्भाव

महाभारत-संहिताके प्रथम ही भारतीय युद्धारम्भके प्रथम दिन शुक्लादि चान्द्रमासानुसार मार्गशीर्षशुक्ल एकादशीको भगवान् श्रीकृष्णने युद्धस्थलमें कौरव और पाण्डवोंकी सेनाके मध्यमें रथपर बैठे हुए अर्जुनको भगवद्गीताका उपदेश दिया था और १८ वें दिन मार्गशीर्षकृष्ण अमावास्याको महाभारत-युद्धकी समाप्ति हुई थी । मार्गशीर्षका कृष्णपक्ष दो तिथियोंके क्षय हो जानेसे तेरह दिनोंका हुआ था । अतएव मार्गशीर्ष शुक्लके एकादशीसे पूर्णिमातक पाँच दिन और मार्गशीर्ष कृष्णके तेरह दिन मिलाकर १८ दिन हुए थे ।

अबतक हमने महाभारत-संहिताके रचना-कालके विषयमें जो कुछ लिखा है, उसमें महाभारत-युद्धकालसे ही वर्ष-गगना की गयी है । अतएव जबतक महाभारत-युद्धकालका निर्णय न हो जाय, तबतक महाभारत-संहिताकी रचना आजसे कितने दिन पूर्व हुई—यह निर्णय नहीं हो सकता । अवश्य ही महाभारत-युद्ध-काल ही एक ऐसा समय है कि जिसको हम भारतके प्राचीन इतिहासका उद्गम-स्थान अथवा भारतके प्राचीन इतिहासकी आधार-शिला कहें तो अनुचित न होगा । पाश्चात्त्य विद्वान् और उनके पदानुगामी भारतीय विद्वान् भी प्रत्यक्षरूपसे यूनानी तिथियोंके साथ भारतीय ऐतिहासिक तिथियोंकी समसामयिकता स्थापित करनेकी धुनमें भले ही ई० सन् पूर्व ३२२ को भारतीय ऐतिहासिक तिथिगगनाकी आधारशिला बतलायें; किंतु अप्रत्यक्षरूपसे वे भी महाभारत-युद्धकालके ही आधारपर भारतकी समस्त ऐतिहासिक तिथियोंके समयोंका निर्णय करते हैं । अतएव महाभारत-युद्ध-कालके निर्णीत हो जानेसे भारतकी समस्त प्राचीन और अर्वाचीन ऐतिहासिक तिथियोंका निर्णय सरलता-पूर्वक हो जाना सम्भव है । इसी अभिप्रायसे भारतकी ऐतिहासिक तिथियोंके समय निश्चित करनेके पूर्व हम महाभारत-युद्धकालका निर्णय करनेका प्रयत्न करेंगे । महाभारत-युद्धकालके सम्बन्धमें भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ १६१ में महामहोपाध्याय श्रीओझाजीने लिखा है—

कलियुग-संवत्को भारत-युद्ध-संवत् और युधिष्ठिर-संवत् भी कहते हैं । इस संवत्का विशेष प्रयोग ज्यौतिषके ग्रन्थों तथा पञ्चाङ्गोंमें होता है, तो भी शिला-लेखादिमें भी कभी-कभी इसके दिये हुए वर्ष मिलते हैं । इसका प्रारम्भ ईसवी सन्‌से ३१०२ वर्ष पूर्व दिनाङ्क १८ फरवरीके प्रातःकालसे माना जाता है । चैत्रादि विक्रम-संवत् १९७५ (गत) और शक-संवत् १८४० (गत)के पञ्चाङ्गमें गत-कलि ५०१९ लिखा है । इस हिसाबसे गत विक्रम-संवत्में ३०४४, गत शक-संवत्में ३१७९ और ईसवी सन्‌में ३१०१ जोड़नेसे गत कलियुग-संवत् (महाभारतयुद्ध-संवत्) आता है । दक्षिणके चालुक्य-वंशी राजा पुलकेशि (दूसरे)के समय एहोलेकी पहाड़ीपरके जैन-मन्दिरके शिलालेखमें भारतयुद्धसे ३७३५ और शकराजाओं (शक-संवत्) के ५५६ वर्ष बीतनेपर उक्त मन्दिरका बनना बतलाया है । उक्त लेखके अनुसार भारतके युद्ध (भारतयुद्ध-संवत्) और शक-संवत्के बीचका अन्तर ३१७९ वर्ष आता है। ठीक यही अन्तर 'कलियुग-संवत्' और 'शक-संवत्' के बीच होना ऊपर बतलाया गया है। अतएव उक्त लेखके अनुसार 'कलियुग-संवत्' और 'भारत-युद्ध-संवत्' एक ही है । भारत-युद्धमें विजय पानेसे राजा युधिष्ठिरको राज्य मिला था, जिससे इस संवत्को 'युधिष्ठिर-संवत्' भी कहते हैं ।

पुराणोंमें कलियुगका आरम्भकाल, महाभारत-युद्ध-काल और राजा परीक्षित्का जन्मकाल एक ही माने गये हैं और महाभारत-युद्धकालके लिये सबसे अधिक पुष्ट प्रमाण महाभारतका निम्नलिखित श्लोक है—

अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत् ।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥
(आदि० २ । १३)

'कलियुग और द्वापरके मध्यमें समन्तपञ्चक (कुरुक्षेत्र)में कौरव और पाण्डवोंकी सेनाओंका युद्ध हुआ था ।'

महाभारत-ग्रन्थके इस प्रमाणसे अधिक पुष्ट प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं; किंतु इस मतको प्राचीन-

कालसे लोग बराबर मानते चले आये हैं, इस बातको प्रमाणित करनेके अभिप्रायसे पुराणोंके और ज्यौतिषके भी कुछ प्रमाणोंको दे देना हम उचित समझते हैं। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अध्याय २ में लिखा है—

तेनैत ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम्।
ते त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः॥
यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः॥
(२८, ३१)

'प्रत्येक नक्षत्रपर सप्तर्षि एक सौ वर्ष रहते हैं, वे सप्तर्षि तुम्हारे जन्मकालमें मघानक्षत्रपर थे और आज (तुम्हारे अन्तकालमें) भी मघामें विराजमान हैं। जब सप्तर्षि मघानक्षत्रपर आये हैं, तभी १२०० दिव्य वर्षोंका (चार लाख बत्तीस हजार मानव वर्षों-वाला) कलियुग प्रवृत्त हुआ है।'

इस पौराणिक वचनसे प्रमाणित होता है कि भारतीय युद्धके समय (परीक्षित्के जन्मकालमें) सप्तर्षि मघानक्षत्रपर थे और वे मघानक्षत्रमें उस समय आये जब कलियुग प्रारम्भ हुआ। और यह बात स्पष्ट ही है कि महाभारत-युद्धकालके कुछ ही महीनेके पश्चात् राजा परीक्षित्का जन्म हुआ था।

वराहमिहिरने अपनी बृहत्संहिता, अध्याय १३ में लिखा है—

आसन् मघासु मुनयः शासति
पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ॥ ३॥

अर्थात् जिस समय युधिष्ठिर शासन करते थे, उस समय सप्तर्षि मघा नक्षत्रपर थे, और इसी श्लोककी टीकामें भट्टोत्पलने वृद्धगर्गका वचन दिया है—

कलिद्वापरसंधौ तु स्थितास्ते पितृदैवतम्।
मुनयो धर्मनिरताः प्रजानां पालने रताः॥

'कलियुग और द्वापरकी संधि (बीच) में सप्तर्षि पितृदैवत (मघा) नक्षत्रमें स्थित रहे।' इस ज्यौतिषके प्रमाणसे भी महाभारत और श्रीमद्भागवतके मतका समर्थन होता है। इतना ही नहीं, शक ४२१में आर्यभट्टने अपने दशगीतिकापादके तीसरे श्लोकमें लिखा है—

काहो मनवो ढ मनुयुग पूख गतास्ते त मनुयुग छ्ना च।
कल्पादेर्युग पादा ग च गुरुदिवसाच्च भारतात्पूर्वम्॥

'कलियुग और भारतीय युद्धसे पूर्व कल्पके आदिसे ये मन्वादि व्यतीत हुए हैं' इस आर्यभट्टके वचनसे भी कलियुगके आरम्भमें महाभारत-युद्धका होना प्रमाणित होता है।

राजा सुधन्वाके दानपत्र (संस्कृत-चन्द्रिका, खण्ड १४, संख्या २, ३) में, राजा सर्वजित्वर्माके दानपत्र (संस्कृत-चन्द्रिका, खण्ड १४, सं० २, ३, पृष्ठ ४,५) में भी कलियुग-संवत्का वर्णन है और एहोलीके पहाड़ी-परके जैन-मन्दिरके शिलालेखमें भारतयुद्धसे ३७३५ और शक-राजाओं (शक-संवत्)के ५५६ वर्ष बीतनेपर उक्त मन्दिरका बनना बतलाया गया है। (भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ १६१) इस शिलालेखसे भी 'कलियुग-संवत्' और 'भारतीय-संवत्' एक ही प्रमाणित होते हैं। तथा अविच्छिन्नरूपसे परम्परागत पञ्चाङ्ग-पत्रोंमें भी 'युधिष्ठिर-संवत्' और 'कलियुग-संवत्'की एकताका उदाहरण मिलता है। भारतवर्षके भिन्न-भिन्न राज्योंकी जो राजवंशावलियाँ मिलती हैं, उनसे भी युधिष्ठिर-संवत्का आरम्भ महाभारत-युद्धकाल और राजा परीक्षित्का जन्मकाल कलियुगके आरम्भकालमें ही प्रमाणित होता है।

सारांश यह कि महाभारत, श्रीमद्भागवत, बृहत्संहिता, आर्यभट्टीय सिद्धान्त, वृद्धगर्गके वचन, पञ्चाङ्गपत्रों, शिला-लेखों एवं दानपत्रों तथा राजवंशावलियोंसे यही प्रमाणित होता है कि भारतकी ऐतिहासिक तिथियोंकी आधार-शिला (महाभारत-युद्धकाल) ई० सन् पूर्व ३१०२ वर्ष ही है।

ऐसे प्रमाणोंके होते हुए किसी भी आस्तिक निष्पक्ष भारतीय विद्वान् तथा साधारण जनके हृदयमें किसी प्रकारका संदेह नहीं हो सकता, किंतु विदेशी जनोंके सम्पर्कसे तथा पराधीनताके कारण परतन्त्र-मस्तिष्क होनेसे उस निश्चित महाभारत-युद्धकालके

विषयमें समय-समयपर जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुईं, उनका निराकरण करना आवश्यक है।

यद्यपि सबसे प्रथम ज्योतिर्विद वराहमिहिरके 'सप्तर्षि-चार'में महाराज युधिष्ठिरके शासनकाल और शककालके उल्लेख और उस श्लोककी टीकामें भट्टोत्पलकी कल्पनासे राजतरङ्गिणीकार कवि कल्हणको यह भ्रम हुआ कि शालिवाहन शाकारम्भमें युधिष्ठिरका संवत् २५२६ था, अतएव कलि-गताब्द ६५३ में महाराज युधिष्ठिरका होना सिद्ध होता है और इसीके आधारपर कवि कल्हणने अपनी राजतरङ्गिणीमें समस्त प्राचीन राजवंशावलियोंमें ६५३ वर्ष घटाकर लिख डाला, क्योंकि कवि कल्हणके समय शक १०७० तक की समस्त ऐतिहासिक पुस्तकोंमें राजवंशालियोंके लेखकोंने महाभारत-युद्धकालको कलियुगारम्भमें ही मानकर अपनी-अपनी वंशावलियोंके वर्षोंको लिख रखा था, कवि कल्हणके भ्रमसे जन-साधारणके विचारोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। सब लोग पञ्चाङ्गों, शिलालेखों आदिमें 'कलियुग-संवत्' और 'युधिष्ठिर-संवत्'को एक ही मानकर लिखते आये। तथापि उनकी 'राजतरङ्गिणी' आज भी उनके भ्रमको अमर बनाये हुए है। किसी विद्वान्ने उसका संशोधन नहीं किया। अस्तु, कल्हणका भ्रम वराहमिहिरके जिस श्लोकके कारण उत्पन्न हुआ, उसका निराकरण वराहमिहिरके उसी श्लोककी भट्टोत्पली टीकामें उद्धृत वृद्धगर्गके वचनसे हो जाता है। वह वचन इस प्रकार है—

कलिद्वापरसंधौ तु स्थितास्ते पितृदैवतम्।

'कलियुग और द्वापरकी संधिमें सप्तर्षि मघा नक्षत्रपर थे' और जिस वराहमिहिरके श्लोककी टीकामें यह वृद्धगर्गका वचन उद्धृत है, उसमें लिखा है—

आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ।

'महाराज युधिष्ठिरके शासनकालमें सप्तर्षि मघा नक्षत्रपर थे।' अतएव कलियुगारम्भ-काल ही युधिष्ठिर-संवत्का आरम्भकाल सिद्ध होता है, न कि ६५३ कलिगताब्दसे।

अब हम छोटे-मोटे भ्रमोंकी समालोचना करके लेखका कलेवर बढ़ाना नहीं चाहते और उस महाभ्रमको दूर करनेकी चेष्टा करेंगे, जो पाश्चात्त्य विद्वानोंके द्वारा उत्पन्न किया गया है और संसारभरमें—विशेषकर भारत-वर्षके प्रचलित समस्त इतिहास-ग्रन्थोंमें व्याप्त हो रहा है और जिसके कारण महाभारत-युद्धकाल लगभग १७०० वर्ष पीछे हटाया गया है। इस महाभ्रमके जन्म-दाता सर विलियम जोन्स और पोषक जेनरल प्रिंसेप, जेनरल कनिंघम आदि पाश्चात्त्य विद्वान् थे। और यदि हम यह कहें कि विदेशीय शासनके अभिशापसे हमारे देशके बड़े-बड़े विद्वान् जो पाश्चात्त्यविद्यासम्पन्न होकर अपने देशके इतिहासकी पुस्तकोंके जनक थे और हैं, वे भी इस भ्रमके समर्थक ही देखे गये हैं तो अनुचित न होगा। इस महाभ्रमकी मूलभित्ति मेगास्थनीजकी पुस्तकमें लिखित सैंड्राकोटसको मौर्य चन्द्रगुप्त और उसकी राजधानी पालिबोथ्राको पाटलिपुत्र नगर मान लेना है और उसीके समर्थनमें अशोककी धर्मलिपियोंके प्रज्ञापन दूसरे और तेरहवेंमें अन्तियोक आदि पश्चिम भारतके पाँच राज्योंमें यूनान देशके पाँच राजाओंके नामकी कल्पना करना है। इतना ही नहीं, इस भ्रमको अधिक महत्त्व देनेके लिये महाभारत-युद्धकालसे लेकर मौर्य चन्द्रगुप्त अथवा अशोकवर्द्धनके समयतक जितने राजा हुए हैं और जिनकी राजवंशावलियाँ उनके राजत्व-कालके सहित हमारे पुराणोंमें स्पष्ट पायी जाती हैं, उन राजवंशावलियोंके राजत्वकालोंके अशुद्ध पाठोंके आधारपर मनमाना अर्थ किया गया है और हमारे देशके धुरन्धर विद्वानोंके द्वारा भी वही अर्थ किया गया है। अतएव इस महाभ्रमके दूरीकरणके लिये हम महाभारत-युद्ध-कालसे लेकर मौर्य अशोकवर्द्धनके समयतककी राज-वंशावलियों और उनके राजत्वकालोंपर विचार करेंगे और यह दिखलायेंगे कि पाश्चात्त्य विद्वानों और उनके पदानुगामी भारतीय विद्वानोंसे कहाँ-कहाँ और क्या-क्या भूलें हुई हैं। इसकी परीक्षा करनेके लिये सबसे प्रथम हमको श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण, वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराण-के अनुसार बृहद्रथ-प्रद्योत और शिशुनाक-वंशकी वंशावलियोंमें यह देखना है कि इन पुराणोंमें कहाँ-कहाँ कितना और क्यों अन्तर है, जिनके द्वारा सभी पुराणोंकी एकता हो सकती है।

भारतीय युद्धके पश्चात् मगधकी बृहद्रथ-वंशावली

क्रम-संख्या	संशोधित पाठ		मत्स्यपुराण		वायुपुराण		ब्रह्माण्डपुराण	
	नाम	राजत्व-काल	नाम	राजत्व-काल	नाम	राजत्व-काल	नाम	राजत्व काल
१	सोमाधि	५८	सोमाधि	५८	सोमाधि	५८	सोमापि	५८
२	श्रुतश्रवा	६७	श्रुतश्रवा	६४	श्रुतश्रवा	६४	श्रुतश्रवा	६७
३	अयुतायु	३६	अप्रतीपी	३६	अयुतायु	२६	अयुतायु	२६
४	निरमित्र	४०	निरमित्र	४०	निरमित्र	१००	निरमित्र	१००
५	सुक्षत	५६	सुरक्ष	५६	सुकृत	५६	सुक्षत्र	५६
६	बृहत्कर्मा	२३	बृहत्कर्मा	२३	बृहत्कर्मा	२३	बृहत्कर्मा	२३
७	सेनाजित्	५०	सेनाजित्	५०	सेनाजित्	२३	सेनाजित्	२३
८	श्रुतञ्जय	४०	श्रुतञ्जय	४०	श्रुतञ्जय	४०	श्रुतञ्जय	४०
९	विभु	२८	विभु	२८	महाबाहु	३५	रिपुंजय	३५
१०	शुचि	५८	शुचि	६४	शुचि	५८	शुचि	५८
११	क्षेम	२८	क्षेम	२८	क्षेम	२८	क्षेम	२८
१२	सुव्रत	६४	अनुव्रत	६४	सुव्रत	६४	सुव्रत	६४
१३	सुनेत्र	३५	सुनेत्र	३५	धर्मनेत्र	५	धर्मनेत्र	५
१४	निवृत्ति	५८	निर्वृति	५८	नृपति	५८	नृपति	५८
१५	त्रिनेत्र	२८	त्रिनेत्र	२८	सुव्रत	३८	सुश्रम	३८
१६	द्युमत्सेन	५८	द्युमत्सेन	४८	दृढ़सेन	५८	दृढ़सेन	५८
१७	सुमति	३३	महीनेत्र	३३	सुमति	३३	सुमति	३३
१८	अचल	३२	अचल	३२	सुचल	२२	×	×
१९	सुनेत्र	४०	×	×	सुनेत्र	४०	सुनेत्र	४०
२०	सत्यजित्	८३	×	×	सत्यजित्	८३	सत्यजित्	८३
२१	वीरजित्	३५	×	×	वीरजित्	३५	विश्वजित्	३५
२२	अरिञ्जय	५०	रिपुञ्जय	५०	अरिञ्जय	५०	अरिञ्जय	५०
		१०००		८३५		९९७		९७८

उपर्युक्त विवरणके देखनेसे विदित होता है कि मत्स्यपुराण में (अध्याय २७१, श्लोक १९ से २९ तकके अनुसार) बृहद्रथ-वंशके केवल १९ नाम हैं, ब्रह्माण्डपुराणमें (उ० पा० ३, अध्याय ७४ के अनुसार) २१ नाम हैं और केवल वायुपुराणमें (अध्याय ९९ के अनुसार) २२ नाम हैं; किंतु मत्स्य, ब्रह्माण्ड और वायु—इन तीनों पुराणोंमें राजाओंकी संख्या २२ ही लिखी है। अतएव यह निश्चय ही मानना पड़ेगा कि मत्स्यपुराणमें तीन नाम और ब्रह्माण्डपुराणमें एक नाम लेखककी भूलसे छूट गया है और छूटे हुए नामकी खोज दूसरे पुराणोंकी नामावलीसे सरलतासे की जा सकती है। जैसे मत्स्यपुराणमें अट्ठारहवें राजा अचल (सुचल)के और अरिञ्जयके बीचमें सुनेत्र, सत्यजित् और वीरजित् (विश्वजित्)—ये तीन नाम हैं। अतएव यही निश्चय होता है कि ये तीनों नाम मत्स्यपुराणके लेखककी भूलसे छूट गये हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्डपुराणमें सुमति (महीनेत्र) के पश्चात् सुनेत्र राजाका नाम आ जाता है और मत्स्यपुराण तथा वायुपुराणमें सुमति और सुनेत्रके बीचमें अट्ठारहवें राजा अचल (सुचल)का नाम है; अतएव यह निश्चय हो जाता है कि ब्रह्माण्डपुराणके लेखककी भूलसे बृहद्रथ-वंशावलीके अट्ठारहवें राजा अचलका नाम छूट गया है। इस प्रकार विचारदृष्टिसे देखनेपर मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड-पुराणके राजाओंकी नाम-संख्यामें कोई अन्तर नहीं और मत्स्य एवं ब्रह्माण्डपुराणके छूटे हुए

पाठको मिलाकर संशोधित पाठके अनुसार पढ़ना चाहिये।

मत्स्यपुराणके १९ राजाओंके राजत्वकालका योग ८३५ वर्ष है। वायुपुराणके पूरे २२ राजाओंके राजत्वकालका योग ९९७ वर्ष है और ब्रह्माण्डपुराणके २१ राजाओंके राजत्वकालका योग ९७८ वर्ष है। यदि ब्रह्माण्डपुराणके छूटे हुए राजा अचलका राजत्वकाल ९७८ में युक्त कर दें तो पूरे एक सहस्र वर्ष हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि वायुपुराणके दूसरे राजा श्रुतश्रवाके राजत्वकाल ६४ वर्षके स्थानमें ब्रह्माण्डपुराणके पाठके अनुसार ६७ वर्ष मान लें तो वायुपुराणके २२ राजाओंके राजत्वकाल ९९७ में ३ बढ़ जाते हैं और वायुपुराणके राजाओंके राजत्वकालका जोड़ भी पूरे 'एक' सहस्र वर्ष हो जाता है और मत्स्यपुराणके पाठमें जो सुनेत्र, सत्यजित् और वीरजित्के नाम लेखकके प्रमादसे छूट गये हैं, उनके राजत्वकालमें १५८ को मत्स्यपुराणके १९ राजाओंके राजत्वकाल ८३५ में जोड़ दें और साथ ही नवें राजा विभुके मत्स्यपुराणके राजत्वकाल २८ के स्थानमें वायु और ब्रह्माण्डपुराणके पाठके अनुसार ३५ वर्ष मान लें तो मत्स्यपुराणके मतसे भी ठीक-ठीक २२ राजाओंके राजत्वकालका योग एक सहस्र वर्ष हो जाता है और ऐसा विचारपूर्ण संशोधन हो जानेसे मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्डपुराणके बृहद्रथवंशी राजाओंके नाम २२ और उनके राजत्व-कालके वर्ष पूरे एक सहस्र वर्ष हो जाते हैं, जैसा कि निम्नलिखित पुराणोंमें वर्णित है—

द्वात्रिंशत्तुर्नृपा ह्येते भवितारो बृहद्रथाः ॥
पूर्णं वर्षसहस्रं तु तेषां राज्यं भविष्यति ।
(मत्स्यपु० २७१ । २९-३०)

द्वात्रिंशच्च नृपा ह्येते भवितारो बृहद्रथात् ॥
पूर्णं वर्षसहस्रं वै तेषां राज्यं भविष्यति ।
(वायुपु० ९९ । ३०८-९)

द्वाविंशच्च नृपा ह्येते भवितारो बृहद्रथात् ॥
पूर्णं वर्षसहस्रं वै तेषां राज्यं भविष्यति ॥
(ब्रह्माण्डपु० उपो० पाद ७४ । १२१-२२)

बार्हद्रथाश्च भूपाला भाव्याः साहस्रवत्सरम् ॥
(श्रीमद्भा० ९ । २२ । ४९)

इत्येते बार्हद्रथा भूपतयो वर्षसहस्रमेकं भविष्यन्ति ॥
(विष्णुपु० अंश ४ । २३ । १३)

उपर्युक्त पाँचों पुराणोंके वचनोंमें बार्हद्रथ-वंशके समस्त राजाओंका राजत्वकाल एक सहस्र वर्ष ही लिखा है; किंतु राजाओंकी संख्यामें लेखकके प्रमादसे अन्तर हो गया है और यदि मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्डपुराणके श्लोकोंके अपपाठको शुद्ध कर दें तो मत्स्यपुराणमें जो 'द्वात्रिंशति' शब्द व्याकरण-विरुद्ध अशुद्ध है, वह शुद्ध रूपका होगा 'द्वाविंशति' और वायुपुराण 'द्वात्रिंशच्च' के स्थानमें भी 'द्वाविंशति' हो जायगा और ब्रह्माण्डपुराणका 'द्वाविंशच्च' यह अशुद्ध पाठ 'द्वाविंशति' हो जायगा और पाँचों पुराणोंके मतसे बार्हद्रथवंशके ठीक-ठीक २२ राजाओंके नाम और उनके राजत्वकालका योग एक सहस्र वर्ष हमारे ऊपर लिखे विवरणके अनुसार प्रमाणित हो जाता है। हमने मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्डपुराणके शुद्ध पाठके अनुसार ही नाम और राजत्वकाल लिखे हैं।

प्रद्योत-वंशकी राजवंशावली और राजत्वकाल

क्रम-संख्या	मत्स्यपुराण		वायुपुराण		ब्रह्माण्डपुराण		श्रीमद्भागवत		विष्णुपुराण	
	नाम	राजत्व काल	नाम	राजत्व-काल	नाम	राजत्व काल	नाम	राजत्व-काल	नाम	राजत्व काल
१	वालक	२३	नरोत्तम	२३	प्रद्योति	२३	प्रद्योत	×	प्रद्योतन	×
२	पालक	२८	पालक	२४	पालक	२४	पालक	×	पालक	×
३	विशाखयूप	५३	विशाखयूप	५०	विशाखयूप	५०	विशाखयूप	×	विशाखयूप	×
४	सूर्यक	२१	अजक	२१	अजक	२१	राजक	×	जयक	×
५	×	×	वर्तिवर्द्धन	२०	नन्दिवर्द्धन	२०	नन्दिवर्द्धन	×	नन्दिवर्द्धन नन्दी	×
योग		१३८		१२५		१३८		१३८		१३८

ऊपरके विवरणको देखनेसे विदित होता है कि प्रद्योत-वंशके राजाओंके नामोंमें और उनके राजत्वकालोंमें कोई महत्त्वका अन्तर नहीं। प्रायः सभी पुराणोंका मत एक है। मत्स्यपुराण (अध्याय २७१, श्लोक १९ से २९

तक के अनुसार) का 'बालक' नाम पुत्रके अर्थमें नहीं और वायुका 'नरोत्तम' वास्तविक नाम नहीं, विशेषण है। ब्रह्माण्डपुराण उपोद० ३ पाद, अध्याय ७४ का 'प्रद्योति' नाम भी वस्तुतः प्रद्योत है। सम्भवतः लेखकके प्रमादसे इकारकी मात्रा लग गयी है और राजत्व-कालमें कोई अन्तर नहीं। अतएव इस वंशके प्रथम राजा प्रद्योतके विषयमें सबका मत एक है। दूसरे राजा 'पालक' के नाम सभी पुराणोंके मतसे एक हैं; किंतु राजत्वकालके विषयमें अन्तर है। मत्स्यपुराणमें राजत्व-काल २८ है और वायु (पुराणके अध्याय ९९ के अनुसार) तथा ब्रह्माण्डपुराणमें २४ वर्ष है। इसमें भी मत्स्यपुराणका पाठ ही लेखकके प्रमादसे अशुद्ध मानना पड़ता है; क्योंकि राजत्वकालके योगमें २४ वर्ष माननेसे ही ठीक होता है। तीसरे राजा 'विशाखयूप'के नाममें भी सभी पुराण एकमत हैं; किंतु इसका राजत्वकाल भी मत्स्यपुराणमें ५३ वर्ष है और शेष पुराणोंमें राजत्वकाल ५० वर्ष है और राजत्वकालके योगके ऊपर विचार करें तो ५० वर्ष ही ठीक बैठता है। अतएव यहाँ भी मत्स्यपुराणके पाठको ही अपपाठ मानना पड़ेगा, जो लेखकके प्रमादसे हो जाना सम्भव है। चौथे राजाके राजत्वकालमें कोई अन्तर नहीं है। सभी पुराणोंके मतसे उसका राजत्वकाल २१ वर्ष ही माना गया है; किंतु नाममें अन्तर है। मत्स्यपुराणमें 'सूर्यक' नाम है, श्रीमद्भागवतमें 'राजक', विष्णुपुराणमें 'जयक,' वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराणमें 'अजक' नाम है। यह नामभेद भी लेखकके प्रमादके अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इनमेंसे 'राजक' नाम जो श्रीमद्भागवतके पाठमें है, वही हमको शुद्ध प्रतीत होता है; किंतु नाम कोई भी हो, उसका प्रभाव ऐतिहासिक विषयमें कुछ भी नहीं पड़ सकता। पाँचवें राजाका नाम मत्स्यपुराणमें नहीं है और न उसका राजत्व-काल ही। अतएव उसके मतसे इस वंशके राजाओंके राजत्वकालके योगमें हमने शेष चार राजाओंके राजत्व-कालका योग १२५ वर्ष लिखा है, जो वस्तुतः अशुद्ध है। अन्य पुराणोंमें आया हुआ पाँचवें राजाका नाम यदि मत्स्यपुराणके पाँचवें राजाके नामके रूपमें रख दें तो मत्स्यपुराणकी त्रुटि दूर हो जाती है। वायुपुराणमें उसका नाम 'वर्तिवर्द्धन' और शेष सभी पुराणोंमें 'नन्दि-वर्द्धन' है; किंतु 'राजत्वकाल' सभी पुराणोंमें बीस वर्ष माना गया है। अतएव इस राजाके नाममें जो वायु तथा अन्य पुराणोंमें 'वर्ति' और 'नन्दि'के भेदसे अन्तर दिखायी देता है, वह भी लेखकका प्रमाद ही मानना चाहिये। हमारे विचारमें 'नन्दिवर्द्धन' नाम ही शुद्ध प्रतीत होता है। हमने श्रीमद्भागवतके पाठके अनुरूप 'नन्दिवर्द्धन' ही रखा है। विष्णुपुराणमें 'नन्दिवर्द्धन'के बाद एक नाम नन्दी भी लिखा है, जिससे पाँचके स्थानमें प्रद्योतवंशके राजाओंकी संख्या ६ हो जाती है। किंतु विष्णुपुराणमें भी 'पञ्च प्रद्योताः' कहा गया है, अतएव नन्दीको नन्दिवर्द्धनका विशेषण मान लेना उचित प्रतीत होता है। सारांश यह कि प्रद्योत-वंशके राजाओंके पाँच ही नाम सभी पुराणोंके अनुसार प्रमाणित होते हैं और उन सबके राजत्वकालका योग भी सभी पुराणोंके मतसे १३८ वर्ष ही आता है, जैसे पाँचों पुराणोंके निम्नलिखित वचनोंमें कहा गया है—

अष्टत्रिंशच्छतं भाव्याः प्रद्योताः पञ्च ते सुताः ॥
(वायुपु० ९९ । ३१४)

अष्टत्रिंशच्छतं भाव्याः प्रद्योताः पञ्च ते नृपाः ॥
(ब्र० पु० उ० पा० ३ । ७४ । १२७)

...... (मत्स्यपुराणमें पाँचवें नामका प्रभाव है)

नन्दिवर्द्धनस्तत्पुत्रः पञ्च प्रद्योतना इमे।
अष्टत्रिंशोत्तरशतं भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १ । ४)

इत्येतेऽष्टत्रिंशदुत्तरमब्दशतं पञ्च प्रद्योताः पृथ्वीं भोक्ष्यन्ति ॥
(विष्णुपु० अं० ४ । २४ । ८)

ऊपरके पाँचों पुराणोंके अनुसार प्रद्योत-वंशके राजाओंकी संख्या पाँच और उनके राजत्वकालोंका योग १३८ वर्ष ही प्रमाणित होता है, जैसा कि हमने ऊपरके चक्रमें तथा उसके विवरणमें लिखा है। अतएव इसमें हमने संशोधित पाठ पृथक्से नहीं लिखा, संशोधित रूप विवरणके पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है।

मत्स्यादि पाँच पुराणोंमें प्रद्योत-वंशके पाँच राजाओं-के पश्चात् शिशुनाक-वंशके दस राजाओंके नाम और उनके राजत्व-कालोंका वर्णन है।

शिशुनाक (शिशुनाग) वंशकी पौराणिक राजवंशावलि इस प्रकार है—

क्रम-संख्या	संशोधित पाठ		मत्स्यपुराण	वायुपुराण		ब्रह्माण्डपुराण		श्रीमद्भागवत		विष्णुपुराण		
	नाम	राजत्व-काल	नाम	राजत्व-काल	नाम	राजत्व काल	नाम	राजत्व-काल	नाम	राजत्व-काल	नाम	राजत्व काल
१	शिशुनाक	४०	शिशुनाक	४०	शिशुनाक		शिशुनाक		शिशुनाग	×	शिशुनाग	×
२	काकवर्ण	३६	काकवर्ण	२६	शकवर्ण	३६	काकवर्ण	३६	काकवर्ण	×	काकवर्ण	×
३	क्षेमधर्मा	३०	क्षेमधामा	३६	क्षेमवर्मा	२०	क्षेमधर्मा		क्षेमधर्मा	×	क्षेमवर्मा	×
४	क्षत्रौजा	४०	क्षेमजित्	२४	अजातशत्रु	२५	क्षत्रौजा	४०	क्षेत्रज्ञ	×	क्षत्रौजा	×
५	विन्ध्यसेन	३८	विन्ध्यसेन (दो नाम)	२८	क्षत्रौजा	४०	विधिसार	३८	विधिसार	×	विन्ध्यसार	×
६	अजातशत्रु	२७	अजातशत्रु	२७	विविसार	२८	अजातशत्रु	२५	अजातशत्रु	×	अजातशत्रु	×
७	दर्शक	३५	वंशक	२४	दर्शक	२५	दर्भक	३५	दर्भक	×	दर्भक	×
८	उदयी	३३	उदासी	३३	उदायी	३३	उदयी	३३	अजय	×	उदयाश्व	×
९	नन्दिवर्द्धन	४०	नन्दिवर्द्धन	४०	नन्दिवर्द्धन	४२	नन्दिवर्द्धन	४०	नन्दिवर्द्धन	×	नन्दिवर्द्धन	×
१०	महानन्दी	४३	महानन्दी	४३	महानन्दी	४३	महानन्दी	४३	महानन्दी	×	महानन्दी	×
यो.	१०	३६२	१०	३२१		२३२		३५०		३६०		३६२

शिशुनाक-वंशकी राजवंशावलीमें सामान्य पाठ-भेदोंके अतिरिक्त दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि वायुपुराणके पाठमें लेखककी भूलसे वायुपुराण-के ३१८ वें श्लोकका पूर्वार्ध—

अजातशत्रुर्भविता पञ्चविंशत्समा नृपः ।

—३१७ वें श्लोकके पूर्वार्धके स्थानमें लिखा गया है। अतएव राजवंशावलिमें वायुपुराणके पाठसे अजातशत्रुका नाम छठे स्थानमें चौथा हो गया है, जो समस्त पुराणोंके विरुद्ध और अशुद्ध है। अतएव इस श्लोकार्धको ३१८ वें श्लोकके पूर्वार्धमें स्थान देकर वायुपुराणके अपपाठको शुद्ध कर देना चाहिये। और दूसरी बात है मत्स्यपुराणकी, जिसमें सातवाँ श्लोक—

भविष्यति समा राजा नव काण्वायनो नृपः ।
भूमिमित्रः सुतस्तस्य चतुर्दश भविष्यति ॥

—भूलसे क्षेपकके रूपमें लिख दिया गया है। वस्तुतः यह श्लोक काण्ववंशका है, जो मत्स्यपुराणमें इसी अध्यायका ३२वाँ श्लोक है और इस प्रकार काण्वायन और भूमिमित्र—ये दो नाम बढ़ा दिये गये हैं। इसी कारणसे मत्स्यपुराणके ग्यारहवें श्लोकके उत्तरार्धमें 'दश द्वौ शिशुनाकजाः' पाठ 'दश वै शिशुनाकजाः'के स्थानमें रखना पड़ा है। अतएव मत्स्यपुराणके उक्त सातवें श्लोकको निकाल देना चाहिये और ग्यारहवें श्लोकके उत्तरार्धमें शुद्ध पाठ 'दश वै शिशुनाकजाः' पढ़ना चाहिये। तथा इस पादके प्रथमपादमें 'वै' के स्थानमें 'च' रखकर 'इत्येते भवितारश्च' शुद्ध पाठ पढ़ना चाहिये।

अवश्य ही विष्णुपुराण और वायुपुराणके पाठसे शिशुनाक-वंशी राजाओंके राजत्वकालके योगकी वर्ष-संख्या ३६२ मान लेनेसे राजा परीक्षित्‌के जन्मसे महापद्म (महानन्द)के अभिषेकतकके वर्ष १५०० होते हैं, जो पुराणोंके वचनोंके पाठानुकूल हैं और मत्स्य, ब्रह्माण्ड तथा श्रीमद्भागवतके पाठसे ३६० वर्ष होते हैं, जिसके मान लेनेसे वह राजत्व-कालोंका योग १४९८ वर्ष होता है, जो किसी भी पुराण-वचनके अनुकूल नहीं। इतना ही नहीं, पुराणोंके श्लोकात्मक वचनोंमें छन्दानुरोधसे भी पाठमें भेद हो सकना सम्भव है; किंतु विष्णु-पुराणके गद्यात्मक वचनमें कोई अशुद्धिकी सम्भावना नहीं। अतएव वही पाठ प्रामाणिक माना गया है।

मत्स्यपुराण, वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणके अनुसार महाभारत-युद्धकाल अथवा राजा परीक्षित्‌के जन्मकालसे मगधके बृहद्रथवंशके सोमाधिसे लगाकर अरिञ्जयतक २२ राजाओंका राजत्व-काल एक सहस्र वर्ष, उसके पश्चात् प्रद्योत-वंशके पाँच राजाओंके राजत्वकाल १३८ वर्ष और उसके पश्चात् शिशुनाक वंशके दस राजाओंके राजत्वकाल ३६२

वर्षका वर्णन है। और शिशुनाकवंशके अन्तिम राजा महानन्दीके पश्चात् महापद्म राजा हुआ है। इस प्रकार सभी पुराणोंके मतसे राजा परीक्षित्के जन्मसे महापद्मके अभिषेकतकका समय बार्हद्रथोंके १०००वर्ष, प्रद्योतोंके १३८ वर्ष और शिशुनाकोंके ३६२ वर्ष अर्थात् (१०००+१३८+३६२) कुल १५०० वर्ष होते हैं, जैसा नीचेके पौराणिक वचनोंसे स्पष्ट है—

महापद्माभिषेकात्तु यावज्जन्म परिक्षितः।
एकवर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम्॥

(मत्स्यपु० अ० २७३। ३५)

महादेवाभिषेकात्तु यावज्जन्म परीक्षितः।
एकवर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम्॥

(वायुपु० अ० ९९। ४०९)

महानन्दाभिषेकान्तं जन्म यावत्परीक्षितः।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम्॥

(ब्र० पु०, उ० पा० ३, अ० ७४। २२७)

आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद् वर्षसहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम्॥

(श्रीमद्भा० १२। २। २६)

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद् वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्॥

(वि० पु० अं० ४। २४। २४)

उपर्युक्त पुराणोंके वचनोंके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार समस्त भविष्य राजवंशावलिका वर्णन भिन्न-भिन्न पुराणोंमें किसी एक ही भविष्यपुराणसे लेकर रख दिया गया है, उसी प्रकार यहाँ तीन वंशके राजाओंके राजत्वकालका योगस्वरूप यह वचन भी एक ही स्थानसे लिया गया है और लेखकके प्रमादसे भिन्न-भिन्न पुराणोंमें कुछ शब्दोंमें अपपाठ लिखा गया है। इस श्लोकके पाठका संशोधन इसके वर्णित कालकी मीमांसासे सरलतासे हो जाता है। इस श्लोकमें सभी पुराणोंके पाठसे विदित होता है कि इसमें भारतीय युद्ध-काल (सहदेवके पुत्र सोमाधिके अभिषेक) से अर्थात् राजा परीक्षित्के जन्मकालसे लेकर (शिशुनाक-वंशके राजत्व समाप्त होनेतक) महापद्म (महादेव) नन्दके राज्याभिषेकतकके कालका वर्णन है। हमारे ऊपर लिखे विवरणसे—जिसमें बार्हद्रथ, प्रद्योत और शिशुनाक—इन तीन राजवंशावलियोंके प्रत्येक राजाके राजत्वकाल तथा उन सबके योगका प्रमाणसहित प्रतिपादन है—स्पष्ट हो जाता है कि तीनों राजवंशावलियोंके राजत्वकालका योग १५०० सौ वर्ष होता है और इसी योगका वर्णन उपर्युक्त पाँचों पुराणोंके वचनोंमें कहा गया है। अतएव उक्त पुराणोंके अपपाठका संशोधन इसी आधारपर होना चाहिये कि उसमें वर्णित परीक्षित्के जन्म (महाभारत-युद्धकाल) से महानन्द-पद्मके अभिषेक (शिशुनाकवंशके अन्तिम राजाके अन्तिम समय) तकके—१५०० सौ वर्ष हों। अतएव उपर्युक्त पुराणोंके श्लोकोंका अन्तिम चरण 'ज्ञेयं पञ्चशतोत्तरम्' होना चाहिये—जैसा मत्स्यपुराणका पाठ है—

महापद्माभिषेकात्तु यावज्जन्म परिक्षितः।
एकवर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चशतोत्तरम्॥ ३५॥

इसी प्रकार वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणके उपर्युक्त श्लोकोंके अन्तिम चरणोंमें संशोधन कर देना चाहिये। और ऐसा संशोधन कर देनेसे तीनों वंशावलियोंके विवरणसहित राजत्वकालोंकी वर्ष-संख्या और उनके योग बतलानेवाले उन श्लोकोंकी वर्ष-संख्यामें एकता हो जाती है और अशुद्ध पाठोंके आधारपर महाभारत-युद्धकालसे महानन्दके अभिषेकतकके वर्षोंमें लगभग ५०० वर्ष घटानेवाले समस्त आधुनिक विद्वानोंके मतोंका निराकरण हो जाता है।

महापद्मनन्दकी वंशावलि

क्रम-संख्या	मत्स्यपुराण		वायुपुराण		ब्रह्माण्डपुराण		विष्णुपुराण		श्रीमद्भागवत	
	नाम	वर्ष	नाम	वर्ष	नाम	वर्ष	नाम	वर्ष	नाम	वर्ष
१	महापद्मनन्द	८८	महापद्मनन्द	२८	महापद्मनन्द	८८	महापद्मनन्द	×	महापद्मनन्द	१००
२	सुमाल्यादि	१२	सहस्राः	१२	सुमाल्यादि ८ लड़के	१२	सुमाल्यादि ८ लड़के	१००	सुमाल्यादि ८ लड़के	

शिशुनाकवंशके पश्चात् महापद्मनन्दके वंशका वर्णन है। मत्स्यपुराण और ब्रह्माण्डपुराणमें 'महापद्मनन्द' का राजत्वकाल ८८ वर्ष और वायुपुराणमें २८ वर्ष लिखा है, और उसके पश्चात् महापद्मके ८ पुत्रोंका राजत्वकाल समष्टिरूपसे उक्त तीनों पुराणोंमें १२ वर्ष लिखा है, तथा श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणमें महापद्मनन्द और उसके ८ पुत्रोंका राजत्वकाल समष्टिरूपसे १०० वर्ष दिया गया है। वायुपुराणके पाठसे महापद्मनन्द और उसके ८ पुत्रोंके राजत्वकालका योग केवल चालीस वर्ष होता है और मत्स्यपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणके पाठसे महापद्मनन्द और उसके ८ पुत्रोंके राजत्वकालका योग पूरे १०० वर्ष होते हैं। वायुपुराणके पाठमें अशुद्धि है; मत्स्यपुराण, अध्याय २७२, श्लोक १९ का पाठ है—'अष्टाशीतिं तु वर्षाणि' और लेखकके प्रमादसे वायुपुराण, अध्याय ९९, श्लोक ३२४ का पाठ 'अष्टाविंशतिवर्षाणि' है, जो वस्तुतः अशुद्ध है। अष्टाशीतिके स्थानमें अष्टाविंशति लेखकके प्रमादसे लिखा गया है; क्योंकि अन्य पुराणोंके सर्वथा विरुद्ध यह पाठ है। अतएव पाँचों पुराणोंके शुद्ध पाठके अनुसार महापद्मनन्द और उसके आठ पुत्रोंका राजत्वकाल १०० वर्ष ही प्रमाणित होता है। महापद्मनन्दके पुत्रोंका नाम वायुपुराणमें 'सहस्राः' और अन्य चार पुराणोंमें 'सुमाल्यादि' लिखा है; अतएव यह मान लेना अनुचित न होगा कि सुमाल्यादिका उपनाम 'सहस्राः' है और इस प्रकार महापद्मनन्दके और उसके पुत्रोंके राजत्वकाल और नामोंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता।

महानन्दवंशके 'पश्चात्' मौर्यवंशकी वंशावलि पाँचों पुराणोंमें है और मौर्यवंशके राजाओंकी संख्या मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवतमें १० और उनके राजत्व-कालोंका योग १३७ वर्ष लिखा है; किंतु वायु और ब्रह्माण्डपुराणमें राजाओंकी संख्या ९ और उनके राजत्वकालका योग वही १३७ वर्ष दिया गया है। श्रीमद्भागवतमें—

'मौर्या ह्येते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम्।'

—लिखा है; किंतु नामावलिमें केवल ९ नाम दिये गये हैं। जैसे—१. चन्द्रगुप्त, २. भद्रसार, ३. अशोक, ४. कुनाल, ५. बन्धुपालित, ६. इन्द्रपालित, ७. देववर्मा, ८. शतधर और ९. बृहद्रथ। सम्भवतः नामावलिके लिखते समय श्रीमद्भागवतमें एक नाम छूट गया है और विष्णुपुराणके अनुसार वह छूटा हुआ नाम 'दशरथ' है, जो श्रीमद्भागवतके चौथे नाम सुयशा और पाँचवें 'संगत' नामके बीचमें होना चाहिये। इसी प्रकार वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराणमें जो नौ राजाओंके नाम लिखे हैं, उनमें दशरथका नाम यथास्थान बढ़ा देनेसे सभी पुराणोंकी राजनामावलिमें सामञ्जस्य होता है; क्योंकि वायु और ब्रह्माण्डपुराणमें जो नौ राजाओंके नाम दिये हैं, उनके राजत्वकालका योग केवल १२३ वर्ष होता है जो १३७ वर्ष होना चाहिये। और उन दोनों पुराणोंमें 'दशरथ' नाम और उसका राजत्वकाल १४ वर्ष मिला दें तो वह योगसंख्या उन्हीं दोनों पुराणोंकी लिखी हुई योगसंख्या १३७ के समान हो जाती है। मत्स्यपुराणके मौर्यवंशकी नामावलि और उनके राजत्वकालोंमें इतना उलट-पलट और त्रुटियाँ हैं कि उनका विवरण देनेसे कोई लाभ नहीं; किंतु मत्स्यपुराणमें भी मौर्यवंशके राजाओंकी संख्या १० और उनके राजत्वकालोंका योग अन्य पुराणोंके समान ही १३७ वर्ष है।

इस प्रसङ्गमें मौर्यवंशके सभी राजाओंके राजत्वकाल लिखनेकी आवश्यकता नहीं। महाभारत-युद्धकालके निश्चित करनेके लिये हमको केवल तीन ही राजाओंके राजत्वकालोंके विषयमें विचार करना है और वे तीन नाम हैं—चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार (वारिसार—भद्रसार) और अशोकवर्द्धन। वायु और ब्रह्माण्डपुराणमें चन्द्रगुप्तका राजत्वकाल २४ वर्ष और बिन्दुसार (भद्रसार-वारिसार) का राजत्वकाल २५ वर्ष लिखा है; किंतु अशोकवर्द्धनका राजत्वकाल वायुपुराणमें २६ वर्ष और ब्रह्माण्डपुराणमें ३६ वर्ष लिखा है। उक्त दोनों पुराणोंके दशरथसहित दस राजाओंके राजत्वकालका योग, जो १३७ वर्ष लिखा है, वह योगफल अशोकवर्द्धनके राजत्वकालको २६ वर्ष माननेपर ठीक होता है। यदि अशोकका राजत्वकाल

३६ वर्ष मानें तो दस राजाओंके राजत्वकालोंका योग १४७ वर्ष हो जाता है, जो सभी पुराणोंके लिखित योग-फलके विरुद्ध है। अतएव यह निश्चित हो जाता है कि ब्रह्माण्डपुराणके वचन—'षट्त्रिंशत्तु समा राजा अशोकानां च तृप्तिदः।' इसमें 'त्रिंशत्तु'के स्थानमें 'विंशति' शब्द होना चाहिये। इसी प्रकार वायुपुराणके वचन—'षड्विंशत्तु समा राजा'में 'विंशत्तु' शब्द व्याकरण-विरुद्ध है। उसका भी शुद्धरूप 'षड् विंशतिसमा राजा' होना चाहिये। ऐसा संशोधन कर देनेसे सभी पुराणोंके पाठ शुद्ध और राजाओंके नामोंकी संख्या और उनके राजत्वकालोंके योगमें कोई मतभेद नहीं रह जाता। मौर्यवंशके पश्चात् शुङ्गवंशके दस राजाओं और उनके राजत्वकालोंका योग ११२ वर्ष और शुङ्गवंशके पश्चात् चार कण्व-वंशके नाम और उनके राजत्वकालका योग ४५ वर्ष और उसके पश्चात् ३० आन्ध्रभृत्य राजाओंके राजत्वकालका योग विष्णुपुराणमें ४५६ वर्ष मिलता है।

महाभारत-युद्धके पश्चात् मगधकी राजवंशावलियों-के राजाओंके शुद्ध नाम और उनके प्रामाणिक राजत्वकालोंके ही आधारपर भारतका प्राचीन ऐतिहासिक समय निश्चित किया जा सकता है और महाभारत-युद्धका समय भी निर्णीत किया जा सकता है। अतएव ऊपरके पौराणिक वचनोंके आधारपर हम उन राज-वंशावलियोंकी नामावलि और प्रत्येक वंशावलिके प्रत्येक राजाके शुद्ध राजत्वकालको निम्नलिखित चक्रद्वारा दिखला रहे हैं, जिसके द्वारा ऐतिहासिक समयोंका ज्ञान सरलताके साथ हो सकता है।

महाभारत-युद्धके पश्चात् मगध-राजवंशावलियोंका विवरण

वंश-नाम	क्रम-संख्या	राजाका नाम	राजत्व-काल	शासनारम्भ-काल			विवरण
				वर्तमान कलियुग सं० (युधिष्ठिर संवत्)	विक्रमसंवत् पूर्व	ईसवीयसन् पूर्व	
बृहद्रथ-वंश	१	सोमाधि (सोमापि)	५८	१	३०४५	३१०२	
,,	२	श्रुतश्रवा	६७	५९	२९८७	३०४४	
,,	३	अयुतायु (अप्रतीपी)	३६	१२६	२९२०	२९७७	
,,	४	निरमित्र	४०	१६२	२८८४	२९४१	
,,	५	सुक्षत्र (सुकृत्त)	५६	२०२	२८४४	२९०१	
,,	६	बृहत्कर्मा	२३	२५८	२७८८	२८४५	
,,	७	सेनाजित्	५०	२८१	२७६५	२८२२	
,,	८	श्रुतञ्जय	४०	३३१	२७१५	२७७२	
,,	९	विभु (महाबाहु)	२८	३७१	२६७५	२७३२	
,,	१०	शुचि	५८	३९९	२६४७	२७०४	
,,	११	क्षेम	२८	४५७	२५८९	२६४६	
,,	१२	सुव्रत (अनव्रत)	६४	४८५	२५६१	२६१८	
,,	१३	सुनेत्र (धर्मनेत्र)	३५	५४९	२४९७	२५५४	
,,	१४	निर्वृति (नृपति)	५८	५८४	२४६२	२५१९	
,,	१५	त्रिनेत्र (सुश्रम)	२८	६४२	२४०४	२४६१	
,,	१६	द्युमत्सेन (दृढसेन)	५८	६७०	२३७६	२४३३	
,,	१७	सुमति (महीनेत्र)	३३	७२८	२३१८	२३७५	
,,	१८	अचल (सुचल)	३२	७६१	२२८५	२३४२	
,,	१९	सुनेत्र	४०	७९३	२२५३	२३१०	
,,	२०	सत्यजित्	८३	८३३	२२१३	२२७०	
,,	२१	वीरजित् (विश्वजित्)	३५	९१६	२१३०	२१८७	
,,	२२	अरिञ्जय (रिपुञ्जय)	५०	९५१	२०९५	२१५२	

प्रद्योत-वंश	२३	प्रद्योत (नरोत्तम)	२३	१००१	२०४५	२१०२
,,	२४	पालक	२४	१०२४	२०२२	२०७९
,,	२५	विशाखयूप	५०	१०४८	१९९८	२०५५
,,	२६	राजक(अजक,जवक,सूर्यक)	२१	१०९८	१९४८	२००५
,,	२७	नन्दिवर्धन (वर्तिवर्धन)	२०	१११९	१९२७	१९८४
शिशुनाक-वंश	२८	शिशुनाक (शिशुनाग)	४०	११३९	१९०७	१९६४
,,	२९	काकवर्ण (शकवर्ण)	३६	११७९	१८६७	१९२४
,,	३०	क्षेमधर्मा (क्षेमवर्मा)	३०	१२१५	१८३१	१८८८
,,	३१	क्षत्रौजा (क्षेमजित)	४०	१२४५	१८०१	१८५८
,,	३२	विन्ध्यसेन (विधिसार)	३८	१२८५	१७६१	१८१८
,,	३३	अजातशत्रु	२७	१३२३	१७२३	१७८०
,,	३४	दर्शक (दर्भक)	३५	१३५०	१६९६	१७५३
,,	३५	उदयी (उदासी)	३३	१३८५	१६६१	१७१८
,,	३६	नन्दिवर्द्धन	४०	१४१८	१६२८	१६८५
,,	३७	महानन्दी	४३	१४५८	१५८८	१६४५
महापद्मनन्दवंश	३८	महापद्मनन्द	८८	१५०१	१५४५	१६०२
,,	३९	सुमाल्यादि ८ पुत्र	१२	१५८९	१४५७	१५१४
मौर्य-वंश	४०	चन्द्रगुप्त	२४	१६०१	१४४५	१५०२
,,	४१	बिन्दुसार (वारिसार)	२५	१६२५	१४२१	१४७८
,,	४२	अशोक	२६	१६५०	१३९६	१४५३
,,	४३ से ४९	इसी वंशके ७ राजा और	६२	१६७६	१३७०	१४२७

महाभारत-युद्धके पश्चात् मगध-राजवंशावलियोंका विवरण

वंशनाम	क्रम-संख्या	राजाका नाम	राजत्व-काल	शासनारम्भ काल			विवरण
				वर्तमान कलियुग युधिष्ठिर-संवत्	विक्रम-संवत् पूर्व	ईसवीय सन् पूर्व	
शुंगवंश	५०···५९	पुष्यमित्रादि १०	११२	१७३८	१३०८	१३६५	
कण्ववंश	६०···६३	वसुदेवादि ४	४५	१८५०	११९६	१२५३	
आन्ध्रवंश	६४···९३	ब्रलिपुच्छकादि ३०	४५६	१८९५	११५१	१२०८	
आभीरवंश	९४···१००	आभीर-वंशी ७	×	२३५१	६९५	७५२	

महाभारतयुद्धके पश्चात्की मगधराजवंशावलियोंके राजाओंकी जो निश्चित तिथियोंका विवरण ऊपरके चक्रमें दिया गया है, उसके द्वारा प्राचीन इतिहासके समयोंका सप्रमाण विचार किया जा सकता है। हमने यह प्रथम ही दिखला दिया है कि परीक्षित्के जन्मकालसे महापद्मनन्दके अभिषेकतकका समय १५००सौ वर्ष होता है। अतएव उसके विषयमें कोई संदेह अब शेष नहीं रहा। फिर भी अपने मतके समर्थनमें हम कुछ पुराणोंके वचन नीचे देते हैं कि जिससे लोगोंको हमारा संशोधित पाठ शुद्ध और प्रामाणिक प्रतीत हो।

ब्रह्माण्डपुराण, उपोद्घात पाद ३, अध्याय ७४ में लिखा है—

सप्तर्षयो ह्यघायुक्ता काले पारीक्षिते शतम् ।२३५।
आन्ध्रान्ते च चतुर्विंशे भविष्यति शतं समाः ॥२३६॥
प्रमाणं वै तथा चोक्तं महापद्मोत्तरं च यत् ।
अन्तरं च शतान्यष्टौ तथा पञ्चाशतं समाः ॥२३८॥

अर्थात् राजा परीक्षित्के जन्मकालसे सप्तर्षि १०० वर्षतक मघानक्षत्रमें रहे और आन्ध्रवंशके अन्तमें मघासे २४ वें नक्षत्रपर रहेंगे तथा महापद्मनन्दके अभिषेकसे आन्ध्रवंशके अन्ततकके अन्तरका प्रमाण ८५० वर्ष

कहा गया है। सारांश यह कि परीक्षित्के जन्मकालसे आन्ध्रवंशके अन्तका समय चौबीसवीं शताब्दीका मध्यभाग है, जैसा कि ऊपरके चक्रमें कलियुग-संवत् २३५१ वर्तमान लिखा है, तथा महापद्मनन्दके अभिषेकसे आन्ध्रवंशके अन्तका समय चक्रमें ८५० वर्ष दिया गया है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि राजा परीक्षित्के जन्मसे महापद्मनन्दके राज्याभिषेकका अन्तर वही पूर्व-निर्णीत १५०० सौ वर्ष ही है। अवश्य ही इस प्रमाणसे विद्वज्जन हमारे निर्णीत समय और संशोधित पाठमें संदेह न करेंगे। ब्रह्माण्डपुराणके समान ही यही बात मत्स्यपुराण, अध्याय २७३, श्लोक ३६, ४३, ४४ में और वायुपुराण उत्तरार्धके अध्याय ३७ के श्लोक ४१०, ४११ और ४१६ में भी कही गयी है।

राजा परीक्षित्के जन्मकालसे महापद्मनन्दके अभिषेक-तकके समयके ज्ञापक पाँचों पुराणोंके अशुद्ध पाठोंके समर्थनमें, जिसमें राजा परीक्षित्से महापद्मनन्दके अभिषेक-तकका समय १०१५, १०५० और १११५ वर्षतक वर्णित है, इतिहासके बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानोंने विष्णुपुराण अंश ४, अध्याय २४, श्लोक ११२ को प्रमाण-के रूपमें उद्धृत किया है। जो इस प्रकार है—

प्रयास्यन्ति यदा चैते पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदा नन्दात्प्रभृत्येष गतिवृद्धिं गमिष्यति॥

अर्थात् जिस समय सप्तर्षिगण पूर्वाषाढ़पर जायँगे, उसी समय अर्थात् राजा नन्दके समयसे कलियुगका प्रभाव बढ़ेगा। उन विद्वानोंका तात्पर्य यह है कि राजा परीक्षित्के जन्मकाल (महाभारत-युद्धकाल) में ही मघामें सप्तर्षि आये और मघासे पूर्वाषाढ़ नक्षत्र ग्यारहवाँ है। एक नक्षत्रमें सप्तर्षि १०० वर्ष रहते हैं। इस हिसाबसे परीक्षित्के जन्मकालसे राजा नन्दके समयतक ११०० वर्ष होते हैं; किंतु यह उनका भ्रम है। इस श्लोकमें आया हुआ 'नन्द' शब्द महापद्मनन्दका वाचक नहीं, वह प्रद्योत-वंशके नन्दिवर्द्धनके लिये कहा गया है; क्योंकि ऐसा न करनेसे समस्त पुराणोंके मतके विरुद्ध इसका अर्थ होगा। अथवा 'नन्द' शब्दको महापद्मनन्द यदि मानें तो **'पूर्वाषाढां महर्षयः'** इसका पाठ मानना पड़ेगा—**'पूभायाश्च महर्षयः'**, जिससे राजा परीक्षित्के जन्मकालसे महापद्मनन्दके राजत्वकालतक १६०० वर्ष होते हैं और सभी पुराणोंका मत एक सिद्ध हो जाता है। अतएव उन विद्वानोंका अभिप्राय इस श्लोकसे भी सिद्ध नहीं होता और पूर्वलिखित प्रमाणोंसे राजा परीक्षित्के जन्मकालसे महापद्मनन्दके अभिषेक-तकका समय पूरे १५०० वर्ष ही सिद्ध होता है।

कुछ विद्वानोंका मत है कि कलियुगारम्भके ३६ वर्ष पूर्व महाभारतका युद्ध हुआ था। क्योंकि महाभारत-युद्धके ३६ वें वर्ष भगवान् श्रीकृष्ण परमधाम पधारे। और विष्णुपुराण, अंश ४, अध्याय २४ में लिखा है—

यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि।
प्रतिपन्नं कलियुगं तस्य संख्यां निबोध मे॥११३॥

अर्थात् जिस दिन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परम-धाम पधारे, उसी दिन कलियुग उपस्थित हो गया था; अब तुम कलियुगकी वर्षसंख्या सुनो। किंतु इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि कलियुग आरम्भ हो जानेपर भी पृथ्वीको तबतक वह प्रभावित नहीं कर सका, जबतक भगवान् श्रीकृष्ण परमधाम नहीं पधारे। इसी अभिप्रायको प्रकट करनेवाला विष्णुपुराण, अंश ४, अध्याय २४ का निम्नलिखित श्लोक है—

यावत्स पादपद्माभ्यां पस्पर्शेमां वसुन्धराम्।
तावत्पृथ्वीपरिष्वङ्गे समर्थो नाभवत्कलिः॥१०९॥

अर्थात् जबतक भगवान् अपने चरणकमलोंसे इस पृथ्वीका स्पर्श करते रहे, तबतक पृथ्वीसे संसर्ग करनेकी कलियुगको हिम्मत न पड़ी।

सारांश यह कि 'कलियुगारम्भकाल' और 'महाभारत-युद्धकाल' पूर्वनिर्णयानुसार एक ही हैं, भिन्न नहीं। और वह है विक्रम-संवत् पूर्व ३०४५ और ईसवी सन् पूर्व ३१०२ का समय।

महाभारत-युद्धकालके पश्चात्की पौराणिक राज-वंशावलियोंके शुद्ध पाठ और राजाओंके राजत्वकालके आधारपर हमने यह दिखला दिया कि महापद्मनन्दका अभिषेककाल वर्तमान कलियुग (युधिष्ठिर)-संवत् १५०१, विक्रम-संवत् पूर्व १५४५ और ईसवी सन् पूर्व १६०२ प्रमाणित होता है तथा मौर्य चन्द्रगुप्तका राजत्वकाल वर्तमान कलियुग (युधिष्ठिर)-संवत् १६०१,

विक्रम-संवत् पूर्व १४४५ और ईसवी सन् पूर्व १५०२ से वर्तमान कलियुग (युधिष्ठिर)-संवत् १६२५, विक्रम-संवत् पूर्व १४२१ और ईसवी सन् पूर्व १४७८ तक तथा मौर्य अशोकका राजत्वकाल वर्तमान कलियुग (युधिष्ठिर)-संवत् १६५०, विक्रम-संवत् पूर्व १३९६ और ईसवी सन् पूर्व १४५३ से २६ वर्षोंतक अर्थात् ईसवीय सन् पूर्व १४२७ तक प्रमाणित होता है। ऐसी दशामें जिस सैंड्राकोटस् (चन्द्रगुप्त) का शासनारम्भ सर विलियम जोन्स आदि पाश्चात्त्य विद्वानोंने ईसवी पूर्व ३२३ वर्षके आसपास माना है, उस सैंड्राकोटस्‌को मौर्य चन्द्रगुप्त माननेकी चेष्टा करना अप्रामाणिक और हास्यास्पदके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इतना ही नहीं, शिलालेखों-के आधारपर मौर्य अशोकका शासनकाल यूनानके पाँच राजाओंके समसामयिक अर्थात् ईसवीपूर्व २५८ कल्पना करना और शिलालेखोंमें पश्चिम भारतीय राजाओं-के यवनादि पञ्च गणराज्योंको यूनानके पाँच राजाओंका नाम पढ़ना, जेनरल प्रिंसेप आदि पाश्चात्त्य विद्वानों और उनके पदानुगामी भारतीय विद्वानोंका साहस ही कहा जायगा; उसमें कोई वास्तविकता नहीं। अतएव मौर्य अशोक, मौर्य चन्द्रगुप्त और महापद्मनन्दके शासन-काल और महाभारत-युद्धकालका निर्णय करनेके लिये यद्यपि हमारे लिये सर विलियम जोन्सके वक्तव्य, मेगस्थनीज़के भारत-वर्णन एवं शिलालेखोंके पढ़नेवाले जेनरल प्रिंसेप और जेनरल बकिंघम् आदि विद्वानों तथा उनके अनु-यायी भारतीय विद्वानोंके किये हुए अशोकके धर्मलेखोंके अनुवादोंकी आलोचना करना आवश्यक नहीं, तथापि वर्तमानकालमें प्रचलित भारतीय इतिहासोंमें जो इस विषयपर भ्रमपूर्ण लेख पाये जाते हैं, जिनके आधार-पर हमारे महाभारत-युद्ध-कालको लगभग १७०० वर्ष पीछे हटाया गया है, उनके निराकरणके लिये हम यह आवश्यक समझते हैं कि मेगस्थनीज़की पुस्तकके आधारपर दिये गये सर विलियम जोन्सके वक्तव्य और शिलालेखों (अशोकके धर्मलेखों) के अनुवादक जेनरल प्रिंसेप आदि पाश्चात्त्य विद्वानों और उनके पदानुगामी भारतीय विद्वानोंके बतलाये हुए धर्मलेखोंके अन्वियोक, मग, अन्तेकिन, तुरमय और अलीकसिन्धुर आदि नामोंकी परीक्षा करके यह दिखलायें कि ये सारी-की-सारी व्याख्याएँ केवल कल्पनामात्र हैं, इनमें जरा भी वास्तविकता नहीं है।

सर विलियम जोन्सके वक्तव्यकी परीक्षा

सर विलियम जोन्सने 'एसियाटिक सोसाइटी' कल-कत्ताकी स्थापना की, जो भारतीय ऐतिहासिक विषयोंकी खोजके लिये सबसे पहली संस्था है। उसके द्वारा भारतीय इतिहासपर बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है। उसी सोसाइटीमें २८ फरवरी सन् १७९३ ई० को सर विलियम जोन्सने एक वक्तव्य दिया था, जिसमें उन्होंने यूनानी इतिहास-लेखकोंकी पालिबोथ्रा नगरीको पाटलिपुत्रका और सैंड्राकोटस्‌को पौराणिक मौर्य चन्द्र-गुप्तका अपभ्रंश बतलाया, जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र नगरी थी, और यूनानी इतिहासके आधारपर उक्त चन्द्र-गुप्त मौर्यका राज्यारोहण-काल ईसवी सन् पूर्व ३२२ वर्ष सिद्ध किया और यह सब सिद्ध किया मेगस्थनीज़के उस पुस्तकके आधारपर, जिसको उसने पाँच वर्षतक सिल्यूकस राजाके राजदूतके रूपमें सैंड्राकोटस्‌की दरबारमें उसकी राजधानी पालिबोथ्रामें रहकर लिखा था, और जो अब कहीं भी मिलती नहीं। हाँ, उसके छितराये हुए अंशोंके अवतरण अनेक यूनानी इतिहास-कारोंकी पुस्तकोंमें पाये जाते हैं, जिनको पाश्चात्त्य विद्वानों-ने एकत्रित किया है और जिसका अंग्रेजी अनुवाद स्वान वेक साहबने प्रकाशित किया है। अब हमें देखना यह है कि पालिबोथ्रा नगरीको किसने और कब किस जनपदमें बसाया था, और क्या वह मगधदेशकी राजधानी पाटलिपुत्र नगर है, और क्या सैंड्राकोटस् मौर्य-वंशके सम्राट् चन्द्रगुप्तका अपभ्रंश है ?

क्या पालिबोथ्रा नगरी मौर्यवंशकी राजधानी थी ?

नागरी-प्रचारिणी सभा काशीसे प्रकाशित आचार्य पण्डित रामचन्द्रशुक्लद्वारा अनुवादित मेगस्थनीज़के भारत-भ्रमण (हिंदी) में लिखा है कि 'डायनुशस पश्चिमसे आया......उसी वंशमें हेराक्लीज भी हुआ था, जो साधारण मनुष्योंसे बल-बुद्धिमें बड़ा था और उसने बहुत-सी स्त्रियोंसे विवाह करके बहुत-से पुत्र उत्पन्न किये....

उसने बहुत-से नगर बसाये, जिनमें सबसे बड़ा और विख्यात नगर पालिवोथ्रा है।' मेगस्थनीज़की पुस्तकका जो अवतरण आरायनने दिया है, उसमें हेराक्लीज़से सैंड्राकोटस्‌तककी १३८ पीढ़ियाँ दी हैं (देखो महाभारत-मीमांसा, पृष्ठ ९१, प्रकरण ४), जिससे यह प्रमाणित होता है कि पालिवोथ्रा नगरी सैंड्राकोटस्‌से १३८ पीढ़ी प्रथम बसी थी। प्रसिद्ध इतिहास-विशारद प्लायनीने लिखा है कि पालिवोथ्र नगर गङ्गा और ईरानावोअसके सङ्गमसे २०० मील ऊपरकी ओर स्थित था (प्लायनी: फ्रैंग्मेंटस आफ इण्डिया, पृष्ठ १३०)

एम० डी० आनविल्लेका मत है कि ईरानावोअस यमुना नदी है। अतएव यह सिद्ध होता है कि यमुना और गङ्गाके संगम (प्रयाग) से ऊपरकी ओर २०० मीलपर पालिवोथ्रा नगरी थी। (जोन्सके वक्तव्यमें) आरायनके मतसे गङ्गा और ईरानावोअसका संगम प्रसई (प्रस्सी) जनपदमें था। कर्टियसका मत है कि मेगस्थनीज़का पालित्रोथ प्रभद्रक (या पारिभद्रक) जनपद है।

ऊपरके विवरणसे प्रमाणित होता है कि पालिवोथ्रा नगरी गङ्गा-यमुनाके संगमसे ऊपरकी ओर २०० मीलपर थी और वह सैंड्राकोट्ससे १३८ पीढ़ी पूर्व हेराक्लीज़द्वारा बसायी गयी। यदि आधुनिक इतिहासवेत्ताओंके मतानुसार हम प्रति पीढ़ी २० वर्षका समय मानें तो सैंड्राकोटस्‌से २७६० वर्ष पूर्व पालिवोथ्राका बसाया जाना प्रमाणित होता है!

दूसरी ओर देखें तो पाटलि-पुत्र नगरको शिशुनाक-वंशके आठवें राजा उदायीने अपने अभिषेकसे चौथे वर्षमें बसाया, जैसा कि निम्नलिखित पुराणोंमें लिखा है—

वायुपुराण, अध्याय ९९—

उदायी भविता तस्मात् त्रयस्त्रिंशत् समा नृपः ॥३१८॥
स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्।
गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ॥३१९॥

अर्थात् (दर्शकका पुत्र) उदायी ३३ वर्षतक राज्य करेगा और वह अपने अभिषेकसे चौथे वर्ष गङ्गाके दक्षिण तटपर कुसुमपुर नामक श्रेष्ठ नगरको बसायेगा।

ब्रह्माण्डपुराण, उपोद्‌घात पाद ३, अध्याय ७४ का १३२ वाँ श्लोक भी ऊपर लिखे वायुपुराणके अक्षरश: समान ही है। अतएव उसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं। सारांश यह कि वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराणके मतसे शिशुनाक-वंशीय आठवें राजा उदायीने अपने राज्याभिषेक (वर्तमान कलियुग-संवत् १३८५, विक्रम-संवत् पूर्व १६६१ और ईसवी सन् पूर्व १७१८) से चौथे वर्ष अर्थात् ईसवी सन् पूर्व १७१५ में कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) को गङ्गाके दक्षिण तटपर बसाया था। इसी प्रकार 'जैन-पुस्तक-परिशिष्ट' पटवनमें भी पाटलिपुत्रको शिशुनाक-वंशके आठवें राजाने बसाया लिखा है; किंतु पालिभाषाके बौद्धग्रन्थ 'महामग्ग सुतनिपात'में लिखा है कि शिशुनाक-वंशके छठे राजा अजातशत्रुने कुसुमपुरको बसाया (देखो 'भारतके प्राचीन नगर' नामक पुस्तक, पृष्ठ ३२)। 'कुसुमपुर', 'पुष्पपुर', 'पाटलिग्राम', 'पाटलिपुत्र' और 'पाटलानगरी' ये सब पर्यायवाची हैं।

ऊपरके विवरणसे यह प्रमाणित होता है कि सर विलियम जोन्सका यह मत कि मेगस्थनीज़लिखित पालिवोथ्रा नगरी पाटलिपुत्रका अपभ्रंश है, सर्वथा निराधार है; क्योंकि मेगस्थनीज़के किसी भी अवतरणमें पालिवोथ्राका मगध-प्रदेशमें होनेका वर्णन नहीं है। उसके विपरीत प्रसई जनपदमें पालिवोथ्राके होनेका प्रमाण मिलता है और पालिवोथ्राके बसाये जानेका समय ईसवी सन् पूर्व ३०८२ वर्षके लगभग होता है। उसके बसानेवालेका नाम हेराक्लीज़ लिखा है। पाटलिपुत्रके बसाये जानेका समय ईसवी सन् पूर्व १७१५ हमने प्रथम ही प्रमाणित कर दिया है और उसके बसानेवालेका नाम पौराणिकमतानुसार शिशुनाकवंशीय आठवाँ राजा उदायी है।

ऐसी दशामें किसी प्रकार भी पालिवोथ्रा पाटलिपुत्रका अपभ्रंश नहीं हो सकता और न पालिवोथ्राका राजा सैंड्राकोटस् पौराणिक मौर्य चन्द्रगुप्त ही हो सकता है। ऊपरके विवरणसे यह प्रमाणित हो जाता है कि मौर्य चन्द्रगुप्तके शासनारम्भ-कालसे ११८० वर्ष पीछे सैंड्राकोटस्‌का शासनारम्भ हुआ। अतएव दोनोंको एक मानना सम्भव नहीं और मेगस्थनीज़का

सैंड्राकोटस् सम्भवतः शूरसेन देशके प्रसई (प्रस्सी) जनपदके प्रभद्र (पारिभद्र) नगरका कोई दूसरा चन्द्रगुप्त अथवा चन्द्रकेतु या इसीसे मिलते-जुलते नामका शासक था। फिर भी जो लोग दोनोंको एक सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, उनका यह अनुचित साहस है और सैंड्राकोटस्को मौर्य चन्द्रगुप्त मानकर तथा महाभारत-युद्धकालके पश्चात्की बृहद्रथ, प्रद्योत और शिशुनाक-वंशकी वंशावलियोंके राजत्वकालोंके योग बतलानेवाले पाँच पुराणोंके अशुद्ध पाठोंके आधारपर राजा परीक्षित्के जन्मकालसे महापद्मनन्दके अभिषेकतकके १५०० वर्षोंको घटाकर १०१५, १०५० अथवा १११५ मानकर जो विद्वान् महाभारत-युद्धकालको ईसवी सन् पूर्व १३३२ से लगाकर ईसवी सन् पूर्व १४३७ तक मानते हैं, उनको हमारे सप्रमाण विवरणको पढ़कर सर विलियम जोन्सके वक्तव्यके द्वारा उत्पन्न भ्रमको दूरकर यथार्थ मतका अनुसरण करना चाहिये और महाभारत-युद्धकालको ईसवी सन् पूर्व ३१०२ जो समस्त संस्कृत-साहित्यसे प्रमागित है, सहर्ष स्वीकार करना चाहिये।

तथाकथित अशोकके अभिलेखोंकी परीक्षा

पाश्चात्त्य विद्वानोंने, विशेषकर जेनरल प्रिंसेप और जेनरल बकिंघमने सर विलियम जोन्सके वक्तव्यके समर्थनमें जिन गुहाभिलेखों, स्तम्भाभिलेखों और शिलाभिलेखोंको खोज निकाला है और उनको बड़े परिश्रमसे पढ़कर यह प्रतिपादित किया है कि ये समस्त अभिलेख महाराज अशोकके हैं और चौदह प्रज्ञापनवाले लेखमें अन्तियोक आदि पाँच नामोंके विषयमें यूनानके भिन्न-भिन्न भागोंके राजाओंके नामोंकी कल्पना की है, तथा उन सब राजाओंके समसामयिक ई० सन् पूर्व २५८ वर्षपर उन प्रज्ञापनोंका अङ्कित होना मानकर अभिलेखोंके लिखानेवाले राजाको 'मौर्य अशोक' प्रतिपादित किया है; और उसीके आधारपर मौर्य अशोकके पितामह मौर्य चन्द्रगुप्तका राजत्व-काल वही लिखा है, जो सर विलियम जोन्सके वक्तव्यके अनुसार मौर्य चन्द्रगुप्तका राजत्व-काल होता है। अतएव हम तथाकथित अशोकके अभिलेखों, विशेषकर चौदह प्रज्ञापनवाले अभिलेखकी परीक्षा करेंगे और यह देखेंगे कि क्या चौदह प्रज्ञापन-वाले अभिलेखमें अन्तियोक आदि पाँच यूनानी राजाओंके नाम हैं ?

यद्यपि सर विलियम जोन्सके वक्तव्यकी परीक्षा हो जानेपर और यह प्रमागित हो जानेपर कि मेगस्थनीज़का सैंड्राकोटस् पौराणिक मौर्य चन्द्रगुप्त नहीं है और न पालिबोथ्रा नगरी पाटलिपुत्र है, इस बातकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि सर विलियम जोन्सके वक्तव्यके समर्थक प्रमाणोंकी भी परीक्षा की जाय, तथापि साम्प्रत कालमें तथाकथित अशोकके अभिलेखोंका ऐतिहासिक जगत्में बहुत बड़ा मान है। अतएव हम उन अभिलेखोंकी परीक्षा करके यह दिखलाना चाहते हैं कि अभिलेखोंमें किसी भी यूनानी राजाका नाम नहीं है और पाश्चात्त्य विद्वानोंकी पाँच यूनानी राजाओंवाली कल्पना उसी प्रकारकी कोरी कल्पना है, जिस प्रकार सैंड्राकोटस् और मौर्य चन्द्रगुप्तकी एकतावाली सर विलियम जोन्सकी निराधार कल्पना है। अशोकके धर्मलेखके नामसे प्रख्यात देवानां प्रिय, प्रियदर्शी राजा, देवानां प्रिय अथवा प्रियदर्शी एवं बिना किसी व्यक्तिके नामके द्वारा लिखाये गये जितने धर्मलेख अबतक गुहाओं, स्तम्भों और शिलाओंमें पाये गये हैं, वे धर्मलेख कब लिखे गये—इसका कोई उल्लेख नहीं है; क्योंकि उनमें किसी संवत्सरका उल्लेख नहीं है। केवल इतना उल्लेख है कि यह प्रज्ञापन लिखानेवाले व्यक्तिके अभिषेकसे कितने वर्षपर लिखाया गया। अतएव जबतक लिखानेवाले राजाके अभिषेकके समयका ज्ञान न हो, तबतक अभिलेखोंका समय नहीं जाना जा सकता। पुरातत्त्वके विशेषज्ञ और इतिहासके धुरन्धर विद्वान् स्वर्गवासी महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझाका मत है कि किसी लेख या दानपत्रमें निश्चित संवत् न होनेकी दशामें उसकी लिपिके आधारपर ही उसका समय स्थिर करनेका मार्ग निष्कण्टक नहीं है। उसमें पचीस-पचासकी ही नहीं, किंतु कभी-कभी तो सौ-दो-सौ या उससे भी अधिक वर्षोंकी चूक हो जानी सम्भव है—ऐसा मैं अपने अनुभवसे कह सकता हूँ, (भारतीय प्रा० लि० माला, भूमिका, पृष्ठ ८) अवश्य

ही प्रथम लघु शिलालेखमें जो २५६ का अङ्क है, उसको बहुत दिनोंतक इतिहासज्ञ विद्वान् बुद्धनिर्वाण संवत् मानते थे और इसका समर्थन 'हिंदी टॉड राजस्थान'के सम्पादक ओझाजीने प्रकरण ६ की टिप्पणी ४४ वीं में किया था; किंतु श्रीपण्डित जनार्दन भट्ट अशोकके धर्मलेख पृष्ठ ७९ की टिप्पणी १२ में लिखते हैं—'किंतु आजकल इस मतका पूरा-पूरा खण्डन हो गया है। ऐसी दशामें धर्मलेखोंका निश्चित समय निरूपण करना सम्भव नहीं।

यद्यपि उपलब्ध समस्त अभिलेख तथाकथित राजा अशोकके हैं और वह राजा अशोक मौर्यवंशी अशोक-वर्द्धन है, यह बात संदेहरहित नहीं—क्योंकि केवल 'मासकीके खण्ड' प्रथम लघुशिलालेखमें 'अशोकस' ये चार अक्षर मिले हैं। शेष किसी भी धर्मलेखमें अशोकका नाम नहीं आया। इतना ही नहीं, अभिलेखोंमें 'देवानां प्रिय, प्रियदर्शी राजा'की द्विरुक्ति और त्रिरुक्ति तो की गयी है, किंतु 'अशोक' इन तीन अक्षरोंका कहीं उल्लेख नहीं। अतएव इन सब धर्मलेखोंको हम मौर्य अशोकवर्धनके धर्मलेख मान लें, यह युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि जिन विषयोंका वर्णन सातवें स्तम्भाभि-लेखमें और दूसरे तथा तेरहवें प्रज्ञापनमें है, ठीक उसी प्रकारका वर्णन चीनी यात्री ह्वेनसाँगने अपने भारत-वर्णनके प्रसङ्गमें अपने आश्रयदाता राजा हर्षवर्द्धन (शीलादित्य द्वितीय) के विषयमें किया है। (देखिये सर रमेशचन्द्रदत्तकृत 'प्राचीन भारतकी सभ्यता, भाग ४, अध्याय २, पृष्ठ २६।) ऐसी दशामें 'देवानां प्रिय' शब्दोंको, जो बौद्ध राजाओंकी उपाधि थी (देखिये 'अशोककी धर्म-लिपियाँ', पृष्ठ ७ की टिप्पणी १) को राजा हर्ष-वर्द्धनके लिये भी प्रयुक्त मान सकते हैं और दूसरे बौद्ध राजाओंके लिये भी इसी शब्दका प्रयोग धर्मलेखोंमें किया गया हो तो आश्चर्य नहीं। तथापि इस समय इस विवादग्रस्त विषयको हम यहीं छोड़ देते हैं और पाश्चात्त्य विद्वानोंके इस मतको कि सारे-के-सारे धर्मलेख मौर्य राजा अशोकवर्द्धनके हैं मानकर पौराणिक राजवंशावलियोंके राजत्वकालोंके आधारपर विचार करते हैं तो मौर्य अशोकवर्द्धनका राजत्वकाल कलियुगके वर्तमान संवत् १६५०, विक्रम-संवत् पूर्व १३९६ और ईसवी सन् पूर्व १४५३से लगाकर वर्तमान कलियुग संवत् १६७६, विक्रम-संवत् पूर्व १३७० और ईसवी सन् पूर्व १४२७ तक २६ वर्ष होता है। ऐसी दशामें शिलालेखके प्रज्ञापनोंमें यूनानके उन पाँच राजाओंके नाम पढ़ना, जिनके राजत्वकाल ईसवी सन् पूर्व २८५ से लेकर २३९ तक माने गये हैं, सर्वथा भूल है, और उसीके आधारपर उन पाँच यूनानी राजाओंके साथ मौर्य अशोकवर्द्धनकी सम-सामयिकता स्थापित करनेकी चेष्टा करना भी पाश्चात्त्य विद्वानोंका आश्चर्य-जनक साहस है।

यद्यपि उक्त शिलालेखोंके अंतियोकस, तुरमय, अन्तेकिन, मक और अलिकसुंदर—ये पाँच नाम भारतके पश्चिमीय पाँच राज्योंके नाम हैं, जो वारुण भारतके पञ्चगणके नामसे अति प्राचीन कालसे अयोध्याके महाराज सगरके भी पूर्वकालसे प्रसिद्ध हैं, और जो चन्द्रवंशीय क्षत्रिय महाराज ययातिके तुर्वसु आदि तीन पुत्रोंके वंशधर राजाओंके अधिकारमें थे और समयानुसार शासकोंके नाम तथा प्रदेशोंकी प्राकृतिक दशाओं आदिके कारण इन पञ्च गणराज्योंके नामोंमें और सीमाओंमें परिवर्तन होता रहा, तथापि ये यवनादि पञ्च गणराज्य हमारे संस्कृत-साहित्यमें सिन्धु नदीके पश्चिम भारतके मुख्य राज्य माने गये हैं। इन्हींका उल्लेख तथाकथित अशोकके चतुर्दश प्रज्ञापनवाले शिलालेखके दूसरे, पाँचवें और तेरहवें प्रज्ञापनोंमें हैं। इन पाँचों राज्योंके शुद्ध नाम नीचे लिखे अनुसार है—

(१) 'अंतियोकस नाम योन राजा'का शुद्ध रूप है, 'अन्तओकस्यनामके यवनराज्ये।' अर्थात्—अन्त (भारतकी पश्चिम सीमा) में ओक (स्थान) जिसका हो उसका अंतओकस नाम है (अन्ते—पश्चिम सीमान्ते ओकः स्थानं यस्य स अन्तओकः तस्य अन्तओकस्य)। 'योन राजा'का शुद्ध रूप है 'यवनराज्ये'। शिलालेखमें योनराज लिखा गया है, किंतु उसके पढ़नेवालोंने 'योन राजा' गलत पढ़ा है। राजाका जकार दीर्घ नहीं, लघु है। जिस ब्राह्मी लिपिका जकार है, उसमें ज और जामें कोई अन्तर नहीं होता। मध्यकी रेखा थोड़ी बढ़ जानेसे

लघु 'ज' दीर्घ 'जा' हो जाता है, और इसी कारण इसके पढ़नेवालोंने अपनी इष्टसिद्धिके लिये 'ज' को 'जा' पढ़ा है।

(२) *तुरमये*—इसका शुद्धरूप है तूरमये, तूर-पर्वतसमीपवर्ती मय राज्य, जो पुराणप्रसिद्ध त्रिपुर राज्योंमेंसे एक था (देखिये 'इन्द्रविजय,' पृष्ठ ५५)।

(३) *अंतेकिने*—इसका शुद्धरूप है, अन्तकिन्नरे (अन्त्ये पश्चिमे किन्नरे किन्नरराज्ये)। पश्चिम भारतमें मद्र और गन्धार—ये दोनों महान् देश दो-दो राज्योंमें विभक्त थे, इन्हींमेंसे किन्नर राज्य भी एक था, जिसको 'पश्चिम-किन्नर' कहते होंगे।

(४) *मक*—इसका शिलालेखमें 'मग' भी रूप है। यह शक राज्यके अर्थमें आया है (मके शके राज्ये) मग और शक एक ही हैं। इसका वर्णन पुराणोंमें है। मगके विषयमें भविष्यपुराणमें लिखा है—

वेदोक्तं विधिमुत्सृज्य यतोऽहं लङ्घितस्त्वया।
तस्मान्मगः समुत्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति॥
जरथुस्त्र इति ख्यातो वंशकीर्तिविवर्द्धनः।
अग्निजात्या मगाः प्रोक्ताः सोमजात्या द्विजातयः॥

(१३९ । ४३, ४५)

'वेदोक्त विधिके विरुद्ध तेरे द्वारा मैं जो उल्लङ्घित किया गया हूँ—इससे तेरा पुत्र 'मग' नामसे प्रसिद्ध होगा। उसका नाम जरथुस्त्र मग होगा और वह अपने वंशकी कीर्तिको बढ़ानेवाला होगा। इसके वंशज अग्निकी उपासना करनेवाले मग (शक) के नामसे प्रसिद्ध होंगे और सोमके उपासक मग (मागध—शाकद्वीपी) ब्राह्मण होंगे (देखिये 'इन्द्रविजय', पृष्ठ ४६)।

सारांश यह कि 'मग' शब्द पश्चिम भारतके वेद-विरोधी अग्नि-उपासक पारसीक नामसे प्रसिद्ध राज्यके अर्थमें आया है।

(५) *अलिकसुंदरे*—इसका शुद्धरूप 'अलीक सिन्धुरे' है (अलीकाः कृष्णवर्णाः सिन्धुरा हस्तिनो यस्मिन् देशे स अलीकसिन्धुरस्तस्मिन् अलीकसिन्धुरे राज्ये), जिसका अर्थ है—काले हाथियोंका देश, जिसके नाम पश्चिम भारतमें हस्तिग्राम (गजाह्वय) हस्तिनापुर (प्रथम) आदि प्रसिद्ध हैं। अथवा कालसीके तेरहवें प्रज्ञापनका पाठ—'अलिक्यषुदले' को माने तो उसका शुद्धरूप 'अलेख्यसुन्दरे' होगा अर्थात् जिस देशकी सुन्दरता लिखी नहीं जा सकती। वह काश्मीर देश है, जिसको पृथ्वीका स्वर्ग कहा गया है।

ऊपरके लिखे विवरणसे यह प्रमाणित हो जाता है कि धर्म-लिपियों—अशोकके धर्म-लेखोंमें लिखे हुए—'अंतियोकस नाम यवन राजा' और उसके सामन्त तुरमये, अंतेकिने, मक और अलिकसुंदरे (अलिक्यषुदले) ये पाँचों नाम पश्चिम भारतके पञ्च गणराज्योंके नाम हैं, यूनानके पाँच राजाओंके नहीं। और ये सब नाम सप्तम्यन्त हैं, जैसा इनका संस्कृतरूप होता है—अंतयोक-नामयवनराज्ये, तूरमयराज्ये, अन्तकिन्नरे राज्ये, मग-(मक) राज्ये और अलीकसिन्धुरराज्ये अथवा अलेख्य-सुन्दरराज्ये। और इसी पाठके अनुसार प्रज्ञापनोंका शुद्ध अनुवाद संस्कृत और हिन्दीमें प्रामाणिक होगा। पाश्चात्त्य विद्वानोंने इन पाँच राज्योंको जिन पाँच यूनानी राजाओं-का नाम बतलाया है, उन नामोंके साथ इन राज्यनामों-की सदृशता भी अधिकांशमें नहीं पायी जाती, जैसे—

अंतियोकसको 'एंटिओकस थिओस', सीरिया, बैक्टीरिया आदि पश्चिमी एशियाके देशोंका यूनानी (ग्रीक) राजा कहना।

तूरमयेको 'टालेमी फिला डेलफस' मिश्रका राजा कहना।

अंतिकिनेको 'एंटीगोनस गोनटस' मेसोडोनियाका राजा कहना।

मकको 'मगस' सीरीनीका राजा कहना।

अलिकसुंदरेको 'एलेकजेंडर' एपिरसका राजा कहना।

इस प्रकार उक्त शिलालेखोंके समयका कोई निर्णय नहीं हो सकता और न इन शिला-लेखोंके आधारपर महाभारत-युद्धका समय ही निश्चित हो सकता है। पाश्चात्त्य विद्वानोंने इन शिलालेखोंका समय यूनानी राजाओंके राजत्वकालोंकी समसामयिकताके साथ मौर्य अशोकके राजत्वकालका समय निर्धारित किया है और उसके आधारपर महाभारत-युद्धकालको लगभग १७०० वर्ष पीछे हटानेकी चेष्टा की है; पर वह सब निराधार और

कोरी कल्पनामात्र है। पौराणिक राज-वंशावलियों और महाभारत-संहिता आदि संस्कृत-ग्रन्थोंसे प्रमाणित कलियुगारम्भकाल (विक्रम-संवत् पूर्व ३०४५ तथा ईसवी सन् पूर्व ३१०२) ही महाभारत-युद्धकाल और परीक्षित्-जन्मकाल सर्वमान्य है।

उपसंहार

महाभारत-संहिताके प्रमाणवचनोंसे हमने यह बात प्रथम ही सिद्ध कर दी है कि महाभारत-युद्धकाल (कलियुगारम्भ) के बीस वर्ष बीतनेपर महाराज धृतराष्ट्रका परलोकवास हुआ। उनके परलोक-वासी होनेके पश्चात् और महाराज जनमेजयके सर्पयज्ञ-के पूर्व महाभारत-संहिताकी रचना हुई। महाराज जनमेजयका अभिषेक कलिगताब्द ६० अथवा ९६ में हुआ। महाभारत-संहिता (आदिपर्व-अध्याय ४९, श्लोक १७ और सौप्तिकपर्व, अध्याय १६, श्लोक १४) में लिखा है कि राजा परीक्षित्ने साठ वर्षोंतक राज्य किया और कलिगताब्द ३६ के बाद उनका शासन आरम्भ हुआ। इसके अनुसार महाराज जनमेजयका अभिषेक कलिगताब्द ९६ वर्ष प्रमाणित होता है। और आदिपर्व अध्याय ४९, श्लोक २६ में लिखा है कि महाराज परीक्षित्का शरीरान्त ६० वर्षकी अवस्थामें हुआ है। महाराज परीक्षित्का जन्मकाल और कलियुगारम्भकाल एक ही हैं। इसके अनुसार राजा जनमेजयका अभिषेक कलिगताब्द ६० में ही प्रमाणित होता है। सम्भवतः यही मत ठीक है, और जिन श्लोकोंमें महाराज परीक्षित्के ६० वर्षतक शासनकी बात कही गयी है, उनका अर्थ है ६० वर्षकी अवस्थातक।

राजा जनमेजयका अभिषेक बहुत थोड़ी अवस्थामें हुआ था। अतएव यदि हम यह मान लें कि अभिषेक-से २४ वर्ष पश्चात् 'सर्पयज्ञ' हुआ तो अनुचित न होगा। इससे यह प्रमाणित होगा कि महाभारत-संहिता-की रचना कलिगताब्द २० वर्षके पश्चात् और कलिगताब्द ८४ वर्षके पूर्व हुई। महाराज युधिष्ठिर कलिगताब्द ३६ में भगवान् श्रीकृष्णके परम-धाम पधारनेके पश्चात् स्वर्गवासी हुए, और यह महाभारत-संहिता महाराज युधिष्ठिरके युद्धमें विजयी होनेके उपलक्ष्यमें 'जयेतिहास'के रूपमें अनेक उपाख्यानोंके सहित रची गयी; अतएव इसकी रचना महाराज युधिष्ठिरके राजत्वकालमें भगवान् श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें ही हुई होगी, यह अनुमान करना अनुचित न होगा। जिस राजाका विजय-इतिहास लिखा जाता है, प्रायः उसके शासनकालमें ही लिखा जाता है। अतएव कलिगताब्द २० (महाराज धृतराष्ट्रके स्वर्गवासकाल) के पश्चात् और महाराज युधिष्ठिरके शासनान्त काल (कलिगताब्द ३६) के पूर्व महाभारतकी रचना प्रमाणित होती है। महाभारत-संहिताको व्यासजीने तीन वर्षमें पूर्ण किया और उसको श्रीगणेशजीने एक वर्षमें लिखा हो तो सिद्ध होगा कि कलिगताब्द २४ वर्षके पश्चात् और कलिगताब्द ३६ वर्षके भीतर किसी समय महाभारत-संहिता लिखी जाकर तैयार हुई, और व्यासजीने उसे अपने शिष्योंको पढ़ाया। इस प्रकार महाभारत-संहिताका रचनाकाल विक्रम-संवत्पूर्व ३०८१ और विक्रम-संवत्पूर्व ३०६९ के बीच (ईसवीय सन् पूर्व ३१३८ और ईसवीय सन् ३१२६ के बीच) में ही प्रमाणित होता है। (महाभारत-संहिताको सबसे प्रथम महर्षि वैशम्पायनने कलियुगारम्भसे ८४ वें वर्ष) (विक्रम-संवत् पूर्व ३९६१ और ईसवीय सन् पूर्व ३०१८) में महाराज जनमेजयको सर्पसत्रके अवसरपर सुनाया, यह निश्चय है।

महाभारत-संहिताके रचनाकालके विषयमें आपत्तियाँ—समयबोधक कसौटियाँ

महाभारत-संहिताके रचनाकालके विषयमें पाश्चात्त्य विद्वानों तथा उनके पदानुगामी भारतीय विद्वानोंके विचार भारतीय विचारधारासे सर्वथा भिन्न हैं; हमारी महाभारत-संहिताके ही नहीं, समस्त संस्कृत साहित्य-ग्रन्थोंके रचनाकालके विषयमें उनके मत अतीव विलक्षण हैं। पाश्चात्त्य विद्वानोंको हमारी सभ्यताकी प्राचीनता खटकती है। वे हमारे अकृत, अपौरुषेय और अनादि ऋग्वेदादि वैदिकसाहित्यकी भी प्राचीनता अधिक-से-अधिक ईसवी सनूपूर्व तीन सहस्र वर्षतक प्रतिपादित करते हैं

और उसके पश्चात्‌के समस्त संस्कृत-ग्रन्थोंका मनमाना समय निर्धारित करते हैं और यह सब कुछ करते हैं सर विलियम जोन्सके वक्तव्यानुसार पौराणिक मौर्य चन्द्रगुप्त और मेगास्थनीज़के सैण्ड्राकोटस्‌को एक मान तथा यूनानके ऐतिहासिक समयके साथ भारतीय ऐतिहासिक समयकी समसामयिकताकी कल्पना करके, जिसको हमने पूर्व ही प्रमाणोंके द्वारा निराधार सिद्ध कर दिया है। किंतु आधुनिक विद्वानों—विशेषकर पाश्चात्त्य विद्वानों और उनके अनुयायियोंने बड़े परिश्रम और खोजके साथ संस्कृत-साहित्यके ग्रन्थोंके समय निर्णय करनेमें जो भावाभावके प्रमाण दिये हैं, वे बड़े महत्त्वके और विचारणीय हैं। भावाभावके प्रमाण दो भागोंमें विभक्त हैं—

एक तो किसी ग्रन्थका अथवा उसके रचयिताका नामोल्लेख किसी ग्रन्थमें देखकर, अथवा उस ग्रन्थका नाम और उसके रचयिताका नाम दूसरे किसी ग्रन्थमें देखकर उन दोनों ग्रन्थोंके रचनाकालका पूर्वापरत्व निर्णय करना।

दूसरा, यवनादि जाति अथवा व्यक्तिविशेषके नामों और कामोंके उल्लेखको देखकर अथवा सूर्यादि वारोंके नाम, राशियोंके नाम, नक्षत्रगणनाके क्रम तथा चैत्रादि मासोंके नामोंके भावाभावके आधारपर समयका निर्णय करना।

प्रथम भागमें कोई सार नहीं। महाभारत-संहितामें जिन संस्कृत साहित्य-ग्रन्थोंके नामों और वचनोंको तथा उनके रचयिताओंके नामोंको पाश्चात्त्य विद्वानोंने—विशेष कर हाप्‌किन्स महोदयने खोज निकाला है, और उसी आधारपर महाभारत-संहिताके रचनाकालका विचार किया है, वह सब सारहीन है; क्योंकि जिन ग्रन्थों अथवा उसके रचयिताओंके नामोंका उल्लेख महाभारत-संहितामें है, उन ग्रन्थों और उनके रचयिताओंका समय जबतक प्रमाणित न हो जाय, तबतक उनके उल्लेखद्वारा महाभारत-संहिताका समय प्रमाणित करना असम्भव है।

दूसरा भाग बड़े महत्त्वका है; किंतु इस विषयमें भी पाश्चात्त्यभावना भारतीयभावनाके सर्वथा विरुद्ध है। पाश्चात्त्य विद्वानोंका मत है कि 'भारतीय ज्योतिर्विज्ञान महास्थूल गणना—वेदाङ्ग-ज्यौतिषकी गणनासे भी स्थूल थी, जिसके अनुसार भीष्मपितामहने तेरह वर्षके सौर मानमें तेरह, वर्ष पाँच महीने और बारह दिनकी व्यवस्था विराटपर्वमें दी थी और सिद्धान्तगणितका ज्ञान हमको यूनानी ज्यौतिषियोंसे हुआ तथा उन्हींसे नक्षत्र-मण्डलके बारह विभाग (राशियोंका विभाग) भी हमने जाना। उसके प्रथम हमारे यहाँ राशिगणना न थी। इतना ही नहीं, हमको सूर्यादि सात वारोंकी जानकारी भी न थी। हमारे यहाँ सप्ताह नहीं, पक्षहकी गणना होती थी। वारोंका ज्ञान हमको काल्डियावालोंसे हुआ है; अतएव जिन संस्कृत ग्रन्थोंमें, चाहे वे जिस विषयके ग्रन्थ हों, राशियोंके बारह भाग, सूर्यादि वारोंके नाम तथा ज्यौतिषकी सिद्धान्त-गणनाका उल्लेख हो, वे सभी ग्रन्थ ईसवी सन् पूर्व ४०० वर्षसे प्रथमके नहीं हैं। इतना ही नहीं, चैत्रादि मासनामका भी जिन ग्रन्थोंमें उल्लेख हो, वे वेदाङ्ग-ज्यौतिषके पूर्व (और उन्हींके मतसे) ब्राह्मण-ग्रन्थोंके समयके बीचके रचित हैं, उसके पूर्वके नहीं।' पाश्चात्त्य विद्वानोंका यह भी मत है कि 'महाभारतसंहिता, पुराण, पातञ्जल महाभाष्य और जिन ज्यौतिष-ग्रन्थोंमें यवन जातिकी विद्वत्ता, आक्रमणकारिता, वीरता आदिका उल्लेख है, वे सभी ग्रन्थ सिकन्दरके आक्रमण (ईसवी सन् पूर्व ३२३) के पीछेके हैं। अर्थात् यवनोल्लेखवाले कोई भी ग्रन्थ ईसवी सन् पूर्व ५०० वर्षके प्रथमके नहीं हैं।'

इस महत्त्वपूर्ण दूसरे विभागमें दो बातें मुख्यतः विचारणीय हैं—एक तो यह कि 'यवन' शब्द जो महाभारतादि संस्कृत-साहित्यमें आया है, वह किसके लिये आया है? क्या ग्रीक देशके अर्थमें आया है, जो ईसवी सन् पूर्वकी कुछ शताब्दियोंसे यूनानके नामसे प्रख्यात हो रहा है, अथवा महाराज ययातिके पुत्र तुर्वसुके पुत्र यवन राजाओंके अर्थमें आया है, जैसा कि महाभारत-संहिता, आदिपर्व ८५। ३४ में लिखा है—

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोः यवनाः स्मृताः।

'यदुसे यादव हुए और तुर्वसुसे यवन।' ययातिपौत्र यवनके वंशधर यवन नामसे प्रख्यात हुए और उनका राज्य यवनराज्यके नामसे भारतका पश्चिम-सीमान्त प्रदेश था। प्राचीन कालमें अयोध्याधिपति

सूर्यवंशीय राजा बाहुपर जब हैहयादि राजाओंने आक्रमण किया था, तब उस समय ये पञ्चगणाधिपति यवन अपने गणोंके सहित उस आक्रमणमें राजा हैहयके सहायक थे, जैसा कि ब्रह्मपुराणमें लिखा है—

हैहयैस्तालजङ्घैश्च शकैः सार्द्धं द्विजोत्तमः ॥ २॥
यवनाः पारदाश्चैव काम्बोजाः पह्लवास्तथा।
एते ह्यपि गणाः पञ्च हैहयार्थे पराक्रमन् ॥ ३॥

(देखिये 'इन्द्रविजय', पृ० ४४)

इन्हीं यवनादि पञ्चगणसहित हैहयादि राजाओंका अयोध्याधिपति राजा बाहुके पुत्र सगरने अपने पिताके शत्रु होनेके कारण जब संहार किया था, तब वशिष्ठजी-के शरणागत यवनादि पञ्चगण धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट, आर्यसंस्कृति-विहीन करके निर्वासित किये गये थे, जैसा कि ब्राह्मपुराणमें लिखा है—

अर्द्धं शकानां शिरसो मुण्डयित्वा व्यसर्जयत्।
यवनानां शिरः सर्वं काम्बोजानां तथैव च ॥ १०॥
पारदा मुक्तकेशाश्च पह्लवाः श्मश्रुधारिणः।
सर्वे ते क्षत्रिया विप्रा धर्मस्तेषां निराकृतः ॥ ११॥

('इन्द्रविजय', पृष्ठ ४४)

इन्हीं यवनादि क्षत्रियापसदोंके विषयमें मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक ४३ से ४५ तकमें लिखा है कि पाण्ड्य, चोळ, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश—ये क्षत्रिय धीरे-धीरे संस्कारोंके लोप और ब्राह्मणोंसे बहिष्कृत होनेसे वृषलत्व-को प्राप्त हुए, अर्थात् आर्यधर्मसे बहिष्कृत—म्लेच्छ हो गये। इन्हीं मनुस्मृतिलिखित राज्योंका वर्णन तथा-कथित अशोकके प्रज्ञापन दो, पाँच और तेरहमें आया है।

सारांश यह कि हमारे महाभारत-संहितादि समस्त संस्कृत-साहित्यमें ग्रीकका नाम यूनान बननेके सहस्रों वर्ष पूर्व चन्द्रवंशीय ययातिपौत्र यवनके वंशधर यवन जातिके अर्थमें और यवनदेश उन्हींके यवनराज्यके अर्थमें आया है, न कि यूनानके यूनानियोंके अर्थमें। अतएव पाश्चात्त्य विद्वानोंका यह मत कि 'साकेत, मथुरा आदिपर यूनानियोंका आक्रमण हुआ था; महाभारतादि ग्रन्थोंमें जिन यवनोंके पराक्रमका वर्णन है, वे यूनानी हैं यह सर्वथा भ्रम है। और इसके आधारपर महाभारत-संहिताका समय निर्धारित करना बादरायण-सम्बन्ध जोड़नेके समान असंगत और अमान्य है। भावाभावका प्रथम भाग भारतीय ज्योतिर्विज्ञानसे सम्बन्ध रखता है और भारतीय ज्योतिर्विज्ञान काल-गणनाके आधारपर स्थित है। भारतीय वैज्ञानिक काल-गणना ऐसी निर्विकार और निर्विकल्प है कि वह सृष्टिके आदिसे अन्ततक एक समान रहती है।

विराटपर्वमें राजर्षि भीष्मपितामहके तेरह वर्षकी प्रतिज्ञाके विषयमें व्यवस्थारूप वचनमें कहा गया है कि इस समय तेरह वर्ष पाँच महीने और बारह दिन द्यूत-क्रीड़ाके दिनसे बीत चुके हैं। इस वचनसे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय युद्धकालमें भी हमारी वही सनातन कालगणना राष्ट्रमितिके रूपमें मान्य थी, जिसके अनुसार भगवान् श्रीरामचन्द्रने चौदह वर्षका वनवास पूर्ण किया था और उसीके अनुसार पाण्डवोंने तेरह वर्षकी प्रतिज्ञा पूरी की थी। वह गणना है सौर-चान्द्र, जिसका वर्ष चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे आरम्भ करके चैत्रकृष्ण अमावास्याको पूरा होता है और उसके दिन कम-से-कम ३५४ और अधिक-से-अधिक ३८४ होते हैं। और उसी वर्षके अनुसार कौरवोंके ठीक चौदहवें वर्षके प्रथम दिनमें वेदाङ्ग-ज्योतिषकी गणनाके अनुसार १३ वर्ष, ५ महीने और १२ दिन होते हैं, जैसा कि नीचे लिखे उदाहरणसे प्रकट होगा। यदि द्यूत-क्रीड़ाकी मिति विक्रम संवत् १९९० ज्येष्ठ कृष्ण ८ बुधवारको मान लें तो उस दिन हैं राश्यादि सूर्य १ । ३ । ३० । ४१ और तारीख १७ मई सन् १९३३ ईसवी। और अर्जुनके प्रकट होनेकी मिति विक्रम संवत् २००३, ज्येष्ठ कृष्णा ८, शुक्रवारको मान लें तो उस दिन राश्यादि सूर्य हैं १ । ९ । ५२ । ९ और तारीख १४ मई सन् १९४६ ईसवी। ऐसी दशामें द्यूत-क्रीड़ा और अर्जुनके प्रकट होनेका अन्तर होगा, सौर-चन्द्र मानसे १३ वर्ष और एक दिन (चौदहवें वर्षका पहला दिन) वही सौर-मानसे होगा १३ वर्ष छः दिन (चौदहवें वर्षका छठाँ दिन), अँग्रेजी मानसे होगा १३ वर्ष और सात दिन (चौदहवें वर्षका सातवाँ दिन), वेदाङ्ग-ज्योतिषके चान्द्रमानसे होगा १३ वर्ष, ५ महीने

और १२ दिन (यही है भीष्मजीकी व्यवस्था)। इस व्यवस्थाके द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत-युद्धकालमें सिद्धान्त-ज्यौतिषके अनुसार ही पञ्चाङ्गगणना होती थी; क्योंकि ऊपरका उदाहरण सिद्धान्त-ज्यौतिष गणनाके पञ्चाङ्गद्वारा ही की गयी है और सिद्धान्त-ज्यौतिषकी गणना अहर्गणद्वारा मध्यम सूर्यचन्द्रादि ग्रहोंमें मन्दोच्च, शीघ्रोच्च संस्कार देकर की जाती है, और वह अहर्गण वार-ज्ञानके बिना नहीं बन सकता। अतएव हमारी सनातन काल-गणना सौर-चान्द्र है और उसके लिये सूर्यादि वारका ज्ञान, चैत्रादि मासका ज्ञान और नक्षत्रमण्डलके बारह विभाग-राशियोंका ज्ञान आवश्यक है । बिना इसका ज्ञान हुए सनातन-काल-गणना हो नहीं सकती । हमारे सूर्यादि वार, जिनका प्रमाण 'एको अश्वो वहति सप्तनामा' (ऋग्वेद-संहिता ११६४ ॥ २ ॥)—इस ऋग्वेदके मन्त्रसे लेकर वेदाङ्ग-ज्यौतिष (याजुष ज्यौतिष श्लोक ११) के मासपतिके विचारमें और आज-कलके पञ्चाङ्गोंतकमें अविच्छिन्नरूपसे देखा जाता है तथा इसी प्रकार चैत्रादि मासोंके नामोंका तथा अयन विषुव, षडशीति मुख और पर्व नामसे सूर्यसंक्रान्तियोंका समस्त महाभारत-संहितादिमें वर्णन है। अतएव हमारे ये सूर्यादि वार, चैत्रादि मास, अयनादि १२ सूर्य-संक्रान्तियाँ उसी प्रकार अनादि हैं, जिस प्रकार हमारे ऋग्वेदादि। सुतरां सूर्यादिवारों, चैत्रादि मासों अथवा राशियोंके भावाभावसे किसी संस्कृत-साहित्यके ग्रन्थका समय निरूपण करनेका साहस करना ज्योतिर्विज्ञानसे अनभिज्ञता और असङ्गत है।

सांराश यह कि भावाभावके आधारपर महाभारत-संहिताका रचनाकाल निश्चित करनेका आधुनिक विद्वानोंका मार्ग भी सर्वथा भ्रमजनक है और हमारे द्वारा पूर्व-निर्णीत महाभारत-संहिताका समय ही प्रमाणयुक्त और सर्वमान्य है।

समस्त लेखका निष्कर्ष

(१) 'जय', 'भारत' और 'महाभारत'—ये तीनों पर्यायवाची हैं, और प्रचलित लक्षश्लोकात्मक महाभारत-संहिताके ही नाम हैं।

(२) प्रचलित महाभारत-संहिताके रचयिता एकमात्र महर्षि वेदव्यास हैं और इसकी रचना आज विक्रम-संवत् २०१५ के प्रारम्भकालके पूर्व ५०३६ और ५०३४ वर्षोंके बीच किसी समय हुई है।

(३) महाभारत-संहिताकी चूडामणिस्वरूपा श्रीभगवद्गीताका प्रादुर्भाव आज विक्रम-संवत् २०१५ प्रारम्भके पूर्व ५०६० वर्ष ३ महीना और १७ दिनपर हुआ है।

(४) महाभारत-युद्धकाल, महाराज युधिष्ठिरका राज्याभिषेक और राजा परीक्षित्का जन्मकाल आज विक्रमसंवत् २०१५ के प्रारम्भसे पूर्व ५०६० वर्षकी मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीसे लेकर फाल्गुन कृष्णा अमावास्याके प्रथम कलियुगारम्भकालमें विक्रम-संवत्से पूर्व ३०४५ तथा ईसवी सन्से पूर्व ३१०२ वर्षमें सिद्ध होता है।

(५) सर विलियम जोन्सके वक्तव्यकी कल्पनाओंके आधारपर पाश्चात्त्य विद्वानों और उनके पदानुगामी भारतीय विद्वानोंद्वारा प्रतिपादित महाभारत-युद्धकाल सर्वथा निराधार, प्रमाणरहित और अमान्य है।

श्रीहरिका आश्रय-ग्रहण

अहो यस्य कृपालेशो वरीवर्त्यखिलोपरि ।
तं हरिं परमानन्दं संश्रये सर्वसिद्धये ॥

अहो ! जिनकी कृपाका लेशमात्र भी सर्वोपरि विराजमान होता है, उन परमानन्दस्वरूप श्रीहरिका मैं सम्पूर्ण सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये आश्रय लेता हूँ।

महाभारतके प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्ण

भूमिका

महाभारत विश्वका सबसे बड़ा महाकाव्य है। महाकाव्यके सम्पूर्ण लक्षणोंसे पूर्ण अलंकृत होनेके साथ ही यह, नाना प्रकारकी वेदादि विद्याओंके ज्ञानका भंडार, चतुर्विध पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका प्रदान करनेवाला, प्राचीन ऋषियोंकी वाङ्मय-साधनाका सारामृत-रूप यह अलौकिक ग्रन्थ सनातन-धर्मका देदीप्यमान मणि है। जीवलोक और देवलोकके बीच प्राणियोंके आवागमन, कर्मकी गति और तपके विलक्षण प्रभावोंको प्रतिबिम्बित करनेवाला यह अलौकिक दर्पण है। वस्तुतः महाभारतके वैशिष्ट्यकी यथावत् आलोचना करना मानवीय शक्तिके बाहर है। भारतवर्षके महान् राजवंशोंका तथा उनके सम्बन्धोंको लेकर घटी हुई घटनाओंका यह सच्चा इतिहास है। अतएव यह घोषणा की गयी है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्॥

(महा० स्वर्गा० पर्व०)

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें जो कुछ महाभारतमें कहा गया है, वही अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है।'

जब इस महाकाव्यकी रचना हो गयी, तब इसके प्रणेता भगवान् वेदव्यासकी अनुमति लेकर ब्रह्मा आदि देवताओं तथा समस्त ऋषियोंने मिलकर सारी वेदमयी ज्ञान-राशिको एक तुलापर तथा दूसरी तुलापर महाभारतको रखकर प्रत्यक्ष देख लिया कि गुरुतामें महाभारत कहीं अधिक श्रेष्ठ है।* श्रीमदानन्दतीर्थ ही भगवत्पाद (श्रीमध्वाचार्य) महाभारत-शब्दकी निरुक्ति करते हुए कहते हैं—

महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥†

"महत्ता और भारवत्ता अर्थात् वर्ण्य विषयोंकी गौरव-पूर्णताके कारण यह ग्रन्थ 'महाभारत' कहलाता है। जो इसकी निरुक्तिको यथावत् जानता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है।"

'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय'के इस श्लोकमें भगवत्पाद श्रीमद् आनन्दतीर्थने महाभारतके स्वरूपका संकेत प्रदान किया है। वस्तुतः महाभारत लौकिक नहीं, अलौकिक महाकाव्य है और इसके प्रणेता कोई लौकिक कवि नहीं, बल्कि भगवान्के अवतार त्रिकालदर्शी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी हैं। अतएव इसको लौकिक समीक्षा न करके अलौकिकताको हृदयङ्गम करनेसे ही कृतकार्यता प्राप्त हो सकती है। काव्यप्रकाशमें आचार्य मम्मटने जो काव्य-का उद्देश्य—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

—यश, अर्थकी प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, अमङ्गलका नाश और कान्ताके कोमल उपदेशोंके समान सहज ही परम शान्तिके पथपर प्रवृत्त करना—आदि निर्देश किया है, इस लघु मृद्घटसे मेरे विचारसे महाभारत-जैसे महा-सिन्धुको तौलनेकी चेष्टा करना हास्यास्पद है, यद्यपि अलंकार, ध्वनि, भाव और रसके अमूल्य रत्न इसमें भरे पड़े हैं, जिनके अवलोकनमात्रसे सहृदय जनोंके हृदय तरङ्गायमाण हो जाते हैं। वस्तुतत्त्वकी दृष्टिसे अवलोकन करनेपर इस महाकाव्यके रसका आस्वादन सहजसाध्य हो सकता है, तथा भगवान्की अपूर्व कृति और शक्तिमें श्रद्धा और विश्वासकी प्राप्ति होती है।

मङ्गलाचरण

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

इस मङ्गलाचरणमें ही प्रायः महाकवि ग्रन्थके स्वरूप-का साररूपमें संकेत प्रदान करते हैं। भगवान् वेदव्यास नारायणस्वरूप होनेपर भी व्यासरूपमें परम वैष्णव हैं, नारायणके उपासक हैं, अतएव अपने ग्रन्थके आदिमें सर्वप्रथम 'नारायण'को नमस्कार करते हैं। तत्पश्चात्

---

* भारतं सर्ववेदाश्च तुलामारोपिताः पुरा।
देवैर्ब्रह्मादिभिः सर्वैर्ऋषिभिश्च समन्वितैः॥
व्यासस्यैवाज्ञया तत्र त्वत्यरिच्यत भारतम्॥
(महाभारत-तात्पर्यनिर्णय २। १०)

† (वही २। ११)

'नर'को नमस्कार करते हैं। ये ही 'नर-नारायण' मूल उपास्य देव हैं, और इनका उल्लेख महाभारतमें अनेक स्थानोंमें प्राप्त होता है। उद्योगपर्वके ४९वें अध्यायमें भीष्मपितामह कौरवराज दुर्योधनसे कहते हैं कि "एक समयकी बात है, शुक्राचार्य और बृहस्पति इन्द्रादि देवताओंके साथ ब्रह्माजीके पास गये और प्रणाम करके उनको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये। उसी समय पुरातन देवता नर-नारायण ऋषि उधर आ निकले और अपनी कान्तिसे उन सबके तेज और चित्तको मानो अपहरण करते हुए निकल गये। तब बृहस्पतिने विस्मित होकर ब्रह्माजीसे पूछा—'ये कौन हैं, जो आपका अभिनन्दन किये बिना ही चले गये?' ब्रह्माजी-ने उत्तर दिया—

यावेतौ पृथिवीं द्यां च भासयन्तौ तपस्विनौ।
ज्वलन्तौ रोचमानौ च व्याप्यातीतौ महाबलौ॥
नरनारायणावेतौ लोकाल्लोकं समास्थितौ।
ऊर्जितौ स्वेन तपसा महासत्त्वपराक्रमौ॥

(महा० उद्यो० ४९। ७-८)

'अपने तेजसे देदीप्यमान ये दोनों ऋषि जो पृथिवी और आकाशको अपनी प्रभासे विभासित करते हुए आगे हमलोगोंका अतिक्रमण करके बढ़ गये हैं, नर-नारायण हैं। ये महाशक्तिशाली और पराक्रमशील हैं, और अपने तपोबलसे भूलोकसे ब्रह्मलोकमें आये हैं। इन्होंने देवासुर-संग्राममें इन्द्र-की सहायता की है, जिससे देवताओंने समस्त दैत्यों और दानवोंपर विजय प्राप्त की है।'

वे ही देवताओंके भी आराध्यदेव नर-नारायण अर्जुन और श्रीकृष्णके रूपमें अवतार लेते हैं। ब्रह्माजी आगे चलकर उसी प्रसङ्गमें कहते हैं कि 'ये दोनों नर-नारायण अपने सत्कर्म (तप) के प्रभावसे अक्षय और ध्रुव लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं। लोक-हितके लिये जब-जब जहाँ-जहाँ युद्धका अवसर आता है, वहाँ-वहाँ अवतरित होते हैं। नर और नारायण एक ही तत्त्वके दो रूप हैं।'

वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ।
नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः॥
अजेयौ मानुषे लोके सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।
एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः॥

(महा० उद्यो० ४९। १९-२०)

'ये दोनों मिले हुए वीर महारथी श्रीकृष्ण और अर्जुन पुरातन देवता नर-नारायण ही हैं, यह सभी जानते हैं। इन्द्रके साथ सारे देवता और असुर भी इस लोकमें इनको परास्त नहीं कर सकते। ये श्री-कृष्ण नारायण और अर्जुन नर माने जाते हैं।'* आगे चलकर पुनः प्रभासतीर्थमें जब श्रीकृष्ण अर्जुनसे मिलते हैं, उस अवसरका वर्णन करते हुए व्यासजी वैशम्पायनके मुखसे इस तथ्यका उद्घाटन करते हैं—

तावन्योन्यं समाश्लिष्य पृष्ट्वा च कुशलं वने।
आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी॥

(महा० आदि० २१७। ५)

'वे दोनों प्रिय सखा नर-नारायण (कृष्ण-अर्जुनरूपमें) प्रभास वनमें एक दूसरेको आलिङ्गन करके और कुशल पूछकर एक स्थानपर बैठे।'†

अतएव ग्रन्थकार मङ्गलाचरणमें पहले पूर्वदेव नर-नारायणको नमस्कार करते हैं और तत्पश्चात् नरोत्तम अर्थात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको नमस्कार करते हैं, जो इस महाकाव्यके नायक हैं तथा नारायणके अवतार हैं। वस्तुतः ये नारायण ऋषिके अवतार नहीं हैं। ये तो स्वयं परायण भगवान् हैं। नारायण ऋषिका भी इनमें

---

* ऊपर पुरातन ऋषिके रूपमें नर-नारायणका उल्लेख हुआ है। अतएव यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि नारायणकी उपासना भगवान् व्यासके युगमें भी पुरातन हो चुकी थी। पञ्चरात्र तन्त्र, जो वैदिकयुगमें प्रचलित थे, नारायणकी उपासनाका विधान करते हैं। अतएव वैष्णवधर्म अति प्राचीन धर्म है, इसको आधुनिक कहकर वर्तमान ऐतिहासिक भारी भूल करते हैं।

† महाभारततात्पर्यप्रकाशमें इसकी तात्त्विक समीक्षा करते हुए श्रीमध्वाचार्य लिखते हैं—

क्षरोपाधितया जीवो नर इत्यभिधीयते।
अक्षरोपाधिको हीशो नारायणपदाभिधः॥
क्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टो भगवान् पुरुषोत्तमः।
ज्ञेयो ध्येयः समर्च्योऽत्र नरोत्तमपदाभिधः॥ (पृ० ३)

"क्षर उपाधिसे विशिष्ट जीव 'नर' कहलाता है, अक्षर उपाधिसे विशिष्ट ईश्वर 'नारायण'-पदवाच्य है। तथा क्षर और अक्षरसे उत्कृष्ट भगवान् 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। वे ही ज्ञेय हैं, ध्येय हैं और सर्वथा अर्चनीय हैं। वे ही 'नरोत्तम'-पदवाच्य हैं।

समावेश है। इसीसे ये नारायणके अवतार भी माने जाते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें इसका स्पष्टीकरण है।

'नरोत्तम' शब्दका अर्थ है—नरोंमें उत्तम; और महाभारतके पढ़नेसे ज्ञात होता है कि उस कालमें भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठतम पुरुष थे तथा भीष्म-पितामह, विदुर, पराशर, परशुराम, व्यास, नारद, असित, देवल आदि ऋषि-मुनि, पाण्डव, कुन्ती, कृष्णा आदिको प्रत्यय हो चुका था कि ये स्वयं भगवान् नारायण ही हैं। इसका कारण यह है कि व्यासजीके समान ये लोग भी नारायणके भक्त थे। अतएव व्यासजीने इसको स्पष्ट करनेके लिये ही 'नरोत्तम' शब्द-का व्यवहार करके भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार किया है। जो नरोत्तम है, वही परम नायक हो सकता है; इसलिये इस शब्दका प्रयोग करके महाकविने संकेत कर दिया है कि इस महाकाव्यके नायक भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं तथा स्वयं भगवान् होनेके कारण ये ही सर्वथा पूज्य हैं, आराध्य हैं। और महाभारतमें किसी-न-किसी रूपमें इन श्रीकृष्णका ही महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। जगह-जगहपर स्पष्ट शब्दोंमें यह कहा गया है कि श्रीकृष्ण ही सबके मूल, सर्वव्यापी, सर्वातीत, सच्चिदानन्दघन, स्वयंभगवान् परात्पर ब्रह्म हैं।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार सरस्वती देवी अर्थात् महाकाव्यके शब्दार्थरूपमें व्यक्त वाग्देवीकी वन्दना करते हैं, और तब 'जय' उच्चारण करनेके लिये कहते हैं। 'यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः—जहाँ धर्म है, वहाँ कृष्ण हैं और जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ जय है।' इस प्रकार सम्पूर्ण महाभारतका सार एक वाक्यमें व्यक्त करते हैं। अतएव 'जय' शब्दसे यहाँ महाकाव्यकी सम्पूर्ण कथासे अभिप्राय है। और साथ ही यह भी ध्वनित होता है कि हम उपर्युक्त देवताओंको नमस्कार करके उनका जय-उच्चारण करें।

नर-नारायणकी जय !
नरोत्तम श्रीकृष्णकी जय !
सरस्वती देवीकी जय !

३· द्वादशाक्षर मन्त्र

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'

पहले कहा जा चुका है कि महाभारत लौकिक महाकाव्य नहीं है; क्योंकि लौकिक महाकाव्यके नायक धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त तथा धीरोद्धत पुरुष होते हैं। यदि इस दृष्टिसे महाभारतका विश्लेषण करें तो इस प्रकारके अनेकों नायकोंको लेकर यह महाग्रन्थ अनेक विविधरसप्रधान महाकाव्योंके आगारके रूपमें दीख पड़ेगा; परन्तु यह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। अतएव हम तात्त्विक दृष्टिसे सम्पूर्ण ग्रन्थको देखते हैं तो ज्ञात होता है कि इसके पात्र देवगण हैं और नायक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं—जो पुरुष नहीं, 'क्षरसे अतीत' और 'अक्षर कूटस्थसे उत्तम' तथा 'ब्रह्मकी प्रतिष्ठा' पुरुषोत्तम हैं। इस प्रकार यह महाकाव्य वस्तुतः 'देव-काव्य' है, यह सुस्पष्ट हो जाता है। इस महाकाव्यके नायक भगवान् श्रीकृष्ण इस महाब्रह्माण्डके भी नायक हैं। वे जिस प्रकार महाभारतके युद्धका नियन्त्रण करते हुए धर्मपक्षके संस्थापन और अधर्मपक्षके विनाशकी लीला करते हैं, उसी प्रकार विश्व-ब्रह्माण्डमें निरन्तर चलनेवाले संघर्षमें धर्मकी जय और अधर्मकी पराजयका भी विधान करते हैं। उन महानायकने महाभारतका युद्ध क्यों कराया? नाना प्रकारके दुःखोंसे जर्जरित इस विश्व-व्यापारकी लीलामें उनको क्या रस मिलता है? इत्यादि प्रश्न रहस्यमय हैं, इनका उत्तर वे ही लीलामय जानते हैं। बेचारा अल्पज्ञ जीव इसको क्या समझे? परन्तु एक बात बिल्कुल पक्की है, पाण्डवोंने नारायण-की आराधना की और महाभारतमें वे विजयी हुए और परिणाममें सदाके लिये उन्होंने भगवान्‌को प्राप्त किया। अतएव जीव नारायणकी आराधना करके कृतार्थ हो सकता है। इसी उद्देश्यसे जीवोंके कल्याणकी कामनासे भगवान् कृष्णद्वैपायन मङ्गलाचरणके बाद द्वादशाक्षर मन्त्रका विधान करते हैं और इस मन्त्रके देवता भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ही इस महाकाव्यके परम नायक हैं, इस बातका प्रकारान्तरसे समर्थन करते हैं।

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'

महाभारत-तात्पर्य-प्रकाशकी टीकामें इस मन्त्रपर टिप्पणी करते हुए लिखा गया है—

प्रमेयं भारतस्येति स्वोपास्यं परमं पदम्।
श्रीवासुदेवमानन्दं भगवन्तं सनातनम्॥ २॥

कृष्णं नमस्करोत्यद्धा द्वादशाक्षरविद्यया ।
× × × ×
परा विद्येयमत्रोक्ता द्वादशाक्षररूपिणी ।
तदुपासनया भक्तैः सुलभं हरिदर्शनम् ॥ '१॥

'महाभारतके प्रमेय अपने उपास्यदेव, परमपद, आनन्दस्वरूप, सनातन भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णको अब द्वादशाक्षर मन्त्रद्वारा नमस्कार करते हैं । यह द्वादशाक्षररूपी परा विद्या यहाँ कथित हुई है । इसकी उपासनासे भक्तोंको हरिदर्शन सुलभ हो जाता है । तथा,

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥

"ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य--इन छहोंकी पूर्णताको 'भग' कहते हैं । ये बिना प्रतिबन्धके जिसमें निरन्तर विद्यमान रहते हैं, उन भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णको नमस्कार ।" इस मन्त्रका यही शब्दार्थ है । अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि सनातन भगवान् वासुदेवका गुण-कीर्तन करनेके उद्देश्यसे ही व्यासजीने इस महाकाव्यकी रचना की है, जिसका पाठ अथवा श्रवण करके मनुष्यके हृदयमें वासुदेव श्रीकृष्णकी भगवत्ताका ज्ञान उदय हो और उनकी उपासना करके वह मानवजीवनको कृतार्थ करता हुआ श्रीभगवच्चरणोंके सांनिध्यको प्राप्त करे ।

उन भगवान् वासुदेवका गुणकीर्तन इस महाकाव्यमें किस रूपमें हुआ है—इसका उत्तर भी द्वादशाक्षर मन्त्रमें स्थित 'भगवते'—इस विशेषण-पदमें निहित है । अर्थात् वासुदेव श्रीकृष्णकी महिमाका कीर्तन कहीं तो ऐश्वर्यरूपमें, कहीं धर्मरूपमें, कहीं यशरूपमें, कहीं श्री, कहीं ज्ञान, और कहीं वैराग्यरूपमें हुआ है । इसके अतिरिक्त वे भक्तवत्सल लीलामय सदा-सर्वदा पाण्डवोंके हित-साधनमें प्रवृत्त देखे जाते हैं । महाभारतकी कथामें इसका निदर्शन कहाँ किस रूपमें हुआ है, इसकी किंचित् आलोचना करना इस निबन्धका विषय है ।

आदिपर्व

आदिपर्वके प्रथमाध्यायमें सौति उग्रश्रवाजी कहते हैं—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम् ।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ॥
असच्च सदसच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्तते ।
संततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्ममृत्युपुनर्भवाः ॥

(आदि० १ । २५६-५८)

"इस ग्रन्थके मुख्य विषय हैं—स्वयं सनातन परब्रह्मस्वरूप वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण । उन्हींका इसमें संकीर्तन किया गया है । वे ही सत्य, ऋत, पवित्र एवं पुण्य हैं । वे ही शाश्वत परब्रह्म हैं और वे ही अविनाशी सनातन ज्योति हैं । मनीषी पुरुष उन्हींकी दिव्य लीलाओंका संकीर्तन किया करते हैं । उन्हींसे असत्-सत् तथा सदसत्—उभयरूप सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है । उन्हींसे संतति (प्रजा), प्रवृत्ति (कर्तव्य-कर्म), जन्म-मृत्यु तथा पुनर्जन्म होते हैं ।"

फिर सबके प्रादुर्भावके वर्णन-प्रसङ्गमें कहा गया है—

अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः ।
वसुदेवात् तु देवक्यां प्रादुर्भूतो महायशाः ॥
अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः ।
अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम् ॥

(आदिपर्व ६३ । ९९-१००)

'विश्ववन्दित महायशस्वी भगवान् विष्णु जगत्के जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये वसुदेवजीके यहाँ देवकीजीके द्वारा प्रकट हुए । वे भगवान् आदि-अन्तसे रहित, परमदेव, सम्पूर्ण जगत्के कर्ता तथा प्रभु हैं । उन्हींको अव्यक्त, अक्षर, ब्रह्म और त्रिगुणमय प्रधान कहते हैं ।'

आदिपर्वमें पहले-पहल भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन राजा द्रुपदकी राजधानीमें द्रौपदीके स्वयंवरके अवसरपर होते हैं । अर्जुनके लक्ष्यवेध करनेपर द्रौपदी उनके गलेमें जयमाला डालती हैं । कौरवपक्षके लोग युद्धपर उतारू होते हैं । अर्जुन कर्णको परास्त करते हैं, और भीम शल्यको । तत्पश्चात् पाण्डवोंको ब्राह्मण-वेषमें देखकर सारे राजाओंका समूह मिलकर युद्ध करनेकी मन्त्रणा करता है । उस समय भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ पाण्डवोंकी सहायताके उद्देश्यसे राजाओंको समझाना-बुझाना शुरू कर देते हैं और कहते हैं कि इन्होंने

धर्मतः द्रौपदीको प्राप्त किया है, इसलिये आप लोगोंको अकारण उत्तेजित नहीं होना चाहिये। अन्धक और वृष्णिवंशके वीरोंके नेतारूपमें वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी उपस्थित थे। भगवान् श्रीकृष्णको इस प्रकार धर्मका पक्ष लेते हुए देखकर उन राजाओंकी दाल न गली और युद्धकी बात छोड़कर उन्होंने अपने घरकी राह ली। वस्तुतः स्वयंवरकी प्रतिज्ञाके अनुसार लक्ष्यवेध करके अर्जुनने धर्मानुसार ही द्रौपदीको प्राप्त किया था।

इसके बाद महाराज धृतराष्ट्रके बुलानेपर जब पाण्डवलोग अपनी माता कुन्ती तथा देवी द्रौपदीके साथ हस्तिनापुर जाते हैं, तब भगवान् वासुदेव भी अपने भाई बलरामजीको लेकर उनके साथ हो लेते हैं, और वहाँ जाकर भीष्म, द्रोण, विदुर आदिके साथ महाराज धृतराष्ट्रसे परामर्श करते हैं। अन्तमें यह निश्चय होता है कि धर्मतः आधा राज्य पाण्डवोंका है। पाण्डवोंको खाण्डवप्रस्थका राज्य मिलता है। यहाँ भी भगवान्‌को धर्मरूपमें अवस्थित देखकर ही भीष्म-द्रोणादिके पक्षको हम प्रबल होता हुआ देखते हैं। जब महाराज धृतराष्ट्र सहमत होते हैं, तब 'शुभस्य शीघ्रम्'—इस नीतिके अनुसार भगवान् वासुदेव कह उठते हैं—

युक्तमेतन्महाराज कौरवाणां यशस्करम्।
शीघ्रमद्यैव राजेन्द्र यथोक्तं कर्तुमर्हसि॥

'महाराज! आपका यह विचार सर्वथा ठीक है, इससे कुरुवंशका यश बढ़ेगा। आप शीघ्रातिशीघ्र आज ही इस कार्यको सम्पन्न करा दें।' वस्तुतः शुभ कार्यमें देर करनेसे विघ्नोंके उपस्थित होनेकी आशङ्का होती है। अतएव धर्मकार्यमें शीघ्रता करना ही बुद्धिमानी है। महाराज युधिष्ठिरका राज्याभिषेक होता है। तत्पश्चात् भगवान् अपना ऐश्वर्य दिखलाते हैं। खाण्डवप्रस्थमें जानेपर वे इन्द्रको स्मरण करते हैं, इन्द्र उनका अभिप्राय समझकर विश्वकर्माको बुलाते हैं, और भगवान् वासुदेवके पास उसे भेजते हैं। वह खाण्डव-प्रस्थमें आकर भगवान्‌को प्रणाम करके कहता है—भगवन्! क्या आज्ञा है? भगवान् उसे आज्ञा देते हैं—

कुरुष्व कुरुराजाय महेन्द्रपुरसंनिभम्।
इन्द्रेण कृतनामानमिन्द्रप्रस्थं महापुरम्॥

'विश्वकर्मन्! तुम कुरुराज युधिष्ठिरके लिये महेन्द्रपुरीके समान एक महान् नगरीका निर्माण करो। इन्द्रके निश्चयानुसार उसका इन्द्रप्रस्थ नाम होगा।' और भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञा पाकर विश्वकर्माने नाना प्रकारकी प्रतोली, राजपथ आदिसे खचित, अनेकों वापी-तडागसे सुसज्जित, भाँति-भाँतिके पुष्प-फल आदिसे लदे वृक्षों, उद्यानादिसे सुशोभित तथा चतुर्दिक् प्रकृष्ट प्राकारसे विभूषित एक महान् नगरीका निर्माण किया, जो

विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः।
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत॥

(महा० आदि० २०६। ३६)

'इन्द्रप्रस्थ नामक नगरी अनेक प्रकारके उत्तमोत्तम उज्ज्वल भवनोंसे सुशोभित होकर स्वर्गके समान चमक उठी।'

कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिरने वेदज्ञ ब्राह्मणोंके द्वारा मङ्गल अनुष्ठान कराके भगवान् कृष्णद्वैपायन तथा धौम्य मुनिको आगे करके अपने भाइयों तथा श्रीकृष्ण-बलरामके साथ नगरमें प्रवेश किया। शङ्ख और नगारे बज उठे, सहस्रों ब्राह्मण जयघोष करने लगे। यह सब क्या था? भगवान् वासुदेवके ऐश्वर्यकी एक झाँकी थी।

जब सब कार्य सम्पन्न हो गया, तब भगवान् श्रीकृष्ण महारानी कुन्तीके पास गये और बोले—'बुआजी! प्रणाम। अब हम द्वारका जाना चाहते हैं, आज्ञा दीजिये।' कुन्तीदेवीने उत्तर दिया—

त्वया नाथेन गोविन्द दुःखं तीर्णं महत्तरम्।
त्वं हि नाथस्त्वनाथानां दरिद्राणां विशेषतः॥
सर्वदुःखानि शाम्यन्ति तव संदर्शनान्मम।
स्मरस्वैनान् महाप्राज्ञ तेन जीवन्ति पाण्डवाः॥

(महा० आदि० २०६। ५१ के बादका दा० पा०)

'गोविन्द! तुम्हारी सहायतासे ही इस महान् दुःखसागरको मैं पार हो सकी हूँ। प्रभो! तुम अनाथोंके, विशेषतः दीन-दुखियोंके नाथ हो; तुम्हारे दर्शनमात्रसे मेरे सारे दुःख दूर हो जाते हैं। हे महाप्राज्ञ! इन पाण्डवोंको भूलना मत; तुम्हारे शुभचिन्तनसे इनको जीवन प्राप्त होगा।' भगवान्‌की श्री (शोभा) इसीमें है कि वह दीन-दुखियोंका त्राण करते हैं, विपत्तिके साथी

बनते हैं। कुन्तीको उन्होंने उत्तर दिया—'बुआजी! ऐसा ही होगा' और बलरामजी तथा अपने सेवकोंके साथ द्वारकापुरीके लिये प्रस्थान किया।

× × × ×

दूसरी बार प्रभास तीर्थमें हम भगवान्‌को देखते हैं। बारह वर्षके वनवास-कालमें विभिन्न तीर्थोंका पर्यटन करते हुए अर्जुन जब प्रभास तीर्थमें पहुँचते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्णको गुप्तचरोंके द्वारा इसका समाचार मिलता है और वे अपने चिरसखा अर्जुनसे मिलनेके लिये चल पड़ते हैं। ग्रन्थकारने इस मिलनका बड़ा सजीव चित्र खींचा है—

ततोऽभ्यगच्छत् कौन्तेयं सखायं तत्र माधवः।
ददृशाते तदान्योन्यं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ॥
तावन्योन्यं समाश्लिष्य पृष्ट्वा च कुशलं वने।
आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी॥

(महा० आदि० २१७। ४-५)

'तब माधव अपने सखा कुन्तीपुत्र अर्जुनसे मिलनेके लिये वहाँ गये। उस समय प्रभासक्षेत्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनने एक दूसरेको देखा। वहाँ वनमें परस्पर आलिङ्गन करके और कुशल पूछकर वे दोनों प्रिय सखा नर-नारायण ऋषि एक स्थानपर बैठ गये।'

यहाँ दोनोंको एक साथ देखकर ग्रन्थकार याद दिला रहे हैं कि इनको कोई दूसरा न समझो, ये निश्चयपूर्वक प्रिय सखा नर-नारायण ही हैं। ये दोनों दो शरीर, एक प्राण हैं। दोनों सखा बहुत दिनोंपर मिले हैं, परस्पर प्रेमपूर्वक कुशलादि-वार्त्ता हो जानेके बाद वहाँ रैवतक पर्वतपर रातको विश्राम करते हैं। दूसरे दिन भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अभिनन्दित हो उनके साथ स्वर्णमण्डित रथपर सवार होकर कुन्तीपुत्र अर्जुन द्वारकापुरीको जाते हैं।

वासुदेव श्रीकृष्णके सखा आ रहे हैं, यह समाचार सुनकर द्वारकापुरीमें आनन्द छा गया। उस आनन्दका व्यासजीने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है—

अलंकृता द्वारका तु बभूव जनमेजय।
कुन्तीपुत्रस्य पूजार्थमपि निष्कुटकेष्वपि॥
दिदृक्षन्तश्च कौन्तेयं द्वारकावासिनो जनाः।
नरेन्द्रमार्गमाजग्मुस्तूर्णं शतसहस्रशः॥
अवलोकेषु नारीणां सहस्राणि शतानि च।
भोजवृष्ण्यन्धकानां च समवायो महानभूत्॥
स तथा सत्कृतः सर्वैर्भोजवृष्ण्यन्धकात्मजैः।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वैश्च प्रतिनन्दितः॥
कुमारैः सर्वशो वीरः सत्कारेणाभिचोदितः।
समानवयसः सर्वानाश्लिष्य च पुनः पुनः॥
कृष्णस्य भवने रम्ये रत्नभोज्यसमावृते।
उवास सह कृष्णेन बहुलास्तत्र शर्वरीः॥

(महा० आदि० २१७। १६—२१)

'जनमेजय! कुन्तीपुत्रके स्वागतार्थ सारी द्वारकापुरी सजायी गयी थी, उनके अभिनन्दनके लिये गृहोद्यान भी सजाये गये थे। अर्जुनका दर्शन करनेके लिये द्वारकावासी लाखोंकी संख्यामें तत्काल ही राजमार्गपर आ इकट्ठे हो गये थे। जहाँसे कुन्तीनन्दनका दर्शन हो सकता था, ऐसे स्थानोंपर सैकड़ों-हजारों नारियाँ आँख लगाये खड़ी थीं, तथा भोज, वृष्णि और अन्धक लोगोंकी बड़ी भीड़ लगी थी। भोज, वृष्णि और अन्धक वंशके लोगोंद्वारा इस प्रकार सत्कृत होकर अर्जुनने वन्दनीय पुरुषोंको प्रणाम किया, और सब लोगोंके द्वारा वे अभिनन्दित हुए। यदुकुलके कुमारोंद्वारा भली-भाँति सत्कार प्राप्तकर अर्जुनने सभी समवयस्क लोगोंको बारंबार आलिङ्गन किया। इसके बाद रत्नों तथा भोज्यपदार्थोंसे भरपूर श्रीकृष्णके रमणीय भवनमें श्रीकृष्णके साथ उन्होंने कई रातें बितायीं।'

× × × ×

इसके अनन्तर भगवान् वासुदेवके दर्शन खाण्डव-वन-दाहके प्रसङ्गमें होते हैं। नृपश्रेष्ठ राजर्षि श्वेतकिने द्वादश वर्षका यज्ञ किया, महातेजस्वी दुर्वासा ऋषि प्रधान ऋत्विज् थे। उस यज्ञमें निरन्तर घीकी अविच्छिन्न धाराओंसे अग्निदेव परितृप्त हो गये, उन्हें दूसरा हविष्य ग्रहण करनेकी रुचि न रही। इस अरुचिके कारण उनको उदरविकार हो गया और निरन्तर तेज क्षीण होनेके कारण उन्हें घबराहट होने लगी। तब वे ब्रह्माजीके पास गये और उनसे उन्होंने अपने रोगकी दवा पूछी। ब्रह्माजी बोले—

पुरा देवनियोगेन यत् त्वया भस्मसात्कृतम्।
आलयं देवशत्रूणां सुघोरं खाण्डवं वनम्॥

तत्र सर्वाणि सत्त्वानि निवसन्ति विभावसो।
तेषां त्वं मेदसा तृप्तः प्रकृतिस्थो भविष्यसि॥
(आदि० २२२ । ७५-७६)

'पहले देवताओंके आदेशसे तुमने दानवोंके निवासस्थान घोर खाण्डववनको जलाया है। वहाँ इस समय सब प्रकारके जीव-जन्तु रहते हैं । अग्ने! उन्हींके मेदसे तृप्त होकर तुम स्वस्थ हो सकोगे।'

तत्पश्चात् अग्निदेव खाण्डववनको जलाने चले, परंतु हाथियोंने तथा नाग आदि प्राणियोंने जलके द्वारा उनको शमन कर दिया। तब वे फिर ब्रह्माजीके पास गये और उन्हें अपनी गाथा कह सुनायी । ब्रह्माजीने कहा—तुम कुछ दिन प्रतीक्षा करो—

भविष्यतः सहायौ ते नरनारायणौ तदा।
ताभ्यां त्वं सहितो दावं धक्ष्यसे हव्यवाहन॥
(आदि० २२३ । ४)

'तब हे हव्यवाहन ! नर और नारायण तुम्हारे सहायक होंगे। उन दोनोंके साथ रहकर तुम उस वनको जला सकोगे।' कुछ समयके बाद—

सम्भूतौ तौ विदित्वा तु नरनारायणावृषी।
× × ×
अनुस्मृत्य जगामाथ पुनरेव पितामहम्॥
(आदि० २२३ । ५-६)

'नर-नारायणके अवतीर्ण होनेकी बात जानकर अग्निदेव ब्रह्माजीकी बातको स्मरण करके पुनः ब्रह्माजीके पास गये।' ब्रह्माजीने उनसे कहा कि अब वह उपाय सुनो, जिससे तुम खाण्डववनको जला सकोगे—

नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो॥
सम्प्राप्तौ मानुषे लोके कार्यार्थं हि दिवौकसाम्॥
अर्जुनं वासुदेवं च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते।
तावेतौ सहितावेहि खाण्डवस्य समीपतः॥
(आदि० २२३ । ८-९)

'अग्ने! वे जो नर-नारायण नामके दो पुरातन देवता हैं, देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य-लोकमें अवतरित हुए हैं। उनको लोग अर्जुन और वासुदेवके नामसे जानते हैं; वे दोनों खाण्डववनके पास एक साथ बैठे हुए हैं।' उन दोनोंसे तुम खाण्डववन जलानेमें सहायता प्राप्त करो, तब तुम इन्द्रादि देवताओंसे रक्षित होनेपर भी उस वनको जला डालोगे।

इस प्रकार ब्रह्माजीके आदेशानुसार अग्निदेवने खाण्डववनको जलानेमें अर्जुन और श्रीकृष्णकी सहायता प्राप्त की। उन दोनोंने भयंकर युद्धके द्वारा इन्द्रादि देवताओंको परास्त करके खाण्डववनको जलाकर परितृप्त होनेमें अग्निकी सहायता की।

इस कथाके अवतरणसे भगवान् वासुदेवके दिव्य ऐश्वर्यकी ओर अनायास ही हमारा ध्यान चला जाता है, जो उनकी भगवत्ताका सूचक है। खाण्डववन-दाहके अवसरपर अन्तमें व्यासजीने आकाशवाणीके द्वारा भी इस तथ्यको पूर्णरूपेण घोषित करते हुए कहा है—

वासुदेवार्जुनावेतौ निबोध वचनान्मम।
नरनारायणावेतौ पूर्वदेवौ दिविश्रुतौ॥
भवानप्यभिजानाति यद्वीर्यौ यत्पराक्रमौ।
नैतौ शक्यौ दुराधर्षौ विजेतुमजितौ युधि॥
अपि सर्वेषु लोकेषु पुराणावृषिसत्तमौ।
पूजनीयतमावेतावपि सर्वैः सुरासुरैः॥
यक्षराक्षसगन्धर्वनरकिन्नरपन्नगैः ।
तस्मादितः सुरैः सार्द्धं गन्तुमर्हसि वासव॥
(आदि० २२७ । १८-२१)

आकाशवाणी हुई—'हे इन्द्र ! मैं कहती हूँ, तुम अर्जुन और वासुदेवको द्युलोकमें प्रसिद्ध पुरातन देवता नर-नारायण समझो। तुम भी इनके वीर्य और पराक्रमको जानते हो। ये अजेय हैं, युद्धमें इनको हराना सम्भव नहीं है। यही नहीं, सारे लोकोंमें ये पुरातन ऋषि सभी देवताओं और असुरों तथा यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नर, किन्नर और नागोंके द्वारा परम पूजनीय हैं। इसलिये इनसे युद्ध करना छोड़कर तुम देवताओंके साथ यहाँसे प्रस्थान करो।'

यहाँ ग्रन्थकारने आकाशवाणीके द्वारा नर-नारायणकी सर्वशक्तिमत्ताकी घोषणा करके उनके अनुपम ऐश्वर्यको प्रदर्शित किया है। साथ ही इससे यह भी ध्वनित होता है कि उस कालमें नर-नारायण परमोपास्यदेवके रूपमें पूजित होते थे और ये ही महर्षि व्यासके आराध्य-देव थे तथा लोगोंमें इनकी मान्यता सनातन तथा देवाधिदेवके रूपमें प्रचलित थी।

सभापर्व

राजसूय-यज्ञ-प्रसङ्ग

जरासंध-वध

देवर्षि नारदजीने महाराज युधिष्ठिरको राजसूय-यज्ञ करनेकी प्रेरणा प्रदान की। द्वारकासे श्रीकृष्ण आमन्त्रित किये गये। मन्त्रणा होने लगी कि राजसूय-यज्ञ कैसे किया जाय। उस समय मगधका राजा जरासंध बड़ा पराक्रमशाली था, उसको जीते बिना राजसूय-यज्ञ करना सम्भव न था। धर्मराज युधिष्ठिर तो यह सुनते ही मुकरने लगे; परंतु भीमसेनने ताल ठोंकी, बोले—

कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनंजये।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥
त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट्।
जयोऽस्माकं हि गोविन्द येषां नाथो भवान् सदा॥

(महा० सभा० १५ । १३)

'श्रीकृष्णमें नीति है, मुझमें बल है और अर्जुनमें विजयकी शक्ति है। हम तीनों मिलकर मगधराज जरासंधको वशमें करनेका कार्य उसी प्रकार सिद्ध कर लेंगे जैसे आहवनीयादि तीन अग्नियोंके द्वारा यज्ञकार्य सम्पादन किया जाता है। गोविन्द! तुम्हारी बुद्धिके बलका आश्रय लेकर धर्मराज सब कुछ प्राप्त कर लेंगे। तुम जिनकी सदा रक्षा करते हो, उन पाण्डवोंकी विजय निश्चित है।'

वासुदेव श्रीकृष्णने कहा—'धर्मराज! जरासंधके मुख्य सहायक हंस और डिम्भक यमुनाजीमें डूब मरे। कंस भी अपने सहायकोंसहित कालके गालमें चला गया। अब जरासंधके नाशका समय आ गया है। राजन्! जरासंधने छियासी प्रतिशत राजाओंको कैद कर लिया है, केवल चौदह प्रतिशत बाकी रह गये हैं। उनको भी बंदी बना लेनेपर वह सब राजाओंकी रुद्रदेवताको बलि देनेवाला है। जो उसके इस कार्यको रोक देगा, वह उज्ज्वल यश प्राप्त करेगा। जो जरासंधको जीत लेगा, वह निश्चय ही सम्राट् होगा। परंतु युद्धमें सब देवता और असुर भी उसे नहीं जीत सकते। अतः मेरी समझमें आता है कि उसे मल्लयुद्धके द्वारा जीतना चाहिये।'

फिर भीमसेनके शब्दोंमें ही भगवान् कहने लगे—

मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जयः।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥

(सभा० २० । ३)

'मुझमें नीति है, भीमसेनमें बल है और अर्जुन हम दोनोंकी रक्षा करनेवाले हैं। अतः जैसे तीन अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि करती हैं, वैसे ही हम तीनों मिलकर जरासंधको पराजित करेंगे।'

पश्चात् ये तीनों महापुरुष जरासंधके यहाँ गये और बात-ही-बातमें श्रीकृष्णने जरासंधको भीमसेनसे मल्लयुद्ध करनेके लिये तैयार कर लिया। दोनोंमें भयानक मल्लयुद्ध होने लगा, भीमसेनकी गर्जना और जरासंधके चीत्कारसे सारी नगरी प्रकम्पित हो उठी। अन्तमें जरासंध मारा गया और श्रीकृष्णने उसके ध्वजा-पताका-मण्डित दिव्यरथको जोत लिया और उसपर भीमसेन और अर्जुनको बिठाकर उस पहाड़ी खोहके पास गये, जहाँ बान्धवस्वरूप सहस्रों राजा कैद थे। भगवान् वासुदेवने उनको मुक्त कर दिया। कैदसे मुक्त उन राजाओंने भगवान् मधुसूदनकी पूजा की और स्तुति करते हुए वे बोले—

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने।
भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम्॥

(सभा० २४ । ३२)

'हे महाबाहो! आप देवकीनन्दनके लिये, जो भीम और अर्जुनके बलसे युक्त हैं, इस प्रकार धर्मकी रक्षा करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।'

पश्चात् जरासंधके पुत्र सहदेवको मगधके राजसिंहासनपर अभिषिक्त करके श्रीकृष्णने उसको अपना मित्र बना लिया। भीमसेन और अर्जुनने भी उसका बड़ा सत्कार किया। उसके बाद राजाओंको साथ लेकर वे लोग वहाँसे प्रस्थान करके इन्द्रप्रस्थमें महाराज युधिष्ठिरके यहाँ पहुँचे।

वैशम्पायन कहते हैं—

एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः।
पाण्डवैर्घातयामास जरासंधमरिं तदा॥

(सभा० २४ । ५३)

'जनमेजय ! इस प्रकार महाबुद्धिमान् पुरुषसिंह जनार्दनने पाण्डवोंके द्वारा अपने शत्रु जरासंधका वध कराया ।' तथा उसके बाद—

ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने ।
जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाभयं तदा ॥
(सभा० २४ । ५८)

संवर्द्धितं यशो भूयः कर्मणा तेन भारत ।
द्रौपद्याः पाण्डवा राजन् परां प्रीतिमवर्धयन् ॥
(सभा० २४ । ५९)

'देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका चले गये । जरासंधकी कैदसे मुक्त राजाओंको पाण्डवोंने अभयदान दे दिया । मगधराजपर विजयका महान् यश चारों ओर फैल गया । इस प्रकार राजन् ! पाण्डवलोग द्रौपदीकी प्रीतिको बढ़ाने लगे ।'

इस कथासे भगवान् वासुदेवके त्रिकालानपेक्ष अप्रतिहत ज्ञानका अनुमान सहज ही हो जाता है । अन्यथा जरासंध-जैसे महापराक्रमी राजाको, जिसकी सैन्यशक्ति उस समय अजेय थी, इस प्रकार भीमसेनके द्वारा मल्ल-युद्धमें ही मरवानेकी कल्पना कैसे हो सकती थी । दूसरी बात थी उन सहस्रों राजाओंकी मुक्ति की, जो जरासंधके कारागारमें मृत्युकी प्रतीक्षामें भगवान्‌का चिन्तन कर रहे थे । भला, भगवान्‌के रहते उन निरप-राधी राजाओंकी हत्या कैसे हो सकती थी । भगवान् दीनवत्सल जो हैं, वे दैन्यको कैसे सहन करते । तीसरी बात थी पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञकी—जो जरासंधके जीते-जी सम्भव न थी । इस प्रकार एक ही जरासंध-वधके द्वारा भगवान्‌ने अनेक लोककल्याणके कार्य कर डाले ।

शिशुपाल-वध

जरासंधकी मृत्युके पश्चात् पाण्डवोंके सामने जमकर युद्ध करनेवाला कोई दूसरा नहीं रह गया था । अतएव राजसूय-यज्ञ प्रारम्भ करनेके पूर्व भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवने पृथक्-पृथक् अपने सैन्यबलसे पृथ्वीके समस्त राजाओंको परास्त करके महाराज युधिष्ठिरकी सार्वभौम सत्ता स्थापित कर दी । अब राजसूय यज्ञके लिये वेदज्ञ ब्राह्मणों, सगे-सम्बन्धियों तथा विभिन्न देशके राजाओंको निमन्त्रण भेजा गया । निमन्त्रण पाते ही राजालोग अपनी-अपनी सामर्थ्यके अनुसार चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिरको अर्पित करनेके लिये बहुमूल्य सामग्री लेकर इन्द्रप्रस्थको चल पड़े । भगवान् वासुदेव भी नाना प्रकारके धन-रत्नोंकी राशि भेंटके लिये लेकर अपनी विशाल सेनाके साथ आ उपस्थित हुए ।

भगवान् कृष्णद्वैपायन बार-बार स्मरण दिलाते हैं कि श्रीकृष्णको दूसरा न समझो । ये वे ही अद्वितीय परमात्मा, सर्वशक्तिमान् नारायण हैं । यहाँ भी आते-आते ही याद दिला दिया । तदनन्तर भगवान्‌के स्वागत-सत्कार, पारस्परिक कुशल-प्रश्नके बाद महाराज युधिष्ठिर बोले—

त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्तते ।
धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ॥
सोऽहमिच्छामि तत् सर्वं विधिवद् देवकीसुत ।
उपयोक्तुं द्विजाग्र्येभ्यो हव्यवाहे च माधव ॥
तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया ।
अनुजैश्च महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि ॥
(सभा० ३३ । १८–१०)

'कृष्ण ! तुम्हारी कृपासे तुम्हारी सेवाके लिये सारी पृथ्वी मेरे अधीन हो गयी है । वार्ष्णेय ! धन भी मैंने बहुत उपार्जित किया है । देवकीनन्दन ! हे माधव ! वह सारा धन मैं विधिवत् अग्निहोत्र करने तथा ब्राह्मणोंको दक्षिणा देनेमें लगा देना चाहता हूँ । हे दाशार्ह ! हे महाबाहो ! मैं तुम्हारे तथा अपने भाइयोंके साथ यज्ञ करनेकी इच्छा करता हूँ । इसके लिये मुझे आज्ञा दो ।'

भगवान् वासुदेवकी अनुमति लेकर राजसूय-यज्ञ-की तैयारी होने लगी । यज्ञमण्डप आदिके निर्मित हो जानेके बाद ब्राह्मणोंने ठीक समयपर महाराज युधिष्ठिर-को राजसूय-यज्ञकी दीक्षा दी । और—

दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥
(सभा० ३३ । ४४)

'यज्ञकी दीक्षा लेकर धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर सहस्रों ब्राह्मणोंसे आवृत हो यज्ञमण्डपमें पधारे ।' तत्पश्चात्, वैशम्पायनजी कहते हैं—

पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत्॥
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती।
अस्मिन् यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः॥
इदं वः सुमहच्चैव यदिहास्ति धनं मम।
प्रणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिताः॥
(सभा० ३५। १-३)

'हे जनमेजय! पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोणाचार्यकी अगवानी करके युधिष्ठिरने उनको प्रणाम किया और भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन तथा विविंशतिसे बोले—'आपलोग इस यज्ञमें सब प्रकारसे मुझे अनुगृहीत करें। यहाँ मेरा जो यह विपुल धन है, उसे आपलोग अभिमन्त्रित होकर इस यज्ञमें विधिपूर्वक लगानेकी कृपा करें।' पश्चात् भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यकी देख-रेखमें विभिन्न विभागोंके कार्य विभिन्न लोगोंके सुपुर्द कर दिये गये। यज्ञमें आये ब्राह्मणोंके स्वागत-सत्कारका भार अश्वत्थामाको सौंपा गया, राजाओंसे भेंट स्वीकार करने और रखनेकी व्यवस्था दुर्योधनको सौंपी गयी। इसी प्रकार अन्य कार्योंकी व्यवस्था की गयी। शेष धृतराष्ट्रके पुत्र वहाँ मालिकके समान स्वेच्छानुसार विचरण करने लगे। परंतु—

चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत्।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम्॥
(३५। १०)

'भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण सबको संतुष्ट करनेकी इच्छासे ब्राह्मणोंके चरण पखारनेमें स्वयं ही नियुक्त हो गये, जिससे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है। चारों ओरसे लोगोंने उनको घेर रखा था।'

अहा! भगवान्‌ने राजसूय-यज्ञमें ब्राह्मणोंके चरण पखारनेका काम अपने हाथमें लेकर ब्राह्मणोंकी सेवाको महिमान्वित कर दिया। इससे उन्होंने लोकको यह शिक्षा प्रदान की कि ब्राह्मणोंकी चरण-सेवा गौरवकी वस्तु है, पारलौकिक फल प्रदान करनेवाली है। वैशम्पायनजी कहते हैं कि तदनन्तर—

ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्हा महर्षयः॥
(३६। १)

'अभिषेचनीय कर्मके दिन राजाओंके साथ-साथ पूजनीय महर्षिगण तथा ब्राह्मणलोगोंने अन्तर्वेदीमें प्रवेश किया।' वहाँ जाकर महाराजा युधिष्ठिरके धन-वैभव और यज्ञविधिको देखकर देवर्षि नारदजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। सहसा उनको स्मरण हो आया और वे सोचने लगे—

साक्षात् स विबुधारिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः।
प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः परपुरंजयः॥
संदिदेश पुरा योऽसौ विबुधान् भूतकृत् स्वयम्।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ॥
इति नारायणः शम्भुर्भगवान् भूतभावनः।
आदिश्य विबुधान् सर्वानजायत यदुक्षये॥
क्षितावन्धकवृष्णीनां वंशे वंशभृतां वरः।
परया शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट्॥
यस्य बाहुबलं सेन्द्राः सुराः सर्व उपासते।
सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिमर्दनः॥
अहो बत महद्भूतं स्वयंभूर्यदिदं स्वयम्।
आदास्यति पुनः क्षत्रमेवंबलसमन्वितम्॥
इत्येतां नारदश्चिन्तां चिन्तयामास सर्ववित्।
हरिं नारायणं ध्यात्वा यज्ञैरीड्यंतमीश्वरम्॥
तस्मिन् धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमतः।
महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः॥
(सभा० ३६—१३-२१)

'अहो! सर्वव्यापक देवशत्रुविनाशक वैरि-नगर-विजयी साक्षात् भगवान् नारायणने ही तो अपनी इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये क्षत्रियकुलमें अवतार ग्रहण किया है। पूर्वकालमें सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक साक्षात् उन्हीं भगवान्‌ने देवताओंको यह आदेश दिया था कि तुमलोग भूतलपर जन्म-ग्रहण करके अपना अभीष्ट साधन करते हुए आपसमें एक-दूसरेको मारकर फिर देवलोकमें आ जाओगे। कल्याणस्वरूप भूतभावन भगवान् नारायणने सब देवताओंको यह आज्ञा देनेके पश्चात् स्वयं भी यदुकुलमें अवतार लिया। अन्धक और वृष्णियोंके कुलमें वंशधारियोंमें श्रेष्ठ वे ही भगवान् इस पृथ्वीपर प्रकट हो अपनी सर्वोत्तम कान्तिसे उसी प्रकार शोभायमान हैं, जैसे नक्षत्रोंमें चन्द्रमा सुशोभित होते हैं। इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता जिनके बाहुबलकी उपासना करते हैं, वे ही शत्रुमर्दन श्रीहरि यहाँ मनुष्यके समान बैठे हैं। अहो! ये स्वयम्भू महाविष्णु ऐसे

बलसम्पन्न क्षत्रियसमुदायको पुनः उच्छिन्न करना चाहते हैं ।' सर्वज्ञ नारदजीने इसी पुरातन वृत्तान्तका स्मरण किया और ये भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञोंके द्वारा आराधनीय, सर्वेश्वर नारायण हैं—यों समझकर वे धर्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् देवर्षि मेधावी धर्मराजके उस महायज्ञमें बड़े आदरके साथ बैठे रहे ।

ततो भीष्मोऽब्रवीद् राजन् धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ॥
(३६ । २२)

'जब सब लोग यज्ञमण्डपमें आ गये, तब भीष्मजीने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! अब यहाँ पधारे हुए राजाओंकी यथायोग्य पूजा होनी चाहिये ।' परंतु प्रथम पूजाके योग्य कौन हैं; यह प्रश्न सामने आया । धर्मराजने पितामहसे ही यह निर्णय करनेके लिये कहा । भीष्मजी बोले—

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥
(३६ । २८-२९)

'कुन्तीनन्दन ! मैं तो संसारमें सबसे बढ़कर पूजनीय श्रीकृष्णको मानता हूँ । देखो—वे अपने तेज, बल और पराक्रमके द्वारा समस्त राजाओंके बीचमें उसी प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे ग्रह-नक्षत्रोंमें सूर्य आभासित होता है । अन्धकारमय स्थान जैसे सूर्यसे आभासित हो उठता है, निर्वात प्रदेश जैसे वायुके संचारसे आह्लादमय बन जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके द्वारा यह हमारी सभा आभासित और आह्लादमयी हो रही है । अतएव एकमात्र ये ही अग्रपूजाके लिये योग्य हैं।' इस प्रकार पितामहकी सम्मति प्राप्तकर प्रतापी सहदेवने भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णको विधिपूर्वक प्रथम अर्घ्य प्रदान किया । श्रीकृष्णने शास्त्रीय विधिके अनुसार वह अर्घ्य स्वीकार किया । श्रीकृष्णकी प्रथम पूजा होते देखकर चेदिराज शिशुपाल जल उठा । उसने भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, द्रुपद, वसुदेवजी आदि गुरुजनोंके उपस्थित रहते श्रीकृष्णको प्रथम अर्घ्य देनेका घोर विरोध किया, और अपमानजनक शब्दोंका प्रयोग करके सभामण्डपसे जाने लगा । तब महाराज युधिष्ठिर उसके पास दौड़े गये, और उसको शान्तिपूर्वक समझानेकी चेष्टा करने लगे—'चेदिराज ! भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थरूपसे पितामह भीष्मजी ही जानते हैं, वैसा ज्ञान तुमको नहीं है । तुम्हें इस प्रकार व्यर्थ ही कठोर बातें नहीं कहनी चाहिये ।' इसके बाद भीष्मजीने कहा—

नहि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥
कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
जगत् सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥
तस्मात् सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान् ।
एवं वक्तुं न चार्हस्त्वं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ॥
ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः ।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥
समागतानामश्रौषं बहून् बहुमतान् सताम् ।
कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ॥
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे ।
न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ॥
न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।
अर्चामहे अर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥
यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुञ्ज्महे ।
न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ॥
गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥
वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥
वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाभ्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥
तमिमं गुणसम्पन्नमार्यं च पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुमर्हथ ॥
ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः ।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः ॥
बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥
आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये ।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥

अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्री च्छन्दसां मुखम्।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम्॥
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम्।
पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम्॥
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम्॥
(सभा० ३८। ९-२९)

'शिशुपालजी! महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है; ये तो तीनों लोकोंके पूजनीय हैं। श्रीकृष्णके द्वारा संग्राममें अनेक क्षत्रियशिरोमणि परास्त हुए हैं। यह सम्पूर्ण जगत् वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णमें ही पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है। इसीलिये हम दूसरे वृद्धपुरुषोंके होते हुए भी श्रीकृष्णकी ही पूजा करते हैं, दूसरोंकी नहीं। राजन्! तुम्हें श्रीकृष्णके प्रति वैसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये थीं। उनके प्रति तुम्हें ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। मैंने बहुत-से ज्ञानवृद्ध महात्माओं-का सङ्ग किया है। अपने यहाँ पधारे हुए उन संतोंके मुखसे अनन्तगुणशाली भगवान् श्रीकृष्णके असंख्य बहुसम्मत गुणोंका वर्णन सुना है। जन्मकालसे लेकर अबतक इन बुद्धिमान् श्रीकृष्णके जो-जो चरित्र बहुधा बहुतेरे मनुष्योंद्वारा कहे गये हैं, उन सबको मैंने बार-बार सुना है। चेदिराज! हमलोग किसी कामनासे, अपना सम्बन्धी मानकर अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकारका उपकार किया है, इस दृष्टिसे श्रीकृष्णकी पूजा नहीं कर रहे हैं। हमारी दृष्टि तो यह है कि ये इस भूमण्डलके सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं और बड़े-बड़े संत-महात्माओंने इनकी पूजा की है। हम इनके यश, शौर्य और विजयको भली-भाँति जानकर इनकी पूजा कर रहे हैं। यहाँ बैठे हुए लोगोंमेंसे कोई छोटा-सा बालक भी ऐसा नहीं है, जिसके गुणोंकी हमलोगोंने पूर्णतः परीक्षा न कर ली हो। श्रीकृष्णके गुणोंको ही दृष्टिमें रखते हुए हमने वयोवृद्ध पुरुषोंका उल्लङ्घन करके इनको ही परम पूजनीय माना है। ब्राह्मणोंमें वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञानमें बड़ा हो तथा क्षत्रियोंमें वही पूजाके योग्य है, जो बलमें सबसे अधिक हो। वैश्योंमें वही सर्वमान्य है, जो धन-धान्यमें बढ़कर हो, केवल शूद्रोंमें ही जन्मकालको ध्यानमें रखकर जो अवस्थामें बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है। श्रीकृष्णके परम पूजनीय होनेमें दोनों ही कारण विद्यमान हैं। इनमें वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञान तो है ही, बल भी सबसे अधिक है। श्रीकृष्णके सिवा दूसरा कौन संसारके मनुष्योंमें सबसे बढ़कर है? दान, दक्षता, शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि—ये सभी सद्गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य विद्यमान हैं। जो अर्घ्य पानेके सर्वथा योग्य और पूजनीय हैं, उन सकलगुणसम्पन्न, श्रेष्ठ, पिता और गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी हमलोगोंने पूजा की है, अतः सब राजालोग इसके लिये हमें क्षमा करें। श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा और प्रिय मित्र—सब कुछ हैं। इसीलिये हमने इनकी अग्रपूजा की है।

'ये भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। यह सारा चराचर विश्व इन्हीं-के लिये प्रकट हुआ है। ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्ता तथा सम्पूर्ण भूतोंसे परे हैं; अतः भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं। महत्तत्त्व, अहंकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चारों प्रकारके प्राणी, सभी भगवान् श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, दिशाएँ और विदिशाएँ—सब उन्हींमें स्थित हैं। जैसे वेदों-में अग्निहोत्रकर्म, छन्दोंमें गायत्री, मनुष्योंमें राजा, नदियों (जलाशयों) में समुद्र, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य, पर्वतोंमें मेरु और पक्षियोंमें गरुड़ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार देवलोकसहित सम्पूर्ण लोकोंमें ऊपर-नीचे, दाँयें-बायें—जितने भी जगत्के आश्रय हैं, उन सबमें भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रेष्ठ हैं।

भीष्मजीने फिर राजा युधिष्ठिरसे कहा—

वर्तमानामतीतां च शृणु राजन् युधिष्ठिर।
ईश्वरस्योत्तमस्यैनां कर्मणां गहनां गतिम्॥

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ।
पुरा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ॥
सहस्रशीर्षः पुरुषो ध्रुवोऽव्यक्तः सनातनः ॥
सहस्राक्षः सहस्रास्यः सहस्रचरणो विभुः ।
सहस्रबाहुः साहस्रो देवो नामसहस्रवान् ॥
सहस्रमुकुटो देवो विश्वरूपो महाद्युतिः ।
अनेकवर्णो देवादिरव्यक्ताद् वै परे स्थितः ॥
असृजत् सलिलं पूर्वं स च नारायणः प्रभुः ।
ततस्तु भगवांस्तोये ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ॥
ब्रह्मा चतुर्मुखो लोकान् सर्वांस्तानसृजत् स्वयम् ।
आदिकाले पुरा ह्येवं सर्वलोकस्य चोद्भवः ॥
पुराथ प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे ॥
आभूतसम्प्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतौ महान् ।
एकस्तिष्ठति सर्वात्मा स तु नारायणः प्रभुः ॥
नारायणस्य चाङ्गानि सर्वदैवानि भारत ।
शिरस्तस्य दिवं राजन् नाभिः खं चरणौ मही ॥
अश्विनौ घ्राणयोर्देवौ चक्षुषी शशिभास्करौ ।
इन्द्रवैश्वानरौ देवौ मुखं तस्य महात्मनः ॥
अन्यानि सर्वदैवानि तस्याङ्गानि महात्मनः ।
सर्वं व्याप्य हरिस्तस्थौ सूत्रं मणिगणानिव ॥
आभूतसम्प्लवान्तेऽथ दृष्ट्वा सर्वं तमोऽन्वितम् ।
नारायणो महायोगी सर्वज्ञः परमात्मवान् ॥
ब्रह्मभूतस्तदाऽऽत्मानं ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ।
सोऽध्यक्षः सर्वभूतानां प्रभूतः प्रभवोऽच्युतः ॥
सनत्कुमारं रुद्रं च मनुं चैव तपोधनान् ।
सर्वमेवासृजद् ब्रह्मा ततो लोकान् प्रजास्तथा ॥
ते च तद् व्यसृजंस्तत्र प्राप्ते काले युधिष्ठिर ।
तेभ्योऽभवन्महात्मभ्यो बहुधा ब्रह्म शाश्वतम् ॥
कल्पानां बहुकोट्यश्च समतीता हि भारत ।
आभूतसम्प्लवाश्चैव बहुकोट्योऽतिचक्रमुः ॥
मन्वन्तरयुगेऽजस्रं सकल्पा भूतसम्प्लवा ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥
सृष्ट्वा चतुर्मुखं देवं देवो नारायणः प्रभुः ।
स लोकानां हितार्थाय क्षीरोदे वसति प्रभुः ॥
ब्रह्मा च सर्वदेवानां लोकस्य च पितामहः ।
ततो नारायणो देवः सर्वस्य प्रपितामहः ॥
अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ।
नारायणो जगच्चक्रे प्रभवाप्ययसंहितः ॥
एष नारायणो भूत्वा हरिरासीद् युधिष्ठिर ।
ब्रह्माणं शशिसूर्यौ च धर्मं चैवासृजत् स्वयम् ॥
बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः ।
प्रादुर्भावांस्तु वक्ष्यामि दिव्यान् देवगणैर्युतान् ॥

सुप्त्वा युगसहस्रं स प्रादुर्भवति कार्यवान् ।
पूर्णे युगसहस्रेऽथ देवदेवो जगत्पतिः ॥
ब्रह्माणं कपिलं चैव परमेष्ठिनमेव च ।
देवान् सप्त ऋषींश्चैव शंकरं च महायशाः ॥
सनत्कुमारं भगवान् मनुं चैव प्रजापतिम् ।
पुरा चक्रेऽथ देवादीन् प्रदीप्ताग्निसमप्रभः ॥
येन चार्णवमध्यस्थौ नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टदेवासुरनरे प्रणष्टोरगराक्षसे ॥
योद्धुकामौ सुदुर्धर्षौ भ्रातरौ मधुकैटभौ ।
हतौ भगवता तेन तयोर्दत्त्वा वृतं वरम् ॥
भूमिं बद्ध्वा कृतौ पूर्वं मृन्मयौ द्वौ महासुरौ ।
कर्णस्रोतोद्भवौ तौ तु विष्णोस्तस्य महात्मनः ॥
महार्णवे प्रस्वपतः शैलराजसमौ स्थितौ ।
तौ विवेश स्वयं वायुः ब्रह्मणा साधु चोदितः ॥
तौ दिवं छादयित्वा तु ववृधाते महासुरौ ।
वायुप्राणौ तु तौ दृष्ट्वा ब्रह्मा पर्यामृशच्छनैः ॥
एकं मृदुतरं बुद्ध्वा कठिनं बुध्य चापरम् ।
नामनी तु तयोश्चक्रे स विभुः सलिलोद्भवः ॥
मृदुस्त्वयं मधुर्नाम कठिनः कैटभः स्वयम् ।
तौ दैत्यौ कृतनामानौ चेरतुर्बलगर्वितौ ॥
तौ पुराथ दिवं सर्वां प्राप्तौ राजन् महासुरौ ।
प्रच्छाद्याथ दिवं सर्वां चेरतुर्मधुकैटभौ ॥
सर्वमेकार्णवं लोकं योद्धुकामौ सुनिर्भयौ ।
तौ गतावसुरौ दृष्ट्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ॥
एकार्णवाम्बुनिचये तत्रैवान्तरधीयत ।
स पद्मे पद्मनाभस्य नाभिदेशात् समुत्थिते ॥
आसीदादौ स्वयंजन्म तत् पङ्कजमपङ्कजम् ।
पूजयामास वसतिं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥
तावुभौ जलगर्भस्थौ नारायणचतुर्मुखौ ।
बहून् वर्षायुतानप्सु शयानौ न चकम्पतुः ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य तावुभौ मधुकैटभौ ।
आजग्मतुस्तौ तं देशं यत्र ब्रह्मा व्यवस्थितः ॥
तौ दृष्ट्वा लोकनाथस्तु कोपात् संरक्तलोचनः ।
उत्पपाताथ शयनात् पद्मनाभो महाद्युतिः ॥
तद् युद्धमभवद् घोरं तयोस्तस्य च वै तदा ।
एकार्णवे तदा घोरे त्रैलोक्ये जलतां गते ॥
तदभूत् तुमुलं युद्धं वर्षसङ्घान् सहस्रशः ।
न च तावसुरौ युद्धे तदा श्रममवापतुः ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य तौ दैत्यौ युद्धदुर्मदौ ।
ऊचतुः प्रीतमनसौ देवं नारायणं प्रभुम् ॥
प्रीतौ स्वस्तव युद्धेन श्लाघ्यस्त्वं मृत्युरावयोः ।
आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता ॥

हतौ च तव पुत्रत्वं प्राप्नुयाव सुरोत्तम।
यो ह्यावां युधि निर्जेता तस्यावां विहितौ सुतौ॥
तयोः स वचनं श्रुत्वा तदा नारायणः प्रभुः।
तौ प्रगृह्य मृधे दैत्यौ दोर्भ्यां तौ समपीडयत्॥
ऊरुभ्यां निधनं चक्रे तावुभौ मधुकैटभौ।
तौ हतौ चाप्लुतौ तोये वपुर्भ्यामेकतां गतौ॥
मेदो मुमुचतुर्दैत्यौ मथ्यमानौ जलोर्मिभिः।
मेदसा तज्जलं व्याप्तं ताभ्यामन्तर्दधे तदा॥
नारायणश्च भगवानसृजद् विविधाः प्रजाः।
दैत्ययोर्मेदसाच्छन्ना सर्वा राजन् वसुन्धरा॥
तदा प्रभृति कौन्तेय मेदिनीति स्मृता मही।
प्रभावात् पद्मनाभस्य शाश्वती च कृता नृणाम्॥
(सभा० पृ० ७८१–७८४)

भीष्म बोले—'राजा युधिष्ठिर ! पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंकी गति बड़ी गहन है। इन्होंने पूर्वकालमें और इस समय भी जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें बताता हूँ; सुनो। ये सर्वशक्तिमान् भगवान् अव्यक्त होते हुए भी व्यक्तस्वरूप धारण करके स्थित हैं। पूर्वकालमें ये भगवान् श्रीकृष्ण ही नारायणरूपमें स्थित थे। ये ही स्वयम्भू एवं सम्पूर्ण जगत्के प्रपितामह हैं। इनके सहस्रों मस्तक हैं। ये ही ध्रुव, अव्यक्त एवं सनातन पुरुष हैं। इनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मुख और सहस्रों चरण हैं। ये सर्वव्यापी परमेश्वर सहस्रों भुजाओं, सहस्रों रूपों और सहस्रों नामोंसे युक्त हैं। इनके मस्तक सहस्रों मुकुटोंसे मण्डित हैं। ये महान् तेजस्वी देवता हैं। सम्पूर्ण विश्व इन्हींका स्वरूप है। इनके अनेक वर्ण हैं। ये देवताओं-के भी आदि कारण हैं और अव्यक्त प्रकृतिसे परे (अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें स्थित) हैं। उन्हीं सामर्थ्यवान् भगवान् नारायणने सबसे पहले जलकी सृष्टि की। फिर उस जलमें उन्होंने स्वयं ही ब्रह्माजीको उत्पन्न किया। ब्रह्माजीके चार मुख हैं। उन्होंने स्वयं ही सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की है। इस प्रकार आदि-कालमें समस्त जगत्की उत्पत्ति हुई। फिर प्रलयकाल आनेपर, जैसा कि पहले हुआ था, समस्त स्थावर-जङ्गम सृष्टिका नाश हो जाता है एवं चराचर जगत्का नाश होनेके पश्चात् ब्रह्मा आदि देवता भी अपने कारण तत्त्वमें लीन हो जाते हैं। और समस्त भूतोंका प्रवाह प्रकृतिमें विलीन हो जाता है। उस समय एक-मात्र सर्वात्मा भगवान् महानारायण शेष रह जाते हैं।

'भरतनन्दन ! भगवान् नारायणके अङ्ग सर्वदेवमय हैं। राजन् ! द्युलोक उनका मस्तक, आकाश नाभि और पृथ्वी चरण स्थानीया है। दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिकाके स्थानपर हैं, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, एवं इन्द्र और अग्नि देवता उन परमात्माके मुख हैं। इसी प्रकार अन्य सब देवता भी उन महात्माके विभिन्न अवयव हैं। जैसे गूँथी हुई मालाकी सभी मणियोंमें एक ही सूत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हैं। प्रलयकालके अन्तमें सबको अन्धकारसे व्याप्त देख सर्वज्ञ परमात्मा ब्रह्मभूत महायोगी नारायणने स्वयं अपने-आपको ही ब्रह्मारूपमें प्रकट किया। इस प्रकार अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले, सबकी उत्पत्तिके कारणभूत और सम्पूर्ण भूतोंके अध्यक्ष श्रीहरिने ब्रह्मारूपसे प्रकट हो सनत्कुमार, रुद्र, मनु तथा तपस्वी ऋषि-मुनियोंको उत्पन्न किया। सबकी सृष्टि उन्होंने ही की। उन्हींसे सम्पूर्ण लोकों और प्रजाओंकी उत्पत्ति हुई। युधिष्ठिर ! समय आनेपर उन मनु आदिने भी सृष्टिका विस्तार किया। उन सब महात्माओंसे नाना प्रकारकी सृष्टि प्रकट हुई। इस प्रकार एक ही सनातन ब्रह्म अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त हो गया। भरतनन्दन ! अब-तक कई करोड़ कल्प बीत चुके हैं और कितने ही करोड़ प्रलयकाल भी गत हो चुके हैं। मन्वन्तर, युग, कल्प और प्रलय—ये निरन्तर चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है। देवाधिदेव भगवान् नारायण चतुर्मुख भगवान् ब्रह्माकी सृष्टि करके सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये क्षीरसागरमें निवास करते हैं। ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकोंके पितामह हैं, इसलिये ये श्रीनारायणदेव सबके प्रपितामह हैं।

'जो अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त शरीरमें स्थित हैं, सृष्टि और प्रलयकालमें भी जो नित्य विद्यमान रहते हैं, उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने इस जगत्की रचना की है। युधिष्ठिर ! इन भगवान् श्रीकृष्णने ही नारायण-रूपमें स्थित होकर स्वयं ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और धर्मकी

सृष्टि की है। ये समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं और कार्यवश अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते रहते हैं। इनके सभी अवतार दिव्य हैं और देवगणोंसे संयुक्त भी हैं। मैं उन सबका वर्णन करता हूँ। देवाधिदेव जगदीश्वर महायशस्वी भगवान् श्रीहरि सहस्र युगोंतक शयन करनेके पश्चात् कल्पान्तकी सहस्रयुगात्मक अवधि पूरी होनेपर प्रकट होते और सृष्टिकार्यमें संलग्न हो परमेष्ठी ब्रह्मा, कपिल, देवगणों, सप्तर्षियों तथा शंकरकी उत्पत्ति करते हैं। इसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सनत्कुमार, मनु एवं प्रजापतिको भी उत्पन्न करते हैं। पूर्वकालमें प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी नारायणदेवने ही देवताओं आदिकी सृष्टि की है।

'पहलेकी बात है, प्रलयकालमें समस्त चराचर प्राणी—देवता, असुर, मनुष्य, नाग तथा राक्षस—आदि नष्ट हो चुके थे। उस समय एकार्णव (महासागर) की जलराशिमें दो अत्यन्त दुर्धर्ष दैत्य रहते थे, जिनके नाम थे मधु और कैटभ। वे दोनों भाई युद्धकी इच्छा रखते थे। उन्हीं भगवान् नारायणने उन्हें मनोवाञ्छित वर देकर उन दोनों दैत्योंका वध किया था। कहते हैं, वे दोनों महान् असुर परमात्मा भगवान् विष्णुके कानोंकी मैलसे उत्पन्न हुए थे। पहले भगवान्ने इस पृथ्वीको आबद्ध करके मिट्टीसे उनकी आकृति बनायी थी। वे पर्वतराज हिमालयके समान शरीर लिये महासागरके जलमें सो रहे थे। उस समय ब्रह्माजीकी प्रेरणासे स्वयं वायुदेवने उनके भीतर प्रवेश किया। फिर तो वे दोनों महान् असुर सम्पूर्ण द्युलोकको आच्छादित करके बढ़ने लगे। वायुदेव ही जिनके प्राण थे, उन दोनों असुरोंको देखकर ब्रह्माजीने धीरे-धीरे उनके शरीरपर हाथ फेरा। एकका शरीर उन्हें अत्यन्त कोमल प्रतीत हुआ और दूसरेका अत्यन्त कठोर। तब जलसे उत्पन्न होनेवाले भगवान् ब्रह्माने उन दोनोंका नामकरण किया। यह जो मृदुल शरीरवाला असुर है, इसका नाम मधु होगा और जिसका शरीर कठोर है, वह कैटभ कहलायेगा। इस प्रकार नाम निश्चित हो जानेपर वे दोनों दैत्य बलसे उन्मत्त होकर सब ओर विचरने लगे। राजन्! सबसे पहले वे दोनों महादैत्य मधु और कैटभ द्युलोकमें पहुँचे और उस सारे लोकको आच्छादित करके सब ओर विचरने लगे। उस समय सारा लोक जलमय हो गया था। उसमें युद्धकी कामनासे अत्यन्त निर्भय होकर आये हुए उन दोनों असुरोंको देखकर लोकपितामह ब्रह्माजी वहीं एकार्णवरूप जलराशिमें अन्तर्धान हो गये। वे भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) की नाभिसे प्रकट हुए कमलमें जा बैठे। वह कमल वहाँ पहले ही स्वयं प्रकट हो गया था। कहनेको तो वह पङ्कज था, परंतु पङ्कसे उसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। लोकपितामह ब्रह्माने अपने निवासके लिये उस कमलको ही पसंद किया और उसकी भूरि-भूरि सराहना की। भगवान् नारायण और ब्रह्मा दोनों ही अनेक सहस्र वर्षोंतक उस जलके भीतर सोते रहे; किंतु कभी तनिक भी कम्पायमान नहीं हुए। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् वे दोनों असुर मधु और कैटभ उसी स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ ब्रह्माजी स्थित थे। उन दोनोंको आया देख महातेजस्वी लोकनाथ भगवान् पद्मनाभ अपनी शय्यासे खड़े हो गये। क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं। फिर तो उन दोनोंके साथ उनका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। उस भयानक एकार्णवमें, जहाँ त्रिलोकी जलरूप हो गयी थी, सहस्रों वर्षोंतक उनका वह घमासान युद्ध चलता रहा; परंतु उस समय उस युद्धमें उन दोनों दैत्योंको तनिक भी थकावट नहीं होती थी। तत्पश्चात् दीर्घकाल व्यतीत होनेपर वे दोनों रणोन्मत्त दैत्य प्रसन्न होकर सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणसे बोले—'सुरश्रेष्ठ! हम दोनों तुम्हारे युद्धकौशलसे बहुत प्रसन्न हैं। तुम हमारे लिये स्पृहणीय मृत्यु हो। हमें ऐसी जगह मारो, जहाँकी भूमि पानीमें डूबी हुई न हो। तथा मरनेके पश्चात् हम दोनों तुम्हारे पुत्र हों। जो हमें युद्धमें जीत ले, हम उसीके पुत्र हों—ऐसी हमारी इच्छा है।' उनकी बात सुनकर भगवान् नारायणने उन दोनों दैत्योंको युद्धमें पकड़कर उन्हें दोनों हाथोंसे दबाया और मधु तथा कैटभ दोनोंको अपनी जाँघोंपर रखकर मार डाला। मरनेपर उन दोनोंकी लाशें जलमें डूबकर एक हो गयीं। जलकी लहरोंसे मथित होकर उन दोनों दैत्योंने जो मेद छोड़ा, उससे

आच्छादित होकर वहाँका जल अदृश्य हो गया। उसी पर भगवान् नारायणने नाना प्रकारके जीवोंकी सृष्टि की। राजन्! कुन्तीकुमार! उन दोनों दैत्योंके मेदसे सारी वसुधा आच्छादित हो गयी। तभीसे यह मही 'मेदिनी'के नामसे प्रसिद्ध हुई। भगवान् पद्मनाभके प्रभावसे यह मनुष्योंके लिये शाश्वत आधार बन गयी।

इसके अनन्तर—

आविध्यदजितं कृष्णं भविष्यद्भूतजल्पकः॥
सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित्।
उवाचाखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः॥
कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन॥

(सभा० ३९। ७–९)

कभी पराजित न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाके ज्ञाता, भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों-कालोंकी बातें बतानेवाले, सब लोगोंके सभी संशयोंका निवारण करनेवाले तथा सम्पूर्ण लोकोंसे परिचित देवर्षि नारद समस्त उपस्थित प्राणियोंके बीच स्पष्ट शब्दोंमें बोले—'जो मानव कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा नहीं करेंगे, वे जीते-जी ही मृतक-तुल्य समझे जायँगे। ऐसे लोगोंसे कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये।'

पितामहकी ये बातें सुनकर शिशुपाल नाना प्रकार-से उनके प्रति भी कुवाक्योंका प्रयोग करके उनका तिरस्कार करने लगा। वह नाना प्रकारकी कटूक्तिरूप बाणोंकी वर्षा करके भीष्मका अपमान करने लगा। तब भीष्मने कहा—

एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः।
यस्य वस्त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम्॥
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम्।

(सभा० ४४। ४१-४२)

'बहुत बातें करनेसे क्या? ये गोविन्द सामने उपस्थित हैं, जिनकी हमने पूजा की है। अब आप-लोगोंमें जिसकी बुद्धि मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये उतावली हो रही हो, वह चक्र-गदाधारी माधव श्रीकृष्णको युद्धमें ललकारे।' भीष्मके यह कहनेपर शिशुपाल श्रीकृष्णसे लड़नेके लिये तैयार हो गया। तब श्रीकृष्णने कहा—'राजाओ! इसकी माताके याचना करनेपर मैंने उसे वर दिया था कि मैं शिशुपालके सौ अपराध क्षमा करूँगा। वे सब अपराध पूरे हो गये हैं, अब मैं सब राजाओंके देखते-देखते इसका वध करूँगा।' इतना कहकर भगवान् मधुसूदनने सुदर्शन-चक्रका स्मरण किया। चिन्तन करते ही तत्काल चक्र हाथमें आ गया और लोगोंके देखते-देखते क्षणमात्रमें श्रीकृष्णने उस चक्रसे चेदिराजका सिर धड़से अलग कर दिया। तदनन्तर सबने प्रत्यक्ष देखा कि शिशुपालके शरीरसे एक उत्कृष्ट तेज निकलकर ऊपरको उठ रहा है, मानो आकाशसे सूर्य उदित हुआ हो। उस तेजने विश्ववन्दित कमलदललोचन श्रीकृष्णकी वन्दना की और उसी समय उनके भीतर प्रविष्ट हो गया। यों भगवान्ने उसे मारकर तार दिया, अपने अंदर विलीन कर लिया।

शिशुपालके मारे जानेके बाद महाराज युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया। भगवान् वासुदेव यज्ञस्वरूप हैं, यज्ञपति हैं, यज्ञके रक्षक हैं। वे मान्योंको मान, पूज्योंको पूजा प्रदान करते हैं। चेदिराज शिशुपाल यज्ञमें विघ्न उपस्थित कर रहा था, देवकार्यमें बाधक बन रहा था, और अहंकारके वशीभूत हो बड़े बूढ़ोंका तिरस्कार कर रहा था; ऐसी दशामें उसका वध करके भगवान् वासुदेवने धर्मकी ही रक्षा की।

द्रौपदी-वस्त्र-हरण-प्रसङ्ग

युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ और उनकी श्री-समृद्धि देखकर राजा दुर्योधनके हृदयमें ईर्ष्याग्नि धधक उठी। अपने मामा शकुनिकी सहायतासे पाण्डवोंको पराभूत करनेका कुचक्र वह रचने लगा। महाराज युधिष्ठिर द्यूत-क्रीड़ाके लिये आमन्त्रित किये गये। शकुनिने छलसे महाराज युधिष्ठिरका सारा राज्य, पाँचों भाई पाण्डवोंको तथा कृष्णा द्रौपदीको जुएमें दाँवपर रखवाकर जीत लिया। कौरव-सभामें भीष्म-द्रोण आदि वृद्धजनोंके सम्मुख भरी सभामें उसने द्रौपदीको पकड़वा मँगाया और दुःशासनको उसका वस्त्र अपहरणकर नग्नकर देनेका क्रूर आदेश दिया। द्रौपदीने भीष्मादि सभी गुरुजनों-को पुकारा, परंतु दुर्योधनके सामने बोलनेका किसीको

साहस न हुआ। भरी सभामें दुःशासन द्रौपदीका वस्त्र पकड़कर उसे नग्न करने लगा। जब द्रौपदीने चारों ओर देख लिया कि कोई उसकी सहायता करनेवाला नहीं है, तब वह अनाथ होकर अनाथोंके नाथ श्रीकृष्णको पुकारने लगी—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥

(सभा० ६८। ४१—४३)

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण! हे गोपीजन-प्रिय केशव! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, क्या आप नहीं जानते? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे संकटहारी जनार्दन! मैं कौरवरूपी समुद्रमें डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये। हे श्रीकृष्ण! हे महायोगिन्! हे विश्वात्मन्! हे विश्वभावन गोविन्द! कौरवोंके बीचमें कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबलाकी रक्षा करो।'

वैशम्पायनजी कहते हैं—'हे जनमेजय! इस प्रकार त्रिलोकीके स्वामी हरि श्रीकृष्णका चिन्तन करती हुई द्रौपदी आँचलसे मुँह ढककर रोने लगी। द्रौपदीकी यह पुकार द्वारकामें श्रीकृष्णको सुनायी दी। वह आसन छोड़कर पैदल दौड़ पड़े।

कृष्णं च विष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः॥

(सभा० ६८। ४६)

'यज्ञसेनकुमारी द्रौपदी अपनी रक्षाके लिये श्रीकृष्ण, विष्णु, हरि और नर आदि भगवन्नामोंको ज़ोर-ज़ोरसे पुकार रही थी। उसी समय धर्मस्वरूप महात्मा श्रीकृष्णने अव्यक्तरूपसे उसके वस्त्रमें प्रवेश करके नाना प्रकारके सुन्दर वस्त्रोंके द्वारा उसे आच्छादित कर लिया।' दुःशासन साड़ी खींचता रहा, खींचते-खींचते वह थक गया, सभामें वस्त्रोंका अम्बार लग गया, पर द्रौपदी नग्न न हो सकी। सर्वसमर्थ भगवान्ने उसकी लाज बचा ली। यहाँ धर्मरूपमें भगवान् वासुदेवने वस्त्रावतार धारणकर अपनी भगवत्ता प्रकट की। भगवान् चाहे जैसे हो, अपने आर्त्त भक्तोंका त्राण करते हैं—यह शिक्षा इस घटनाके द्वारा भगवान् वासुदेवने जगत्को दी।

[वनपर्व]

वनमें श्रीकृष्णका दर्शन

महाराज युधिष्ठिरको दुबारा द्यूतमें फँसाकर शकुनिने पाण्डवोंको तेरह वर्षके लिये वनवास तथा तेरहवें वर्षका अज्ञातवास दे डाला। पाण्डव द्रौपदीको साथ लेकर वनमें चले गये। यह समाचार सुनकर भगवान् वासुदेवको आगे करके पाञ्चालकुमार धृष्टद्युम्न तथा चेदिराज धृष्टकेतु कौरवोंकी निन्दा करते हुए वनमें पाण्डवोंसे मिलनेके लिये गये। श्रीकृष्णने कहा—

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम्॥

(१२। ५)

राजाओ! जान पड़ता है कि अब पृथिवी दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि और चौथे दुःशासनका रक्तपान करेगी।' भगवान्को इस प्रकार आवेशमें देखकर अर्जुनने नारायणके अवतारकी पुरातन कथाका स्मरण कराते हुए कहा—

दश वर्षसहस्राणि यत्र सायंगृहो मुनिः।
व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने॥
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपो भक्षयन् पुरा॥
ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां मधुसूदन।
अतिष्ठ एकपादेन वायुभक्षः शतं समाः॥
अवकृष्टोत्तरासङ्गः कृशो धमनिसंततः।
आसीः कृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादशवार्षिके॥
प्रभासमप्यथासाद्य तीर्थं पुण्यजनोचितम्।
तथा कृष्ण महातेजा दिव्यं वर्षसहस्रकम्॥
अतिष्ठस्त्वमथैकेन पादेन नियमस्थितः।
लोकप्रवृत्तिहेतुस्त्वमिति व्यासो ममाब्रवीत्॥
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव।
निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः॥
निहत्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले।
प्रथमोत्पतितं कृष्ण मेध्यमश्वमवासृजः॥

कृत्वा तत् कर्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित् ।
अवधीस्त्वं रणे सर्वान् समेतान् दैत्यदानवान् ॥
ततः सर्वेश्वरत्वं च सम्प्रदाय शचीपतेः ।
मानुषेषु महाबाहो प्रादुर्भूतोऽसि केशव ॥
स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परंतप ।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ॥
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः ।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ॥
परायणं देवमूर्धा क्रतुभिर्मधुसूदन ।
अयजो भूरितेजा वै कृष्णचैत्ररथे वने ॥
शतं शतसहस्राणि सुवर्णस्य जनार्दन ।
एकैकस्मिंस्तदा यज्ञे परिपूर्णानि भागशः ॥
अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन ।
त्वं विष्णुरिति विख्यात इन्द्रादवरजो विभुः ॥
शिशुर्भूत्वा दिवं खं च पृथिवीं च परंतप ।
त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्ण क्रान्तवानसि तेजसा ॥
सम्प्राप्य दिवमाकाशमादित्यस्यन्दने स्थितः ।
अत्यरोचश्च भूतात्मन् भास्करं स्वेन तेजसा ॥
प्रादुर्भावसहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो ।
अधर्मरुचयः कृष्ण निहताः शतशोऽसुराः ॥
सादिता मौरवाः पाशा निसुन्दनरकौ हतौ ।
कृतः क्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥
जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालो जनैः सह ।
जरासंधश्च शैब्यश्च शतधन्वा च निर्जितः ॥
तथा पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
अवाप्सीर्महिषीं भोज्यां रणे निर्जित्य रुक्मिणम् ॥
इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद् यवनश्च कसेरुमान् ।
हतः सौभपतिः शाल्वस्त्वया सौभं च पातितम् ॥
एवमेते युधि हता भूयश्चान्याञ्छृणुष्व ह ।
इरावत्यां हतो भोजः कार्तवीर्यसमो युधि ॥
गोपतिस्तालकेतुश्च त्वया विनिहतावुभौ ।
तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां जनार्दन ॥
द्वारकामात्मसात् कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि ।
न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन ।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजु ॥
आसीनं चैत्यमध्ये त्वां दीप्यमानं स्वतेजसा ।
आगम्य ऋषयः सर्वेऽयाचन्ताभयमच्युत ॥
युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन ।
आत्मन्येवात्मसात् कृत्वा जगदासीः परंतप ॥
युगादौ तव वार्ष्णेय नाभिपद्मादजायत ।
ब्रह्मा चराचरगुरुर्यस्येदं सकलं जगत् ॥
तं हन्तुमुद्यतौ घोरौ दानवौ मधुकैटभौ ।
तयोर्व्यतिक्रमं दृष्ट्वा क्रुद्धस्य भवतो हरेः ॥
ललाटाज्जातवाञ्छम्भुः शूलपाणिस्त्रिलोचनः ।
इत्थं तावपि देवेशौ त्वच्छरीरसमुद्भवौ ॥
त्वन्नियोगकरावेताविति मे नारदोऽब्रवीत् ।
तथा नारायण पुरा क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥
इष्टवांस्त्वं महासत्रं कृष्ण चैत्ररथे वने ।
नैवं परे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा ॥
यानि कर्माणि देव त्वं बाल एव महाबलः ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान् ।
कैलासभवने चापि ब्राह्मणैर्न्यवसः सह ॥

(वन० १२ । ११-४३)

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें गन्धमादन पर्वतपर आपने यत्रसायंगृह[१] मुनिके रूपमें दस हजार वर्षोंतक विचरण किया है अर्थात् नारायण ऋषिके रूपमें निवास किया है । सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें कभी इस धराधाममें अवतीर्ण हो आपने ग्यारह हजार वर्षोंतक केवल जल पीकर रहते हुए पुष्करतीर्थमें निवास किया है । मधुसूदन ! आप विशालापुरीके बदरिकाश्रममें दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये केवल वायुका आहार करते हुए सौ वर्षोंतक एक पैरसे खड़े रहे हैं । कृष्ण ! आप सरस्वती नदीके तटपर उत्तरीय वस्त्रतकका त्याग करके द्वादशवार्षिक यज्ञ करते समय शरीरसे अत्यन्त दुर्बल हो गये थे । आपके सारे शरीरमें फैली हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं । गोविन्द ! आप पुण्यात्मा पुरुषोंके निवासयोग्य प्रभास-तीर्थमें जाकर लोगोंको तपमें प्रवृत्त करनेके लिये शौच-संतोषादि नियमोंमें स्थित हो महातेजस्वी स्वरूपसे एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक एक ही पैरसे खड़े रहे । ये सब बातें मुझसे श्रीव्यासजीने बतायी हैं । केशव ! आप क्षेत्रज्ञ (सबके आत्मा), सम्पूर्ण भूतोंके आदि और अन्त, तपस्याके अधिष्ठान, यज्ञ और सनातन पुरुष हैं । आप भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर अदितिके दोनों मणिमय कुण्डलोंको ले आये थे । एवं आपने ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होनेवाले यज्ञके उपयुक्त घोड़ेकी रचना की थी । सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पानेवाले आप लोकेश्वर प्रभुने वह कर्म करके सामना करनेके लिये आये हुए समस्त

१.—यत्रसायंगृह मुनि वे होते हैं, जो जहाँ सायंकाल हो जाता है, वहीं घरकी तरह रातभर निवास करते हैं ।

दैत्यों और दानवोंका युद्धस्थलमें वध किया। महाबाहु केशव ! तदनन्तर शचीपतिको सर्वेश्वर-पद प्रदान करके आप इस समय मनुष्योंमें प्रकट हुए हैं। परंतप ! पुरुषोत्तम ! आप ही पहले नारायण होकर फिर हरि-रूपमें प्रकट हुए। ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ, चराचर-गुरु तथा सृष्टिकर्ता एवं अजन्मा आप ही हैं।

मधुसूदन श्रीकृष्ण ! आपने चैत्ररथ वनमें अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। आप सबके उत्तम आश्रय, देवशिरोमणि और महातेजस्वी हैं। जनार्दन ! उस समय आपने प्रत्येक यज्ञमें पृथक्-पृथक् पूरी एक-एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणाके रूपमें दीं। यदुनन्दन ! आप अदितिके पुत्र तथा इन्द्रके छोटे भाई होकर सर्वव्यापी विष्णुके नामसे विख्यात हैं। परंतप श्रीकृष्ण ! आपने वामनावतारके समय छोटे-से बालक होकर भी अपने तेजसे तीन डगोंद्वारा द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक—तीनोंको नाप लिया। भूतात्मन् ! आपने सूर्यके रथपर स्थित हो द्युलोक और आकाशमें व्याप्त होकर अपने तेजसे भगवान् भास्करको भी अत्यन्त प्रकाशित किया है। विभो ! आपने सहस्रों अवतार धारण किये हैं और उन अवतारोंमें सैंकड़ों असुरोंका, जो अधर्ममें रुचि रखनेवाले थे, वध किया है। आपने मुर दैत्यके लोहमय पाश काट दिये, निसुन्द और नरकासुरको मार डाला। और प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग पुनः सकुशल यात्रा करने योग्य बना दिया। भगवन् ! आपने जारूथी नगरीमें आहुति, क्राथ, साथियोंसहित शिशुपाल, जरासंध, शैब्य और शतधन्वाको परास्त किया। इसी प्रकार मेघके समान घर्घर शब्द करनेवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी रथके द्वारा (कुण्डिनपुर जाकर) आपने रुक्मीको युद्धमें जीता और भोजवंशकी कन्या रुक्मिणीको अपनी पटरानीके रूपमें प्राप्त किया। प्रभो ! आपने क्रोधसे इन्द्रद्युम्नको मारा और यवनजातीय कसेरुमान् एवं सौभपति शाल्वको भी यमलोक पहुँचा दिया। साथ ही शाल्वके सौभ विमानको भी छिन्न-भिन्न करके धरतीपर गिरा दिया। इस प्रकार इन (पूर्वोक्त) राजाओंको आपने युद्धमें मारा है। अब आपके द्वारा मारे हुए औरोंके भी नाम सुनिये। इरावतीके तटपर आपने कार्तवीर्य अर्जुनके सदृश पराक्रमी भोजको युद्धमें मार गिराया। गोपति और तालकेतु—ये दोनों भी आपके ही हाथसे मारे गये। जनार्दन ! भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न तथा ऋषि-मुनियोंकी प्रिय अपने अधीन की हुई पुण्यमयी द्वारका नगरीको आप अन्तमें समुद्रमें विलीन कर देंगे।

मधुसूदन ! वास्तवमें आपमें न तो क्रोध है, न डाह है, न असत्य है न निर्दयता ही है। दाशार्ह ! फिर आपमें कठोरता तो हो ही कैसे सकती है। अच्युत ! महलके मध्यभागमें बैठे और अपने तेजसे उद्भासित हुए आपके पास आकर सम्पूर्ण ऋषियोंने अभयकी याचना की। परंतप मधुसूदन ! प्रलयकालमें समस्त भूतोंका संहार करके इस जगत्को स्वयं ही अपने भीतर रखकर आप अकेले ही रहते हैं। वार्ष्णेय ! सृष्टिके प्रारम्भकालमें आपके नाभिकमलसे चराचरके पिता ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिनका रचा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् है। (उसी समय) दो भयंकर दानव मधु और कैटभ उनके प्राण लेनेको उद्यत हो गये। उनका यह अत्याचार देखकर क्रोधमें भरे हुए आप श्रीहरिके ललाटसे भगवान् शंकरका प्रादुर्भाव हुआ, जिनके हाथोंमें त्रिशूल शोभा पा रहा था। उनके तीन नेत्र थे। इस प्रकार वे दोनों देवेश्वर ब्रह्मा और शिव आपके ही शरीरसे उत्पन्न हुए हैं। वे दोनों आपकी ही आज्ञाका पालन करनेवाले हैं, यह बात मुझे नारदजीने बतलायी थी। नारायण श्रीकृष्ण ! इसी प्रकार पूर्वकालमें चैत्ररथ वनके भीतर आपने प्रचुर दक्षिणाओंसे सम्पन्न अनेक यज्ञों तथा महासत्रका अनुष्ठान किया था। भगवान् पुण्डरीकाक्ष ! आप महान् बलवान् हैं। बलदेवजी आपके नित्य सहायक हैं। आपने बचपनमें ही जो-जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती पुरुषोंने न तो किया है और न करेंगे। आप ब्राह्मणोंके साथ कुछ कालतक कैलास पर्वतपर भी रहे हैं।

एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः।
तूष्णीमासीत् ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः॥
ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु॥

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च ।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥
(वन० १२ । ४४-४७)

वैशम्पायनजी कहते हैं—श्रीकृष्णके आत्मस्वरूप पाण्डुनन्दन अर्जुन उन महात्मासे यों कहकर चुप हो गये । तब भगवान् जनार्दनने कुन्तीकुमारसे इस प्रकार कहा—'पार्थ ! तुम मेरे ही हो, मैं तुम्हारा ही हूँ । जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं । जो तुमसे द्वेष रखता है, वह मुझसे भी रखता है । जो तुम्हारे अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है । दुर्धर्ष वीर ! तुम नर हो और मैं नारायण 'श्रीहरि' हूँ । इस समय हम दोनों नर-नारायण ऋषि ही इस लोकमें आये हैं । कुन्तीकुमार ! तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे पृथक् नहीं हूँ । भरतश्रेष्ठ ! हम दोनोंका भेद जाना नहीं जा सकता ।'

यहाँ पुनः व्यासजीने स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे नर-नारायण-तत्त्वकी एकताको स्पष्ट करा दिया है । अस्तु ! इन लोगोंकी बात चल ही रही थी कि इतनेमें पाञ्चालकुमारी कृष्णा वहाँ आ गयी । वस्तुतः कृष्ण-भक्ता कृष्णाके प्रति कौरवसभामें किये गये दुर्व्यवहारसे भगवान् वासुदेवका हृदय बड़ा ही व्यथित हो गया था । वे बहुत क्षुब्ध थे । द्रौपदीको भगवान् वासुदेवका बहुत बड़ा भरोसा था । श्रीकृष्णमें उसकी अनन्य भक्ति थी । एक सम्राट्की धर्मपत्नी कृष्णाका कौरवोंकी सभामें जो अपमान हुआ था, भरी सभामें जो उसको नग्न करनेकी कुचेष्टा दुःशासनने की थी, दुर्योधन और कर्णने जो अपमानजनक शब्दोंसे उसको तिरस्कृत किया था, उससे उस क्षत्राणीका हृदय अत्यन्त व्यथित हो रहा था । वह केवल सम्राज्ञी ही नहीं थी, शक्तिशाली पाञ्चालराजकी एकलौती कन्या थी, अर्जुन और भीम-जैसे वीरोंकी पत्नी थी, धृष्टद्युम्न-जैसे महाधनुर्धरकी भगिनी थी । श्रीकृष्ण उसके सखा और संरक्षक थे । फिर भी द्रौपदीका इतना भयानक अपमान ! क्या भगवान् वासुदेव इसे सहन कर सकते थे ? आनेवाली घटनाओंसे इस प्रश्नका उत्तर मिल जायगा ।

श्रीकृष्णके सामने आते ही द्रौपदी बोली—

ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः ।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव ॥
द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो ।
जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥
विद्यातपोऽभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम् ।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणामसि सत्तमः ॥
राजर्षीणां पुण्यकृतामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।
सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषर्षभ ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे ॥
लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥
(वन० १२ । ५४-५९)

द्रौपदीने कहा—प्रभो ! ऋषिलोग प्रजासृष्टिके प्रारम्भकालमें एकमात्र आपको ही सम्पूर्ण जगत्का स्रष्टा एवं प्रजापति कहते हैं । महर्षि असित-देवलने यही कहा है । दुर्द्धर्ष मधुसूदन ! आप ही विष्णु हैं, आप ही यज्ञ हैं, आप ही यजमान हैं और आप ही यजन करने योग्य श्रीहरि हैं, जैसा कि जमदग्निनन्दन परशुरामका कथन है । पुरुषोत्तम ! महर्षिगण आपको क्षमा और सत्यका स्वरूप कहते हैं । कश्यपजीका कहना है कि सत्यसे प्रकट हुए यज्ञ भी आप ही हैं । भूतभावन भूतेश्वर ! आप साध्यदेवताओं तथा कल्याणकारी रुद्रोंके अधीश्वर हैं । नारदजीने आपके विषयमें यही विचार प्रकट किया है । नरश्रेष्ठ ! जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार आप ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र आदि देवताओंसे बारंबार क्रीड़ा करते रहते हैं । प्रभो ! स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और पृथ्वी आपके चरणोंसे व्याप्त है । ये सब लोक आपके उदरस्वरूप हैं । आप सनातन पुरुष हैं । विद्या और तपस्यासे सम्पन्न तथा तपके द्वारा शोधित अन्तःकरणवाले आत्मज्ञानसे तृप्त महर्षियोंमें आप ही परम श्रेष्ठ हैं । पुरुषोत्तम ! युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले, सम्पूर्ण धर्मोंसे सम्पन्न पुण्यात्मा

राजर्षियोंके आप ही प्राप्तव्य हैं। आप ही प्रभु (सबके स्वामी), आप ही विभु (सर्वव्यापी), आप ही समस्त प्राणियोंके रूपमें नाना प्रकारकी चेष्टाएँ कर रहे हैं। लोक, लोकपाल, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य—सभी आपमें प्रतिष्ठित हैं। महाबाहो! भूलोकके प्राणियोंकी मृत्युपरवशता, देवताओंकी अमरता तथा सम्पूर्ण जगत्का कार्य सब कुछ आपमें ही प्रतिष्ठित है।

द्रौपदीने रोते हुए फिर कहा—

सा तेऽहं दुःखमाख्यास्ये प्रणयान्मधुसूदन।
ईशस्त्वं सर्वभूतानां ये दिव्या ये च मानुषाः॥
कथं नु भार्या पार्थानां तव कृष्ण सखी विभो।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी॥
स्त्रीधर्मिणी वेपमाना शोणितेन समुक्षिता।
एकवस्त्रा विकृष्टास्मि दुःखिता कुरुसंसदि॥
राज्ञां मध्ये सभायां तु रजसातिपरिप्लुता।
दृष्ट्वा च मां धार्तराष्ट्रा प्राहसन् पापचेतसः॥
दासीभावेन मां भोक्तुमीषुस्ते मधुसूदन।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेषु च वृष्णिषु॥
नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात्॥
(वन० १२। ६०–६५)

'मधुसूदन! मैं आपके प्रति प्रेम होनेके कारण आपसे अपना दुःख निवेदन करूँगी; क्योंकि दिव्य और मानवजगत्में जितने भी प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर आप ही हैं। भगवान् कृष्ण! मेरी-जैसी स्त्री, जो कुन्तीपुत्रोंकी पत्नी, आपकी सखी और धृष्टद्युम्न-जैसे वीरकी बहिन हो, क्या किसी तरह सभामें (केश पकड़कर) घसीटकर लायी जा सकती है? मैं रजस्वला थी, मेरे कपड़ोंपर रक्तके छींटे लगे थे, शरीरपर एक ही वस्त्र था और (लज्जा एवं भयसे) मैं थर-थर काँप रही थी। उस दशामें मुझ दुःखिनी अबलाको कौरवोंकी सभामें घसीटकर लाया गया था। भरी सभामें राजाओंकी मण्डलीके बीच अत्यन्त रजस्राव होनेके कारण मैं रक्तसे भीगी जा रही थी। उस अवस्थामें मुझे देखकर धृतराष्ट्रके पापात्मा पुत्रोंने जोर-जोरसे हँसकर मेरी खिल्ली उड़ायी। मधुसूदन! पाण्डवों, पाञ्चालों और वृष्णिवंशी वीरोंके जीते-जी धृतराष्ट्रके पुत्रोंने दासीभावसे मेरा उपभोग करनेकी इच्छा प्रकट की। श्रीकृष्ण! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्रवधू हूँ, तो भी (उनके सामने ही) बलपूर्वक दासी बनायी गयी।' द्रौपदी अत्यन्त आर्त हो गयी और फिर बोली—

कचग्रहमनुप्राप्ता सास्मि कृष्ण वरा सती।
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां प्रेक्षतां मधुसूदन॥
(वन० १२। १२१)

'हे मधुसूदन! हे कृष्ण! मैं श्रेष्ठ और सती-साध्वी होती हुई भी पाँचों पाण्डवोंके देखते-देखते केश पकड़ कर घसीटी गयी।'

—इतना कहकर पाञ्चाली कान्तिमान् तथा कोमल हाथोंसे मुँह ढककर फूट-फूटकर रोने लगी। क्रोधावेशमें बार-बार सिसकती और आँसू पोंछती हुई फिर बोली—

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च बान्धवाः।
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं मधुसूदन॥
(वन० १२। १२५)

'हे मधुसूदन! मेरे लिये न पति हैं न पुत्र हैं, न बन्धु हैं न भाई हैं, न पिता हैं और न तुम हो!'

द्रौपदीको इस प्रकार कौरवोंके अपमानसे मर्माहत देखकर भक्तवत्सल भगवान् वासुदेवका हृदय द्रवित हो उठा। वे बोले—'कृष्णे! तुम्हारे साथ जिन्होंने ऐसा दुर्व्यवहार किया है, उनकी भी स्त्रियाँ अपने पतियोंको अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न, रक्तसे आप्लुत पृथ्वीपर पड़ा देखकर रोयेंगी। शोक न करो, मैं पाण्डवोंके लिये सब कुछ कर सकता हूँ। कृष्णे! आसमान फट जाय, हिमालय विदीर्ण हो जाय, पृथ्वी टुकड़ी-टुकड़ी हो जाय, समुद्र सूख जाय—पर मेरी बात अन्यथा नहीं हो सकती। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम पुनः महारानी बनोगी।' अर्जुनने इसका समर्थन करते हुए कहा—'सुभगे! मत रोओ। भगवान् मधुसूदन जो कह रहे हैं, वह अवश्य होकर रहेगा।' धृष्टद्युम्नने कहा—'बहिन! मैं द्रोणको मारूँगा, शिखण्डी भीष्मका वध करेंगे, भीमसेन दुर्योधनको मार गिरायेंगे और अर्जुन कर्णको यमलोक भेज देंगे।'

—इस प्रकार आगे होनेवाले महाभारतके युद्धके परिणामको भगवान् मधुसूदनने धृष्टद्युम्नके मुखसे कहला

कर अपनी प्रिय सखी कृष्णाके दग्ध हृदयको मानो अमृत-वारिसे सिञ्चित कर दिया। पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा कि 'शिशुपालकी मृत्युके बाद उसका भाई शाल्व अपने भाईकी मृत्युका बदला लेनेके लिये द्वारकापर अपनी महती सेना लेकर चढ़ आया। मैं उसीसे युद्ध करता रहा। वह बड़ा पराक्रमी था, सैन्यशक्ति भी उसकी बढ़ी-चढ़ी थी। इसलिये युद्धमें उसको परास्त करके उसका वध करनेमें बहुत समय लग गया। इस युद्धमें फँसे रहनेके कारण ही मैं हस्तिनापुर न आ सका। नहीं तो निमन्त्रणके बिना भी मैं वहाँ आता और आपको जुआ खेलनेसे रोकता।'

भगवान्‌के शब्द सुनकर द्रौपदीका चित्त शान्त हो गया।

मार्कण्डेयजीके द्वारा श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन

वनमें धर्मराज युधिष्ठिरके पूछनेपर महामुनि मार्कण्डेयजीने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका गान करते हुए कहा—

हन्त ते वर्णयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयम्भुवे।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययायच॥
अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने।
स एष पुरुषव्याघ्र पीतवासा जनार्दनः॥
एष कर्ता विकर्ता च भूतात्मा भूतकृत् प्रभुः।
अचिन्त्यं महदाश्चर्यं पवित्रमिति चोच्यते॥
अनादिनिधनं भूतं विश्वमव्ययमक्षयम्।
एष कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे॥
यद्येष पुरुषो वेद वेदा अपि न तं विदुः।
सर्वमाश्चर्यमेवैतन्निर्वृत्तं राजसत्तम॥
आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये।

(वन० १८८। १७—२१½)

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! मैं स्वयं प्रकट होनेवाले सनातन, अविनाशी, अव्यक्त, अत्यन्त सूक्ष्म, निर्गुण एवं गुणस्वरूप पुराणपुरुषको नमस्कार करके तुम्हें वह कथा (अभी) सुनाता हूँ। पुरुषसिंह! ये जो हमलोगोंके पास बैठे हुए पीताम्बरधारी भगवान् जनार्दन हैं, ये ही संसारकी सृष्टि और संहार करनेवाले हैं। ये ही भगवान् समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी आत्मा और उनके रचयिता हैं। ये पवित्र, अचिन्त्य एवं महान् आश्चर्यमय तत्त्व कहे जाते हैं। इनका न आदि है न अन्त। ये सर्वभूत-स्वरूप, अव्यय और अक्षय हैं। ये ही सबके कर्ता हैं, इनका कोई कर्ता नहीं है। पुरुषार्थकी प्राप्तिमें भी ये ही कारण हैं। ये अन्तर्यामी आत्मा होनेसे सबको जानते हैं, परंतु इन्हें वेद भी नहीं जानते। नृपशिरोमणे! पुरुषश्रेष्ठ! सम्पूर्ण जगत्‌का प्रलय होनेके पश्चात् इन आदिभूत परमेश्वरसे ही यह सम्पूर्ण आश्चर्यमय जगत् पुनः उत्पन्न हो जाता है।

तदनन्तर मार्कण्डेयजीने प्राचीन इतिहास सुनाया—

एकार्णवे जले घोरे विचरन् पार्थिवोत्तम।
अपश्यन् सर्वभूतानि वैक्लव्यमगमं ततः॥
ततः सुदीर्घं गत्वाहं प्लवमानो नराधिप।
श्रान्तः क्वचिन्न शरणं लभाम्यहमतन्द्रितः॥
ततः कदाचित् पश्यामि तस्मिन् सलिलसंचये।
न्यग्रोधं सुमहान्तं वै विशालं पृथिवीपते॥
शाखायां तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णायां नराधिप।
पर्यङ्के पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसंस्तृते॥
उपविष्टं महाराज पद्मेन्दुसदृशाननम्।
फुल्लपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत॥
ततो मे पृथिवीपाल विस्मयः सुमहानभूत्।
कथं त्वयं शिशुः शेते लोके नाशमुपागते॥
तपसा चिन्तयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानन्नपि नराधिप॥
अतसीपुष्पवर्णाभः श्रीवत्सकृतभूषणः।
साक्षाल्लक्ष्म्या इवावासः स तदा प्रतिभाति मे॥
ततो मामब्रवीद् बालः स पद्मनिभलोचनः।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् वाक्यं श्रुतिसुखावहम्॥
जानामि त्वां परिश्रान्तं ततो विश्रामकाङ्क्षिणम्।
मार्कण्डेय इहास्स्व त्वं यावदिच्छसि भार्गव॥
अभ्यन्तरं शरीरे मे प्रविश्य मुनिसत्तम।
आस्स्व भो विहितो वासः प्रसादस्ते कृतो मया॥
ततो बालेन तेनैवमुक्तस्यासीत् तदा मम।
निर्वेदो जीविते दीर्घे मनुष्यत्वे च भारत॥
ततो बालेन तेनास्यं सहसा विवृतं कृतम्।
तस्याहमवशो वक्त्रे दैवयोगात् प्रवेशितः॥
ततः प्रविष्टस्तत्कुक्षिं सहसा मनुजाधिप।
सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम्॥
गङ्गां शतद्रुं सीतां च यमुनामथ कौशिकीम्।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं चन्द्रभागां सरस्वतीम्॥
सिन्धुं चैव विपाशां च नदीं गोदावरीमपि।
वस्वोकसारां नलिनीं नर्मदां चैव भारत॥

नदीं ताम्रां च वेणां च पुण्यतोयां शुभावहाम् ।
सुवेणां कृष्णवेणां च इरामां च महानदीम् ॥
वितस्तां च महाराज कावेरीं च महानदीम् ।
शोणं च पुरुषव्याघ्र विशल्यां किम्पुनामपि ॥
एताश्चान्याश्च नद्योऽहं पृथिव्यां या नरोत्तम ।
परिक्रामन् प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥
ततः समुद्रं पश्यामि यादोगणनिषेवितम् ।
रत्नाकरममित्रघ्न पयसो निधिमुत्तमम् ॥
तत्र पश्यामि गगनं चन्द्रसूर्यविराजितम् ।
जाज्वल्यमानं तेजोभिः पावकार्कसमप्रभम् ॥
पश्यामि च महीं राजन् काननैरुपशोभिताम् ।
(सपर्वतवनद्वीपां निमग्नाशतसंकुलाम् ।)
यजन्ते हि तदा राजन् ब्राह्मणा बहुभिर्मखैः ॥
क्षत्रियाश्च प्रवर्तन्ते सर्ववर्णानुरञ्जनैः ।
वैश्याः कृषिं यथान्यायं कारयन्ति नराधिप ॥
शुश्रूषायां च निरता द्विजानां वृषलास्तदा ।
ततः परिपतन् राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥
हिमवन्तं च पश्यामि हेमकूटं च पर्वतम् ।
निषधं चापि पश्यामि श्वेतं च रजतान्वितम् ॥
पश्यामि च महीपाल पर्वतं गन्धमादनम् ।
मन्दरं मनुजव्याघ नीलं चापि महागिरिम् ॥
पश्यामि च महाराज मेरुं कनकपर्वतम् ।
महेन्द्रं चैव पश्यामि विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम् ॥
मलयं चापि पश्यामि पारियात्रं च पर्वतम् ।
एते चान्ये च बहवो यावन्तः पृथिवीधराः ॥
तस्योदरे मया दृष्टाः सर्वे रत्नविभूषिताः ।
सिंहान् व्याघ्रान् वराहांश्च पश्यामि मनुजाधिप ॥
पृथिव्यां यानि चान्यानि सत्त्वानि जगतीपते ।
तानि सर्वाण्यहं तत्र पश्यन् पर्यचरं तदा ॥
कुक्षौ तस्य नरव्याघ्र प्रविष्टः संचरन् दिशः ।
शक्रादींश्चापि पश्यामि कृत्स्नान् देवगणानहम् ॥
साध्यान् रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान् गुह्यकान् पितरस्तदा ।
सर्पान् नागान् सुपर्णांश्च वसूनप्यश्विनावपि ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव महीपते ।
दैत्यदानवसङ्घांश्च नागांश्च मनुजाधिप ॥
सिंहिकातनयांश्चापि ये चान्ये सुरशत्रवः ।
यच्च किंचिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥
सर्वं पश्याम्यहं राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ।
चरमाणः फलाहारः कृत्स्नं जगदिदं विभो ॥
अन्तःशरीरे तस्याहं वर्षाणामधिकं शतम् ।
न च पश्यामि तस्याहं देहस्यान्तं कदाचन ॥
सततं धावमानश्च चिन्तयानो विशाम्पते ।
(भ्रमंस्तत्र महीपाल यदा वर्षगणान् बहून् ।)
आसादयामि नैवान्तं तस्य राजन् महात्मनः ॥
ततस्तमेव शरणं गतोऽस्मि विधिवत् तदा ।
वरेण्यं वरदं देवं मनसा कर्मणैव च ॥
ततोऽहं सहसा राजन् वायुवेगेन निस्सृतः ।
महात्मनो मुखात् तस्य विवृतात् पुरुषोत्तम ॥
ततस्तस्यैव शाखायां न्यग्रोधस्य विशाम्पते ।
आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वै जगत् ॥
तेनैव बालवेषेण श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
आसीनं तं नरव्याघ्र पश्याम्यमिततेजसम् ॥
ततो मामब्रवीद् बालः स प्रीतः प्रहसन्निव ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् पीतवासा महाद्युतिः ॥
अपीदानीं शरीरेऽस्मिन् मामके मुनिसत्तम ।
उषितस्त्वं सुविश्रान्तो मार्कण्डेय ब्रवीहि मे ॥
मुहूर्तादथ मे दृष्टिः प्रादुर्भूता पुनर्नवा ।
यया निर्मुक्तमात्मानमपश्यं लब्धचेतसम् ॥
तस्य ताम्रतलौ तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।
सुजातौ मृदुरक्ताभिरङ्गुलीभिर्विराजितौ ॥
प्रयत्नेन मया मूर्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिवन्दितौ ।
दृष्ट्वा परिमितं तस्य प्रभावममितौजसः ॥
विनयेनाञ्जलिं कृत्वा प्रयत्नेनोपगम्य ह ।
दृष्टो मया स भूतात्मा देवः कमललोचनः ॥
तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा नमस्कृत्येदमब्रवम् ।
ज्ञातुमिच्छामि देव त्वां मायां चैतां तवोत्तमाम् ॥
आस्येनानुप्रविष्टोऽहं शरीरे भगवंस्तव ।
दृष्टवानखिलान् सर्वान् समस्ताञ्जठरे हि ते ॥
तव देव शरीरस्था देवदानवराक्षसाः ।
यक्षगन्धर्वनागाश्च जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥
त्वत्प्रसादाच्च मे देव स्मृतिर्न परिहीयते ।
द्रुतमन्तःशरीरे ते सततं परिवर्तिनः ॥
निर्गतोऽहमकामस्तु इच्छया ते महाप्रभो ।
इच्छामि पुण्डरीकाक्ष ज्ञातुं त्वाहमनिन्दितम् ॥
इह भूत्वा शिशुः साक्षात् किं भवानवतिष्ठते ।
पीत्वा जगदिदं सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि ॥
किमर्थं च जगत् सर्वं शरीरस्थं तवानघ ।
कियन्तं च त्वया कालमिह स्थेयमरिंदम ॥
एतदिच्छामि देवेश श्रोतुं ब्राह्मणकाम्यया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम् ॥
महद्ध्येतदचिन्त्यं च यदहं दृष्टवान् प्रभो ।
इत्युक्तः स मया श्रीमान् देवदेवो महाद्युतिः ।
सान्त्वयन् मामिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥

(वन १८८ । ८८—१४३)

"नृपश्रेष्ठ ! एकार्णवके उस भयंकर जलमें विचरते

हुए जब मैंने किसी भी प्राणीको नहीं देखा, तब मुझे बड़ी व्याकुलता हुई। नरेश्वर! उस समय आलस्यशून्य होकर सुदीर्घकालतक तैरता हुआ मैं दूर जाकर बहुत थक गया। परंतु कहीं भी मुझे कोई आश्रय नहीं मिला। राजन्! तदनन्तर एक दिन एकार्णवकी उस (अगाध) जलराशिमें मैंने एक बहुत विशाल बरगदका वृक्ष देखा। नराधिप! उस वृक्षकी चौड़ी शाखापर एक पलंग था, जिसके ऊपर दिव्य बिछौने बिछे हुए थे। महाराज! उस पलंगपर एक सुन्दर बालक बैठा हुआ दिखायी दिया, जिसका मुख कमलके समान कमनीय शोभा धारण करनेवाला तथा चन्द्रमाके समान नेत्रोंको आनन्द देनेवाला था। उसके नेत्र प्रफुल्ल पद्मदलके समान विशाल थे। पृथ्वीनाथ! उसे देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। मैं सोचने लगा—'सारे संसारके नष्ट हो जानेपर भी यह बालक यहाँ कैसे सो रहा है?' नरेश्वर! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंका ज्ञाता होनेपर भी तपस्यासे भलीभाँति चिन्तन करता (ध्यान लगाता) रहा; तो भी उस शिशुके विषयमें कुछ न जान सका। उसकी अङ्गकान्ति अलसीके फूलकी भाँति श्याम थी। उसका वक्षःस्थल श्रीवत्स-चिह्नसे विभूषित था। वह उस समय मुझे साक्षात् लक्ष्मीका निवासस्थान-सा प्रतीत होता था। (मुझे विस्मयमें पड़ा देख) कमलके समान नेत्रवाले उस श्रीवत्सधारी कान्तिमान् बालकने मुझसे इस प्रकार श्रवण-सुखद वचन कहा—

"भृगुवंशी मार्कण्डेय! मैं जानता हूँ कि तुम बहुत थक गये हो और विश्राम चाहते हो। तुम्हारी जबतक इच्छा हो यहाँ बैठो। मुनिश्रेष्ठ! मैंने तुमपर कृपा की है। तुम मेरे शरीरके भीतर प्रवेश करके विश्राम करो। वहाँ तुम्हारे रहनेके लिये व्यवस्था की गयी है।' उस बालकके यों कहनेपर उस समय मुझे अपने दीर्घजीवन और मानव-शरीरपर बड़ा खेद और वैराग्य हुआ। तदनन्तर उस बालकने सहसा अपना मुख खोला और मैं दैवयोगसे परवशकी भाँति उसमें प्रवेश-कर गया। राजन्! उसमें प्रवेश करते ही मैं सहसा उस बालकके उदरमें जा पहुँचा। वहाँ मुझे समस्त राष्ट्रों और नगरोंसे भरी हुई यह सारी पृथ्वी दिखायी दी। नरश्रेष्ठ! फिर तो मैं उस महात्मा बालकके उदरमें घूमने लगा। घूमते हुए मैंने वहाँ गङ्गा, सतलज, सीता, यमुना, कोसी, चम्बल, वेत्रवती, (बेतवा), चन्द्रभागा, सरस्वती, सिन्धु, व्यास, गोदावरी, वस्वोकसारा, नलिनी, नर्मदा, ताम्रपर्णी, वेणा, शुभदायिनी पुण्यतोया, सुवेणा, और ऊँचा कृष्णवेणा, महानदी इरामा, वितस्ता (झेलम), महानदी कावेरी, शोणभद्र, विशल्या तथा किम्पुना—इन सबको तथा इस पृथ्वीपर जो अन्य नदियाँ हैं, उनको भी देखा। शत्रुसूदन! इसके बाद जल-जन्तुओं-से भरे हुए अगाध जलके भंडार परम उत्तम रत्नाकर समुद्रको भी देखा। वहीं मुझे चन्द्रमा और सूर्यसे सुशोभित आकाशमण्डल दिखायी दिया, जो अनन्त तेजसे प्रज्वलित तथा अग्नि एवं सूर्यके समान देदीप्यमान था। राजन्! वहाँकी भूमि विविध काननोंसे सुशोभित, पर्वत, वन और द्वीपोंसे उपलक्षित तथा सैंकड़ों सरिताओंसे संयुक्त दिखायी देती थी। ब्राह्मण-लोग नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान् यज्ञपुरुष-की आराधना करते थे। नरेश्वर! क्षत्रिय राजा सब वर्णोंकी प्रजाका अनुरञ्जन करते—सबको सुखी और प्रसन्न रखते थे। वैश्य न्यायपूर्वक खेतीका काम और व्यापार करते थे। शूद्र तीनों द्विजातियोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे। राजन्! (यह सब देखते हुए) जब मैं उस महात्मा बालकके उदरमें भ्रमण करता आगे बढ़ा, तब हिमालय, हेमकूट, निषध, रजतयुक्त श्वेतगिरि, गन्धमादन, मन्दराचल, महागिरि नील, सुवर्णमय पर्वत सुमेरु, महेन्द्र, उत्तम विन्ध्यगिरि, मलय तथा पारियात्र पर्वत देखे। ये तथा और भी बहुत-से पर्वत मुझे उस बालकके उदरमें दिखायी दिये। वे सब-के-सब नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे। राजन्! वहाँ घूमते हुए मैंने सिंह, व्याघ्र और वाराह आदि पशु भी देखे। पृथ्वीपते! भूमण्डलमें जितने प्राणी हैं, उन सबको देखते हुए मैं उस समय उस बालकके उदरमें विचरता रहा। नरश्रेष्ठ! उस शिशुके उदरमें प्रविष्ट हो सम्पूर्ण दिशाओं-में भ्रमण करते हुए मुझे इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंके भी दर्शन हुए। पृथ्वीपते! साध्य, रुद्र, आदित्य,

गुह्यक, पितर, सर्प, नाग, सुपर्ण, (आठो) वसु, दोनों अश्विनीकुमार, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष तथा ऋषियोंका भी मैंने दर्शन किया। दैत्य-दानव-समूह, नाग, सिंहिकाके पुत्र (राहु आदि) तथा अन्य देवशत्रुओंको भी देखा। राजन्! इस लोकमें मैंने जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ देखे थे, वे सब मुझे उस महात्माकी कुक्षिमें दृष्टिगोचर हुए। महाराज! मैं प्रतिदिन फलाहार करता और इस सम्पूर्ण जगत्‌में घूमता रहता। उस बालकके शरीरके भीतर मैं सौ वर्षसे अधिक कालतक घूमता रहा, तो भी कभी उसके शरीरका अन्त नहीं दिखायी दिया। युधिष्ठिर! मैं निरन्तर दौड़ लगाता और चिन्तामें पड़ा रहता था। महाराज! जब बहुत वर्षोंतक भ्रमण करनेपर भी उस महात्माके शरीरका अन्त नहीं मिला, तब मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा उन वरदायक एवं वरेण्य देवताकी ही विधिपूर्वक शरण ली। पुरुषरत्न युधिष्ठिर! उनकी शरण लेते ही मैं वायुके समान वेगसे उक्त महात्मा बालकके खुले हुए मुखकी राहसे सहसा बाहर निकल आया।

'नरश्रेष्ठ राजन्! बाहर आकर देखा कि उसी बरगदकी शाखापर उसी बालवेषसे सम्पूर्ण जगत्‌को अपने उदरमें लेकर श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित वह अमित तेजस्वी बालक (पूर्ववत्) बैठा हुआ है। तब महातेजस्वी पीताम्बरधारी श्रीवत्सभूषित कान्तिमान् उस बालकने प्रसन्न होकर मानो हँसते हुए मुझसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय! क्या तुम मेरे इस शरीरमें रहकर विश्राम कर चुके? मुझे बताओ।' फिर (तो) दो ही घड़ीमें मुझे एक नवीन दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे मैं अपने आपको मायासे मुक्त और सचेत अनुभव करने लगा। तात! तदनन्तर मैंने कोमल और लाल रंगकी अँगुलियोंसे सुशोभित लाल-लाल तलवेवाले उस बालकके सुन्दर एवं सुप्रतिष्ठित चरणोंको प्रयत्नपूर्वक पकड़कर उन्हें अपने मस्तकसे प्रणाम किया। उस अमित-तेजस्वी शिशुका अनन्त प्रभाव देखकर मैं यत्नपूर्वक उसके समीप गया और विनीतभावसे हाथ जोड़कर सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा उस कमलनयन देवताका दर्शन किया। फिर हाथ जोड़े नमस्कार करके मैंने उससे इस प्रकार कहा—

'देव! मैं आपको और आपकी इस उत्तम मायाको जानना चाहता हूँ। भगवन्! मैंने आपके मुखकी राहसे शरीरमें प्रवेश करके आपके उदरमें समस्त सांसारिक पदार्थोंका अवलोकन किया है। देव! आपके शरीरमें देवता, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नाग तथा समस्त स्थावर-जङ्गमरूप जगत् विद्यमान है। प्रभो! आपकी कृपासे आपके शरीरके भीतर निरन्तर शीघ्र गतिसे घूमते रहनेपर भी मेरी स्मरणशक्ति नष्ट नहीं हुई है। महाप्रभो! मैं अपनी अभिलाषा न रहनेपर भी केवल आपकी इच्छासे बाहर निकल आया हूँ। कमलनयन! आप सर्वगुणसम्पन्न देवताको मैं जानना चाहता हूँ। आप इस सम्पूर्ण जगत्‌को उदरस्थ करके यहाँ साक्षात् बालकवेषमें क्यों विराजमान हैं? यह सब बतानेकी कृपा करें। अनघ! यह सारा संसार आपके शरीरमें किसलिये स्थित है? शत्रुदमन! आप कितने समयतक यहाँ इस रूपमें रहेंगे? देवेश्वर! कमलनयन! ब्राह्मणमें जो सहज जिज्ञासा होती है, उससे प्रेरित होकर मैं आपसे ये सब बातें यथार्थरूपमें विस्तारसे सुनना चाहता हूँ। प्रभो! मैंने जो कुछ देखा है, यह अगाध और अचिन्त्य है।'

मेरे इस प्रकार पूछनेपर वे वक्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी देवाधिदेव श्रीभगवान् मुझे सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले—

देव उवाच

कामं देवा अपि न मां विप्र जानन्ति तत्त्वतः।
त्वत्प्रीत्या तु प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम्॥
पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे मां चैव शरणं गतः।
ततो दृष्टोऽसि ते साक्षाद् ब्रह्मचर्यं च ते महत्॥
अपां नारा इति पुरा संज्ञाकर्म कृतं मया।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत् त्वयनं सदा॥
अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा॥
अहं शिवश्च सोमश्च कश्यपोऽथ प्रजापतिः।
अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाहं द्विजोत्तम॥
अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने।
द्यौर्मूर्धा खं दिशः श्रोत्रे तथापः स्वेदसम्भवाः॥

सदिशं च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः।
मया क्रतुशतैरिष्टं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः॥
यजन्ते वेदविदुषो मां देवयजने स्थितम्।
पृथिव्यां क्षत्रियेन्द्राश्च पार्थिवाः स्वर्गकाङ्क्षिणः॥
यजन्ते मां तथा वैश्याः स्वर्गलोकजिगीषया।
चतुस्समुद्रपर्यन्तां मेरुमन्दरभूषणाम्॥
शेषो भूत्वाहमेवैतां धारयामि वसुन्धराम्।
वाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा॥
मज्जमाना जले विप्र वीर्येणासीत् समुद्धृता।
अग्निश्च वडवावक्त्रो भूत्वाहं द्विजसत्तम॥
पिबाम्यपः सदा विद्वंस्ताश्चैवं विसृजाम्यहम्।
ब्रह्मवक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संस्थिता विशः॥
पादौ शूद्रा भवन्तीमे विक्रमेण क्रमेण च।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः॥
मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च।
यतयः शान्तिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः॥
कामक्रोधद्वेषमुक्ता निस्सङ्गा वीतकल्मषाः।
सत्त्वस्था निरहंकारा नित्यमध्यात्मकोविदाः॥
मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्त उपासते।
अहं संवर्तको वह्निरहं संवर्तकोऽनलः॥
अहं संवर्तकः सूर्यस्त्वहं संवर्तकोऽनिलः।
तारारूपाणि दृश्यन्ते यान्येतानि नभस्तले॥
मम वै रोमकूपाणि विद्धि त्वं द्विजसत्तम।
रत्नाकराः समुद्राश्च सर्व एव चतुर्दिशम्॥
वसनं शयनं चैव विलयं चैव विद्धि मे।
मयैव सुविभक्तास्ते देवकार्यार्थसिद्धये॥
कामं क्रोधं च हर्षं च भयं मोहं तथैव च।
ममैव विद्धि रोमाणि सर्वाण्येतानि सत्तम॥
प्राप्नुवन्ति नरा विप्र यत् कृत्वा कर्म शोभनम्।
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जन्तुषु॥
मद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः।
मयाऽऽविर्भूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः॥
सम्यग् वेदमधीयाना यजन्ते विविधैर्मखैः।
शान्तात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवन्ति द्विजातयः॥
प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन् नरैर्दुष्कृतकर्मभिः।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः॥
तं मां महाफलं विद्धि नराणां भावितात्मनाम्।
सुदुष्प्रापं विमूढानां मार्गं योगैर्निषेवितम्॥
यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन् यदोत्पत्स्यन्ति दारुणाः॥
तदाहं सम्प्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम्।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम्॥
सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान्।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया॥
कर्मकाले पुनर्देहमविचिन्त्यं सृजाम्यहम्।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबन्धकारणात्॥
श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा॥
त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन् काले भवन्ति च।
अन्तकाले च सम्प्राप्ते कालो भूत्वातिदारुणः॥
त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम्।
अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः॥
आविर्भूः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उरुक्रमः।
कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मन्नहमरूपकम्॥
शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम्।
एवं प्रणिहितः सम्यङ् ममात्मा मुनिसत्तम।
सर्वभूतेषु विप्रेन्द्र न च मां वेत्ति कश्चन॥
सर्वलोके च मां भक्ता पूजयन्ति च सर्वशः।
यच्च किंचित् त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज॥
सुखोदयाय तत्सर्वं श्रेयसे च तवानघ।
यच्च किंचित् त्वया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम्॥
विहितः सर्वथैवासौ ममात्मा भूतभावनः।
अर्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः॥
अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः।
यावद् युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्तनात्॥
तावत् स्वपिमि विश्वात्मा सर्वभूतानि मोहयन्।
एवं सर्वमहं कालमिहासे मुनिसत्तम॥
अशिशुः शिशुरूपेण यावद् ब्रह्मा न बुध्यते।
मया च दत्तो विप्राग्र्य वरस्ते ब्रह्मरूपिणा॥
असकृत् परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित।
सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टं स्थावरजङ्गमम्॥
विक्लवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत्।
अभ्यन्तरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम॥
दृष्ट्वा लोकं समस्तं च विस्मितो नावबुध्यसे।
ततोऽसि वक्त्राद् विप्रर्षे द्रुतं निस्सारितो मया॥
आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयो हि सुरासुरैः।
यावत् स भगवान् ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः॥
तावत् त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम्।
ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे॥
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम।
आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च॥
लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजङ्गमम्॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वान्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः।
प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा विविधाः कृताः॥

एवं दृष्टं मया राजंस्तस्मिन् प्राप्ते युगक्षये।
आश्चर्यं भरतश्रेष्ठ सर्वधर्मभृतां वर॥
यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः॥
अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम्।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम॥
स एष कृष्णो वार्ष्णेय पुराणपुरुषो विभुः।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः॥
एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः॥
दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम्॥
सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः॥
(वन० १८९। १-५७)

भगवान् बोले—"विप्रवर ! देवता भी मेरे स्वरूपको यथेष्ट और यथार्थरूपसे नहीं जानते। मैं जिस प्रकार इस जगत्की रचना करता हूँ, वह तुम्हारे प्रेमके कारण तुम्हें बताऊँगा। ब्रह्मर्षे ! तुम पितृभक्त हो, मेरी शरणमें आये हो और मैंने महान् ब्रह्मचर्यका पालन किया है। इन्हीं सब कारणोंसे तुम्हें मेरे साक्षात् स्वरूपका दर्शन हुआ। पूर्वकालमें मैंने ही जलका 'नारा' नाम रखा था। वह 'नारा' सदा मेरा अयन (वासस्थान) है, इसलिये मैं 'नारायण' नामसे विख्यात हूँ। मैं नारायण ही सबकी उत्पत्तिका कारण, सनातन और अविनाशी हूँ। द्विजश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ। मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही देवराज इन्द्र हूँ और मैं ही राजा कुबेर तथा प्रेतराज यम हूँ। विप्रवर ! मैं ही शिव, चन्द्रमा, प्रजापति कश्यप, धाता, विधाता और यज्ञ हूँ। अग्नि मेरा मुख है, पृथ्वी चरण स्थानीया है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं। द्युलोक मेरा मस्तक है, आकाश और दिशाएँ मेरे कान हैं तथा जल मेरे शरीरके पसीनेसे प्रकट हुआ है। दिशाओंसहित आकाश मेरा शरीर है। वायु मेरे मनमें स्थित है। मैंने पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त सैकड़ों यज्ञोंद्वारा यजन किया है। वेदवेत्ता ब्राह्मण देवयज्ञमें स्थित मुझ यज्ञ पुरुषका यजन करते हैं। पृथ्वीका पालन करनेवाले क्षत्रिय नरेश स्वर्ग-प्राप्तिकी अभिलाषासे इस भूतलपर यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करते हैं। इसी प्रकार वैश्य भी स्वर्गलोकपर विजय पानेकी इच्छासे मेरी सेवा-पूजा करते हैं। मैं ही शेषनाग होकर मेरु-मन्दरसे विभूषित तथा चारों समुद्रोंसे घिरी हुई इस वसुन्धराको अपने सिरपर धारण करता हूँ।

"विप्रवर ! पूर्वकालमें जब यह पृथ्वी जलमें डूब गयी थी, उस समय मैंने ही वाराहरूप धारण करके इसे बलपूर्वक जलसे बाहर निकाला था। विद्वन् ! मैं ही बड़वामुख अग्नि होकर सदा समुद्रके जलको पीता रहता हूँ और फिर उस जलको बरसा देता हूँ। ब्राह्मण मेरा मुख है, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ हैं और वैश्य मेरी दोनों जाँघोंके रूपमें स्थित हैं। ये शूद्र मेरे दोनों चरण हैं। मेरी शक्तिसे क्रमशः इनका प्रादुर्भाव हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये मुझसे ही प्रकट होते और मुझमें ही लीन हो जाते हैं। शान्तिपरायण, संयमी, जिज्ञासु, काम-क्रोध-द्वेषरहित, आसक्तिशून्य, निष्पाप, सात्त्विक, नित्य अहंकारशून्य तथा अध्यात्म-ज्ञानकुशल यति एवं ब्राह्मण सदा मेरा ही चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं। मैं ही संवर्तक (प्रलयका कारण) वह्नि हूँ। मैं ही संवर्तक अनल हूँ। मैं ही संवर्तक सूर्य हूँ और मैं ही संवर्तक वायु हूँ। द्विजश्रेष्ठ ! आकाशमें ये जो तारे दिखायी देते हैं, उन सबको मेरे ही रोमकूप समझो ! रत्नोंके भंडाररूप सम्पूर्ण समुद्र और चारों दिशाओंको मेरे वस्त्र, शय्या और निवासस्थान जानो। मैंने ही देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये उनकी पृथक्-पृथक् रचना की है। साधुशिरोमणे ! काम, क्रोध, हर्ष, भय और मोह—इन सभी विकारोंको मेरी ही रोमावली समझो। ब्रह्मन् ! जिन शुभ कर्मोंके आचरणसे मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति होती है, वे सत्य, दान, उग्र तपस्या और किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेका स्वभाव—ये सब मेरे ही विधानसे निर्मित हुए हैं और मेरे ही शरीरमें विहार करते हैं। मैं समस्त प्राणियोंके ज्ञानको जब प्रकट कर देता हूँ, तभी वे चेष्टाशील होते हैं; अन्यथा अपनी इच्छासे वे कुछ नहीं कर सकते।

"जो द्विजाति अच्छी तरह वेदोंका अध्ययन करके शान्तचित्त और क्रोधशून्य होकर नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा

मेरी आराधना करते हैं, उन्हींको मेरी प्राप्ति होती है। विद्वन्! पापकर्मा, लोभी, कृपण, अनार्य और अजितात्मा मनुष्य जिसे कभी नहीं पा सकते, वह महान् फल मुझे ही समझो। मैं ही शुद्ध अन्तःकरणवाले मानवोंको सुलभ होनेवाला योगियोंद्वारा सेवित मार्ग हूँ। मूढ़ मनुष्योंके लिये मैं सर्वथा दुर्लभ हूँ। महर्षे! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मका उत्थान होता है, तब-तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। जब हिंसाप्रेमी दैत्य श्रेष्ठ देवताओंके लिये अवध्य हो जाते हैं तथा भयानक राक्षस जब इस संसारमें उत्पन्न हो अत्याचार करने लगते हैं, तब मैं पुण्यात्मा पुरुषोंके घरोंपर मानवशरीरमें प्रविष्ट होकर प्रकट होता हूँ और उन दैत्यों एवं राक्षसोंका सारा उपद्रव शान्त कर देता हूँ। मैं ही अपनी मायासे देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, राक्षस तथा स्थावर प्राणियोंकी सृष्टि करके समय आनेपर पुनः उनका संहार कर डालता हूँ। फिर सृष्टि-रचनाके समय मैं अचिन्त्यस्वरूप धारण करता हूँ तथा मर्यादाकी स्थापना एवं रक्षाके लिये मानव-शरीरसे अवतार लेता हूँ। सत्ययुगमें मेरे शरीरका रंग श्वेत, त्रेता-में पीला, द्वापरमें लाल और कलियुगमें काला होता है। उस कलिकालमें तीन चौथाई अधर्म और एक चौथाई धर्म रहता है। प्रलयकाल आनेपर मैं ही अत्यन्त दारुण कालरूप होकर अकेला ही सम्पूर्ण चराचर त्रिलोकीका नाश करता हूँ। मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त, सम्पूर्ण विश्वका आत्मा, सब लोगोंको सुख पहुँचानेवाला, सबकी उत्पत्तिका कारण, सर्वव्यापी, अनन्त, इन्द्रियोंका नियन्ता और महान् विक्रमशाली हूँ। ब्रह्मन्! यह जो सम्पूर्ण भूतोंका संहार करनेवाला और सबको उद्योगशील बनानेवाला अव्यक्त कालचक्र है, इसका संचालन केवल मैं ही करता हूँ।

"मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकार मेरा स्वरूपभूत आत्मा ही सब प्राणियोंके भीतर भलीभाँति स्थित है। विप्रवर! इतनेपर भी कोई मुझे जानता नहीं। समस्त जगत्में भक्तपुरुष सब प्रकारसे मेरी ही आराधना करते हैं। तुमने मेरे निकट आकर जो कुछ भी क्लेश उठाया है, ब्रह्मन्! वह सब तुम्हारे भावी कल्याण और सुखका साधक है। निष्पाप मुने! लोकमें तुमने स्थावर-जङ्गम जो कुछ भी देखा है, उसके रूपमें सर्वथा मेरा भूत-भावन आत्मा ही प्रकट हुआ है। सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्मा मेरा आधा अङ्ग हैं। ब्रह्मर्षे! मैं शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाला विश्वात्मा नारायण हूँ; हजार चतुर्युगीके अन्तमें जो प्रलय होता है, वह जबतक रहता है, तब-तक सब प्राणियोंको (महानिद्रारूप मायासे) मोहित करके मैं (जलमें) शयन करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! यद्यपि मैं बालक नहीं हूँ, तो भी जबतक ब्रह्मा नहीं जागते, तबतक सदा इसी प्रकार बालकरूप धारण करके यहाँ रहता हूँ। विप्रशिरोमणे! तुम ब्रह्मर्षियोंद्वारा पूजित हो, मैंने ही ब्रह्मारूपसे तुम्हारे ऊपर बारबार संतुष्ट हो तुम्हें अभीष्ट वर प्रदान किया है। मैंने समझ लिया था कि तुम सम्पूर्ण चराचर जगत्को नष्ट तथा एकार्णवमें निमग्न हुआ देखकर व्याकुल हो रहे हो। इसीलिये तुम्हें पुनः जगत्का दर्शन कराया है। ब्रह्मर्षे! जब तुम मेरे शरीरके भीतर प्रविष्ट हुए थे और समस्त संसारको देखकर विस्मय-विमुग्ध हो फिर सचेत नहीं हो पा रहे थे, तब मैंने तुरंत तुम्हें मुखसे बाहर निकाल दिया था।

"ब्रह्मर्षे! इस प्रकार मैंने तुम्हें अपने स्वरूपका उपदेश किया है, जिसका जानना देवता और असुरोंके लिये भी कठिन है। जबतक वे महातपस्वी भगवान् ब्रह्मा जाग न जायँ, तबतक तुम श्रद्धा और विश्वास-पूर्वक सुखसे विचरते रहो। द्विजश्रेष्ठ! सर्वलोकपितामह ब्रह्माके जागनेपर मैं उनसे एकीभूत हो समस्त शरीरोंकी सृष्टि करूँगा। आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु और जलका तथा इस संसारमें जो अन्य चराचर वस्तुएँ शेष रहेंगी, उन सबका निर्माण करूँगा।"

मार्कण्डेयजी कहते जा रहे थे—"तात! युधिष्ठिर! यों कहकर वे परम अद्भुत देवता (भगवान् बालमुकुन्द) अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान होते ही मैंने देखा कि यह नाना प्रकारकी विचित्र प्रजा ज्यों-की-त्यों उत्पन्न हो गयी है। सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरतकुल-तिलक युधिष्ठिर! इस प्रकार उस प्रलयकालके आनेपर मुझे यह आश्चर्यजनक अनुभव हुआ था। नरश्रेष्ठ! पुरातन प्रलयके समय मुझे जिन कमल-दल-लोचन देवता भगवान् (बालमुकुन्द)का दर्शन हुआ था, तुम्हारे

सम्बन्धी ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही हैं। कुन्तीनन्दन! इन्हींके वरदानसे मुझे पूर्वजन्मकी स्मृति भूलती नहीं। मेरी दीर्घकालीन आयु और स्वेच्छा मृत्यु भी इन्हींकी कृपाका प्रसाद है। ये वृष्णिकुलभूषण महाबाहु श्रीकृष्ण ही वे सर्वव्यापी अचिन्त्यस्वरूप, पुराण-पुरुष श्रीहरि हैं (जो पहले मुझे बालरूपमें दिखायी दिये थे)। वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते हुए-से दीख रहे हैं। श्रीवत्सचिह्न जिनके वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ाता है, वे भगवान् गोविन्द ही इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियोंके भी पति हैं। इन आदिदेव स्वरूप, विजयशील, पीताम्बरधारी पुरुषोत्तम वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्णको देखकर मुझे इस पुरातन घटनाकी स्मृति हो आयी। कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो! ये माधव ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं। ये ही सबको शरण देनेवाले हैं। अतः तुम सब लोग इन्हींकी शरणमें जाओ।

दुर्वासाके कोपसे रक्षा

राजा दुर्योधनने दुरभिसंधिसे दुर्वासाको पाण्डवोंके पास वनमें भेजा। वे उस समय आये, जब द्रौपदी भोजन करके विश्राम कर रही थी। दुर्वासाके साथ दस हजार शिष्य थे। युधिष्ठिरने उन्हें आदरपूर्वक बैठाया, पूजा की और भोजनके लिये प्रार्थना की। मुनिने कहा—'हमलोग स्नान-संध्या करके आते हैं।' द्रौपदी खा चुकी थी, इसलिये भोजनकी सामग्री मिलना उस दिन सम्भव नहीं था। इसलिये—

एतस्मिन्नन्तरे राजन् द्रौपदी योषितां वरा॥
चिन्तामवाप परमामन्नहेतोः पतिव्रता।
सा चिन्तयन्ती च यदा नान्नहेतुमविन्दत॥
मनसा चिन्तयामास कृष्णं कंसनिषूदनम्।
कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मि ते॥
वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल॥
नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण॥
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम्।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः॥
त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम्।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥

(वन० २६३। ६½—१६)

उस समय युवतियोंमें श्रेष्ठ पतिव्रता द्रौपदीको अन्नके लिये बड़ी चिन्ता हुई। जब बहुत सोचने-विचारनेके बाद भी उसे अन्न प्राप्तिका कोई उपाय नहीं सूझा, तब वह मन-ही-मन कंसनिकन्दन आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्मरण करने लगी—'हे सच्चिदानन्दस्वरूप! महाबाहु श्रीकृष्ण! हे देवकीनन्दन! हे अविनाशी वासुदेव! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले जगदीश्वर! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हो। अविनाशी प्रभो! तुम्हीं इस विश्वकी उत्पत्ति और संहार करनेवाले हो। शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल! तुम्हीं समस्त प्रजाका पालन करनेवाले परात्पर परमेश्वर हो। आकूति (मन) और चित्ति (बुद्धि) के प्रेरक परमात्मन्! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ। सबके वरण करनेयोग्य वरदाता अनन्त! जिन्हें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई सहारा नहीं है, उनकी सहायता करो। पुराणपुरुष! प्राण और मनकी वृत्तियाँ आदि तुम्हारे पासतक नहीं पहुँच सकतीं। सबके साक्षी परमात्मन्! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। शरणागतवत्सल देव! कृपा करके मुझे बचाओ। नील कमलदलके समान श्यामसुन्दर! कमलपुष्पके भीतरी भागके समान किंचित् लाल नेत्रोंवाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण! तुम्हारे वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणिमय आभूषण शोभा पाता है। प्रभो! तुम्हीं समस्त प्राणियोंके आदि और अन्त हो। तुम्हीं सबके परम आश्रय हो। तुम्हीं परात्पर, ज्योतिर्मय, सर्वात्मा एवं सब ओर मुखवाले परमेश्वर हो। ज्ञानी पुरुष तुम्हें ही इस जगत्का परम बीज और सम्पूर्ण

सम्पदाओंकी निधि बतलाते हैं । देवेश्वर ! यदि तुम मेरे रक्षक हो, तो मुझपर सारी विपत्तियाँ टूट पड़ें, तो भी मुझे उनसे भय नहीं । भगवन् ! पहले कौरवसभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करो ।'

द्रौपदीकी पुकार सुनते ही अचिन्त्यगति देवाधिदेव श्रीकृष्ण सोयी हुई रुक्मिणीको छोड़कर तुरंत वहाँ आ पहुँचे और द्रौपदीकी बटलोईमें लगा हुआ एक जरा-सा सागका पत्ता खाकर द्रौपदीसे बोले—

विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक् ।

—'इस सागसे सम्पूर्ण विश्वके आत्मा यज्ञभोक्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि तृप्त और संतुष्ट हों ।' स्वयं भगवान् तो वे थे ही । सशिष्य दुर्वासाजी जलमें उतरकर अघमर्षण कर रहे थे । सबके पेट भर गये तथा एक साथ सबको डकारें आने लगीं । दुर्वासाजी भक्त पाण्डवोंके भयसे शिष्योंको साथ लेकर भाग गये । पाण्डवोंके सिरपर आयी हुई एक बड़ी विपत्ति टल गयी ।

× × ×

शिवजीके द्वारा श्रीकृष्ण-महिमा-वर्णन

भीमसेनके द्वारा वनमें पराभूत हो जयद्रथने गङ्गाद्वार (हरद्वार) में जाकर बड़ी भारी तपस्या की । भगवान् शंकरने प्रकट होकर उससे वर माँगनेके लिये कहा । जयद्रथने रथसहित पाँचों पाण्डवोंको युद्धमें जीतनेका वर माँगा । तब महादेवजी बोले—'ऐसा नहीं हो सकता । पाण्डव अजेय और अवध्य हैं । हाँ, तुम अर्जुनको छोड़कर शेष चार पाण्डवोंको केवल एक दिन आगे बढ़नेसे रोक सकते हो; क्योंकि अर्जुन वे देवेश्वर नर हैं, जिन्होंने भगवान् नारायणके साथ बदरिकाश्रममें तपस्या की थी । तुम तो क्या, सारे लोक मिलकर भी उनको नहीं जीत सकते । उनका सामना करना देवताओंके लिये भी कठिन है । मैंने उनको दिव्य अनुपम पाशुपत-अस्त्र प्रदान किया है तथा अन्यान्य लोकपालोंके द्वारा उनको वज्र आदि महान् अस्त्र प्राप्त हुए हैं ।'

देवदेवो ह्यनन्तात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः ।
प्रधानपुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ॥

युगान्तकाले सम्प्राप्ते कालाग्निर्दहते जगत् ।
सपर्वतार्णवद्वीपं सशैलवनकाननम् ॥
निर्दहन् नागलोकांश्च पातालतलचारिणः ।
अथान्तरिक्षे सुमहन्नानावर्णाः पयोधराः ॥
घोरस्वरा विनदिनस्तडिन्मालावलम्बिनः ।
समुत्तिष्ठन् दिशः सर्वा विवर्षन्तः समन्ततः ॥
ततोऽग्निं नाशयामासुः संवर्ताग्निनियामकाः ।
अक्षमात्रैश्च धाराभिस्तिष्ठन्त्यापूर्य सर्वशः ॥
एकार्णवे तदा तस्मिन्नुपशान्तचराचरे ।
नष्टचन्द्रार्कपवने ग्रहनक्षत्रवर्जिते ॥
चतुर्युगसहस्रान्ते सलिलेनाप्लुता मही ।
ततो नारायणाख्यस्तु सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः स्वप्तुकामस्त्वतीन्द्रियः ।
फटासहस्रविकटं शेषं पर्यङ्कभाजनम् ॥
सहस्रमिव तिग्मांशुसंघातममितद्युतिम् ।
कुन्देन्दुहारगोक्षीरमृणालकुमुदप्रभम् ॥
तत्रासौ भगवान् देवः स्वपञ्जलनिधौ तदा ।
नैशेन तमसा व्याप्तां स्वां रात्रिं कुरुते विभुः ॥
सत्त्वोद्रेकात् प्रबुद्धस्तु शून्यं लोकमपश्यत ।
इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ॥
आपो नारास्तत्तनव इत्यपां नाम शुश्रुम ।
अयनं तेन चैवास्ते तेन नारायणः स्मृतः ॥
प्रध्यानसमकालं तु प्रजाहेतोः सनातनः ।
ध्यातमात्रे तु भगवन्नाभ्यां पद्मः समुत्थितः ॥
ततश्चतुर्मुखो ब्रह्मा नाभिपद्माद् विनिस्सृतः ।
तत्रोपविष्टः सहसा पद्मे लोकपितामहः ॥
शून्यं दृष्ट्वा जगत् कृत्स्नं मानसानात्मनः समान् ।
ततो मरीचिप्रमुखान् महर्षीनसृजन्नव ॥
तेऽसृजन् सर्वभूतानि त्रसानि स्थावराणि च ।
यक्षराक्षसभूतानि पिशाचोरगमानुषान् ॥
सृज्यते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः ।
रौद्रीभावेन शमयेत् तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः ॥
न श्रुतं ते सिन्धुपते विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
कथ्यमानानि मुनिभिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥
जलेन समनुप्राप्ते सर्वतः पृथिवीतले ।
तदा चैकार्णवे तस्मिन्नेकाकाशे प्रभुश्चरन् ॥
निशायामिव खद्योतः प्रावृट्काले समन्ततः ।
प्रतिष्ठानाय पृथिवीं मार्गमाणस्तदाभवत् ॥
जले निमग्नां गां दृष्ट्वा चोद्धर्तुं मनसेच्छति ।
किं नु रूपमहं कृत्वा सलिलादुद्धरे महीम् ॥
एवं संचिन्त्य मनसा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ।
जलक्रीडाभिरुचितं वाराहं रूपमस्मरत् ॥
कृत्वा वराहवपुषं वाङ्मयं वेदसम्मितम् ।

दशयोजनविस्तीर्णमायतं शतयोजनम् ॥
महापर्वतवर्ष्माभं तीक्ष्णदंष्ट्रं प्रदीप्तिमत् ।
महामेघौघनिर्घोषं नीलजीमूतसंनिभम् ॥
भूत्वा यज्ञवराहो वै अपः सम्प्राविशत् प्रभुः ।
दंष्ट्रेणैकेन चोद्धृत्य स्वे स्थाने न्यविशन्महीम् ॥
पुनरेव महाबाहुरपूर्वां तनुमाश्रितः ।
नरस्य कृत्वार्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं प्रभुः ॥
दैत्येन्द्रस्य सभां गत्वा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ।
दैत्यानामादिपुरुषः सुरारिर्दितिनन्दनः ॥
दृष्ट्वा चापूर्वपुरुषं क्रोधात् संरक्तलोचनः ।
शूलोद्यतकरः स्रग्वी हिरण्यकशिपुस्तदा ॥
मेघस्तनितनिर्घोषो नीलाभ्रचयसंनिभः ।
देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥
समुपेत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण बलीयसा ।
नारसिंहेन वपुषा दारितः करजैर्भृशम् ॥
एवं निहत्य भगवान् दैत्येन्द्रं रिपुघातिनम् ।
भूयोऽन्यः पुण्डरीकाक्षः प्रभुर्लोकहिताय च ॥
कश्यपस्यात्मजः श्रीमानदित्या गर्भधारितः ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रसूता गर्भमुत्तमम् ॥
दुर्दिनाम्भोदसदृशो दीप्ताक्षो वामनाकृतिः ।
दण्डी कमण्डलुधरः श्रीवत्सोरसि भूषितः ॥
जटी यज्ञोपवीती च भगवान् बालरूपधृक् ।
यज्ञवाटं गतः श्रीमान् दानवेन्द्रस्य वै तदा ॥
बृहस्पतिसहायोऽसौ प्रविष्टो बलिनो मखे ।
तं दृष्ट्वा वामनतनुं प्रहृष्टो बलिरब्रवीत् ॥
प्रीतोऽस्मि दर्शने विप्र ब्रूहि त्वं किं ददानि ते ।
एवमुक्तस्तु बलिना वामनः प्रत्युवाच ह ॥
स्वस्तीत्युक्त्वा बलिं देवः स्मयमानोऽभ्यभाषत ।
मेदिनीं दानवपते देहि मे विक्रमत्रयम् ॥
बलिर्ददौ प्रसन्नात्मा विप्रायामिततेजसे ।
ततो दिव्याद्भुततमं रूपं विक्रमतो हरेः ॥
विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्यो जहाराशु स मेदिनीम् ।
ददौ शक्राय च महीं विष्णुर्देवः सनातनः ॥
एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः ।
तेन देवाः प्रादुरासन् वैष्णवं चोच्यते जगत् ॥
असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च ।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये ॥
स एवं भगवान् विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते ।
अनाद्यन्तमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम् ॥
यं देवं विदुषो गान्ति तस्य कर्माणि सैन्धव ।
यमाहुरजितं कृष्णं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
श्रीवत्सधारिणं देवं पीतकौशेयवाससम् ।
प्रधानः सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥
सहायः पुण्डरीकाक्षः श्रीमानतुलविक्रमः ।
समानस्यन्दने पार्थमास्थाय परवीरहा ॥
न शक्यते तेन जेतुं त्रिदशैरपि दुस्सहः ।
कः पुनर्मानुषो भावो रणे पार्थं विजेष्यति ॥
(वन० २७२ । ३१—७६)

'[अब मैं तुम्हें नरस्वरूप अर्जुनके सहायक भगवान् नारायणकी महिमा सुनाता हूँ, सुनो—] भगवान् नारायण देवताओंके भी देवता, अनन्तस्वरूप, सर्वव्यापी, देवगुरु, सर्वसमर्थ, प्रकृति-पुरुषरूप, अव्यक्त, विश्वात्मा एवं विश्वरूप हैं । प्रलयकाल उपस्थित होनेपर वे भगवान् विष्णु ही कालाग्निरूपसे प्रकट हो पर्वत, समुद्र, द्वीप, शैल, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण जगत्को दग्ध कर देते हैं; फिर पातालतलमें विचरण करनेवाले नागलोकोंको भी वे भस्म कर डालते हैं । कालाग्निद्वारा सब कुछ भस्म हो जानेपर आकाशमें अनेक रंगके महान् मेघोंकी घोर घटा घिर आती है । भयंकर स्वरसे गर्जना करते हुए वे बादल बिजलियोंकी मालाओंसे प्रकाशित हो सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाते और सब ओर वर्षा करने लग जाते हैं । इससे प्रलयकालीन अग्नि बुझ जाती है । संवर्तक अग्निका नियन्त्रण करनेवाले वे महामेघ सर्पोंके समान मोटी धाराओंसे जल गिराते हुए सबको डुबो देते हैं । उस समय (सम्पूर्ण दिशाओंमें पानी भर जानेसे चारों ओर) एकाकार जलमय समुद्र ही दृष्टिगोचर होता है । उस एकार्णवके जलमें समस्त चराचर जगत् नष्ट हो जाता है । चन्द्रमा, सूर्य और वायु भी विलीन हो जाते हैं । ग्रह और नक्षत्रोंका अभाव हो जाता है । एक हजार चतुर्युगी समाप्त होनेपर उपर्युक्त एकार्णवके जलमें यह पृथ्वी डूब जाती है । तत्पश्चात् नारायण नामसे प्रसिद्ध भगवान् श्रीहरि उस एकार्णवके जलमें शयन करनेके हेतु अपने लिये निशाकालोचित अन्धकार (तमोगुण) से व्याप्त अपनी स्वरूपभूता महारात्रिका निर्माण करते हैं । उन भगवान्के सहस्रों नेत्र, सहस्रों चरण और सहस्रों मस्तक होते हैं । वे अन्तर्यामी पुरुष इन्द्रियातीत होनेपर भी शयन करनेकी इच्छासे उन शेषनागको अपना पर्यङ्क बनाते हैं, जो सहस्रों फणोंसे विकटाकार दिखायी देते हैं । वे शेषनाग एक सहस्र प्रचण्ड सूर्योंके समूहकी भाँति अनन्त एवं असीम

प्रभा धारण करते हैं। उनकी कान्ति कुन्द-पुष्प, चन्द्रमा, मुक्ताहार, गोदुग्ध, कमलनाल तथा कुमुद-कुसुमके समान उज्ज्वल होती है। उन्हींकी शय्या बनाकर भगवान् श्रीहरि शयन करते हैं। तत्पश्चात् सृष्टिकालमें सत्त्वगुणका आधिक्य होनेपर भगवान् योगनिद्रासे जाग उठे। जागनेपर उन्हें यह समस्त लोक सूना दिखायी दिया। महर्षिगण भगवान् नारायणके सम्बन्धमें यहाँ इस श्लोकको पढ़ा करते हैं। जल भगवान्का शरीर है, इसी-लिये उसका नाम 'नार' सुनते आये हैं। वह नार ही उनका अयन (गृह) है। अथवा उसके साथ एक होकर वे रहते हैं, इसीलिये उन भगवान्को नारायण कहा गया है। तत्पश्चात् प्रजाकी सृष्टिके लिये भगवान्ने संकल्प किया। इस संकल्पके साथ ही भगवान्की नाभिसे सनातन कमल प्रकट हुआ। उस नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। उस कमलपर बैठे हुए लोकपितामह ब्रह्माजीने सहसा सम्पूर्ण जगत्को शून्य देखकर अपने मानसपुत्रके रूपमें अपने-ही-जैसे प्रभावशाली मरीचि आदि नौ महर्षियोंको उत्पन्न किया। उन महर्षियोंने स्थावर-जङ्गमरूप सम्पूर्ण भूतोंकी तथा यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, नाग और मनुष्योंकी सृष्टि की। ब्रह्माजीके रूपसे भगवान् सृष्टि करते हैं। परम पुरुष नारायणरूपसे इसकी रक्षा करते हैं तथा रुद्र-स्वरूपसे सबका संहार करते हैं।

'इस प्रकार प्रजापालक भगवान्की ये तीन अवस्थाएँ हैं। सिन्धुराज ! क्या तुमने वेदोंके पारंगत ब्रह्मर्षियोंके मुखसे अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णुका चरित्र नहीं सुना है ? समस्त भूमण्डल सब ओरसे जलमें डूबा हुआ था। उस समय एकार्णवसे उपलक्षित एकमात्र आकाशमें भगवान् इस प्रकार विचर रहे थे, जैसे वर्षाकालकी रातमें जुगनू सब ओर उड़ता फिरता है। वे पृथ्वीको कहीं स्थिर रूपसे स्थापित करनेके लिये उसकी खोज कर रहे थे। पृथ्वीको जलमें डूबी हुई देख भगवान्ने मन-ही-मन उसे बाहर निकालने-की इच्छा की। वे सोचने लगे, 'कौन-सा रूप धारण करके मैं इस जलसे पृथ्वीका उद्धार करूँ ?' इस प्रकार मन-ही-मन चिन्तन करके उन्होंने दिव्य दृष्टिसे देखा कि जलमें क्रीडा करनेके योग्य तो वराहरूप है; अतः उन्होंने उसी रूपका स्मरण किया। वेदतुल्य वैदिक वाङ्मय वराहरूप धारण करके भगवान्ने जलके भीतर प्रवेश किया। उनका वह विशाल पर्वताकार शरीर सौ योजन लंबा और दस योजन चौड़ा था। उनकी दाढ़ें बड़ी तीखी थीं। उनका शरीर देदीप्यमान हो रहा था। भगवान्का कण्ठस्वर महान् मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर था। उनकी अङ्गकान्ति नीलजलधरके समान श्याम थी। इस प्रकार यज्ञवाराहरूप धारण करके भगवान्ने जलके भीतर प्रवेश किया और एक ही दाँतसे पृथ्वीको उठाकर उसे अपने स्थानपर स्थापित कर दिया। तदनन्तर महाबाहु भगवान् श्रीहरिने एक अपूर्व शरीर धारण किया, जिसका आधा भाग तो मनुष्यका था और आधा सिंहका।' इस प्रकार नृसिंहरूप धारण करके हाथसे हाथका स्पर्श किये हुए दैत्यराज हिरण्य-कशिपुकी सभामें गये। दैत्योंके आदिपुरुष और देवताओंके शत्रु दितिनन्दन हिरण्यकशिपुने उस अपूर्व पुरुषको देखकर क्रोधसे आँखें लाल कर लीं। उसने एक हाथमें शूल उठा रखा था, उसके गलेमें पुष्पोंकी माला शोभा पा रही थी। उस समय वीर हिरण्यकशिपुने, जिसकी आवाज मेघकी गर्जनाके समान थी, जो नीले मेघोंके समूह-जैसा श्याम था तथा जो दितिके गर्भसे उत्पन्न होकर देवताओंका शत्रु बना हुआ था, भगवान् नृसिंह-पर धावा किया। इसी समय अत्यन्त बलवान् मृगेन्द्र-स्वरूप भगवान् नृसिंहने दैत्यके निकट जाकर उसे अपने तीखे नखोंद्वारा बुरी तरह विदीर्ण कर दिया। इस प्रकार शत्रुघाती दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध करके भगवान् कमलनयन श्रीहरि पुनः सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये अन्यरूपमें प्रकट हुए। उस समय वे कश्यपजीके तेजस्वी पुत्र हुए। अदिति देवीने उन्हें गर्भमें धारण किया था। पूरे एक हजार वर्षतक गर्भमें धारण करनेके पश्चात् अदितिने एक उत्तम बालकको जन्म दिया। वह वर्षाकालके मेघके समान श्यामवर्णका था। उसके नेत्र देदीप्यमान हो रहे थे। वे वामनाकार, दण्ड और कमण्डलु धारण किये तथा वक्षःस्थलमें श्रीवत्स चिह्नसे विभूषित थे। उनके सिरपर जटा थी और गलेमें

यज्ञोपवीत शोभा पा रहा था। उस समय वे बालरूपधारी श्रीमान् भगवान् दानवराज बलिकी यज्ञशालाके समीप गये । बृहस्पतिजीके साथ उन्होंने बलिके यज्ञ-मण्डपमें प्रवेश हुआ । वामनरूपधारी भगवान्को देखकर राजा बलि बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'ब्रह्मन् ! आपका दर्शन पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ । आज्ञा कीजिये, मैं आपकी सेवाके लिये क्या दूँ ?' बलिके यों कहनेपर भगवान् वामनने '(आपका) स्वस्ति (कल्याण हो) यह कहकर बलिको आशीर्वाद दिया और मुसकराते हुए कहा—'दानवराज ! मुझे तीन पग पृथ्वी दे दीजिये ।' बलिने प्रसन्न-चित्तसे उन अमित-तेजस्वी ब्राह्मण देवताको उनकी मुँहमाँगी वस्तु दे दी। तब भूमिको नापते समय श्रीहरिका अत्यन्त अद्भुत दिव्यरूप प्रकट हुआ । उन अक्षोभ्य सनातन विष्णुदेवने तीन पगद्वारा शीघ्र ही सारी वसुधा नाप ली और देवराज इन्द्रको समर्पित कर दी । यह मैंने तुम्हें भगवान्के वामनावतारकी बात बतायी है । उन्हींसे देवताओंकी उत्पत्ति हुई है । यह जगत् भी भगवान् विष्णुसे प्रकट होनेके कारण वैष्णव कहलाता है । राजन् ! वे ही भगवान् विष्णु दुष्टोंका दमन और धर्मका संरक्षण करनेके लिये मनुष्योंके बीच यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं । उन्हींको श्रीकृष्ण कहते हैं । वे अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्यस्वरूप, सर्वसमर्थ और विश्ववन्दित हैं । सिन्धुराज ! विद्वान् पुरुष उन्हीं भगवान्की महिमा गाते और उन्हींके पावन चरित्रोंका वर्णन करते हैं । उन्हींको अपराजित, शङ्खचक्रगदाधारी, पीतपट्टाम्बर-विभूषित श्रीवत्सधारी भगवान् श्रीकृष्ण कहा गया है । अस्त्रविद्याके विद्वानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हैं । शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अतुलपराक्रमी श्रीमान् कमलनयन श्रीकृष्ण एक ही रथपर अर्जुनके समीप बैठकर उनकी सहायता करते हैं । इस कारण अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता । उनका वेग सहन करना देवताओंके लिये भी कठिन है; फिर मनुष्य कौन ऐसा है, जो युद्धमें अर्जुनपर विजय प्राप्त कर सके । राजन् ! इतना कहकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये । स्वयं देवाधिदेव भगवान् शंकरके श्रीमुखसे भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णके सम्बन्धमें इस तत्त्वाख्यानको पढ़कर महाभारतके श्रीकृष्णके विषयमें किसको शङ्का रह सकती है ?

[उद्योगपर्व]

विराटकी सभामें श्रीकृष्ण

पाण्डवोंके बारह वर्ष वनवासके और तेरहवाँ वर्ष अज्ञातवासका बीत गया । अज्ञातवास बीतते ही विराट-नरेशकी कन्या उत्तराका व्याह अर्जुनके वीर पुत्र अभिमन्युके साथ हुआ । इस विवाहके अवसरपर राजा द्रुपद, सात्यकि, बलरामजी, श्रीकृष्ण तथा पाँचों भाई पाण्डव अपने पुत्रोंके साथ उपस्थित थे । तथा अन्यान्य नृपति-गण जो विराटनरेशके द्वारा उस शुभ अवसरपर आमन्त्रित किये गये थे, वे भी वहाँ बैठे थे । सबके सामने 'पाण्डवोंको राज्य-प्राप्ति कैसे हो' यही प्रश्न था । सब लोग भगवान् श्रीकृष्णका मुँह जोह रहे थे कि वे क्या कहते हैं । अतएव भगवान् वासुदेवने भाषण देना प्रारम्भ कर दिया । उन्होंने बतलाया कि 'किस प्रकार शकुनिने छलपूर्वक जुएके द्वारा युधिष्ठिरको परास्तकर राज्य हड़प लिया । परंतु जुएमें यह शर्त थी कि हारनेवाला बारह वर्ष वनवास और तेरहवें वर्ष अज्ञातवासमें रहनेके बाद अपना राज्य पुनः प्राप्त कर सकता है । अतएव पाण्डवलोगोंको अब शर्तके अनुसार इनका राज्य मिलना चाहिये । पाण्डवोंने बड़ा कष्ट झेलकर वनवासकी अवधि पूरी की है; अब आपलोग ऐसा विचार कीजिये जिसमें धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा राजा दुर्योधन दोनोंका हित हो । आपलोग ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालिये जो इन कुरुवंशके वीरोंके लिये धर्मानुकूल, न्यायसंगत तथा यश बढ़ानेवाला हो; क्योंकि धर्मराज युधिष्ठिर यदि धर्मके विरुद्ध देवताओंका भी राज्य प्राप्त होता हो तो उसे लेना न चाहेंगे ।'

तच्चिन्तयध्वं कुरुपुङ्गवानां
धर्म्यं च युक्तं च यशस्करं च ।
अधर्मयुक्तं न च कामयेत
राज्यं सुराणामपि धर्मराजः ॥

(उद्योग० १ । १४)

'धर्मराजको यदि धर्म और अर्थसे युक्त एक गाँवका भी राज्य मिले तो ये उसको विभूषित करेंगे, और यह तो आप सब राजाओंको विदित ही है कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने किस प्रकार अन्यायपूर्वक पाण्डवोंका पैतृक राज्य हड़प लिया है। उन्होंने धर्मपूर्वक युद्धमें पाण्डवोंको हराकर राज्य नहीं प्राप्त किया है। फिर भी धर्मराज युधिष्ठिर उनकी भलाई ही करना चाहते हैं। इसके विपरीत धृतराष्ट्रके पुत्र निरन्तर पाण्डवोंको सताने और इनका नाश करनेकी ही चेष्टामें रत रहते हैं। यदि धृतराष्ट्रके पुत्र इस प्रकार युद्धकी भावनासे इनको सताते रहेंगे, तो उनके बाध्य करनेपर ये भी युद्ध करके उनको मार डालेंगे। इनको आप अल्पसंख्यक न समझें; युद्धका अवसर आनेपर इनके हितैषी सुहृद् भी अपनी पूरी शक्तिसे इनकी सहायता करेंगे, इसमें संदेह नहीं है। परंतु शत्रुपक्ष क्या चाहता है, यह जाने बिना कोई पक्का निर्णय कैसे किया जा सकता है। कोई धर्मशील, कुलीन, पवित्रात्मा और अप्रमत्त दूत भेजा जाय, जो उनको समझा-बुझाकर, उनके जोश-रोषको शान्त करके पाण्डवोंका आधा राज्य देनेके लिये उनको राजी कर सके।'

विराटकी सभामें भगवान् वासुदेवके इस भाषणको पढ़नेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी नीति 'धर्मकी नीति' थी। इस भाषणमें भगवान्ने वस्तुस्थितिको कितना स्पष्ट और निष्पक्षभावसे व्यक्त किया है! यद्यपि भगवान् वासुदेव कौरवों और पाण्डवों—दोनोंको शान्तिपूर्वक मेल-जोल रखकर चलते देखना चाहते थे, तथापि उनका यह दृढ़ मत था कि धर्मकी जय होनी चाहिये। अधर्मको पनपने देना वे पंसद नहीं करते थे।

नीतिनिपुण भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

किं तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु।
यथेष्टं वर्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च॥
(५।३)

'परंतु कौरवों और पाण्डवोंसे हमारा एक-सा सम्बन्ध है। और पाण्डवों और कौरवों, दोनों ही हमारे साथ यथायोग्य अनुकूल बर्ताव करते हैं।' आप सब राजाओंमें अवस्था तथा विद्या-बुद्धिमें श्रेष्ठ हैं, और इसमें संदेह नहीं कि हम सब आपके शिष्यके समान हैं। अतएव आप पाण्डवोंकी कार्यसिद्धिके लिये जो भी संदेश भेजेंगे, हम सब उसका समर्थन करेंगे। यदि दुर्योधन हमारा प्रस्ताव न स्वीकार करें तो आप दूसरे राजाओंको युद्धका निमन्त्रण भेजकर सबके बाद हमको आमन्त्रित कीजियेगा।'

रण-निमन्त्रण

विराटकी सभाका समाचार गुप्तचरोंके द्वारा प्राप्तकर दुर्योधन भगवान् श्रीकृष्णसे युद्धमें सहायता माँगनेके लिये द्वारकाके लिये रवाना हुआ, और उधर अर्जुनने भी इसी हेतुसे विराटनगरीसे प्रस्थान किया। दोनों ही आगे-पीछे भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचे। उस समय भगवान् शयनागारमें शयन कर रहे थे। दुर्योधन पहले जाकर भगवान्के सिरहाने बैठ गये और अर्जुन पैरोंकी ओर हाथ जोड़कर खड़े हो गये। जागनेपर श्रीकृष्णने पहले अर्जुनको देखा। दोनोंका सत्कार कर चुकनेके बाद भगवान्ने दोनोंसे उनके आनेका कारण पूछा। दुर्योधनने हँसकर कहा—'माधव! जो युद्ध होनेवाला है, उसमें आप मुझे सहायता दें।' अर्जुनने कहा—'जनार्दन! मैं भी आपकी सहायता माँगने आया हूँ।' भगवान् बोले—'सुयोधन! तुम पहले आये हो, और मैंने अर्जुनको पहले देखा है। इसलिये मैं दोनोंकी सहायता करूँगा। बालकोंको उनकी अभीष्ट वस्तु पहले मिलनी चाहिये। इसलिये अर्जुन! तुम इन दोनोंमेंसे एक चुन लो। एक ओर तो मैं, और दूसरी ओर मेरी दस करोड़ सैनिकोंकी विशाल नारायणी सेना रहेगी। साथ ही मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा।'

वैशम्पायनजी कहते हैं—

एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम्॥
नारायणममित्रघ्नं कामाज्जातमजं नृषु।
सर्वक्षत्रस्य पुरतो देवदानवयोरपि॥
(७।२१-२२)

'जनमेजय! श्रीकृष्णके इतना कहनेपर अर्जुनने संग्राममें युद्ध न करनेवाले केशवको ही वरण किया—

जो केशव साक्षात् शत्रुहन्ता नारायण हैं और अजन्मा होते हुए भी स्वेच्छासे देवता, दानव और समस्त क्षत्रियोंके सामने मनुष्यरूपमें अवतरित हुए हैं।'

अर्जुनने जब केवल केशवको वरण किया, तब दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ और मन-ही-मन अर्जुनको महामूर्ख समझने लगा। परंतु इसका रहस्य उसे ज्ञात न था। वैशम्पायनजीने इसके रहस्यको खोल दिया है। नररूप अर्जुन अपने सखा नारायणको छोड़कर नारायणी-सेना तो क्या त्रिलोकीके अक्षय राज्यको भी वरण नहीं कर सकते थे। जिन नारायणकी इच्छामात्रसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डकी सृष्टि और संहार होता है, उनकी शक्तिके सामने नारायणहीन नारायणी-सेना तो क्या, विश्वका सारा सैन्यबल नगण्य था। अतएव प्रकारान्तरसे वैशम्पायनजीने अर्जुनकी प्रशंसा ही की है। इस कथासे एक और रहस्यकी बात प्रकट होती है। नारायणके पास जो जिस हेतुसे जायगा, उसे वही मिलेगा। नारायणको चाहनेवाला नारायणको प्राप्त करेगा और क्षणभङ्गुर ऐश्वर्यकी कामना करनेवालेको वह क्षणभङ्गुर ऐश्वर्य मिलेगा। भगवान्‌के पास जाकर कोई खाली हाथ नहीं लौटता।

× × ×

श्रीकृष्ण शान्ति-दूतके रूपमें

जब उभयपक्षमें सैन्य-संग्रह हो रहा था, तब धृतराष्ट्र युद्धकी विभीषिकाका विचार आते ही घबरा उठे, उन्होंने संजयको पाण्डवोंके पास युद्ध न करनेका संदेश लेकर भेजा। संजय वहाँसे वापस आकर पाण्डवोंका संदेश सुनाते हुए कहने लगा—

पादाङ्गुलीरभिप्रेक्षन् प्रयतोऽहं कृताञ्जलिः।
शुद्धान्तं प्राविशं राजन्नाख्यातुं नरदेवयोः॥
(५९।३)

"राजन्! नर और नारायण (अर्जुन और श्रीकृष्ण)-से आपका संदेश सुनानेके लिये मैं प्रयत्नपूर्वक अपने पैरोंकी उँगलियोंको ही देखता हुआ, हाथ जोड़े उनके अन्तःपुरमें गया।' तत्पश्चात् बातचीतमें प्रवीण भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी मेरे सुननेमें आयी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। उन्होंने कौरवोंको यज्ञानुष्ठान कर लेने, ब्राह्मणोंको दक्षिणा देने आदि पुण्यकर्मोंको कर लेनेकी सम्मति दी है; क्योंकि धर्मराज युधिष्ठिर अब आक्रमण करनेके लिये उतावले हो रहे हैं। भगवान् वासुदेवने यह भी कहा है कि "जिस समय कौरव-सभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचा जा रहा था, मैं हस्तिनापुरसे बहुत दूर था। उस समय कृष्णाने आर्त्तभावसे 'गोविन्द' कहकर जो मुझे पुकारा था, उसका मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और वह बढ़ता ही जा रहा है, वह मेरे हृदयसे दूर नहीं होता।"

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥
(५९।२२)

—इत्यादि संजयकी उक्तिसे दो प्रमुख तथ्योंपर प्रकाश पड़ता है। एक तो यह कि संजयको भी विश्वास था कि अर्जुन और श्रीकृष्ण साक्षात् नर-नारायण हैं; दूसरे यह कि भगवान् वासुदेवके हृदयको कौरव-सभामें आर्त्तस्वरसे की हुई कृष्णाकी 'गोविन्द! गोविन्द!!' की पुकार अभीतक व्यथित कर रही है। ग्रन्थकारने इन दो मूल तत्त्वोंको व्यक्त करके धृतराष्ट्रकी मुँदी हुई आँखें खोलनेकी चेष्टा की है।

पुनः आगे चलकर संजय धृतराष्ट्रसे भगवान् वासुदेवके विषयमें निवेदन करते हुए कहते हैं—

पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव पुरुषोत्तमः।
मनसैव विशिष्टात्मा नयत्यात्मवशं वशी॥
(६८।५)

भूयो भूयो हि यद् राजन् पृच्छसे पाण्डवान् प्रति।
सारासारबलं ज्ञातुं तत् समासेन मे शृणु॥
एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः॥
भस्म कुर्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम्॥
यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥
पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः।
विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः॥
स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव।
अधर्मनिरतान् मूढान् दग्धुमिच्छति ते सुतान्॥
कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्॥

दिव्य-दृष्टि-प्राप्त संजय

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥
ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः॥
तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः॥
(उद्योग० ६८ । ६–१५)

'जितेन्द्रिय, विशिष्टात्मा, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण इच्छा-मात्रसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको अपने वशमें कर सकते हैं। राजन्! आप जो बारंबार पाण्डवोंके विषयमें, उनके सार या असारभूत बलको जाननेके लिये मुझसे पूछते रहते हैं, वह सब आप मुझसे संक्षेपमें सुनिये। एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों, तो सारभूत बलकी दृष्टिसे वे भगवान् जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत्से बढ़कर सिद्ध होंगे। श्रीकृष्ण अपने मानसिक संकल्प-मात्रसे इस सम्पूर्ण जगत्को भस्म कर सकते हैं; परंतु उन्हें भस्म करनेमें यह सारा जगत् भी समर्थ नहीं हो सकता।

'जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता हैं, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं; और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। समस्त प्राणियोंके आत्मा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल-सा करते हुए ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकका संचालन करते हैं। वे इस समय समस्त लोकको मोहित-सा करते हुए पाण्डवोंके मिससे आपके अधर्मपरायण मूढ़ पुत्रोंको भस्म कर डालना चाहते हैं। ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र, संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं। मैं आपसे यह सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत्के स्वामी एवं शासक हैं। महायोगी श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्-के स्वामी एवं ईश्वर होते हुए भी खेतीको बढ़ानेवाले किसानकी भाँति सदा नये-नये कर्मोंका आरम्भ करते रहते हैं। भगवान् केशव अपनी मायाके प्रभावसे सब लोगोंको मोहमें डाले रहते हैं; किंतु जो मनुष्य केवल उन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे उनकी मायासे मोहित नहीं होते।'

तदनन्तर व्यासजीने संजयकी प्रशंसा करते हुए धृतराष्ट्रसे कहा—

व्यास उवाच

प्रियोऽसि राजन् कृष्णस्य धृतराष्ट्र निबोध मे।
यस्य ते संजयो दूतो यस्त्वां श्रेयसि योक्ष्यते॥
जानात्येष हृषीकेशं पुराणं यच्च वै परम्।
शुश्रूषमाणमेकाग्रं मोक्ष्यते महतो भयात्॥
वैचित्रवीर्य पुरुषाः क्रोधहर्षसमावृताः।
सिता बहुविधैः पाशैर्ये न तुष्टाः स्वकैर्धनैः॥
यमस्य वशमायान्ति काममूढाः पुनः पुनः।
अन्धनेत्रा यथैवान्धा नीयमानाः स्वकर्मभिः॥
एष एकायनः पन्था येन यान्ति मनीषिणः।
तं दृष्ट्वा मृत्युमत्येति महांस्तत्र न सज्जति॥
(उद्योग० ६९ । ११–१५)

व्यासजी बोले—'राजा धृतराष्ट्र! मेरी बातोंपर ध्यान दो। वास्तवमें तुम श्रीकृष्णके प्रिय हो; तभी तो तुम्हें संजय-जैसा दूत मिला है, जो तुम्हें कल्याण-साधनमें लगायेगा। यह संजय पुराणपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको जानता है और उनका जो परम तत्त्व है, वह भी इसे ज्ञात है। यदि तुम एकाग्रचित्त होकर इसकी बातें सुनोगे तो यह तुम्हें महान् भयसे मुक्त कर देगा। विचित्रवीर्यकुमार! जो मनुष्य अपने धनसे संतुष्ट नहीं है और काम आदि विविध प्रकारके बन्धनोंसे बँधकर हर्ष और क्रोधके वशीभूत हो रहे हैं, वे काममोहित पुरुष अंधोंके नेतृत्वमें चलनेवाले अंधोंकी भाँति अपने कर्मोंद्वारा प्रेरित होकर बारंबार यमराजके चंगुलमें पड़ते हैं। यह ज्ञानमार्ग एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। जिसपर मनीषी (ज्ञानी) पुरुष चलते हैं, उस मार्ग-को देख या जान लेनेपर मनुष्य जन्म-मृत्युरूप संसारको लाँघ जाता है और वह महात्मा पुरुष कभी इस संसार-में आसक्त नहीं होता।'

संजय पुनः धृतराष्ट्रको समझाते हुए बोले—

संजय उवाच

नाकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम्।
आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्॥
इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः।
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम्॥
इन्द्रियाणां यमे यत्तो भव राजन्नतन्द्रितः।
बुद्धिश्च ते मा च्यवतु नियच्छैनां यतस्ततः॥

एतज्ज्ञानं विदुर्विप्रा ध्रुवमिन्द्रियधारणम् ।
एतज्ज्ञानं च पन्थाश्च येन यान्ति मनीषिणः ॥
अप्राप्यः केशवो राजन्निन्द्रियैरजितैर्नृभिः ।
आगमाधिगमाद् योगाद् वशी तत्त्वे प्रसीदति ॥
(उद्योग० ६९ । १७–२१)

संजयने कहा—'महाराज ! जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वह कभी नित्यसिद्ध परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकता । अपनी (सम्पूर्ण) इन्द्रियोंको वशमें किये बिना दूसरा कोई कर्म उन परमात्माकी प्राप्तिका उपाय नहीं हो सकता । विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंकी भोग-कामनाओंका पूर्ण सावधानीके साथ त्याग कर देना, प्रमादसे दूर रहना तथा किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना—ये तीन निश्चय ही तत्त्व-ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं । राजन् ! आप आलस्य छोड़कर इन्द्रियोंके संयममें तत्पर हो जाइये और अपनी बुद्धिको जैसे भी सम्भव हो, नियन्त्रणमें रखिये, जिससे वह अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट न हो । इन्द्रियोंको दृढ़तापूर्वक संयममें रखना चाहिये । विद्वान् ब्राह्मण इसीको ज्ञान मानते हैं । यह ज्ञान ही वह मार्ग है, जिसपर मनीषी पुरुष चलते हैं । राजन् ! मनुष्य अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये बिना भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकते । जिसने शास्त्रज्ञान और योगके प्रभावसे अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है, वही तत्त्व-ज्ञान पाकर प्रसन्न होता है ।' तदनन्तर संजयने भगवान् श्रीकृष्णके पवित्र नामोंकी व्युत्पत्ति धृतराष्ट्रको सुनायी—

संजय उवाच

श्रुतं मे वासुदेवस्य नामनिर्वचनं शुभम् ।
यावत् तत्राभिजानेऽहमप्रमेयो हि केशवः ॥
वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः ।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्त्वाद् विष्णुरुच्यते ॥
मौनाद् ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम् ।
सर्वतत्त्वमयत्वाच्च मधुहा मधुसूदनः ॥
कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ॥
पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम् ।
तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः ॥
यतः सत्त्वान्न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते ।
सत्त्वतः सात्वतस्तस्मादार्षभाद् वृषभेक्षणः ॥
न जायते जनित्रायमजस्तस्मादनीकजित् ।
देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः ॥
हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते ।
बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ॥
अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्मादधोक्षजः ।
नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः ॥
पूरणात् सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः ।
असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् ॥
सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेतं प्रचक्षते ।
सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ॥
सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः ।
विष्णुर्विक्रमणाद् देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ॥
शाश्वतत्वादनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम् ।
अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः ॥
एवंविधो धर्मनित्यो भगवान् मधुसूदनः ।
आगन्ता हि महाबाहुरानृशंस्यार्थमच्युतः ॥
(उद्योग० ७० । २–१५)

संजयने कहा—"राजन् ! मैंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके नामोंकी मङ्गलमयी व्युत्पत्ति सुन रखी है, उसमेंसे जितनी मुझे याद है, उतनी कह रहा हूँ । वास्तवमें तो भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंकी पहुँचसे परे हैं । भगवान् समस्त प्राणियोंके निवासस्थान हैं तथा वे सब भूतोंमें वास करते हैं, इसलिये 'वसु' हैं एवं देवताओंकी उत्पत्तिके स्थान होनेसे और समस्त देवता उनमें वास करते हैं, इसलिये उन्हें 'देव' कहा जाता है । अतएव उनका नाम 'वासुदेव' है, यों जानना चाहिये । बृहत् अर्थात् व्यापक होनेके कारण वे ही 'विष्णु' कहलाते हैं । भारत ! मौन, ध्यान और योगसे उनका बोध अथवा साक्षात्कार होता है; इसलिये आप उन्हें 'माधव' समझें । 'मधु' शब्दसे प्रतिपादित पृथ्वी आदि सम्पूर्ण तत्त्वोंके उपादान एवं अधिष्ठान होनेके कारण मधुसूदन श्रीकृष्णको 'मधुहा' कहा गया है । 'कृष्' धातु 'सत्ता' अर्थका वाचक है और 'ण' शब्द 'आनन्द' अर्थका बोध कराता है; इन दोनों भावोंसे युक्त होनेके कारण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं । भगवान्‌के नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम धामका नाम 'पुण्डरीक' है । उसमें स्थित होकर जो अक्षतभावसे विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं । (अथवा

पुण्डरीक कमलके समान उनके अक्षि—नेत्र हैं, इसलिये उनका नाम पुण्डरीकाक्ष है)। दस्युजनों चोर-डाकुओं-को त्रास (अर्दन या पीड़ा) देनेके कारण वे 'जनार्दन' कहलाते हैं। वे सत्यसे कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्वसे अलग ही होते हैं, इसलिये सद्भावके सम्बन्धसे उनका नाम 'सात्वत' है। आर्ष कहते हैं वेदको, उससे भासित होनेके कारण भगवान्‌का एक नाम 'आर्षभ' है। आर्षभके योगसे ही वे 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं (वृषभका अर्थ है वेद, वही ईक्षण-नेत्रके समान उनका ज्ञापक है; इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'वृषभेक्षण' नामकी सिद्धि होती है।) शत्रु-सेनाओंपर विजय पानेवाले ये भगवान् श्रीकृष्ण किसी जन्मदाताके द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते, इसलिये 'अज' कहलाते हैं। देवता स्वयं प्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्टरूपसे प्रकाशित होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्ण-को 'उदर' कहा गया है और दम (इन्द्रिय-संयम) नामक गुणसे सम्पन्न होनेके कारण उनका नाम 'दाम' है। इस प्रकार दाम और उदर इन दोनों शब्दोंके संयोगसे वे 'दामोदर' कहलाते हैं। वे हर्ष अर्थात् सुखसे युक्त होनेके कारण हृषीक हैं और सुख-ऐश्वर्यसे सम्पन्न होनेके कारण 'ईश' कहे गये हैं। इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों बाहुओंद्वारा भगवान् इन पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं, इसलिये उनका नाम 'महाबाहु' है। श्रीकृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः ('अधो न क्षीयते जातु' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'अधोक्षज' कहलाते हैं। वे नरों (जीवात्माओं) के अयन (आश्रय) हैं, इसलिये वे 'नारायण' भी कहलाते हैं। वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवास-स्थान हैं, इसलिये 'पुरुष' हैं और सब पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण उनकी 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं; इसलिये उन्हें 'सर्व' कहते हैं। श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य उनमें प्रतिष्ठित है। वे भगवान् गोविन्द सत्यसे भी उत्कृष्ट सत्य हैं। अतः उनका एक नाम 'सत्य' भी है। विक्रमण (वामनावतारमें तीनों लोकोंको आक्रान्त) करनेके कारण वे भगवान् 'विष्णु' कहलाते हैं। वे सबपर विजय पानेसे 'जिष्णु', शाश्वत (नित्य) होनेसे 'अनन्त' तथा गौओं (इन्द्रियों) के ज्ञाता और प्रकाशक होनेके कारण ('गां विन्दति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'गोविन्द' कहलाते हैं। वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्यको भी सत्य-सा कर देते हैं और इस प्रकार सारी प्रजाको मोहमें डाल देते हैं। निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले उन भगवान् मधुसूदनका स्वरूप ऐसा ही है। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण कौरवोंपर कृपा करनेके लिये यहाँ पधारनेवाले हैं।"

भगवान् श्रीकृष्णके नामोंकी महिमा सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—

धृतराष्ट्र उवाच

चक्षुष्मतां वै स्पृहयामि संजय
द्रक्ष्यन्ति ये वासुदेवं समीपे।
विभ्राजमानं वपुषा परेण
प्रकाशयन्तं प्रदिशो दिशश्च॥
ईरयन्तं भारतीं भारताना-
मभ्यर्चनीयां शंकरीं संजयानाम्।
बुभूषद्भिर्ग्रहणीयामनिन्द्यां
परासूनामग्रहणीयरूपाम्॥
समुद्यन्तं सात्वतमेकवीरं
प्रणेतारमृषभं यादवानाम्।
निहन्तारं क्षोभणं शात्रवाणां
मुष्णन्तं च द्विषतां वै यशांसि॥
द्रष्टारो हि कुरवस्तं समेता
महात्मानं शत्रुहणं वरेण्यम्।
ब्रुवन्तं वाचमनृशंसरूपां
वृष्णिश्रेष्ठं मोहयन्तं मदीयान्॥
ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं
वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम्।
अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं
हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम॥
सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराण-
मनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम्।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं
परं परेषां शरणं प्रपद्ये॥

त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं
देवासुराणामथ नागरक्षसाम् ।
नराधिपानां विदुषां प्रधान-
मिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये ॥

(उद्योग० ७१ । १—७)

धृतराष्ट्र बोले—'संजय ! जो लोग परम उत्तम श्री-अङ्गोंसे सुशोभित तथा दिशा-विदिशाओंको प्रकाशित करते हुए वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निकटसे दर्शन करेंगे, उन सफल नेत्रोंवाले मनुष्योंके सौभाग्यको पानेकी मैं भी अभिलाषा रखता हूँ । भगवान् अत्यन्त मनोहर वाणीमें जो प्रवचन करेंगे, वह भरतवंशियों तथा सृंजयोंके लिये कल्याणकारी तथा आदरणीय होगा । ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये भगवान्‌की वह वाणी अनिन्द्य और शिरोधार्य होगी; परंतु जो मृत्युके निकट पहुँच चुके हैं, उन्हें वह अग्राह्य प्रतीत होगी । संसारके अद्वितीय वीर, सात्वतकुलके श्रेष्ठ पुरुष, यदुवंशियोंके माननीय नेता, शत्रुपक्षके योद्धाओंको क्षुब्ध करके उनका संहार करनेवाले तथा वैरियोंके यशको बलपूर्वक छीन लेनेवाले वे भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ उदित होंगे । (और नेत्रवाले लोग उनका दर्शन करके धन्य हो जायँगे ।) महात्मा, शत्रुहन्ता तथा सबके वरण करने योग्य वे वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण यहाँ आकर कृपापूर्ण कोमल वाक्य बोलेंगे और हमारे पक्षवर्ती राजओंको मोहित करेंगे; इस अवस्थामें समस्त कौरव उन्हें देखेंगे । जो अत्यन्त सनातन ऋषि, ज्ञानी, वाणीके समुद्र और प्रयत्नशील साधकोंको कलशके जलकी भाँति सुलभ होनेवाले हैं, जिनके चरण समस्त विघ्नोंका निवारण करनेवाले हैं, सुन्दर पंखोंसे युक्त गरुड़ जिनके स्वरूप हैं, जो प्रजाजनोंके पाप-ताप हर लेनेवाले तथा जगत्‌के आश्रय हैं, जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अक्षय कीर्तिसे सुशोभित, बीज एवं वीर्यको धारण करनेवाले, अजन्मा, नित्य तथा परात्पर परमेश्वर हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ । जो तीनों लोकोंका निर्माण करनेवाले हैं, जिन्होंने देवताओं, असुरों, नागों तथा राक्षसोंको भी जन्म दिया है तथा जो ज्ञानी नरेशोंके प्रधान हैं, इन्द्रके छोटे भाई वामन-स्वरूप उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।

× × ×

इधर कौरवपक्षमें धृतराष्ट्र भगवान्‌के गुणानुवादमें रत थे और उधर धर्मराज अपने पक्षके विराट-द्रुपद आदि राजाओंके साथ भगवान् वासुदेवके पास गये और बोले—'श्रीकृष्ण ! धृतराष्ट्र लोभमें डूबे हुए हैं, धर्मको नहीं देखते । मैंने उनसे केवल पाँच गाँव माँगे हैं और इसीपर संधि करनेके लिये हम तैयार हैं, परंतु दुष्टात्मा दुर्योधन इतना भी देनेके लिये तैयार नहीं है ।

तत्र किं मन्यसे कृष्ण प्राप्तकालमनन्तरम् ।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेमहि माधव ॥

(७२ । ७६)

माधव ! ऐसी स्थितिमें आप हमारे लिये अवसरोचित शीघ्र करनेयोग्य कर्तव्य क्या समझते हैं ? हम क्या करें जिससे अर्थ और धर्मसे वञ्चित न होना पड़े ?'—धर्मराजके यों कहनेपर भगवान् बोले—'राजन् ! मैं दोनों पक्षोंके हितके लिये कौरवोंकी सभामें जाऊँगा ।' उसके बाद श्रीकृष्णको शान्ति-स्थापनके निमित्त कौरव-सभामें जाते देखकर युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन और नकुलने शान्ति-स्थापनकी चेष्टा करनेके लिये ही भगवान्‌से निवेदन किया; परंतु सहदेवने कहा—शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! महाराज युधिष्ठिर जो कुछ कहते हैं, वह सनातन धर्म है; परंतु मैं चाहता हूँ कि आप ऐसा प्रयत्न करें कि युद्ध होकर रहे ।'

कथं नु दृष्ट्वा पाञ्चालीं तथा कृष्ण सभागताम् ।
अवधेन प्रशाम्येत मम मन्युः सुयोधने ॥

(८१ । ३)

'श्रीकृष्ण ! पाञ्चालकुमारी द्रौपदीको वैसी दशामें सभाके भीतर लायी देखकर दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसका वध किये बिना कैसे शान्त हो सकता है ?' परम वीर सात्यकिने इसका समर्थन किया और उसे सुनकर उपस्थित योद्धा भयंकर सिंहनाद करने लगे ।

तत्पश्चात् भगवान् वासुदेव दिव्य रथपर सवार हो सात्यकि और कृतवर्मा तथा अन्यान्य वृष्णिवंशीय वीरों-को साथ लेकर हस्तिनापुरकी ओर चल पड़े । भगवान्

श्रीकृष्णका रथ हस्तिनापुरकी ओर बड़े वेगसे बढ़ा चला जा रहा था कि श्रीकृष्णने रास्तेके दोनों ओर ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान ऋषियोंको खड़े देखा। भगवान् रथ रोककर तुरंत उतर पड़े और महर्षियोंको प्रणाम करके आदरपूर्वक उनसे बोले—

कच्चिल्लोकेषु कुशलं कच्चिद् धर्मः स्वनुष्ठितः।
ब्राह्मणानां त्रयो वर्णाः कच्चित् तिष्ठन्ति शासने॥
(पितृदेवातिथिभ्यश्च कच्चित् पूजा स्वनिष्ठिता।)
तेभ्यः प्रयुज्य तां पूजां प्रोवाच मधुसूदनः।
भगवन्तः क्व संसिद्धाः का वीथी भवतामिह॥
किं वा कार्यं भगवतामहं किं करवाणि वः।
केनार्थेनोपसम्प्राप्ता भगवन्तो महीतलम्॥
(एवमुक्ताः केशवेन मुनयः संशितव्रताः।
नारदप्रमुखाः सर्वे प्रत्यनन्दन्त केशवम्॥
अधःशिराः सर्पमाली महर्षिः स हि देवलः।
अर्वावसुः सुजानुश्च मैत्रेयः शुनको बली॥
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनस्तथा।
आयोदधौम्यो धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ॥
दामोष्णीषस्त्रिषवणः पर्णादो घटजानुकः।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्योऽथ शालिकः॥
शीलवानशनिर्धाता शून्यपालोऽकृतव्रणः।
श्वेतकेतुः कहोलश्च रामश्चैव महातपाः॥
तमब्रवीज्जामदग्न्य उपेत्य मधुसूदनम्।
परिष्वज्य च गोविन्दं सुरासुरपतेः सखा॥
देवर्षयः पुण्यकृतो ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः।
राजर्षयश्च दाशार्ह मानयन्तस्तपस्विनः।
देवासुरस्य द्रष्टारः पुराणस्य महामते॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं दिदृक्षन्तश्च सर्वतः।
सभासदश्च राजानस्त्वां च सत्यं जनार्दनम्॥
एतन्महत् प्रेक्षणीयं द्रष्टुं गच्छाम केशव।
धर्मार्थसहिता वाचः श्रोतुमिच्छाम माधव॥
त्वयोच्यमानाः कुरुषु राजमध्ये परंतप।
भीष्मद्रोणादयश्चैव विदुरश्च महामतिः॥
त्वं च यादवशार्दूल सभायां वै समेष्यथ।
तव वाक्यानि दिव्यानि तथा तेषां च माधव॥
श्रोतुमिच्छाम गोविन्द सत्यानि च हितानि च।
आपृष्टोऽसि महाबाहो पुनर्द्रक्ष्यामहे वयम्॥
यात्ह्यविघ्नेन वै वीर द्रक्ष्यामस्त्वां सभागतम्।
आसीनमासने दिव्ये बलतेजः समाहितम्॥
(उद्योग० ८३। ६२–७२)

'महात्माओ! सम्पूर्ण लोकोंमें कुशल तो है न? क्या धर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान हो रहा है? क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अधीन रहते हैं न? क्या पितरों, देवताओं, अतिथियोंकी पूजा भलीभाँति सम्पन्न हो रही है?' तत्पश्चात् उन महर्षियोंकी पूजा करके भगवान् मधुसूदनने फिर उनसे पूछा— 'महात्माओ! आपने कहाँ सिद्धि प्राप्त की है? आपलोगोंका यहाँ कौन-सा मार्ग है? अथवा आपलोगोंका क्या कार्य है? भगवन्! मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ? किस प्रयोजनसे आपलोग इस भूतलपर पधारे हैं?'' श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कठोरव्रत धारण करनेवाले नारद आदि सभी महर्षि उनका अभिनन्दन करने लगे।

(नारदजीके अतिरिक्त जो महर्षि वहाँ उपस्थित थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—) अधःशिरा, सर्पमाली, महर्षि देवल, अर्वावसु, सुजानु, मैत्रेय, शुनक, बली, दल्भपुत्र बक, स्थूलशिरा, पराशरनन्दन श्रीकृष्णद्वैपायन, आयोदधौम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष, त्रिषवण, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, शालिक, शीलवान्, अशनि, धाता, शून्यपाल, अकृतव्रण, श्वेतकेतु, कहोल एवं महातपस्वी परशुराम। उस समय देवराज तथा दैत्यराजके भी सखा जमदग्निनन्दन परशुरामने मधुसूदन श्रीकृष्णके पास जाकर उन्हें हृदयसे लगाया और इस प्रकार कहा—

'महामते केशव! जिन्होंने पुरातन देवासुरसंग्रामको भी अपनी आँखोंसे देखा है, वे पुण्यात्मा देवर्षिगण, अनेक शास्त्रोंके विद्वान् ब्रह्मर्षिगण, तथा आपका सम्मान करनेवाले तपस्वी राजर्षिगण सम्पूर्ण दिशाओंसे एकत्र हुए भूमण्डलके क्षत्रियनरेशोंको, सभामें बैठे हुए भूपालोंको तथा सत्यस्वरूप आप भगवान् जनार्दनको देखना चाहते हैं। इस परम दर्शनीय वस्तुका दर्शन करनेके लिये ही हम हस्तिनापुर चल रहे हैं। शत्रुओंको संताप देनेवाले माधव! वहाँ कौरवों तथा अन्य राजाओंकी मण्डलीमें आपके द्वारा कही जानेवाली धर्म और अर्थसे युक्त बातोंको हम सुनना चाहते हैं। यदुकुलसिंह! वहाँ कौरवसभामें भीष्म, द्रोण, आदि प्रमुख

व्यक्ति, परम बुद्धिमान् विदुर तथा आप पधारेंगे, गोविन्द ! माधव ! उस सभामें आपके तथा भीष्म आदिके मुखसे जो दिव्य, सत्य एवं हितकर वचन प्रकट होंगे, उन सबको हमलोग सुनना चाहते हैं। महाबाहो ! अब हमलोग आपसे पूछकर विदा ले रहे हैं, पुनः आपका दर्शन करेंगे। वीर ! आपकी यात्रा निर्विघ्न हो। जब सभामें पधारकर आप दिव्य आसनपर बैठे होंगे, उसी समय बल और तेजसे सम्पन्न आपके श्रीअङ्गोंका हम पुनः दर्शन करेंगे।' दूतोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके पधारनेका समाचार सुनकर धृतराष्ट्रके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वे दुर्योधनसे कहने लगे—

अद्भुतं महदाश्चर्यं श्रूयते कुरुनन्दन।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च कथयन्ति गृहे गृहे॥
सत्कृत्याचक्षते चान्ये तथैवान्ये समागताः।
पृथग्वादाश्च वर्तन्ते चत्वरेषु सभासु च॥
उपायास्यति दाशार्हः पाण्डवार्थे पराक्रमी।
स नो मान्यश्च पूज्यश्च सर्वथा मधुसूदनः॥
तस्मिन् हि यात्रा लोकस्य भूतानामीश्वरो हि सः।
तस्मिन् धृतिश्च वीर्यं च प्रज्ञा चौजश्च माधवे॥
स मान्यतां नरश्रेष्ठः स हि धर्मः सनातनः।
पूजितो हि सुखाय स्यादसुखः स्यादपूजितः॥
स चेत् तुष्यति दाशार्ह उपचारैररिंदमः।
कृष्णात् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु॥
तस्य पूजार्थमद्यैव संविधत्स्व परंतप।
सभाः पथि विधीयन्तां सर्वकामसमन्विताः॥
(उद्योग० ८५। ३-९)

'कुरुनन्दन ! एक अद्भुत और अत्यन्त आश्चर्यकी बात सुनायी देती है। घर-घरमें स्त्री-बालक और बूढ़े इसीकी चर्चा करते हैं। जो यहाँके निवासी हैं, वे तथा जो बाहरसे आये हुए हैं, वे भी आदरपूर्वक उसी बात-को कहते हैं। चौराहोंपर और सभाओंमें भी पृथक्-पृथक् वही चर्चा चलती है। वह बात यह है कि पाण्डवोंकी ओरसे परम पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारेंगे। वे मधुसूदन हमलोगोंके माननीय तथा सब प्रकारसे पूजनीय हैं। सम्पूर्ण लोकोंका जीवन उन्हींपर निर्भर है; क्योंकि वे सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर हैं। उन माधवमें धैर्य, पराक्रम, बुद्धि और तेज—सब कुछ है। उन नरश्रेष्ठ श्रीकृष्णका यहाँ सम्मान होना चाहिये; क्योंकि वे सनातन धर्मस्वरूप हैं। सम्मानित होनेपर वे हमारे लिये सुखदायक सिद्ध होंगे और सम्मानित न होने-पर हमारे दुःखके कारण बन जायँगे। शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण यदि हमारे सत्कार-साधनोंसे संतुष्ट हो गये तो हम समस्त राजाओंमें उनसे अपने सारे मनोरथ प्राप्त कर लेंगे। परंतप ! तुम श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये आजसे ही तैयारी करो। मार्गमें अनेक विश्रामस्थान बनवाओ और उनमें सब प्रकारकी मनोऽनुकूल उपभोग-सामग्री प्रस्तुत करो।'

कौरवोंने भगवान् वासुदेवके स्वागतमें कोई कोर-कसर नहीं रखी। मार्गमें जगह-जगहपर उनके ठहरनेके लिये राजोचित प्रबन्ध किये गये। परंतु श्रीकृष्णने उसका उपयोग नहीं किया। भगवान् वासुदेवका दर्शन करनेके लिये तथा अगवानी करनेके लिये (दुर्योधनको छोड़कर) धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा नागरिकोंका समुद्र उमड़ पड़ा। भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

कृष्णसम्माननार्थं च नगरं समलंकृतम्।
बभूव राजमार्गश्च बहुरत्नसमाचितः॥
न च कश्चिद् गृहे राजन् तदाऽऽसीद् भरतर्षभ।
न स्त्री न वृद्धो न शिशुर्वासुदेवदिदृक्षया॥
राजमार्गे नरास्तस्मिन् संस्तुवन्त्यवनिं गताः।
तस्मिन् काले महाराज हृषीकेशप्रवेशने॥
(उद्योग० ८९। ६-८)

श्रीकृष्णके स्वागतार्थ हस्तिनापुर खूब सजाया गया। अनेक प्रकारके रत्नोंसे खचित राजमार्ग भी सुशोभित हो रहा था। भगवान् वासुदेवका दर्शन करनेकी इच्छासे सभी स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सड़कके किनारे आ गये थे, कोई भी घरमें नहीं रह गया था। जब श्रीकृष्ण नगरमें प्रवेश करने लगे, उस समय राजमार्गपर भूमिपर खड़े मनुष्य उनकी स्तुति कर रहे थे।

कौरवोंका समुचित आतिथ्य स्वीकार करके भगवान् वासुदेव विदुरजीके घर पधारे। वहाँ विदुरसे पाण्डवोंकी गाथा सुनाकर कुन्तीसे मिले। कुन्तीदेवीने जब अपने शक्तिशाली पुत्रोंके बीच रहकर विचरण करनेवाले माधवको देखा, तब उसकी आँखोंसे अश्रुओंकी वर्षा होने लगी। उसने एक-एक करके अपनी सारी

दु:खगाथा तथा कौरवोंके द्वारा पाण्डवोंपर किये गये अत्याचारोंको कह सुनाया, और पूछा—'श्रीकृष्ण ! इस दु:खका अन्त कब होगा ?'

न दुःखं राज्यहरणं न च द्यूते पराजयः।
प्रव्राजनं तु पुत्राणां न मे तद् दुःखकारणम्॥
यत् तु सा बृहती श्यामा एकवस्त्रा सभां गता।
अशृणोत् परुषा वाचः किं नु दुःखतरं ततः॥

(उद्यो० ९० । ८५-८६)

'श्रीकृष्ण ! राज्य चला गया, इसका मुझे दु:ख नहीं; न जूएमें हारनेका दु:ख है। मेरे पुत्रोंको वन भेज दिया गया, इसका भी मुझे दु:ख नहीं। परंतु जनार्दन ! मेरी उस सुन्दरी बड़ी बहूको जो एक वस्त्रसे सभामें जाना पड़ा और कर्कश वचन सुनने पड़े, उससे बढ़कर दु:खकी बात और क्या हो सकती है ?'

भगवान् वासुदेवने पाण्डवोंका प्रणाम तथा उनकी कुशलताका समाचार कहकर कुन्तीदेवीको सान्त्वना देते हुए कहा कि उनके वीर पुत्र शत्रुओंका संहार करके पुन: चक्रवर्ती-राज्य प्राप्त करेंगे। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण कुन्तीकी आज्ञा लेकर दुर्योधनके घर गये। वहाँ कौरवोंके द्वारा निवेदित सुवासित जल, मधुपर्क आदि ग्रहणकर भगवान् एक सुवर्णमय पर्यङ्कपर बैठ गये।

तत्र गोविन्दमासीनं प्रसन्नादित्यवर्चसम्॥
उपासांचक्रिरे सर्वे कुरवो राजभिः सह।

(उद्यो० ९१ । १०-११)

'उस पर्यङ्कपर बैठे हुए भगवान् गोविन्द निरभ्र आदित्यके समान प्रदीप्त हो रहे थे। राजाओंके साथ सब कौरव आकर उनके पास बैठ गये।' तब दुर्योधनने वार्ष्णेय श्रीकृष्णको भोजनके लिये आमन्त्रित किया। भगवान्ने उसके आमन्त्रणको अस्वीकार करते हुए कहा, 'नियमत: दूत अपना प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर ही भोजन और सम्मान स्वीकार करते हैं। यह दूतका धर्म है, और मैं धर्मत्याग नहीं कर सकता। इसके सिवा राजन् ! पाण्डव तुम्हारे भाई हैं, प्रेमसे रहना चाहते हैं; फिर भी तुम उनसे अकारण द्वेष करते हो।

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः॥

(९१ । २८)

'जो पाण्डवोंसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है; और जो उनके अनुकूल है, वह मेरे अनुकूल है। तुम मुझको धर्मात्मा पाण्डवोंके साथ एकप्राण समझो।'

सर्वमेतन्न भोक्तव्यमन्नं दुष्टाभिसंहितम्।
क्षत्तुरेकस्य भोक्तव्यमिति मे धीयते मतिः॥

(९१ । ३२)

'तुम्हारा यह सारा अन्न दुरभिसंधिसे भरा हुआ है, अतएव भोजन करने योग्य नहीं है। मेरे मनमें आ रहा है कि केवल विदुरका ही अन्न यहाँ ग्रहण करना चाहिये।'

इतना कहकर भगवान् वासुदेव विदुरके घर ठहरनेके लिये चले गये। उनका दुर्योधनका अन्न ग्रहण करना दौत्यधर्मके विरुद्ध था। दुर्योधनके प्रति कोई द्वेषभाव होनेके कारण उन्होंने ऐसा किया हो—ऐसी बात नहीं थी। विदुर धर्मज्ञ थे, नीतिज्ञ थे और साथ ही धर्माचरणके पक्षपाती थे। इसके सिवा वे कौरवों और पाण्डवों—दोनों पक्षका हित चाहते थे। इसी कारण भगवान्ने कहा—'क्षत्तुरेकस्य भोक्तव्यम्' अर्थात् केवल विदुरका अन्न ही ग्रहण करने योग्य है। भगवान् संधि करानेके उद्देश्यसे आये थे; अतएव जब विदुरजीने उनको वस्तुस्थिति समझायी और उनको कौरव-सभामें जानेसे रोकना चाहा, तब भगवान्ने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी। वे बोले—'मैं यहाँ दोनों पक्षोंका हित-साधन करनेके लिये आया हूँ; इसके लिये मुझे पूरा प्रयत्न करने दीजिये, जिससे पीछे कोई यह न कहे कि मैं दौत्य-धर्मको पूरा न कर सका।'

अहापयन् पाण्डवार्थं यथाव-
च्छमं कुरूणां यदि चाचरेयम्।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात्॥

(९३ । १९)

'महात्मन् ! यदि मैं पाण्डवोंके स्वार्थका साधन करते हुए कौरवों और पाण्डवोंमें शान्ति स्थापित कर सका तो मुझको तो महान् पुण्य होगा और कौरव मृत्युके पाशसे बच जायँगे।'

दूसरे दिन दुर्योधन आदि श्रीकृष्णके पास आये

और उन्होंने निवेदन किया कि महाराज धृतराष्ट्र सभामें आ गये हैं, तथा भीष्म आदि कौरव एवं अन्य सब राजालोग भी वहाँ उपस्थित हैं, और——

त्वामर्थयन्ते गोविन्द दिवि शक्रमिवामराः ।
(९४ । ९)

'हे गोविन्द ! जैसे स्वर्गमें देवतालोग इन्द्रका आवाहन करते हैं, उसी प्रकार ये लोग आपसे दर्शन देनेकी प्रार्थना करते हैं ।' यह सुनकर भगवान्ने परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वचनोंसे उनका अभिनन्दन किया, और रथपर सवार होकर वे कौरव-सभाकी ओर चल दिये । यह खबर बिजलीकी तरह नगरमें फैल गयी, और सारे हस्तिनापुरका बाल-वृद्ध तथा युवा-नर-नारियों-का समूह भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये राजमार्गकी ओर दौड़ पड़ा ।

राजसभामें पहुँचनेपर भगवान् वासुदेवके सत्कारमें सारी सभा उठ खड़ी हो गयी। पश्चात् सब लोग यथायोग्य स्थानोंपर बैठ गये । चिरकालके बाद दशार्हकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णको देखकर राजाओंके नेत्र परितृप्त ही न होते थे । सभीका मन गोविन्दमें ही लगा था । इतनेमें भगवान् वासुदेव धृतराष्ट्रको सम्बोधन करके गम्भीर स्वरसे बोले—'भरतनन्दन ! मैं आपसे यह प्रार्थना करने आया हूँ कि क्षत्रिय वीरोंका संहार हुए बिना ही कौरव-पाण्डवोंमें शान्ति स्थापित हो जाय ।' पाण्डवोंने आपको प्रणाम करके यह संदेश भेजा है कि आपकी आज्ञासे उन्होंने भारी दुःख भोगा है । बारह वर्ष निर्जन वनमें वास किया है और तेरहवाँ वर्ष जनसंकुल नगरमें अज्ञात रहकर बिताया है । अब आप अपनी प्रतिज्ञाको याद कीजिये और उनका राज्य उन्हें लौटा दीजिये ।'

राजन् ! आपके पुत्र लोभासक्त हो रहे हैं, उन्हें काबूमें लाइये । शत्रुओंका दमन करनेवाले पाण्डव आपकी सेवाके भी लिये तैयार हैं और युद्धके लिये भी प्रस्तुत हैं; जो आपको हितकर जान पड़े, वही कीजिये ।'

भगवान् वासुदेवके इस कथनका सब राजाओंने हृदयसे आदर किया, पर कोई कुछ कहनेके लिये अग्रसर न हो सका । तब परशुरामजीने, जो उस सभामें उपस्थित थे, बतलाया कि "किस प्रकार प्राचीन-कालमें अति दुर्मद दम्भोद्भव नामके राजाने सार्वभौम राज्य करते हुए गन्धमादन पर्वतपर तप करनेवाले नर-नारायण ऋषिको युद्धके लिये ललकारा था। तब महात्मा नरने एक मुट्ठी सींक लेकर उसकी सारी सेनाको हतप्रभ करके छोड़ दिया । अन्तमें राजा दम्भोद्भव उनकी शरणमें गया और दोनों महात्माओंको प्रणाम करके धर्माचरणमें रत होनेकी प्रतिज्ञा लेकर अपनी राजधानीको लौटा ।

सुमहच्चापि तत्कर्म तन्नरेण कृतं पुरा ।
ततो गुणैः सुबहुभिः श्रेष्ठो नारायणोऽभवत् ॥
नरनारायणौ यौ तौ तावेवार्जुनकेशवौ ।
विजानीहि महाराज प्रवीरौ पुरुषोत्तमौ ॥
(९६ । ४०, ४९)

—इस प्रकार पूर्वकालमें महात्मा 'नर'ने वह महान् कर्म किया था । उनसे भी गुणोंमें बहुत श्रेष्ठ 'नारायण' हो गये हैं । महाराज ! वे ही 'नर-नारायण' अर्जुन और श्रीकृष्णको जानो । ये दोनों पुरुषोत्तम और वीरोंमें श्रेष्ठ हैं । इसलिये यदि तुम मेरी बातमें श्रद्धा रखते हो तो जैसे भी हो, पाण्डवोंके साथ संधि कर लो । कुरुश्रेष्ठ ! तुम्हारा कुल इस पृथ्वीपर बहुत प्रतिष्ठित है, वह प्रतिष्ठा बनी रहे । तुम्हारा कल्याण हो, इसके लिये अपने वास्तविक स्वार्थका ही विचार करो ।'

इस प्रकार परशुरामजीने तथा उनके पश्चात् कण्वमुनि, देवर्षि नारद, भीष्म, द्रोण, विदुर और श्रीकृष्णके समझानेपर भी दुर्योधनने उनकी एक न सुनी । उसने दर्पसे भरे वचनोंसे सबको निरुत्तर कर दिया । वह बोला—

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेदिह कर्हिचित् ॥
इति मातङ्गवचनं परीप्सन्ति हितेप्सवः ।
धर्माय चैव प्रणमेद् ब्राह्मणेभ्यश्च मद्विधः ॥
अचिन्तयन् कंचिदन्यं यावज्जीवं तथाऽऽचरेत् ।
एष धर्मः क्षत्रियाणां मतमेतच्च मे सदा ॥
(उद्योग० १२७ । १९–२१)

"प्रसिद्ध नीतिवेत्ता मातङ्गमुनिका वचन है कि 'वीर पुरुष सदा उद्योग ही करे, किसीके सामने झुके नहीं;

महात्मा विदुर

क्योंकि उद्योग करना ही पुरुषका धर्म है। वीर पुरुष अकालमें ही कालकवलित भले हो जाय, पर कभी किसी शत्रुके सामने सिर न झुकाये।' अतएव अपना हित चाहनेवाले इसी नीतिका अनुसरण करते हैं। इसलिये मेरे-जैसा मनुष्य केवल धर्मके आगे सिर झुका सकता है और ब्राह्मणको ही प्रणाम कर सकता है। किसी भी दूसरेकी परवा न करके जीवन भर ऐसा ही आचरण करता रहे, यही क्षत्रियका धर्म है और यही मेरा भी मत है। जनार्दन! जबतक राजा धृतराष्ट्र जीवित हैं, तबतक हमें और पाण्डवोंको हथियार न उठाकर शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहिये। केशव! दुर्योधनके जीते-जी पाण्डवोंको सूईकी नोकके बराबर भी भूमि नहीं दी जा सकती।

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥
(उद्यो० १२७। २५)

इसपर भगवान् वासुदेवने दुर्योधनको डाँटा और कहा कि, 'तुम सभामें धर्मकी डींग हाँक रहे हो; परंतु धर्मात्मा पाण्डवोंके साथ तुमने जो क्रूरकर्म किये हैं, क्या वे क्षत्रियोचित हैं? तुमने वारणावतमें माताके सहित पाण्डवोंको जीते ही जला डालनेका कुचक्र रचा था। तुमने विष देकर, सर्पसे कटाकर और हाथ-पैर बाँधकर जलमें डुबाकर पाण्डवोंको मार डालनेका प्रयत्न किया था। तुमने अपने बड़े भाईकी पत्नीको भरी सभामें बलपूर्वक मँगवाकर उसको नंगी करनेका घृणित प्रयत्न किया था। क्या यही तुम्हारा क्षात्रधर्म है?' दुर्योधनको इस प्रकार फटकारकर धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, कृप आदिको सम्बोधन करते हुए श्रीकृष्णने नीतियुक्त वचन कहते हुए अपना भाषण समाप्त किया। वे बोले—'आपत्ति-काल उपस्थित होनेपर कुलकी भलाईके लिये एक पुरुषका त्याग कर देना चाहिये। ग्रामके लिये कुलका, जनपदके लिये ग्रामका और आत्मकल्याणके लिये समस्त भूमण्डलका त्याग कर देना चाहिये। अतएव—

राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः।
त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ॥
(उद्योग० १२८। ५०)

'हे राजन्! आप दुर्योधनको कैद करके पाण्डवोंसे संधि कर लें। ऐसा न हो कि आपके कारण समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो जाय।'

इधर भगवान् वासुदेव भरी सभामें दुर्योधनको कैद करनेकी बात कह रहे थे, उधर दुर्योधन स्वयं कर्ण, शकुनि, दुःशासन आदिसे मन्त्रणा करके भगवान् श्रीकृष्णको ही गिरफ्तार करनेका कुचक्र रचने लगा। परंतु सात्यकिने उनकी मन्त्रणाका भेद प्राप्तकर महात्मा विदुरसे इसका रहस्योद्घाटन कर दिया।

दिव्य दर्शन

महात्मा विदुरने उसी सभामें दुर्योधनकी इस कुमन्त्रणाकी भर्त्सना आरम्भ कर दी। उन्होंने कहा—

विदुर उवाच

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम साम्प्रतम्।
सौभद्वारे दानवेन्द्रो द्विविदो नाम नामतः।
शिलावर्षेण महता छादयामास केशवम्॥
ग्रहीतुकामो विक्रम्य सर्वयत्नेन माधवम्।
ग्रहीतुं नाशकच्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात्॥
प्राग्ज्योतिषगतं शौरिं नरकः सह दानवैः।
ग्रहीतुं नाशकत् तत्र तं त्वं प्रार्थयसे बलात्॥
अनेकयुगवर्षायुर्निहत्य नरकं मृधे।
नीत्वा कन्या सहस्राणि उपयेमे यथाविधि॥
निर्मोचने षट् सहस्राः पाशैर्बद्धा महासुराः।
ग्रहीतुं नाशकंश्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात्॥
अनेन हि हता बाल्ये पूतना शकुनी तथा।
गोवर्धनो धारितश्च गवार्थे भरतर्षभ॥
अरिष्टो धेनुकश्चैव चाणूरश्च महाबलः।
अश्वराजश्च निहतः कंसश्चारिष्टमाचरन्॥
जरासंधश्च वक्रश्च शिशुपालश्च वीर्यवान्।
बाणश्च निहतः संख्ये राजानश्च निषूदिताः॥
वरुणो निर्जितो राजा पावकश्चामितौजसा।
पारिजातं च हरता जितः साक्षाच्छचीपतिः॥
एकार्णवे च स्वपता निहतौ मधुकैटभौ।
जन्मान्तरमुपागम्य हयग्रीवस्तथा हतः॥
अयं कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे।
यद् यदिच्छेदयं शौरिस्तत् तत् कुर्यादयत्नतः॥
तं न बुद्ध्यसि गोविन्दं घोरविक्रममच्युतम्।
आशीविषमिव क्रुद्धं तेजोराशिमनिन्दितम्॥

प्रधर्षयन् महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम्।
पतङ्गोऽग्निमिवासाद्य सामात्यो न भविष्यसि॥
(उद्योग० १३० । ४१-५३)

'दुर्योधन ! इस समय मेरी बातपर ध्यान दो । सौभद्वारमें द्विविद नामसे प्रसिद्ध एक वानरोंका राजा रहता था, जिसने एक दिन पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा करके भगवान् श्रीकृष्णको आच्छादित कर दिया । उसने पराक्रम करके सभी उपायोंसे श्रीकृष्णको पकड़ना चाहा, परंतु इन्हें कभी न पकड़ सका । उन्हीं श्रीकृष्णको तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो ? पहलेकी बात है, प्राग्ज्योतिषपुरमें गये हुए श्रीकृष्णको दानवोंसहित नरकासुरने भी वहाँ बंदी बनानेकी चेष्टा की; परंतु वह भी वहाँ सफल न हो सका । उन्हींको तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो ? अनेक युगों तथा असंख्य वर्षोंकी आयुवाले नरकासुरको युद्धमें मारकर श्रीकृष्ण उसके यहाँसे सहस्रों राजकन्याओंको (उद्धार करके) ले गये और उन सबके साथ उन्होंने विधिपूर्वक विवाह किया । निर्मोचनमें छः हजार बड़े-बड़े असुरोंको भगवान्‌ने पाशोंमें बाँध लिया । वे असुर भी जिन्हें बंदी न बना सके, उन्हींको तुम बलपूर्वक वशमें करना चाहते हो ?'

'भरतश्रेष्ठ ! इन्होंने बाल्यावस्थामें बकी पूतनाका वध किया था और गौओंकी रक्षाके लिये अपने हाथपर गोवर्धनपर्वतको धारण किया था । अरिष्टासुर, धेनुक, महाबली चाणूर, अश्वराज केशी और कंस भी लोकहित-के विरुद्ध आचरण करनेपर श्रीकृष्णके ही हाथसे मारे गये थे । जरासंध, दन्तवक्र, पराक्रमी शिशुपाल और बाणासुर भी इन्हींके हाथसे मारे गये हैं तथा अन्य बहुत-से राजाओंका भी इन्होंने ही संहार किया है । अमिततेजस्वी श्रीकृष्णने राजा वरुणपर विजय पायी है । इन्होंने अग्निदेवको भी पराजित किया है और पारिजात-हरण करते समय साक्षात् शचीपति इन्द्रको भी जीता है । इन्होंने एकार्णवके जलमें सोते समय मधु और कैटभ नामक दैत्योंको मारा था, और दूसरा शरीर धारण करके हयग्रीव नामक राक्षसका भी इन्होंने ही वध किया था । ये ही सबके कर्ता हैं, इनका दूसरा कोई कर्ता नहीं है । सबके पुरुषार्थके कारण भी ये ही हैं । ये भगवान् श्रीकृष्ण जो भी चाहें, वह सब अनायास ही कर सकते हैं । अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् गोविन्दका पराक्रम भयंकर है । तुम इन्हें अच्छी तरह नहीं जानते । ये क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयानक हैं । ये सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित एवं तेजकी राशि हैं । अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण-का तिरस्कार करनेपर तुम अपने मन्त्रियोंसहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे पतंग आगमें पड़कर भस्म हो जाता है ।'

विदुरजीके यों कहनेपर भगवान् वासुदेवने मुस्कराते हुए दुर्योधनसे कहा—'अरे मूर्ख ! तुम मोहवश मुझे अकेला मान रहे हो ? यह तुम्हारा अज्ञान है । देखो, सब पाण्डव तथा अन्धक और वृष्णिवंशके वीर यहीं हैं ।' इतना कहकर विपक्षियोंका नाश करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अट्टहास किया और तुरन्त उनके श्रीअङ्गोंसे विद्युत्‌के समान कान्तिवाले अङ्गुष्ठमात्र आकारके देवता आगकी लपटें छोड़ने लगे । आदित्य, साध्य, वसु, अश्विनीकुमार, इन्द्रसहित मरुद्गण, विश्वेदेव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस विभिन्न अङ्गोंमें प्रकट हो गये । दाहिनी और बायीं भुजामें अर्जुन और बलराम तथा पृष्ठ-देशमें युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल और सहदेव स्थित दीख पड़े । प्रद्युम्न आदि वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी योद्धा महान् अस्त्र-शस्त्र धारण किये भगवान्‌के अग्रभागमें प्रकट हो गये । शङ्ख, चक्र, गदा, शक्ति, शार्ङ्गधनुष, हल तथा नन्दक नामक खड्ग—समस्त आयुध श्रीकृष्णकी अनेक भुजाओंमें देदीप्यमान हो उठे । उनके नेत्रोंसे, नासिका-छिद्रोंसे, कानोंसे भयंकर धूमयुक्त आगकी लपटें निकलने लगीं । सारे रोमकूपोंसे सूर्यके समान दिव्य किरणें छिटक उठीं । कृष्णका यह भयंकर रूप देखकर भयसे समस्त राजाओंने आँखें मूँद लीं । द्रोण, भीष्म, विदुर, सञ्जय तथा उपस्थित ऋषिगण इस दिव्यरूपको एकटक हो देखने लगे । उनको भगवान् वासुदेवने दिव्य-दृष्टि प्रदान कर दी । उस सभाभवनमें भगवान् श्रीकृष्ण-का यह परम आश्चर्यमय रूप देखकर देवता आनन्दसे पुष्प-वर्षा करने लगे और दुन्दुभियाँ बजाने लगे ।

भगवान् वासुदेवने निस्संदेह दौत्यकर्मको पूर्णतः निभाया, कौरवों और पाण्डवोंमें संधि करानेकी पूरी चेष्टा की, अन्तमें अपने पूर्णतः ऐश्वर्यको भी व्यक्त किया; पर दुर्योधनने उनकी एक न मानी और अब निश्चय हो गया कि युद्धसे ही सब कुछ निर्णय होगा। तब भगवान् वासुदेव रथपर सवार होकर कुन्तीसे मिलने गये। कुन्तीने भगवान्से कहा—'केशव! अर्जुनसे कहना कि उसके जन्मके समयमें यह आकाशवाणी मैंने सुनी थी—

पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत्।
हत्वा कुरूंश्च संग्रामे वासुदेवसहायवान्॥
(उद्यो० १३७। ४)

'तेरा यह पुत्र भगवान् वासुदेवकी सहायतासे कौरवोंको मारकर इस भूमण्डलको जीत लेगा और इसका यश स्वर्गतक फैल जायगा। क्षत्राणी जिस धर्म-युद्धके लिये पुत्रको जन्म देती है, वह उपयुक्त अवसर अब आ गया है। वीरो! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर अपने पराक्रमसे भूतलका राज्य प्राप्त करके उसका भोग करो। यही मैं तुमसे चाहती हूँ।' रानी कुन्तीका यह संदेश लेकर भगवान् वासुदेव अपने अनुयायियोंके साथ उपप्लव्यनगरमें पाण्डवोंके पास पहुँचे।

× × ×

[भीष्मपर्व--]

जब दोनों पक्षकी सेनाएँ युद्ध-भूमिमें सुसज्जित हो गयीं, तब युधिष्ठिरने भीष्मके द्वारा अभेद्य व्यूहमें अवस्थित कौरव-सेनाको देखा और वे घबरा गये। उन्होंने अर्जुनसे कहा कि 'हमलोग अपनी सेनाओंके साथ प्राण-संकटकी स्थितिमें आ गये हैं। इस महान् व्यूहसे हमारा उद्धार कैसे होगा?' अर्जुनने कहा—

त्यक्त्वा धर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिताः।
युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः॥
गुणभूतो जयः कृष्णे पृष्ठतोऽभ्येति माधवम्।
तद् यथा विजयश्चास्य संनतिश्चापरो गुणः॥
अनन्ततेजा गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः।
पुरुषः सनातनमयो यतः कृष्णस्ततो जयः॥
(भी० २१। ११; १३—१४)

"देवासुर-संग्राममें भी देवतालोग जब असुरोंके सैन्य बलको देखकर हतोत्साह हो रहे थे, तब ब्रह्माजीने उनसे कहा था—'देवताओ! अधर्म, मोह और लोभ त्याग-कर उद्यमका सहारा ले अहंकाररहित होकर युद्ध करो। जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।' राजन्! विजय तो श्रीकृष्णका गुण है, वह श्रीमाधवके पीछे-पीछे चलता है। विजयके समान ही विनय भी उनका गुण है। श्रीगोविन्दका तेज अनन्त है, वे शत्रुओंके समूहमें भी घबराते नहीं। क्योंकि वे सनातन पुरुष हैं।' अतः जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ विजय है।"

इस प्रकार नरावतार अर्जुनने युद्धके पूर्व ही विजय-प्राप्तिका समाश्वासन प्रदान किया और इसके द्वारा इस चरम सत्यको उद्घोषित किया कि जो भगवान् वासुदेव-की कृपा प्राप्त कर चुके हैं, उनकी जीवन-नौका कभी मझधारमें नहीं डूबती, उसका पार लगना अवश्यम्भावी है। इसके बाद भगवान् वासुदेवकी आज्ञासे अर्जुनने रथसे नीचे उतरकर दुर्गाजीकी स्तुति की। उस स्तुतिसे प्रसन्न होकर दुर्गाजी अन्तरिक्षमें प्रकट हो गयीं और बोलीं—

स्वल्पेनैव तु कालेन शत्रूञ्जेष्यसि पाण्डव।
नरस्त्वमसि दुर्द्धर्ष नारायणसहायवान्॥

'पाण्डुनन्दन! तुम थोड़े ही समयमें शत्रुओंपर विजय प्राप्त करोगे। दुर्द्धर्ष वीर! तुम साक्षात् नर हो और साक्षात् नारायण तुम्हारी सहायता कर रहे हैं।' इतना कहकर वरदायिनी दुर्गाजी तुरंत अन्तर्धान हो गयीं। यहाँ ग्रन्थकारने दुर्गाजीके द्वारा भी नर-नारायणके अवतारके सिद्धान्तका प्रतिपादन करा दिया।

भगवती दुर्गाका वरदान प्राप्तकर अर्जुन रथपर आरूढ़ हुए और भगवान् श्रीकृष्णसे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले चलनेके लिये कहा। वहाँ जाकर जब अर्जुनने भीष्मपितामह, गुरु द्रोण तथा अन्यान्य सहस्रों वीरोंको देखा, जो उनके सगे-सम्बन्धी थे और आपसमें लड़कर एक-दूसरेका प्राण लेनेके लिये उद्यत थे, तब उनको मोहने आ घेरा और श्रीकृष्णसे कह दिया—'भगवन्! मैं अपने सगे-सम्बन्धियोंको इहलोकके राज्यके लिये तो क्या, तीन लोकोंका राज्य भी मुझे मिल जाय तो भी न मारूँगा।' अर्जुनके इस

मोहको दूर करनेके लिये योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको जिस तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया, वह जगत्-प्रसिद्ध श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णित है। इस महान् उपदेशके प्रसङ्गमें भगवान्ने अर्जुनको अपने विराट्रूपका तथा दिव्य-रूपका दर्शन देकर उनके मोहजनित अन्धकारको दूर कर दिया। अर्जुन आत्मस्थ होकर बोल उठे—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥
(भी० ४२। ७३)

'अच्युत! मेरा मोह नष्ट हो गया, आपकी कृपासे मैंने स्मृति प्राप्त कर ली; अब मेरा संदेह दूर हो गया है, मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा।'

यह भगवद्गीता संसारके साहित्यका शिरोरत्न है। संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं कि 'मैंने भगवान् वासुदेव और अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त और रोमाञ्चकारी संवादको सुना, व्यासजीकी कृपासे योगेश्वर साक्षात् श्रीकृष्णके मुखसे इस परमगुह्य योगको सुना। केशव और अर्जुनके इस पुण्यजनक अद्भुत संवादको याद कर-करके मैं बारंबार हर्षित हो रहा हूँ।' वस्तुतः विश्व-मानवके लिये भगवान् वेदव्यासकी यह बहुत बड़ी देन है, जिनकी कृपासे दिव्यदृष्टि प्राप्तकर धर्मात्मा संजयने श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस अद्भुत संवादको सर्वसाधारणके लिये सुलभ कर दिया।

श्रीभगवद्गीताके उपदेशमें भगवान्ने स्पष्टरूपमें अपने स्वरूपका व्याख्यान तथा अपने महत्त्वका दिग्दर्शन कराया है। उन्हींके शब्दोंमें उसकी कुछ महत्ताके दर्शन करें—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥
(गीता ४। ६–१०)

'मैं जन्मरहित और विनाशरहित तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी मायासे प्रकट होता हूँ। भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-ही-तब मैं अपने स्वरूपको प्रकट करता हूँ। साधुपुरुषोंका परित्राण और दुष्कृती मनुष्योंका विनाश तथा धर्मके संस्थापनके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ। अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं। अर्थात् न तो मेरा जन्म कर्मवश होता है, न मेरा शरीर पाञ्चभौतिक है, न मेरे कर्म किसी वासना-कामनासे प्रेरित होते हैं; अतएव वे सब दिव्य हैं। इस प्रकार तत्त्वसे जो पुरुष मेरे जन्म-कर्मके रहस्यको जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह मुझको (भगवान्‌को) ही प्राप्त होता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(५। २९)

'मुझको जो पुरुष यज्ञ-तपोंका भोक्ता, समस्त लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सब प्राणियोंका सुहृद् (अहैतुक मित्र) जान लेता है, वह शान्ति प्राप्त करता है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें मेरे मतसे परमश्रेष्ठ योगी वह है, जो श्रद्धावान् है और मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मेरा भजन करता है।

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७। ७)

'धनंजय! मेरे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंकी भाँति मुझमें ही गुँथा हुआ है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(७। १५)

'मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, जो आसुरी स्वभावके आश्रित है, ऐसे नराधम, पापकर्मा मूढ लोग मेरा भजन नहीं करते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७।१६–१९)

'भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! पुण्यकर्मा अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्त मुझको भजते है। इनमें नित्य मुझमें जुड़ा हुआ अनन्य भक्तिसम्पन्न ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि उस ज्ञानीको (केवल) मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्रिय है। ये सभी उदार हैं, परंतु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है–– ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मुझमें युक्तात्मा पुरुष सर्वोत्तम गतिरूप मुझमें ही स्थित है। बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें ज्ञानवान् पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा सुदुर्लभ है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(गीता ८। १४–१६)

'अर्जुन ! जो अनन्यचित्त पुरुष नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें जुड़े हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। परमसिद्धिको प्राप्त महात्मागण मुझको प्राप्त होकर दुःखके घर अनित्य पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

अर्जुन ! ब्रह्मलोकसे लेकर सभी लोक पुनरावर्ती हैं, अर्थात् वहाँसे लौटना पड़ता है; परंतु प्यारे कौन्तेय ! मुझको प्राप्त होकर (किसीको) पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
(गीता ९। ४–५)

'मुझ अव्यक्तस्वरूपके द्वारा यह सब जगत् व्याप्त है; सब प्राणी मुझमें स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। और वे सब प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं हैं— मेरे इस योग-ऐश्वर्यको तुम देखो। प्राणियोंका धारण-पोषण करनेवाला, भूतभावन भी मेरा आत्मा प्राणियोंमें स्थित नहीं है। अर्थात् केवल मैं ही मैं हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥
(गीता ९। १७–१९)

'मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्का धाता (धारण करनेवाला), पिता, माता, पितामह हूँ और मैं ही पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी हूँ। मैं ही सबकी गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी (सबके कर्मोंका नित्य द्रष्टा), निवास (सबको स्थान देनेवाला), शरण लेने योग्य, सुहृद्, उत्पत्ति तथा प्रलयरूप, सबका आधार, सबका निधान, अविनाशी बीजरूप हूँ। मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाको रोकता हूँ, बरसाता हूँ और मैं ही अमृत, मृत्यु, सत् और असत् हूँ। अर्थात् सब कुछ मैं हूँ और सब कुछ मुझसे है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

'जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य मुझमें जुड़े हुए भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥
(९। २४)

'सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता तथा प्रभु भी मैं ही हूँ। परंतु लोग मुझको तत्त्वसे भलीभाँति जानते नहीं, इसीसे गिरते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(९। २६)

'यदि कोई भक्त मेरे लिये भक्तिके साथ पत्र, पुष्प, फल या जल भी अर्पण करता है तो उस प्रेमी भक्तका भक्तिपूर्वक समर्पण किया हुआ वह (पदार्थ) मैं खा लेता हूँ।'

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(९ । ३०-३१)

'यदि कोई अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभाक् होकर अर्थात् अपनी भक्तिका भाग दूसरेको न देकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माना जाना चाहिये; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। वह तुरंत ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तुम निश्चयरूपसे सत्य जानो—मेरे भक्तका कभी नाश (तन) नहीं होता।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९ । ३२—३४)

'पार्थ! स्त्री, वैश्य, शूद्र—यहाँतक कि पापयोनि (चाण्डालादि) भी, जो मेरे आश्रित होते हैं, परमगतिको प्राप्त करते हैं। फिर पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्तोंके लिये तो कहना ही क्या है। अतः इस सुखरहित और अनित्य मानव-शरीरको पाकर तुम सदा मेरा ही भजन करो। मुझमें ही मन लगाओ, मेरे ही भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो, मुझको ही नमस्कार करो, इस प्रकार मेरे परायण होकर अपनेको मुझमें जोड़ देनेपर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।'

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(१० । २-३)

अर्जुन! मेरी उत्पत्तिको न तो देवता जानते हैं न महर्षिगण ही; क्योंकि मैं ही सब प्रकारसे सारे देवताओं और महर्षियोंका भी आदि (कारण) हूँ। जो मुझको अजन्मा, अनादि तथा लोकोंका महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्योंमें असम्मूढ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१० । ८—१०)

'मैं ही सबका प्रभव (उत्पत्तिका कारण) हूँ, मुझसे ही सब प्रवर्तित होता है। इस प्रकार मानकर भावसमन्वित बुद्धिमान् पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं। मुझमें चित्त लगाये हुए तथा मुझे जीवन अर्पण किये हुए भक्त नित्य-निरन्तर परस्पर मेरा ही बोध कराते हैं, मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मुझमें जुड़े हुए तथा प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं।

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१० । ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतिमान्, श्रीमान् और शक्तिमान् वस्तु है, उस-उसको तुम मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न जानो। अथवा अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तुम्हें क्या प्रयोजन है। इतना ही जान लो कि इस समस्त जगत्को मैं अपने एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(११ । ५४-५५)

'श्रेष्ठ तपस्वी अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, जाना जा सकता हूँ

और मुझमें प्रवेश भी पाया जा सकता है। अर्जुन! जो पुरुष मेरा ही कर्म करता है, मेरे ही परायण है, मेरा ही भक्त है, आसक्तिसे रहित है तथा समस्त प्राणियोंमें वैर-भावसे रहित है, वह मुझीको प्राप्त होता है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता॥
(१४। ३-४)

'अर्जुन! महद्ब्रह्म (प्रकृति) मेरी योनि है, मैं उसमें गर्भाधान करता हूँ, उससे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। कौन्तेय! सब योनियोंमें जितने शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी प्रकृति ही गर्भ धारण करनेवाली योनि है और मैं बीज स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४। २७)

'अविनाशी ब्रह्म, अमृत, सनातनधर्म और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ।'

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(१५। १८-१९)

''क्योंकि मैं क्षर (प्रकृति) से अतीत तथा अक्षर (ब्रह्म) से उत्तम हूँ, इसीसे लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ। भारत! इस प्रकार जो पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जान चुका है और वह सर्वभावसे मुझको ही भजता है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८। ६५-६६)

'मुझमें मनवाले होओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करनेवाले होओ, मुझको नमस्कार करो, तो मुझको ही प्राप्त होओगे। यह मैं तुम्हारे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम मेरे प्यारे हो। सब धर्मोंका परित्याग करके एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम सोच मत करो।'

भीष्मके ऊपर चक्र-अभियान

युद्धके तीसरे दिन जब भीष्मपितामह उग्र रूप धारणकर पाण्डवसेनाका संहार करने लगे, तब अर्जुनके रथको लेकर भगवान् वासुदेव उनके सामने गये। भयानक युद्ध शुरू हो गया। भीष्म पाण्डव-सेनाका संहार करने लगे, भीष्मके भयानक शरोंकी वर्षासे पाण्डवपक्षके सैनिक भागने लगे। सात्यकिने उनको ललकारा, पर वे न लौटे। भीष्मको संग्राममें अधिकाधिक प्रचण्ड होते देखकर भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके, वे बोले—

न मे रथी सात्वत कौरवाणां
क्रुद्धस्य मुच्येत रणेऽद्य कश्चित्।
तस्मादहं गृह्य रथाङ्गमुग्रं
प्राणं हरिष्यामि महाव्रतस्य॥
(भीष्म० ५९। ८५)

'वीर सात्यकि! आज कौरव-सेनाका कोई भी रथी क्रोधमें भरे हुए मुझ श्रीकृष्णके हाथसे बच नहीं सकता। मैं अपना भयंकर चक्र धारण करके महाव्रती भीष्मका प्राण-हरण करूँगा।' अहा! इतना कहकर भक्त-भयहारी भगवान् वासुदेवने अपनी प्रतिज्ञाकी परवा न करके चक्रको आमन्त्रित किया, और उसे धारण करके द्रुतवेगसे, अर्जुनका रथ छोड़कर, भीष्मकी ओर लपके। भगवान्‌के इस रूपका वर्णन करते हुए व्यासजी कहते हैं—

सोऽभिद्रवन् भीष्ममनीकमध्ये
क्रुद्धो महेन्द्रावरजः प्रमाथी।
व्यालम्बिपीतान्तपटश्चकाशे
घनो यथा खे तडितावनद्धः॥
(५९। ९०)

'शत्रुओंके चित्तको मथ देनेवाले वे श्रीकृष्ण क्रोधित होकर सेनाके बीचमें भीष्मकी ओर झपटे। उस समय उनके शरीरपर फहराता हुआ पीताम्बर इस प्रकार सुशोभित हो उठा, जैसे आकाशमें तडित्‌से विलसित मेघ सुशोभित होता है।'

उवाच भीष्मस्तमनन्तपौरुषं
गोविन्दमाजावविमूढचेताः ।
एह्येहि देवेश जगन्निवास
नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे ॥
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये ॥
त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण
श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके ।
सम्भावितोऽस्म्यन्धकवृष्णिनाथ
लोकैस्त्रिभिर्वीर तवाभियानात् ॥
(भीष्म० ५९ । ९६-९८)

उस समय युद्धस्थलमें भीष्मके चित्तमें तनिक भी मोह नहीं था । वे अनन्त पुरुषार्थशाली भगवान् श्रीकृष्ण-का आह्वान करते हुए बोले—'आइये, आइये, देवेश्वर ! जगन्निवास ! आपको नमस्कार है । हाथमें चक्र लेकर आये हुए माधव ! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये । श्रीकृष्ण ! आज आपके हाथसे यदि मैं मारा गया तो इहलोक और परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा । अन्धक और वृष्णिकुलकी रक्षा करनेवाले वीर ! आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरा गौरव बढ़ गया ।'

अवश्य ही जबतक यह पृथ्वी कायम है, महाभारतकी गाथाके साथ-साथ महाधनुर्धर भीष्मपितामहके ऊपर श्रीकृष्णके चक्राभियानकी यह गाथा उनके गौरवको अक्षुण्ण बनाये रखेगी । भगवान् वासुदेवको इस प्रकार भीष्मकी ओर जाते देख अर्जुन वेगसे उनके पीछे दौड़े और उनके श्रीचरणोंको पकड़कर बोले—'केशव ! क्रोध शमन कीजिये । प्रभो ! आप ही पाण्डवोंकी गति हैं !' भगवान्ने लौटकर पुनः घोड़ोंकी बागडोर सँभाल ली ।

नर-नारायणकी महिमाका प्रतिपादन

महाभारतके युद्धके चतुर्थ दिन दुर्योधन भीष्मपिता-महके पास गया और उसने पूछा कि, 'आप, द्रोणाचार्य, शल्य, अश्वत्थामा आदि महारथी, जो एक साथ मिलकर त्रिलोकीपर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं, पाण्डवोंके पराक्रमके सामने नहीं टिक रहे हैं !'

तत्र मे संशयो जातस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।
यं समाश्रित्य कौन्तेया जयन्त्यस्मान् क्षणे क्षणे ॥

'पितामह ! मुझे संशय हो रहा है, मुझको बतलाइये, किसका आश्रय लेकर ये कुन्तीपुत्र क्षण-क्षणमें हमलोगों-पर विजय प्राप्त कर रहे हैं ?' पितामहने कहा—'राजन् ! मेरी बात सुनो । मैंने बार-बार तुमसे कहा है, पर तुम सुन नहीं रहे हो । पाण्डवोंके साथ संधि कर लो, इसीमें तुम्हारा और विश्वका कल्याण है ।' फिर भीष्मजीने ब्रह्माजीके द्वारा की हुई भगवत्स्तुति सुनाते हुए कहा—

"लोकमें ऐसा कोई प्राणी न हुआ है, न है और न होगा, जो शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले भगवान् श्री-कृष्णके द्वारा सुरक्षित इन सब पाण्डवोंपर विजय पा सके; तथा देवता, असुर और मनुष्योंमें भी ऐसा कोई नहीं है, जो उन भगवान् श्रीहरिको यथार्थरूपसे जान सके । तात धर्मज्ञ ! पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंने मुझसे जो पुराणप्रतिपादित यथार्थ बातें कही हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ! पहलेकी बात है, समस्त देवता और महर्षि गन्धमादन पर्वतपर आकर पितामह ब्रह्माजीके पास बैठे । उस समय उनके बीच बैठे हुए प्रजापति ब्रह्माने आकाशमें खड़ा हुआ एक श्रेष्ठ विमान देखा, जो अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहा था । अपने मनको संयममें रखनेवाले ब्रह्माजीने ध्यानसे यथार्थ बात जानकर हाथ जोड़ लिये और प्रसन्नचित्त होकर उन परम पुरुष परमेश्वरको नमस्कार किया । ऋषि तथा देवता ब्रह्माजीको खड़े (और हाथ जोड़े) हुए देख स्वयं भी उस परम अद्भुत तेजका दर्शन करते हुए हाथ जोड़कर खड़े हो गये । ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, परम धर्मज्ञ, जग-त्स्रष्टा ब्रह्माजीने उन तेजोमय परम पुरुषका यथावत् पूजन करके उनकी स्तुति की—'प्रभो ! आप सम्पूर्ण विश्वको आच्छादित करनेवाले विश्वस्वरूप और विश्वके स्वामी हैं । विश्वमें सब ओर आपकी सेना है । यह विश्व आपका ही कार्य है । आप सबको अपने वशमें रखनेवाले हैं । इसीलिये आपको विश्वेश्वर और वासुदेव कहते हैं । आप योगस्वरूप देवता हैं, मैं आपकी शरणमें आया हूँ । विश्वरूप महादेव ! आपकी जय हो; लोकहितमें लगे रहनेवाले परमेश्वर, आपकी जय हो ! सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले योगीश्वर ! आपकी जय हो ।
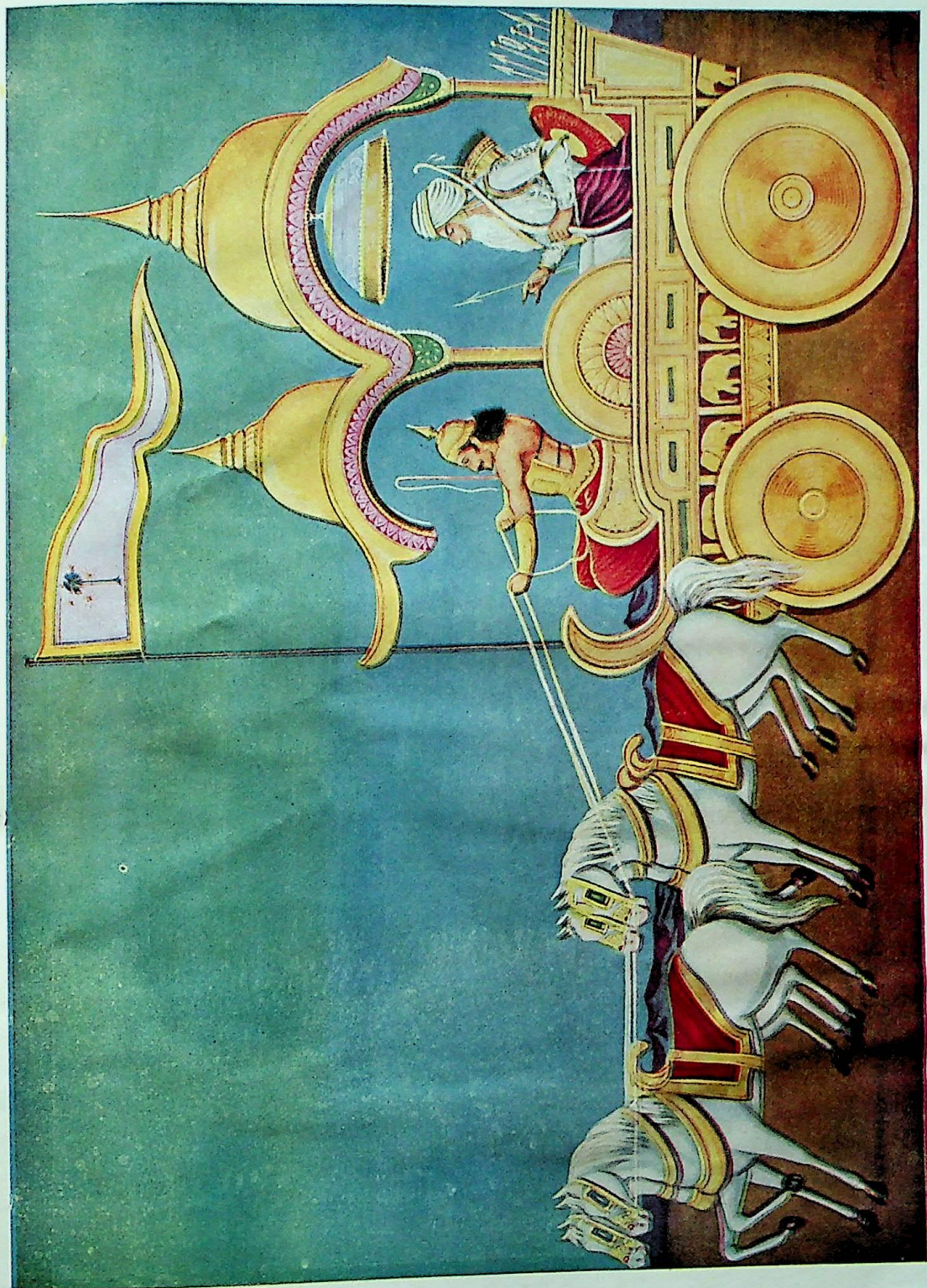
भीष्मपितामह

योगके आदि और अन्त ! आपकी जय हो । आपकी नाभिसे आदि कमलकी उत्पत्ति हुई है, आपके नेत्र विशाल हैं, आप लोकेश्वरोंके भी ईश्वर हैं; आपकी जय हो । भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी ! आपकी जय हो । आपका स्वरूप सौम्य है, मैं स्वयम्भू ब्रह्मा आपका पुत्र हूँ । आप असंख्य गुणोंके आधार और सबको शरण देनेवाले हैं, आपकी जय हो । शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले नारायण ! आपकी महिमाका पार पाना बहुत ही कठिन है । आपकी जय हो । आप समस्त कल्याण-मय गुणोंसे सम्पन्न, विश्वमूर्ति और निरामय हैं; आपकी जय हो । जगत्का अभीष्ट साधन करनेवाले महाबाहु विश्वेश्वर ! आपकी जय हो । आप महान् शेषनाग और महावाराहका रूप धारण करनेवाले हैं, सबके आदि कारण हैं । हरिकेश ! प्रभो ! आपकी जय हो । आप पीताम्बरधारी, दिशाओंके स्वामी, विश्वके आधार, अप्रमेय और अविनाशी हैं । व्यक्त और अव्यक्त—सब आपका ही स्वरूप है । आपके रहनेका स्थान असीम—अनन्त है, आप इन्द्रियोंके नियन्ता हैं । आपके सभी कर्म शुभ-ही-शुभ हैं । आपकी कोई इयत्ता नहीं है । आप आत्मस्वरूपके ज्ञाता, स्वभावतः गम्भीर और भक्तोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले हैं । आपकी जय हो । ब्रह्मन् ! आप अनन्त बोधस्वरूप हैं, नित्य हैं और सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं । आपको कुछ करना बाकी नहीं है । आपकी बुद्धि पवित्र है, आप धर्मका तत्त्व जाननेवाले हैं और विजय-प्रदाता हैं । पूर्णयोगस्वरूप परमात्मन् ! आपका स्वरूप गूढ़ होता हुआ भी स्पष्ट है । अबतक जो हो चुका है और जो हो रहा है, सब आपका ही रूप है । आप सम्पूर्ण भूतोंके आदिकारण और लोक-तत्त्वके स्वामी हैं । भूतभावन ! आपकी जय हो । आप स्वयम्भू हैं, आपका सौभाग्य महान् है । आप इस कल्पका संहार करनेवाले एवं विशुद्ध परब्रह्म हैं । ध्यान करनेसे अन्तःकरणमें आपका आविर्भाव होता है, आप जीवमात्र-के प्रियतम परब्रह्म हैं; आपकी जय हो ।' आप स्वभावतः संसारकी सृष्टिमें प्रवृत्त रहते हैं, आप ही सम्पूर्ण कामनाओंके स्वामी परमेश्वर हैं । अमृतकी उत्पत्तिके स्थान, सत्यस्वरूप, मुक्तात्मा और विजय देनेवाले आप ही हैं । देव ! आप ही प्रजापतियोंके भी पति, पद्मनाभ और महाबली हैं । आत्मा और महाभूत भी आप ही हैं। सत्त्वस्वरूप परमेश्वर ! सदा आपकी जय हो। पृथ्वी देवी आपकी चरणस्थानीया हैं, दिशाएँ बाहु हैं और द्युलोक मस्तक है । मैं ब्रह्मा आपका शरीर, देवता अङ्ग-प्रत्यङ्ग और चन्द्रमा तथा सूर्य नेत्र हैं । तप और सत्य आप-का बल है तथा धर्म ही आपका कर्म है । अग्नि आपका तेज, वायु साँस और जल पसीना है । अश्विनीकुमार आपके कान और सरस्वतीदेवी आपकी जिह्वा हैं । वेद आपकी संस्कारनिष्ठा हैं । यह जगत् सदा आपकेही आधार टिका हुआ है । योग-योगीश्वर ! हम न तो आपकी संख्या जानते हैं, न परिमाण । आपके तेज, पराक्रम और बलका भी हमें पता नहीं है । हम यह भी नहीं जानते कि आपका आविर्भाव कैसे होता है । देव ! हम तो आपकी उपासनामें लगे रहते हैं, आपके नियमोंका पालन करते हुए आपके ही शरण हैं । विष्णो ! हम सदा आप परमेश्वर एवं महेश्वरका पूजन ही करते हैं । आपकी ही कृपासे हमने पृथ्वीपर ऋषि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, पिशाच, मनुष्य, मृग, पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े आदिकी सृष्टि की है । पद्मनाभ ! विशाललोचन ! दुःखहारी श्रीकृष्ण ! आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंके आश्रय और नेता हैं, आप ही संसारके गुरु हैं । देवेश्वर ! आपकी कृपादृष्टि होनेसे ही सब देवता सदा सुखी रहते हैं । देव ! आपके ही प्रसादसे पृथ्वी सदा निर्भय रही है, इसलिये विशाललोचन ! आप पुनः पृथ्वीपर यदुवंशमें अवतार लेकर उसकी कीर्ति बढ़ाइये । प्रभो ! धर्मकी स्थापना, दैत्योंके वध और जगत्की रक्षा-के लिये हमारी प्रार्थना अवश्य स्वीकार कीजिये । वासुदेव ! आप ही पूर्णतम परमेश्वर हैं । आपका जो परम गुह्य यथार्थस्वरूप है, उसीका यहाँ इस रूपमें आपकी कृपासे ही गान किया गया है । श्रीकृष्ण ! आपने आत्माद्वारा स्वयं अपने आपको ही संकर्षणदेवके

रूपमें प्रकट करके अपने ही द्वारा आत्मजस्वरूप प्रद्युम्नकी सृष्टि की है। प्रद्युम्नसे आपने ही उन अनिरुद्धको प्रकट किया है, जिन्हें ज्ञानीजन अविनाशी विष्णुरूपसे जानते हैं। उन विष्णुरूप अनिरुद्धने ही मुझ लोकधाता ब्रह्माकी सृष्टि की है। प्रभो! इस प्रकार आपने ही मेरी सृष्टि की है। आपसे अभिन्न होनेके कारण मैं भी वासुदेवमय हूँ। लोकेश्वर! इसलिये याचना करता हूँ कि आप अपने आपको स्वयं ही (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—) इन चार रूपोंमें विभक्त करके मानव-शरीर ग्रहण कीजिये। वहाँ सब लोगोंके सुखके लिये असुरोंका वध करके धर्म और यशका विस्तार कीजिये। अन्तमें अवतारका उद्देश्य पूर्ण करके आप पुनः अपने पारमार्थिक स्वरूपसे संयुक्त हो जायँगे। अमितपराक्रमी परमेश्वर! संसारमें महर्षि और देवगण एकाग्रचित्त हो उन-उन लीलानुसारी नामोंद्वारा आपके परमात्मस्वरूपका गान करते रहते हैं। सुबाहो! आप वरदायक प्रभुका ही आश्रय लेकर समस्त प्राणिसमुदाय आपमें ही स्थित हैं। ब्राह्मणलोग आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, किसी सीमाके सम्बन्धसे शून्य (असीम) तथा लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये सेतुस्वरूप बताते हैं।

(भीष्म० अध्याय ६५)

भीष्म उवाच

ततः स भगवान् देवो लोकानामीश्वरेश्वरः।
ब्रह्माणं प्रत्युवाचेदं स्निग्धगम्भीरया गिरा॥
विदितं तात योगान्मे सर्वमेतत् तवेप्सितम्।
तथा तद् भवितेत्युक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत॥
ततो देवर्षिगन्धर्वा विस्मयं परमं गताः।
कौतूहलपराः सर्वे पितामहमथाब्रुवन्॥
को न्वयं यो भगवता प्रणम्य विनयाद् विभो।
वाग्भिः स्तुतो वरिष्ठाभिः श्रोतुमिच्छाम तं वयम्॥
एवमुक्तस्तु भगवान् प्रत्युवाच पितामहः।
देवब्रह्मर्षिगन्धर्वान् सर्वान् मधुरया गिरा॥
यत् तत् परं भविष्यं च भवितव्यं च यत्परम्।
भूतात्मा च प्रभुश्चैव ब्रह्म यच्च परं पदम्॥
तेनास्मि कृतसंवादः प्रसन्नेन सुरर्षभाः।
जगतोऽनुग्रहार्थाय याचितो मे जगत्पतिः॥
मानुषं लोकमातिष्ठ वासुदेव इति श्रुतः।
असुराणां वधार्थाय सम्भवस्व महीतले॥
संग्रामे निहता ये ते दैत्यदानवराक्षसाः।
त इमे नृषु सम्भूता घोररूपा महाबलाः॥
तेषां वधार्थं भगवान् नरेण सहितो वशी।
मानुषीं योनिमास्थाय चरिष्यति महीतले॥
नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ।
सहितौ मानुषे लोके सम्भूतावमितद्युती॥
अजेयौ समरे यत्तौ सहितैरमरैरपि।
मूढास्त्वेतौ न जानन्ति नरनारायणावृषी॥
तस्याहमग्रजः पुत्रः सर्वस्य जगतः प्रभुः।
वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः॥
तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः।
नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः॥
एतत् परमकं गुह्यमेतत् परमकं पदम्।
एतत् परमकं ब्रह्म एतत् परमकं यशः॥
एतदक्षरमव्यक्तमेतद् वै शाश्वतं महः।
यत् तत् पुरुषसंज्ञं वै गीयते ज्ञायते न च॥
एतत् परमकं तेज एतत् परमकं सुखम्।
एतत् परमकं सत्यं कीर्तितं विश्वकर्मणा॥
तस्मात् सेन्द्रैः सुरैः सर्वैर्लोकैश्चामितविक्रमः।
नावज्ञेयो वासुदेवो मानुषोऽयमिति प्रभुः॥
यश्च मानुषमात्रोऽयमिति ब्रूयात् स मन्दधीः।
हृषीकेशमवज्ञानात् तमाहुः पुरुषाधमम्॥
योगिनं तं महात्मानं प्रविष्टं मानुषीतनुम्।
अवमन्येद् वासुदेवं तमाहुस्तामसं जनाः॥
देवं चराचरात्मानं श्रीवत्साङ्कं सुवर्चसम्।
पद्मनाभं न जानाति तमाहुस्तामसं बुधाः॥
किरीटकौस्तुभधरं मित्राणामभयंकरम्।
अवजानन् महात्मानं घोरे तमसि मज्जति॥
एवं विदित्वा तत्त्वार्थं लोकानामीश्वरेश्वरः।
वासुदेवो नमस्कार्यः सर्वलोकैः सुरोत्तमाः॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् देवान् सर्षिगणान् पुरा।
विसृज्य सर्वभूतात्मा जगाम भवनं स्वकम्॥
ततो देवाः स गन्धर्वा मुनयोऽप्सरसोऽपि च।
कथां तां ब्रह्मणा गीतां श्रुत्वा प्रीता दिवं ययुः॥
एतच्छ्रुतं मया तात ऋषीणां भावितात्मनाम्।
वासुदेवं कथयतां समवाये पुरातनम्॥
रामस्य जामदग्न्यस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः।
व्यासनारदयोश्चापि सकाशाद् भरतर्षभ॥
एतमर्थं च विज्ञाय श्रुत्वा च प्रभुमव्ययम्।
वासुदेवं महात्मानं लोकानामीश्वरेश्वरम्॥
(जानामि भरतश्रेष्ठ कृष्णं नारायणं प्रभुम्।)

यस्य चैवात्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पिता।
कथं न वासुदेवोऽयमर्च्यश्चेज्यश्च मानवैः॥
वारितोऽसि मया तात मुनिभिर्वेदपारगैः।
मा गच्छ संयुगं तेन वासुदेवेन धन्विना॥
मा पाण्डवैः सार्धमिति तत् त्वं मोहान्न बुध्यसे।
मन्ये त्वां राक्षसं क्रूरं तथा चासि तमोवृतः॥
यस्माद् द्विषसि गोविन्दं पाण्डवं तं धनंजयम्।
नरनारायणौ देवौ कोऽन्यो द्विष्याद्धि मानवः॥
तस्माद् ब्रवीमि ते राजन्नेष वै शाश्वतोऽव्ययः।
सर्वलोकमयो नित्यः शास्ता धात्रीधरो ध्रुवः॥
यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः॥
राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः॥
तस्य माहात्म्ययोगेन योगेनात्ममयेन च।
धृताः पाण्डुसुता राजञ्जयश्चैषां भविष्यति॥
श्रेयोयुक्तां सदा बुद्धिं पाण्डवानां दधाति यः।
बलं चैव रणे नित्यं भयेभ्यश्चैव रक्षति।
स एष शाश्वतो देवः सर्वगुह्यमयः शिवः।
वासुदेव इति ज्ञेयो यन्मां पृच्छसि भारत॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः।
सेव्यतेऽभ्यर्च्यते चैव नित्ययुक्तैः स्वकर्मभिः॥
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन वै॥
(कृष्णेति नाम्ना विख्यात इमं लोकं स रक्षति।)

(भीष्म० ६६। १-४०)

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन ! तब ब्रह्माजीके स्तवनको सुनकर लोकेश्वरोंके भी परम ईश्वर दिव्यरूपधारी श्रीभगवान्ने स्नेहमधुर गम्भीर वाणीमें ब्रह्माजीसे इस प्रकार कहा—'तात ! तुम्हारे मनमें जो कुछ इच्छा है, वह सब मुझे योगबलसे ज्ञात हो गयी है। उसके अनुसार ही सब कार्य होगा।'—यों कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। तब देवता, ऋषि और गन्धर्व—सभी बड़े विस्मयमें पड़े। उन सबने अत्यन्त उत्सुक होकर पितामह ब्रह्माजीसे कहा—'प्रभो ! आपने विनयपूर्वक प्रणाम करके श्रेष्ठ वचनोंद्वारा जिनकी स्तुति की है, ये कौन थे ? हम उनके विषयमें सुनना चाहते हैं।' उनके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् ब्रह्माने उन समस्त देवताओं, ब्रह्मर्षियों और गन्धर्वोंसे मधुर वाणीमें कहा—"श्रेष्ठ देवताओ ! जो परम तत्त्व हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों जिनके उत्कृष्ट स्वरूप हैं तथा जो इन सबसे विलक्षण हैं, जिन्हें सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा, और सर्वशक्तिमान् प्रभु कहा गया है, जो परम ब्रह्म और परम पदके नामसे विख्यात हैं, उन्हीं परमात्माने मुझे दर्शन देकर मुझसे प्रसन्न हो बात-चीत की है। मैंने उन जगदीश्वरसे सम्पूर्ण जगत्पर कृपा करनेके लिये यों प्रार्थना की है कि 'प्रभो ! आप वासुदेव नामसे विख्यात होकर कुछ कालतक मनुष्य लोकमें रहें और असुरोंके वधके लिये इस भूतलपर अवतीर्ण हों। जो-जो दैत्य, दानव तथा राक्षस संग्रामभूमिमें मारे गये थे, वे मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए हैं और अत्यन्त बलवान् होकर जगत्के लिये भयंकर बन बैठे हैं। उन सबका वध करनेके लिये सबको वशमें करनेवाले भगवान् नारायण नरके साथ मनुष्य-योनिमें अवतीर्ण होकर भूतलपर विचरेंगे। ऋषियोंमें श्रेष्ठ जो पुरातन महर्षि अमिततेजस्वी नर और नारायण हैं, वे एक साथ मानवलोकमें अवतीर्ण होंगे। युद्धभूमिमें यदि वे विजयके लिये यत्नशील हों तो सम्पूर्ण देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते। मूढ़ मनुष्य उन नर-नारायण ऋषिको नहीं जान सकेंगे। सम्पूर्ण जगत्का स्वामी मैं ब्रह्मा उन भगवान्का ज्येष्ठ पुत्र हूँ। तुम सब लोगोंको उन सर्वलोकमहेश्वर भगवान् वासुदेवकी आराधना करनी चाहिये। सुरश्रेष्ठगण ! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले उन महापराक्रमी भगवान् वासुदेवका 'ये मनुष्य हैं' ऐसा समझकर अनादर नहीं करना चाहिये। ये भगवान् ही परमगुह्य हैं। ये ही परम पद हैं। ये ही परम ब्रह्म हैं। ये ही परम यश हैं और ये ही अक्षर, अव्यक्त एवं सनातन तेज हैं। ये ही पुरुष नामसे कहे जाते हैं; किंतु इनका वास्तविक रूप जाना नहीं जा सकता। ये ही मुझ विश्वस्रष्टाके द्वारा परमसुख, परमतेज और परम सत्य कहे गये हैं। इसलिये 'ये मनुष्य हैं' यों समझकर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा संसारके मनुष्योंको अमितपराक्रमी भगवान् वासुदेवकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी इन भगवान् वासुदेवको केवल मनुष्य कहता है, वह मूर्ख है। भगवान्की अवहेलना करनेके

कारण उसे नराधम कहा गया है। भगवान् वासुदेव साक्षात् परमात्मा हैं और योगशक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उन्होंने मानवशरीरमें प्रवेश किया है। जो उनकी अवहेलना करता है, उसे ज्ञानी पुरुष तमोगुणी बताते हैं। जो चराचरस्वरूप, श्रीवत्स-चिह्न-भूषित, उत्तम कान्तिसे सम्पन्न भगवान् पद्मनाभको नहीं जानता, उसे विद्वान् पुरुष तमोगुणी कहते हैं। जो किरीट और कौस्तुभमणि धारण करनेवाले तथा मित्रों (भक्तजनों) को अभय देनेवाले हैं, उन परमात्माकी अवहेलना करनेवाला मनुष्य घोर नरकमें डूबता है। सुरश्रेष्ठगण ! इस प्रकार तात्त्विक वस्तुको समझकर सब लोगोंको लोकेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करना चाहिये।''

भीष्मजी कहते हैं—''दुर्योधन ! देवताओं तथा ऋषियोंसे यों कहकर पूर्वकालमें सर्वभूतात्मा भगवान् ब्रह्माने उन सबको विदा कर दिया। फिर वे अपने लोकको चले गये। तत्पश्चात् ब्रह्माजीकी कही हुई उस परमार्थचर्चाको सुनकर देवता, गन्धर्व, मुनि और अप्सराएँ—ये सभी प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गलोकमें चले गये। तात ! एक समय शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक समाज जुटा हुआ था, जिसमें वे पुरातन भगवान् वासुदेवकी माहात्म्य-कथा कह रहे थे। उन्हींके मुँहसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं। भरतश्रेष्ठ ! इसके सिवा जमदग्निनन्दन परशुराम, बुद्धिमान् मार्कण्डेय, व्यास, नारदसे भी मैंने यह बात सुनी है। भरत-कुल-भूषण ! इस विषयको सुन और समझकर मैं वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको अविनाशी प्रभु परमात्मा लोकेश्वरेश्वर और सर्वशक्तिमान् नारायण जानता हूँ। सम्पूर्ण जगत्के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्योंके लिये आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं। तात ! वेदोंके पारंगत विद्वान् महर्षियोंने तथा मैंने तुमको मना किया था कि तुम धनुर्धर भगवान् वासुदेवके साथ विरोध न करो, पाण्डवोंके साथ लोहा न लो; परंतु मोहवश तुमने इन बातोंका कोई मूल्य नहीं समझा। मैं समझता हूँ, तुम कोई क्रूर राक्षस हो; क्योंकि राक्षसोंके ही समान तुम्हारी बुद्धि सदा तमोगुणसे आच्छन्न रहती है। तुम भगवान् गोविन्द तथा पाण्डुनन्दन धनंजयसे द्वेष करते हो। वे दोनों ही नर और नारायणदेव हैं। तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य उनसे द्वेष कर सकता है। राजन् ! इसलिये तुम्हें यह बता रहा हूँ कि ये भगवान् श्रीकृष्ण सनातन, अविनाशी, सर्वलोकस्वरूप, नित्य शासक, धरणीधर एवं अविचल हैं। ये चराचर-गुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकोंको धारण करते हैं। ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं। सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं। राजन् ! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप और तम एवं रागसे रहित हैं। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। उनके माहात्म्य-योगसे तथा आत्मस्वरूपयोगसे समस्त पाण्डव सुरक्षित हैं। राजन् ! इसीलिये इनकी विजय होगी। वे पाण्डवोंको सदा कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करते हैं, युद्धमें बल देते हैं और भयसे नित्य उनकी रक्षा करते हैं। भारत ! जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे हो, वे सनातन देवता सर्वगुह्यमय कल्याणस्वरूप परमात्मा ही 'वासुदेव' नामसे जानने योग्य हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुभलक्षणसम्पन्न शूद्र—ये सभी नित्य तत्पर होकर अपने कर्मोंद्वारा इन्हींकी सेवा-पूजा करते हैं। द्वापरयुगके अन्त और कलियुगके आदिमें संकर्षणने श्रीकृष्णोपासनाकी विधिका आश्रय ले इन्हींकी महिमाका गान किया है। ये ही श्रीकृष्ण-नामसे विख्यात होकर इस लोककी रक्षा करते हैं।

''भरतश्रेष्ठ ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण वास्तवमें महान् हैं। वे सम्पूर्ण देवताओंके भी देवता हैं। कमलनयन श्रीकृष्णसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। मार्कण्डेयजी भगवान् गोविन्दके विषयमें अत्यन्त अद्भुत बातें कहते हैं। वे भगवान् ही सर्वभूतमय हैं। और वे ही सबके आत्मस्वरूप महात्मा पुरुषोत्तम हैं। सृष्टिके आरम्भमें इन्हीं परमात्माने जल, वायु, तेज—इन तीन भूतों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि की थी। सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वर इन भगवान् श्रीहरिने पृथ्वी-देवीकी सृष्टि करके जलमें शयन किया। वे महात्मा पुरुषोत्तम

सर्व-तेजोमय देवता योग-शक्तिसे उस जलमें सोये। उन अच्युतने अपने मुखसे अग्निकी, प्राणसे वायुकी तथा मनसे सरस्वती-देवी और वेदोंकी रचना की। इन्होंने ही सर्गके आरम्भमें सम्पूर्ण लोकों तथा ऋषियों-सहित देवताओंकी रचना की थी। ये ही प्रलयके अधिष्ठान और मृत्यु-स्वरूप हैं। प्रजाकी उत्पत्ति और विनाश इन्हींसे होते हैं। ये धर्मज्ञ, वरदाता, सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले तथा धर्मस्वरूप हैं। ये ही कर्ता, कार्य, आदिदेव तथा स्वयं सर्व-समर्थ हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंकी सृष्टि भी पूर्वकालमें इन्हींके द्वारा हुई है। इन जनार्दनने ही दोनों संध्याओं, दसों दिशाओं, आकाश तथा नियमोंकी रचना की है। महात्मा अविनाशी प्रभु गोविन्दने ही ऋषियों तथा तपस्याकी रचना की है। जगत्स्रष्टा प्रजा-पतिको भी उन्होंने ही उत्पन्न किया है। उन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्णने पहले सम्पूर्ण भूतोंके अग्रज संकर्षणको प्रकट किया, उनसे सनातन देवाधिदेव नारायणका प्रादुर्भाव हुआ। नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ। सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके स्थानभूत उस कमलसे पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजी-से ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। जो सम्पूर्ण भूतोंको तथा पर्वतोंसहित इस पृथ्वीको धारण करते हैं, जिन्हें विश्वरूपी अनन्तदेव तथा शेष कहा गया है, उन्हें भी उन परमात्माने ही उत्पन्न किया है। ब्राह्मणलोग ध्यानयोगके द्वारा इन्हीं परम तेजस्वी वासुदेवका ज्ञान प्राप्त करते हैं। जलशायी नारायणके कानकी मैलसे महान् असुर मधुका प्राकट्य हुआ था। वह मधु बड़े ही उग्रस्वभावका तथा क्रूरकर्मा था। उसने अत्यन्त भयंकर बुद्धिका आश्रय ले रखा था। इसलिये ब्रह्माजीका समादर करते हुए भगवान् पुरुषोत्तमने मधुको मार डाला था। तात! मधुका वध करनेके कारण ही देवता, दानव, मनुष्य तथा ऋषिगण श्रीजनार्दनको 'मधुसूदन' कहते हैं। वे ही भगवान् समय-समयपर वाराह, नृसिंह और वामनके रूपमें प्रकट हुए हैं। ये श्रीहरि ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं। इन कमलनयन भगवान्से बढ़कर दूसरा कोई तत्व न हुआ है न होगा। राजन्! इन्होंने अपने मुखसे ब्राह्मणों, दोनों भुजाओंसे क्षत्रियों, जङ्घासे वैश्यों और चरणोंसे शूद्रोंको उत्पन्न किया है। जो मनुष्य तपस्यामें तत्पर हो संयम-नियमका पालन करते हुए अमावास्या और पूर्णिमाको समस्त देहधारियोंके आश्रय, ब्रह्म एवं योगस्वरूप भगवान् केशवकी आराधना करता है, वह परम पदको प्राप्त कर लेता है। नरेश्वर! सम्पूर्ण लोकोंके पितामह भगवान् श्रीकृष्ण परम तेज हैं। मुनिजन इन्हें हृषीकेश कहते हैं। इस प्रकार इन भगवान् गोविन्दको तुम आचार्य, पिता और गुरु समझो। भगवान् श्रीकृष्ण जिनके ऊपर प्रसन्न हो जायँ, वह अक्षय लोकोंपर विजय पा जाता है। जो मनुष्य भयके समय इन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह सुखी एवं कल्याणका भागी होता है। जो मानव भगवान् श्रीकृष्ण-की शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते। भगवान् जनार्दन महान् भयमें निमग्न उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं। भरतवंशी नरेश! इस बातको अच्छी तरह समझकर राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण हृदयसे योगोंके स्वामी सर्व-समर्थ, जगदीश्वर एवं महात्मा भगवान् केशवकी शरण ली है।"

(भीष्म० ६७ । २–२५)

भीष्मजी कहते हैं—"महाराज दुर्योधन! पूर्वकालमें इस भूतलपर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंने इनका जो ब्रह्मभूत स्तोत्र कहा है, उसे तुम मुझसे सुनो—'प्रभो! आप साध्यगण और देवताओंके भी स्वामी एवं देवदेवेश्वर हैं। आप सम्पूर्ण जगत्के हृदयके भावोंको जाननेवाले हैं। आपके विषयमें नारदजीने ऐसा ही कहा है। मार्कण्डेयजीने आपको भूत, भविष्य और वर्तमानस्वरूप बताया है। वे आपको यज्ञोंका यज्ञ और तपस्याओंका भी सारभूत तप बताया करते हैं। भगवान् भृगुने आपको देवताओंका भी देवता कहा है। विष्णो! आपका रूप अत्यन्त पुरातन और उत्कृष्ट है। प्रभो! आप वसुओंके वासुदेव तथा इन्द्रको स्वर्गके राज्यपर स्थापित करनेवाले हैं। देव! आप देवताओंके भी देवता हैं। महर्षि द्वैपायन आपके

विषयमें ऐसा ही कहते हैं। प्रथम प्रजासृष्टिके समय आपको ही दक्षप्रजापति कहा गया है। आप ही सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा हैं—इस प्रकार अङ्गिरा मुनि आपके विषयमें कहते हैं। अव्यक्त (प्रधान) आपके शरीरसे उत्पन्न हुआ है, व्यक्त महत्तत्त्व आदि कार्यवर्ग आपके मनमें स्थित हैं तथा सम्पूर्ण देवता भी आपसे ही उत्पन्न हुए हैं—ऐसा असित और देवलका कथन है। आपके मस्तकसे द्युलोक और भुजाओंसे भूलोक व्याप्त है। तीनों लोक आपके उदरमें स्थित हैं। आप ही सनातन पुरुष हैं। तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा पुरुष आपको ऐसा ही जानते हैं। आत्मसाक्षात्कारसे तृप्त हुए ज्ञानी महर्षियोंकी दृष्टिमें भी आप सबसे श्रेष्ठ हैं। मधुसूदन ! जो सम्पूर्ण धर्मोंमें प्रधान और संग्रामसे कभी पीछे हटनेवाले नहीं हैं, उन उदार राजर्षियोंके परम आश्रय भी आप ही हैं। इस प्रकार सनत्कुमार आदि योगवेत्ता पापापहारी आप भगवान् पुरुषोत्तमकी सदा ही स्तुति और पूजा करते हैं।

तात दुर्योधन ! इस तरह विस्तार और संक्षेपसे मैंने तुम्हें भगवान् केशवकी यथार्थ महिमा बतायी है। अब तुम अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका भजन करो।

(भीष्म० ६८। १–१२)

इसके पश्चात् उन्होंने फिर दुर्योधनसे कहा—

माहात्म्यं ते श्रुतं राजन् केशवस्य महात्मनः ॥
नरस्य च यथातत्त्वं यन्मां त्वं पृच्छसे नृप।
यदर्थं नृषु सम्भूतौ नरनारायणावृषी ॥
अवध्यौ च यथा वीरौ संयुगेष्वपराजितौ।

(६८। १४-१५)

"राजन् ! तुमको महात्मा केशव तथा नररूप अर्जुनका यथार्थ माहात्म्य बतलाया है; जिसके विषयमें तुमने मुझसे पूछा था, उसे सुन लिया। ऋषि नर-नारायण जिस उद्देश्यसे मनुष्योंमें प्रकट हुए हैं तथा दोनों युद्धमें अपराजित और अवध्य हैं, यह सब तुमने अच्छी तरह सुन लिया। राजन् ! वे भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके प्रति प्रीति रखते हैं, अतएव तुम पाण्डवोंसे संधि कर लो।

पृथिवीं भुङ्क्ष्व सहितो भ्रातृभिर्बलिभिर्वशी।
नरनारायणौ देवाववज्ञाय नशिष्यसि ॥

(६८। १८)

'उन अपने बलवान् भाइयोंको साथ लेकर पृथिवीका राज्य भोगो। भगवान् नर-नारायणदेवकी अवज्ञा करनेसे तुम्हारा नाश हो जायगा।'

इस प्रकार भीष्मपर्वके प्रारम्भमें अर्जुनके मुखसे धर्मराजको आश्वासन देते हुए कहलाया गया कि जहाँ भगवान् वासुदेवका आश्रय है, वहाँ विजय है; और यहाँ भीष्मपितामहके मुखसे कहलाया गया कि नारायणकी अवज्ञा करके नाशको प्राप्त हो जाओगे। सारांश यह कि जो जीवन नारायणके आश्रित है, वह सफल है तथा जो जीवन नारायण-विमुख है, वह निष्फल है, विनाशोन्मुख है। यही वैष्णवधर्मका चरम सिद्धान्त है।

परंतु जो सांसारिक ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लोभमें पड़ा है, वह भगवदाश्रित नहीं हो सकता। भीष्मके उपदेशका भी दुर्योधनके मनपर कोई प्रभाव न पड़ा और दूसरे दिन दोनों सेनाएँ युद्धक्षेत्रमें एक-दूसरेसे भिड़ गयीं। और अगले चार दिनोंमें भयानक युद्ध चलता रहा।

भीष्मपर पुनः भगवान्‌की कृपा

नवम दिन भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि भीष्मने युधिष्ठिरकी सेनामें प्रलयका दृश्य उपस्थित कर दिया। तब महाबाहु माधवको यह सह्य नहीं हुआ। वे रथसे कूद पड़े और हाथमें चाबुक लिये ही सिंहनाद करते हुए भीष्मकी ओर वेगसे दौड़े। व्यासजी कहते हैं—

पीतकौशेयसंवीतो मणिश्यामो जनार्दनः।
शुशुभे विद्रवन् भीष्मं विद्युन्माली यथाम्बुदः ॥

(१०६। ६१)

'रेशमी पीताम्बर धारण किये इन्द्रनीलमणिके सदृश श्यामवर्ण जनार्दन भीष्मकी ओर लपकते हुए इस प्रकार सुशोभित हो उठे, जैसे विद्युन्मालासे अलंकृत श्याम मेघ शोभा पाता है।' भगवान्‌को उस प्रकारसे क्रुद्ध देखकर भीष्मपितामह तनिक भी विचलित न हुए, और बोले—

एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते ॥
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे ।
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ ॥
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः ।
सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे ॥
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ ।
(भीष्म० १०६ । ६४–६६½)

आइये, आइये कमलनयन ! देवदेव ! आपको नमस्कार है। सात्वतशिरोमणे ! इस महासमरमें आज मुझे मार गिराइये । देव ! निष्पाप श्रीकृष्ण ! आपके द्वारा संग्राममें मारे जानेपर भी संसारमें मेरा सब ओर परम कल्याण ही होगा । गोविन्द ! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकों-द्वारा सम्मानित हो गया । अनघ ! मैं आपका दास हूँ। आप इच्छानुसार मुझपर प्रहार कीजिये ।

बीचमें ही दौड़कर अर्जुनने भगवान् वासुदेवके पैर पकड़ लिये और प्रेमपूर्वक बोले—

निवर्तस्व महाबाहो नानृतं कर्तुमर्हसि ।
यत्त्वया कथितं पूर्वं न योत्स्यामीति केशव ।
मिथ्यावादीति लोकास्त्वां कथयिष्यन्ति माधव ॥
(१०६ । ७२)

'महाबाहो ! लौट पड़िये, अपनी प्रतिज्ञाको झूठी न कीजिये । केशव ! आपने जो पहले कहा था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, उसकी रक्षा कीजिये; नहीं तो लोग आपको मिथ्यावादी कहेंगे ।'

अहा ! भगवान् कितने शरणागतवत्सल हैं, पाण्डवोंकी रक्षा करते हुए अपनी प्रतिष्ठाको भी भूल जाते हैं । वे अर्जुनके विनय करनेपर फिर लौट आये । उस दिन फिर घोर युद्ध हुआ और भीष्मके बाणोंकी मारसे पाण्डव-सेनाका पर्याप्त संहार हुआ । संध्याके समय शिबिरमें जानेपर वृष्णिवंशी वीरों और पाण्डवोंमें गुप्त मन्त्रणा होने लगी । युधिष्ठिरने कहा—

कृष्ण पश्य महात्मानं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
गजं नलवनानीव विमृदन्तं बलं मम ॥
(१०७ । १३)

'श्रीकृष्ण ! देखो, भयंकर पराक्रमी महात्मा भीष्म हमारी सेनाका उसी प्रकार संहार कर रहे हैं, जैसे हाथी सरकंडोंके जंगलको रौंद डालता है ।' माधव ! जबतक भीष्मजी जीते हैं, तबतक हमारे जीतनेकी कोई आशा नहीं है । वे दिन-प्रति-दिन भयंकर होते जा रहे हैं और हमारी सेनाका अधिकाधिक संहार होता जा रहा है । भीष्मजी अजेय हैं, उनको जीतना कठिन है ।' भगवान् वासुदेव बोले, 'देखो, घबरानेकी बात नहीं है । मैं शस्त्र ग्रहण करूँगा !

हनिष्यामि रणे भीष्ममाहूय पुरुषर्षभम् ।
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां यदि नेच्छति फाल्गुनः ॥
यः शत्रुः पाण्डुपुत्राणां मच्छत्रुः स न संशयः ।
मदर्था भवदीया ये ये मदीयास्तवैव ते ॥
तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च ।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते ॥
(१०७ । २९, ३२—३३)

'यदि अर्जुन भीष्मको मारना नहीं चाहते तो मैं युद्धमें पुरुषश्रेष्ठ भीष्मको ललकारकर कौरवोंके देखते-देखते मार डालूँगा । जो पाण्डवोंका शत्रु है, वह निस्संदेह मेरा शत्रु है; जो आपके सुहृद् हैं, वे मेरे हैं और जो मेरे सुहृद् हैं, वे आपके हैं। राजन् ! आपका भाई अर्जुन मेरा सखा, सम्बन्धी और शिष्य है, मैं अर्जुनके लिये अपना मांस भी काटकर दे दूँगा ।'

(अहा ! बलिहारी भगवान्‌की इस भक्त-वत्सलतापर !) यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा—'माधव ! आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं । परंतु मैं आत्म-गौरवके लिये आपको असत्यवादी नहीं बनने दूँगा । आप युद्ध किये विना ही मेरी सहायता करते रहिये । श्रीकृष्ण ! मेरी भीष्मजीके साथ एक शर्त हो चुकी है । उन्होंने कहा है कि युद्ध तो वे केवल दुर्योधनके लिये करेंगे, परन्तु युद्धमें मुझको परामर्श देंगे । इसलिये जनार्दन ! हमलोग भीष्मके पास जाकर उनके बधका उपाय पूछें । माधव ! यद्यपि वे हमारे पिताके भी पिता और प्रिय हैं, तथापि उन वृद्ध पितामहको भी मैं मारना चाहता हूँ । धिक्कार है इस क्षात्र जीविकाको !' तदनन्तर भगवान् वासुदेवके साथ पाण्डवलोग भीष्मके शिबिरमें गये, और वहाँ जाकर भीष्मके चरणोंमें प्रणाम किया।

उस समय कुरुकुलके पितामहने सबका स्वागत करते हुए कहा, 'पुत्रो ! आज मैं तुम्हारी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला कौन-सा कार्य करूँ? तुम्हारी माँगको अत्यन्त दुष्कर होनेपर भी मैं पूरी करूँगा।' यह सुनकर धर्मराज बोले—"पितामह ! युद्धमें हमारी जीत कैसे हो ? हम राज्य कैसे प्राप्त करें ? प्रभो ! आप हमको अपने वधका उपाय बतलाइये । आपके जीते-जी हम विजयकी आशा नहीं कर सकते।' पितामहने कहा, 'राजन् ! मेरा यह संकल्प है कि, स्त्रीको सामने देखकर मैं शस्त्र नहीं चला सकता। द्रुपदपुत्र शिखण्डी पहले स्त्री था, उसको आगे करके पाण्डुपुत्र अर्जुन मेरे ऊपर शीघ्रतापूर्वक चारों ओरसे बाण-प्रहार करते हुए मार डालनेकी चेष्टा करें। इसीसे तुम निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त कर सकोगे।'

यह सब कुछ निश्चय हो जानेपर भी अर्जुन श्रद्धाके वशीभूत होकर भीष्मपर बाणोंका घातक प्रहार न करते यदि भगवान् वासुदेव उसे क्षत्रियधर्मका स्मरण दिलाकर उनके वधके लिये उत्साहित न करते। अतएव भीष्म-वध जो पाण्डवोंकी विजयका मूल कारण था, वह श्रीकृष्णकी प्रेरणासे ही हुआ। भगवान्ने स्पष्ट कह दिया—

प्रतिज्ञाय वधं जिष्णो पुरा भीष्मस्य संयुगे।
क्षात्रधर्मे स्थितः पार्थ कथं नैनं हनिष्यसि॥
पातयैनं रथात्पार्थ क्षत्रियं युद्धदुर्मदम्।
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं विजयस्ते भविष्यति॥

"हे विजयी पार्थ ! तुम क्षत्रियधर्ममें स्थित होकर युद्धमें भीष्मके वधकी पहले प्रतिज्ञा करके अब उन्हें कैसे नहीं मारोगे ? युद्धदुर्मद क्षत्रियप्रवर भीष्मको बिना मारे तुम्हारी विजय नहीं हो सकती ?'

—यह भगवद्वाणी अर्जुनके द्वारा भीष्मवधका कारण बनी। अर्जुनने बाणोंकी वर्षा करके पितामहको रथसे गिराकर शरशय्यापर सुला दिया। तथा बाणोंकी तकिया देकर और शर-सम्पातसे पाताल-गङ्गाकी धारा उत्पन्न करके सोये-सोये उनके मुखमें गङ्गाजल प्रदान करके उनको परितृप्त कर दिया। पितामह उनके इस अद्भुत कर्मसे अत्यन्त हर्षित हो कह उठे—

एतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् नान्यः कश्चन विद्यते।
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम्॥
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः।
धातुस्त्वष्टुश्च सवितुर्वैवस्वतमथापि वा॥
सर्वस्मिन्मानुषे लोके वेत्त्येको हि धनंजयः।
कृष्णो वा देवकीपुत्रो नान्यो वेदेह कश्चन॥

(भीष्मपर्व १२१ । ४०–४२)

'इस संसारमें ऐसा पराक्रम करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म, पारमेष्ठ्य, प्राजापत्य, धात्र, त्वाष्ट्र, सावित्र और वैवस्वत आदि समस्त दिव्यास्त्रोंको इस सम्पूर्ण मानव-जगत्में एकमात्र अर्जुन अथवा देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता।'

भीष्मजीके इन वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है कि उस कालमें आग्नेयादि दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता दो ही थे, वासुदेव श्रीकृष्ण और कुन्तीपुत्र धनंजय। वे दोनों अतिमानव थे, मानवोंमें सर्वश्रेष्ठ नर-नारायण थे।

द्रोणपर्व

भीष्मके धराशायी होनेके पश्चात् द्रोणपर्वके आरम्भमें धृतराष्ट्र भगवान् वासुदेवके पराक्रमकी प्रशंसा करते हुए खेद प्रकट करते हैं कि दुर्योधन मोहके वश होकर भगवान् वासुदेवको नहीं पहचान रहा है, वह मृत्युके फंदेमें फँस गया है। धृतराष्ट्रने कहा—

येषां च पुरुषव्याघ्रः शार्ङ्गधन्वा व्यपाश्रयः।
हितार्थी चापि पार्थानां कथं तेषां पराजयः॥
लोकानां गुरुरत्यर्थं लोकनाथः सनातनः।
नारायणो रणे नाथो दिव्यो दिव्यात्मकः प्रभुः॥
यस्य दिव्यानि कर्माणि प्रवदन्ति मनीषिणः।
तान्यहं कीर्तयिष्यामि भक्त्या स्थैर्यार्थमात्मनः॥

(द्रोण० १० । ७५–७७)

'शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले पुरुषसिंह भगवान् श्रीकृष्ण जिनके आश्रय तथा हित चाहनेवाले हैं, उन कुन्तीकुमारोंकी पराजय कैसे हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जगत्के परम गुरु हैं, समस्त लोकोंके सनातन स्वामी हैं, संग्रामभूमिमें सबकी रक्षा करनेवाले

दिव्यस्वरूप, सामर्थ्यशाली, दिव्य नारायण हैं। मनीषी पुरुष जिनके दिव्य कर्मोंका वर्णन करते हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका अपने मनकी स्थिरताके लिये मैं भक्तिपूर्वक वर्णन करूँगा।'

फिर धृतराष्ट्र कहने लगे—संजय! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंका वर्णन सुनो। भगवान् गोविन्दने जो-जो कार्य किये हैं, वैसा दूसरा कोई पुरुष कदापि नहीं कर सकता। संजय! बाल्यावस्थामें ही, जब वे गोपकुलमें पल रहे थे, महात्मा श्रीकृष्णने अपनी भुजाओंके बल और पराक्रमको तीनों लोकोंमें विख्यात कर दिया था। यमुनाके तटवर्ती वनमें उच्चैःश्रवाके समान बलशाली और वायुके समान वेगवान् अश्वराज केशी रहता था। उसे श्रीकृष्णने मार डाला। इसी प्रकार एक भयंकर कर्म करनेवाला दानव वहाँ बैलका रूप धारण करके रहता था, जो गौओंके लिये मृत्युके समान प्रकट हुआ था। उसे भी श्रीकृष्णने बाल्यावस्थामें अपने हाथोंसे ही मार डाला। तत्पश्चात् कमलनयन श्रीकृष्णने प्रलम्ब, नरकासुर, जम्भासुर, पीठ नामक महान् असुर और यमराजसदृश मुरका भी संहार किया। इसी प्रकार श्रीकृष्णने पराक्रम करके ही जरासंधके द्वारा सुरक्षित महातेजस्वी कंसको उसके गणोंसहित रंगभूमिमें मार गिराया। शत्रुहन्ता श्रीकृष्णने बलरामजीके साथ जाकर युद्धमें पराक्रम दिखानेवाले, बलवान्, वेगवान्, पूरी अक्षौहिणी सेनाके अधिपति, भोजराज कंसके मझले भाई शूरसेन-देशके राजा सुनामाको समरमें सेनासहित दग्ध कर डाला। पत्नीसहित श्रीकृष्णने परम क्रोधी ब्रह्मर्षि दुर्वासाकी आराधना की। अतः उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें बहुत-से वर दिये। कमलनयन वीर श्रीकृष्णने स्वयंवरमें गन्धारराजकी पुत्रीको प्राप्त करके समस्त राजाओंको जीतकर उसके साथ विवाह किया। उस समय अच्छी जातिके घोड़ोंकी भाँति श्रीकृष्णके वैवाहिक रथमें जुते हुए वे असहिष्णु राजालोग कोड़ोंकी मारसे घायल कर दिये गये थे। जनार्दन श्रीकृष्णने समग्र अक्षौहिणी सेनाके अधिपति महाबाहु जरासंधको उपायपूर्वक दूसरे योद्धा (भीमसेन) के द्वारा मरवा दिया। बलवान् श्रीकृष्णने राजाओंकी सेनाके अधिपति पराक्रमी चेदिराज शिशुपालको अग्रपूजनके समय विवाद करनेके कारण पशुकी भाँति मार डाला। तत्पश्चात् माधवने आकाशमें स्थित रहनेवाले सौभ नामक दुर्धर्ष दैत्य-नगरको, जो राजा शाल्वद्वारा सुरक्षित था, समुद्रके बीच पराक्रम करके मार गिराया। उन्होंने रणक्षेत्रमें अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, काशि, कोसल, वत्स, गर्ग, करूष तथा पौण्ड्र आदि देशोंपर विजय पायी थी। संजय! इसी प्रकार कमलनयन श्रीकृष्णने अवन्ती, दक्षिण प्रान्त, पर्वतीय देश, दशेरक, कश्मीर, औरसिक, पिशाच, मुद्गल, कम्बोज, वटधान, चोल, पाण्डव, त्रिगर्त, मालव, अत्यन्त दुर्जय दरद आदि देशोंके योद्धाओंको तथा नाना दिशाओंसे आये हुए खशों, शकों और अनुयायियोंसहित कालयवनको भी जीत लिया। पूर्वकालमें श्रीकृष्णने जल-जन्तुओंसे भरे हुए समुद्रमें प्रवेश करके जलके भीतर निवास करनेवाले वरुण देवताको युद्धमें परास्त किया। इसी प्रकार उन हृषीकेशने पाताल-निवासी पञ्चजन नामक दैत्यको युद्धमें मारकर दिव्य पाञ्चजन्य शङ्ख प्राप्त किया। खाण्डववनमें अर्जुनके साथ अग्निदेवको संतुष्ट करके महाबली श्रीकृष्णने दुर्धर्ष आग्नेय अस्त्र चक्रको प्राप्त किया था। वीर श्रीकृष्ण गरुड़पर आरूढ़ हो अमरावतीपुरीमें जाकर वहाँके निवासियोंको भयभीत करके महेन्द्र-भवनसे पारिजात वृक्ष उठा ले आये। उनके पराक्रमको इन्द्र अच्छी तरह जानते थे, इसलिये उन्होंने वह सब चुपचाप सह लिया। राजाओंमेंसे किसीको भी मैंने ऐसा नहीं सुना है, जिसे श्रीकृष्णने जीता न हो। संजय! उस दिन मेरी सभामें कमलनयन श्रीकृष्णने जो महान् आश्चर्य प्रकट किया था, उसे इस संसारमें उनके सिवा दूसरा कौन कर सकता है। मैंने प्रसन्न होकर भक्तिभावसे भगवान् श्रीकृष्णके उस ईश्वरीय रूपका जो दर्शन किया, वह सब मुझे आज भी अच्छी तरह स्मरण है। मैंने उन्हें प्रत्यक्षकी भाँति जान लिया था। संजय! बुद्धि और पराक्रमसे युक्त भगवान् हृषीकेशके कर्मोंका अन्त नहीं जाना जा सकता। यदि गद, साम्ब, प्रद्युम्न, विदूरथ, अगावह, अनिरुद्ध, चारु-

देष्ण, सारण, उल्मुक, निशठ, झिल्ली, पराक्रमी बभ्रु, पृथु, विपृथु, शमीक तथा अरिमेजय—ये तथा दूसरे भी बलवान् एवं प्रहारकुशल वृष्णिवंशी योद्धा वृष्णिवंशके प्रमुख वीर महात्मा केशवके बुलानेपर पाण्डवसेनामें आ जायँ और समरभूमिमें खड़े हो जायँ तो हमारा सारा उद्योग संशयमें पड़ जाय, ऐसा मेरा विश्वास है। वनमाला और हल धारण करनेवाले वीर बलराम कैलासशिखरके समान गौरवर्ण हैं। उनमें दस हजार हाथियोंका बल है। वे भी उसी पक्षमें रहेंगे, जहाँ श्रीकृष्ण हैं। संजय! जिन भगवान् वासुदेवको द्विजगण सबका पिता बताते हैं, क्या वे पाण्डवोंके लिये स्वयं युद्ध करेंगे? तात संजय! जब पाण्डवोंके लिये श्रीकृष्ण कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार हो जायँ, उस समय वहाँ कोई भी योद्धा उनका सामना करनेको तैयार न होगा। यदि सब कौरव पाण्डवोंको जीत लें तो वृष्णिवंशभूषण भगवान् श्रीकृष्ण उनके हितके लिये अवश्य उत्तम शस्त्र ग्रहण कर लेंगे। उस दशामें पुरुषसिंह महाबाहु श्रीकृष्ण सब राजाओं तथा कौरवोंको रणभूमिमें मारकर सारी पृथ्वी कुन्तीको दे देंगे। जिसके सारथि सम्पूर्ण इन्द्रियों-के नियन्ता श्रीकृष्ण तथा योद्धा अर्जुन हैं, रणभूमिमें उस रथका सामना करनेवाला दूसरा कौन रथ होगा। किसी भी उपायसे कौरवोंकी जय होती नहीं दिखायी देती। इसलिये तुम मुझसे सब समाचार कहो। वह युद्ध किस प्रकार हुआ? अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं और श्रीकृष्ण किरीटधारी अर्जुनके आत्मा हैं। अर्जुनमें विजय नित्य विद्यमान है और श्रीकृष्णमें कीर्तिका सनातन निवास है। अर्जुन सम्पूर्ण लोकोंमें कभी कहीं भी नहीं पराजित हुए हैं। श्रीकृष्णमें असंख्य गुण हैं। यहाँ प्राय: प्रधान गुणोंके नाम लिये गये हैं। दुर्योधन मोहवश सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् केशवको नहीं जानता, वह दैवयोगसे मोहित हो मौतके फंदेमें फँस गया है। यह दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुनको नहीं जानता। वे दोनों पूर्वदेवता महात्मा नर और नारायण हैं। (द्रोण० ११। १—४१)

द्रोणपर्वके प्रारम्भमें सुभद्रानन्दन अभिमन्युने रोमाञ्च-कारी और कौरवसेनाको ध्वस्त करनेवाला अपूर्व युद्ध किया और उससे त्राण पाना कठिन समझकर द्रोण, कर्ण आदि छः महारथियोंने न्याय और नीतिको तिलाञ्जलि देकर उसे मार डाला। इससे पाण्डव-सेनामें कुहराम मच गया और अर्जुन प्रतिज्ञा कर बैठे कि दूसरे दिन सूर्यास्तके पहलेतक यदि मैंने जयद्रथका वध नहीं किया तो स्वयं चिता जलाकर उसमें जल मरूँगा। कारण यह था कि शिवजीके वरदानसे जयद्रथने पाण्डवसेनाके महारथियोंको अभिमन्युकी सहायता करनेसे वञ्चित कर दिया था, इसलिये अभिमन्युके वधका मूलकारण वही था। अतएव अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाके कारण कौरवोंके लिये यह युद्ध निर्णयात्मक था। कौरवोंने अपनी सारी शक्ति जयद्रथको बचानेमें लगा दी। द्रोणाचार्यने एक अभेद्य व्यूहकी रचना की और प्रवेशद्वारपर स्वयं डट गये।

उस व्यूहके मुहानेपर खड़े आचार्य द्रोणके पास पहुँचकर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमतिसे प्रणाम करके कहा—

शिवेन ध्याहि मां ब्रह्मन् स्वस्ति चैव वदस्व मे।
भवत्प्रसादादिच्छामि प्रवेष्टुं दुर्भिदां चमूम्॥
(९१। ३)

'भगवन्! आप मेरा कल्याण चिन्तन कीजिये, मुझे आशीर्वाद दीजिये। मैं आपकी कृपासे ही इस दुर्भेद्य सेनामें प्रवेश करना चाहता हूँ।' प्रभो! मैं आपके प्रसादसे ही इस युद्धमें जयद्रथको मारना चाहता हूँ, आप मेरी इस प्रतिज्ञाकी रक्षा कीजिये।

भगवान् श्रीकृष्णकी नीति अपूर्व है। गुरुजनोंके प्रति विनीतभाव प्रकट करनेसे उनके भीतर स्वभावतः सौम्य वात्सल्यभाव जाग्रत् होता है। युद्ध प्रारम्भ होनेके पूर्व ही गुरु द्रोणके चित्तको कोमल बना देनेका यह उनका सुन्दर उपक्रम था। परंतु गुरु द्रोण अर्जुन-की बात सुनकर मुसकराते हुए बोले—'अर्जुन! किंतु मुझको पराजित किये बिना जयद्रथको मारना सम्भव नहीं है।' इसके बाद तत्काल ही दोनों गुरु-शिष्यमें युद्ध प्रारम्भ हो गया। तब भगवान्ने अर्जुनसे कहा—'देखो, यहाँ अधिक समय बिताना ठीक नहीं।' तब अर्जुन 'जैसी आपकी आज्ञा' कहकर द्रोणाचार्यकी

परिक्रमा करके लौट पड़े और बाणोंकी वर्षा करके आगे बढ़ गये। यह देखकर द्रोण बोले—'पाण्डुनन्दन! कहाँ चले? तुम तो रणमें शत्रुको पराजित किये बिना कभी लौटते नहीं?' अर्जुनने कहा—

गुरुर्भवान् न मे शत्रुः शिष्यः पुत्रसमोऽस्मि ते।
न चास्ति स पुमाँल्लोके यस्त्वां युधि पराजयेत्॥
(९१। ३४)

'ब्रह्मन्! आप मेरे गुरु हैं, शत्रु नहीं। मैं आपके पुत्रके समान प्रिय शिष्य हूँ। ऐसा कौन है जगत्में, जो युद्धमें आपको पराजित कर सके।' इतना कहकर अर्जुनने आगे बढ़कर कौरव-सेनाका संहार करना शुरू कर दिया। यह देखकर दुर्योधन आचार्यके पास आया और कहने लगा—'आचार्य! आश्चर्य है कि आपके रहते अर्जुन हमारी सेनामें घुस गया, और वहाँ प्रलय-का दृश्य उपस्थित कर रहा है।' द्रोणाचार्य बोले—'राजन्! श्रीकृष्ण अर्जुनके सारथि हैं और उनके घोड़े भी तेज चलनेवाले हैं। इसलिये थोड़ा भी अवकाश पानेपर अर्जुन तत्काल सेनामें घुस जाते हैं। मैं देखता रह जाता हूँ।' दुर्योधनने कहा—'आचार्य! आप समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ हैं; यदि आपको भी लाँघकर आगे बढ़ गया तो उसे मैं कैसे रोक सकूँगा।'

यह सुनकर द्रोणाचार्यने कहा कि मैं इसका उपाय करता हूँ—

अद्भुतं चाद्य पश्यन्तु लोके सर्वधनुर्धराः।
विषक्तं त्वयि कौन्तेयं वासुदेवस्य पश्यतः॥
(९४। ३४)

'आज संसारके सारे धनुर्धर भगवान् वासुदेवके सामने ही कुन्तीकुमार अर्जुनको तुम्हारे साथ युद्धमें उलझे रहनेकी अद्भुत घटना देखें।' इतना कहकर उन्होंने दुर्योधन-को एक सुवर्णमय अभेद्य कवचसे विभूषितकर अर्जुनका सामना करनेके लिये भेज दिया। सायंकालतक घोर युद्ध होता रहा, दुर्योधनके अभेद्य कवच बाँधे रहनेके कारण अर्जुन उसे परास्त न कर सका, सारे कौरव महारथियोंके द्वारा सुरक्षित जयद्रथ मर न सका। सूर्य-देव तीव्रगतिसे अस्ताचलकी ओर जा रहे थे, शीघ्रता-पूर्वक भगवान् वासुदेवने अर्जुनसे कहा—'देखो! रण-भूमिमें छः महारथियोंको परास्त किये बिना जयद्रथ मारा नहीं जा सकता। मैं सूर्यदेवको ढँकनेके लिये कोई युक्ति करूँगा, जिससे जयद्रथ अकेला ही सूर्यको अस्त हुआ देखेगा, और वह दुष्ट प्रसन्न होकर तुम्हारे विनाश-के लिये उतावला होकर सामने आ जायगा। उस समय तुम उसके ऊपर घातक प्रहार करना।'

ततोऽसृजत् तमः कृष्णः सूर्यस्यावरणं प्रति।
योगी योगेन संयुक्तो योगिनामीश्वरो हरिः॥

तब योगी, योगयुक्त और योगीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण-ने सूर्यको ढँकनेके लिये अन्धकारकी सृष्टि की।' तदनन्तर केवल जयद्रथ सिर उठाकर बारंबार सूर्यनारायण-की ओर देखने लगा। भगवान् वासुदेवने कहा—'अर्जुन! पहचान लो, जयद्रथ सामने है। परंतु उसका सिर जमीनपर न गिरने पाये। कुण्डलसहित इसके मस्तकको काटकर वनमें तपस्या करनेवाले वृद्धक्षत्रकी गोदमें गिरा दो। यदि इसका मस्तक पृथ्वीपर गिरा तो तुम्हारे सिरके भी सौ टुकड़े हो जायँगे। ऐसा ही इसको वरदान मिला है।' भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार अर्जुनको भयानक द्विविध विपत्तिसे बचा लिया। अर्जुनने एक ऐसा बाण मारा, जो जयद्रथके सिरको लेकर आकाश-में उड़ता हुआ वृद्धक्षत्रकी गोदमें गिरा, जो वनमें सायं-कालीन संध्या कर रहा था। जैसे ही वह संध्या करके उठा, जयद्रथका सिर जमीनपर गिर पड़ा, और गिरते ही वृद्धक्षत्रके सिरके सौ टुकड़े हो गये। अर्जुन-की प्रतिज्ञा पूरी हो गयी। भगवान् वासुदेव अपने भक्तोंका संकट हर लेते हैं, उनकी मँझधारमें पड़ी हुई नैयाको पार लगा देते हैं। अर्जुनकी प्रतिज्ञाके कारण पाण्डवोंके ऊपर एक महान् संकटकाल उपस्थित हो गया था। वह भगवान् वासुदेवकी कृपासे ही दूर हुआ, इसमें संदेह नहीं। पाण्डवोंकी सेनामें इस संवादसे आनन्दकी लहर दौड़ गयी। युधिष्ठिर भगवान् वासुदेव-की नाना प्रकारसे स्तुति करते हुए बोले—

'श्रीकृष्ण! गोविन्द! सौभाग्यवश आपके द्वारा सुरक्षित हुए अर्जुनने पापी जयद्रथको मारकर मुझे महान् हर्ष प्रदान किया है। परंतु जिनके आप आश्रय

हैं, उन हमलोगोंके लिये विजय और सौभाग्यकी प्राप्ति अत्यन्त अद्भुत बात नहीं है। मधुसूदन! सम्पूर्ण जगत्के गुरु आप जिनके रक्षक हैं, उनके लिये तीनों लोकोंमें कहीं कुछ भी दुष्कर नहीं है। गोविन्द! हम आपकी कृपासे शत्रुओंपर निश्चय ही विजय पायेंगे। उपेन्द्र! आप सदा सब प्रकारसे हमारे प्रिय करने और हमारे हित-साधनमें लगे हुए हैं। हमलोगोंने आपका ही आश्रय लेकर शस्त्रोंद्वारा युद्धकी तैयारी की है—ठीक उसी तरह जैसे देवता इन्द्रका आश्रय लेकर युद्धमें असुरोंके वधका उद्योग करते हैं। जनार्दन! आपकी ही बुद्धि, बल और पराक्रमसे इस अर्जुनने यह देवताओंके लिये भी असम्भव कर्म कर दिखाया है। श्रीकृष्ण! बाल्यावस्थासे ही आपने जो बहुत-से अलौकिक, दिव्य एवं महान् कर्म किये हैं, उन्हें जबसे मैंने सुना है, तभीसे यह निश्चितरूपसे जान लिया है कि मेरे शत्रु मारे गये और मैंने भूमण्डलका राज्य प्राप्त कर लिया। शत्रुसूदन! आपकी कृपासे प्राप्त हुए पराक्रमद्वारा इन्द्र सहस्रों दैत्योंका संहार करके देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुए हैं। वीर हृषीकेश! आपके ही प्रसादसे यह स्थावर-जङ्गमरूप जगत् अपनी मर्यादामें स्थित रहकर जप और होम आदि सत्कर्मोंमें संलग्न होता है। महाबाहो! नरश्रेष्ठ! पहले यह सारा जगत् एकार्णवके जलमें निमग्न हो अन्धकारमें विलीन हो गया था। फिर आपकी ही कृपा-दृष्टिसे यह वर्तमानरूपमें उपलब्ध हुआ है। जो सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करनेवाले आप अविनाशी परमात्मा हृषीकेशका दर्शन पा जाते हैं, वे कभी मोहके वशीभूत नहीं होते। आप पुराण-पुरुष, परमदेव, देवताओंके भी देवता, देवगुरु एवं सनातन परमात्मा हैं। जो लोग आपकी शरणमें आ जाते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते। हृषीकेश! आप आदि-अन्तसे रहित, विश्वविधाता और अविकारी देवता हैं। जो आपके भक्त हैं, वे बड़े-बड़े संकटोंसे पार हो जाते हैं। आप परम पुरातन पुरुष हैं। परसे भी पर हैं। आप परमेश्वरकी शरण लेनेवाले पुरुषको परम ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है। चारों वेद जिनके यशका गान करते हैं, जो सम्पूर्ण वेदोंमें गाये जाते हैं, उन महात्मा श्रीकृष्णकी शरण लेकर मैं सर्वोत्तम ऐश्वर्य (कल्याण) प्राप्त करूँगा। पुरुषोत्तम! आप परमेश्वर हैं। पशु, पक्षी तथा मनुष्योंके भी ईश्वर हैं। 'परमेश्वर' कहे जानेवाले इन्द्रादि लोकपालोंके भी स्वामी हैं। सर्वेश्वर! जो सबके ईश्वर हैं, उनके भी आप ही ईश्वर हैं। आपको नमस्कार है। विशाल नेत्रोंवाले माधव! आप ईश्वरोंके भी ईश्वर एवं शासक हैं। प्रभो! आपका अभ्युदय हो। सर्वात्मन्! आप ही सबकी उत्पत्ति और प्रलयके कारण हैं। जो अर्जुनके मित्र, अर्जुनके हितैषी और अर्जुनके रक्षक हैं। उन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेकर मनुष्य सुखी हो जाता है। निष्पाप श्रीकृष्ण! प्राचीन कालके महर्षि मार्कण्डेय आपके चरित्रको जानते हैं। उन मुनिश्रेष्ठने पहले (वनवासके समय) आपके प्रभाव और माहात्म्यका मुझसे वर्णन किया था। असित, देवल, महातपस्वी नारद तथा मेरे पितामह व्यासने आपको ही सर्वोत्तम विधि बताया है। आप ही तेज, आप ही परब्रह्म, आप ही सत्य, आप ही महान् तप, आप ही श्रेय, आप ही उत्तम यश और आप ही जगत्के कारण हैं। आपने ही इस सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत्की सृष्टि की है। और प्रलय-काल आनेपर यह पुनः आपमें ही लीन हो जाता है। जगत्पते! वेदवेत्ता पुरुष आपको आदि-अन्तसे रहित, दिव्य-स्वरूप, विश्वेश्वर, धाता, अजन्मा, अव्यक्त, भूतात्मा, महात्मा, अनन्त, तथा विश्वतोमुख आदि नामोंसे पुकारते हैं। आपका रहस्य गूढ़ है। आप सबके आदि कारण और इस जगत्के स्वामी हैं। आप ही परमदेव, नारायण, परमात्मा और ईश्वर हैं। ज्ञानस्वरूप श्रीहरि तथा मुमुक्षुओंके परम आश्रय भगवान् विष्णु भी आप ही हैं। आपके यथार्थ स्वरूपको देवता भी नहीं जानते। आप ही परम पुराण पुरुष तथा पुराणोंसे भी परे हैं। आपके ऐसे-ऐसे गुणों तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य-कालमें होनेवाले कर्मोंकी गणना करनेवाला इस भूलोकमें या स्वर्गमें भी कोई नहीं है। जैसे इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार हम सब लोग आपके द्वारा सर्वथा रक्षणीय हैं। हमें आप सर्वगुणसम्पन्न सुहृद्के रूपमें प्राप्त हुए हैं।'

(द्रोण० १४९। ८–३४)

घटोत्कच-वध

द्रोणपर्वमें घटोत्कच-वधकी घटना भगवान् श्रीकृष्ण-की दूरदर्शिता तथा 'कण्टकेनैव कण्टकम्' नीतिका सुन्दर दृष्टान्त है। जयद्रथ-वधके बाद कर्णने युद्धमें महान् उग्ररूप धारण किया। श्रीकृष्ण अर्जुनको उसका सामना करनेसे बचाते थे; क्योंकि उसके पास इन्द्रकी दी हुई अमोघ शक्ति थी और उसको वह अर्जुनके ऊपर छोड़नेके लिये ही रखे हुए था। इसलिये घटोत्कचसे कर्णके मुकाबलेमें खड़ा करनेका विचार निश्चित हुआ और तदनुसार कुन्तीकुमारने उसका आवाहन किया। तत्काल ही वह उपस्थित होकर कवच, धनुष-बाण और खड्ग धारण किये श्रीकृष्ण और अर्जुनको प्रणाम करके श्रीकृष्णसे बोला—'भगवन्! मैं सेवामें उपस्थित हूँ, आज्ञा दीजिये।'

भगवान् वासुदेवने उसको प्रोत्साहन देते हुए कहा—'घटोत्कच! मैंने तुम्हरा इसलिये आवाहन किया है कि यह तुम्हारे पराक्रम दिखानेका समय आ गया है; तुम्हारे बन्धु पाण्डव संकटमें पड़ गये हैं, तुम इनके सहायक बनो। तुम बड़े वीर और शक्तिशाली हो, तुम्हारे पास नाना प्रकारके अमोघ शस्त्र हैं, तथा राक्षसी मायाका भी बल है। देखो, शत्रुपक्षका महान् धनुर्धर कर्ण पाण्डवोंकी सेनाका विनाश कर रहा है, उसकी बाणवर्षासे व्यथित हो पाञ्चाल सैनिक भागे जा रहे हैं। वीरश्रेष्ठ घटोत्कच! तुम अपना प्रबल पराक्रम दिखलाकर शत्रुसेनाका संहार करो और कर्णको मार डालो।' तत्पश्चात् अर्जुनने भी श्रीकृष्णकी बातोंका समर्थन करते हुए कहा—घटोत्कच! मेरी सेनामें तीन ही वीर श्रेष्ठ माने जाते हैं, तुम, महाबाहु सात्यकि तथा पाण्डुनन्दन भीमसेन। इसलिये हे वीर घटोत्कच!

जहि कर्णं रणे शूरं सात्वतेन सहायवान्।
यथेन्द्रस्तारकं पूर्वं स्कन्देन सह जघ्निवान्॥
(१७३। ६२)

'तुम सात्यकिको सहायक बनाकर रणभूमिमें कर्णको उसी प्रकार मार डालो, जैसे पूर्वकालमें स्कन्दको साथ लेकर इन्द्रने तारकासुरको मारा था।'

भगवान् वासुदेव और अर्जुनकी बात सुनकर परम उत्साहसे आविष्ट होकर घटोत्कचने कहा—'आपलोग जैसा कह रहे हैं, वैसा ही मैं हूँ। आपकी आज्ञासे मैं कर्णका वध करने जा रहा हूँ, परंतु मैं द्रोणाचार्यका भी अच्छी तरह मुकाबला कर सकता हूँ।

अद्य यास्यामि संग्रामं सूतपुत्राय तं निशि।
यं जनाः सम्प्रवक्ष्यन्ति यावद्भूमिर्धरिष्यति॥
(१७३। ६४)

'आज मैं रातमें सूतपुत्र कर्णके साथ वह संग्राम करूँगा जिसकी चर्चा जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक लोग करते रहेंगे।'

इतना कहकर घटोत्कच आवेशमें आकर युद्धभूमिमें अद्भुत पराक्रम दिखाने लगा और राक्षसी मायाके द्वारा उसने ऐसा युद्ध-कौशल दिखलाया, जैसा कभी सुननेमें नहीं आया था। उसने द्रोण और कर्णके रहते कौरव-सेनाका बड़ा संहार किया। कौरव-पक्षके महारथी किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये। कौरवसेनामें चारों ओर भगदड़, क्रन्दन और चिल्लाहट ही सुन पड़ती थी। घटोत्कचने—

गृहीत्वा च महाकायं राक्षसेन्द्रमलम्बुषम्।
उद्यम्य न्यवधीद् भूमौ मयं विष्णुरिवाहवे॥
(१७५। ३५)

—युद्धभूमिमें भीमकाय राक्षसराज अलम्बुषको पकड़कर और दोनों हाथोंसे ऊपर उठाकर जमीनपर उसी प्रकार दे मारा जैसे विष्णु भगवान्‌ने मयासुरको पछाड़ा था।' वह कभी जलधाराकी वृष्टि करता, कभी आग बरसाता, कभी पत्थरोंकी वर्षा करता। उसने शत्रुपक्षके महाराक्षस वीर अलायुधको भी मार डाला। अब तो कौरव-सेनामें हड़कम्प मच गया। घटोत्कचकी मायासे त्रस्त होकर सब कौरवोंने कर्णसे कहा—

शक्त्या रक्षो जहि कर्णाद्य तूर्णं
नश्यन्त्येते कुरवो धार्तराष्ट्राः॥

'कर्ण! तुम इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे शीघ्र ही इस

राक्षसको मार डालो; देखो, इस राक्षसके द्वारा धृतराष्ट्रपुत्र कौरव नष्ट होते जा रहे हैं।'

घटोत्कचको कौरव-सेनाका संहार करते देख और अन्य किसी प्रकारसे वध्य न देखकर कर्णने अपनी उस दिव्यशक्तिका प्रयोग करके मार डाला। उसके मरते ही कौरव-सेनामें आनन्दकी लहर दौड़ गयी और पाण्डव-सेनामें शोक छा गया। परंतु भगवान् वासुदेव हर्षमें निमग्न होकर सिंहनाद करने लगे और उन्होंने अर्जुनको छातीसे लगा लिया। वे बोले, 'धनंजय! कार्तिकेयके समान शक्तिशाली कर्णके सामने खड़ा होनेवाला संसारमें कोई नहीं था। वह यदि दिव्य कवच-कुण्डलसे युक्त होता, अथवा इन्द्रकी दी हुई शक्ति उसके पास होती तो उसको जीतना सम्भव न होता।

दिष्ट्यापनीतकवचो दिष्ट्यापहृतकुण्डलः।
दिष्ट्या सा व्यंसिता शक्तिरमोघास्य घटोत्कचे॥
(१८०।१४)

'भाग्यवश उसका कवच-कुण्डल छिन गया और भाग्यवश उसकी वह अमोघशक्ति घटोत्कचपर छोड़ दी गयी।'

सात्यकिने भगवान्से पूछा—'प्रभो! कर्णको उस शक्तिपर विश्वास था, फिर भी उसने उसे अर्जुनके ऊपर क्यों नहीं छोड़ा?' श्रीकृष्णने कहा—'सात्यकि! दुर्योधन आदि नित्य गुप्त मन्त्रणा करके कर्णको उकसाते थे कि इन्द्रकी दी हुई शक्तिको अर्जुन-पर ही छोड़ना। परंतु मैं ही राधापुत्र कर्णको मोहित कर देता था, इसी कारण वह अर्जुनपर शक्तिका प्रयोग नहीं कर पाता था।

फाल्गुनस्य हि सा मृत्युरिति चिन्तयतोऽनिशम्।
न निद्रा न च मे हर्षो मनसोऽस्ति युधां वर॥
(१८२।४१)

'वह शक्ति अर्जुनके लिये मृत्युस्वरूप है, इस चिन्तामें अहर्निश डूबे रहनेके कारण न तो मुझे नींद आती थी और न मनमें कभी हर्ष होता था।' इस कारण हे सात्यकि! अर्जुनको मानो मरकर लौटा हुआ देखकर आज मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

उधर घटोत्कच-वधकी आलोचना करते हुए धृतराष्ट्रने संजयसे कहा कि 'कर्णके पास जब ऐसी अमोघ शक्ति थी, तब उसका प्रयोग उसने अर्जुनपर क्यों नहीं किया? आश्चर्यकी बात है कि ऐसी अमोघ शक्तिको, जो कौरवोंके विजयका आधार थी, श्रीकृष्णने घटोत्कचके ऊपर प्रयुक्त कराकर दूसरेके लिये निष्फल कर दिया।

'श्रीकृष्णकी नीतिको समझना आसान नहीं है।'

घटोत्कचो यदि हन्याद्धि कर्णं
परो लाभः स भवेत् पाण्डवानाम्।
वैकर्तनो वा यदि तं निहन्यात्
तथापि कृत्यं शक्तिनाशात् कृतं स्यात्॥
(द्रोण० १८२।९)

'उन पुरुषसिंह वासुदेवने यह सोचकर कि घटोत्कच यदि कर्णको मार डालेगा तो पाण्डवोंका बड़ा लाभ होगा, और यदि कर्ण इन्द्रकी दी हुई शक्तिका प्रयोग करके घटो-त्कचको मार देता है, तो भी पाण्डवोंका काम बन जायगा, युद्धमें कर्णके द्वारा घटोत्कचको मरवा दिया। धृतराष्ट्रका यह सोचना ठीक था, परंतु भगवान् वासुदेवकी लीला अपरम्पार है; उनके किस कार्यमें क्या हेतु है, इसको समझना आसान नहीं। यदि कंस, जरासंध, शिशुपाल—जैसे महापराक्रमी वीरोंका भगवान् वासुदेवने सफाया नहीं कर दिया होता तो आज कौरवोंकी शक्ति अजेय हो गयी होती। हाँ, यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भगवान्ने कर्णकी अमोघशक्तिका निशाना घटो-त्कचको ही क्यों बनाया। इसका उत्तर यह है कि भगवान् धर्मकी रक्षाके लिये किसी-न-किसी बहाने असुरोंका संहार करते रहते हैं। घटोत्कच ब्राह्मणों और यज्ञोंसे द्वेष रखनेवाला तथा धर्मका लोप करनेवाला पापात्मा था, इसी कारण भगवान्ने उसे मरवा डाला। श्रीकृष्णने स्वयं कहा था—

यदि ह्येनं नाहनिष्यत् कर्णः शक्त्या महामृधे।
मया वध्योऽभविष्यत् स भैमसेनिर्घटोत्कचः॥
(१८१।२५)

'यदि महायुद्धमें कर्ण अपनी शक्तिसे उसको नहीं मार डालता तो वह भीमसेनका पुत्र घटोत्कच मेरे द्वारा मारा जाता।'
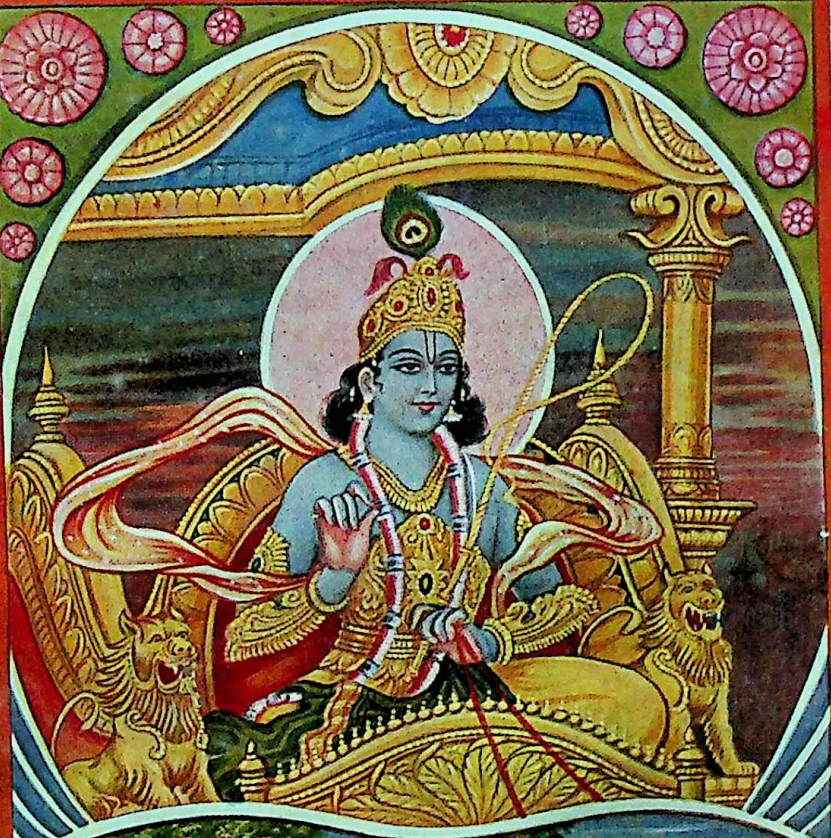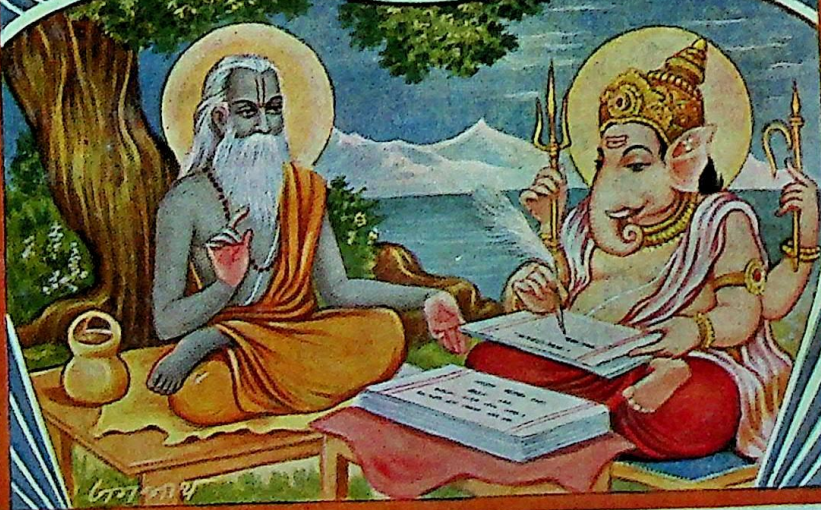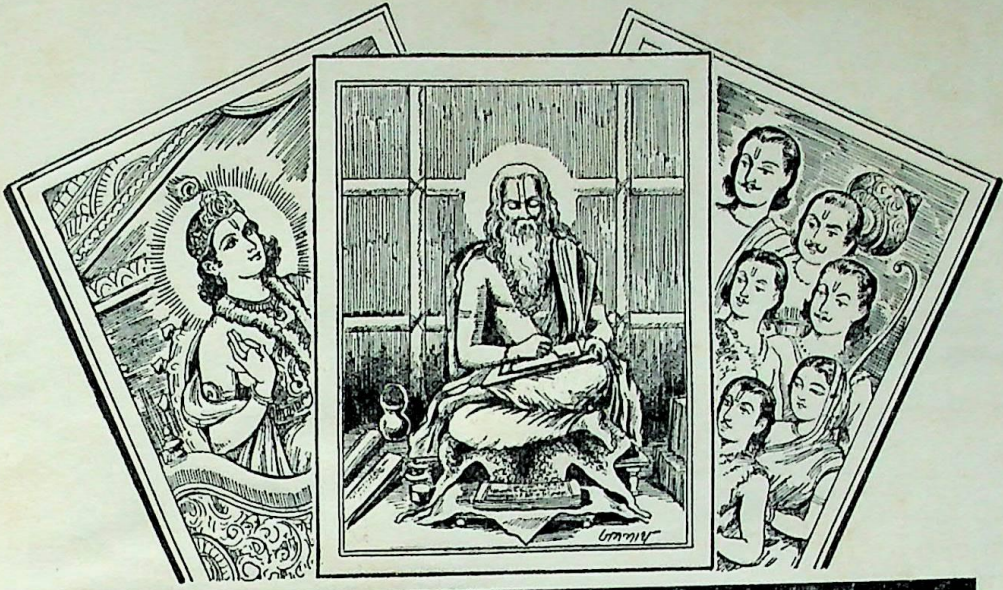
[शेष आगे]

महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

वर्ष २

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या १२

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष ३ — गोरखपुर, आश्विन २०१५, अक्टूबर १९५८ — संख्या १२, पूर्ण संख्या ३६

श्रीकृष्णप्रेमका आश्रय लो

चेतो विहाय सकलां विषयैषणां त्वं
विश्रान्तिभूमिमजरामृतसत्स्वरूपाम् ।
कृष्णे रतिं श्रय परां व्यभिचारशून्यां
नातः परं तव सुखं किमपीह लोके ॥

ऐ मेरे मन ! तू विषय-भोगकी सारी अभिलाषाओंको त्यागकर श्रीकृष्ण-विषयक प्रेम-भक्तिका आश्रय ले । वह उत्तम प्रेमभक्ति व्यभिचार-शून्य (किसी दूसरेके प्रति आसक्तिसे रहित) होनी चाहिये । श्रीकृष्ण-भक्ति सारे पाप-तापसे विश्राम पानेका स्थान है । वह अजर, अमर एवं सत्स्वरूप है । इस संसारमें उससे बढ़कर तेरे लिये दूसरा कोई सुख नहीं है ।

विषय-सूची

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें २०)
विदेशमें २६॥)
(४० शिलिंग)

सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

एक प्रतिका
भारतमें २)
विदेशमें २॥)
(४ शिलिंग)

वीर वेषमें श्रीकृष्ण

नारायणास्त्रसे भीमका त्राण

कृपाचार्यके द्वारा अपने पिताके वधका समाचार सुनकर अश्वत्थामा कुपित हो उठा। उसने पाण्डव-सेनाके ऊपर नारायणास्त्रका प्रयोग कर दिया। भगवान् वासुदेवने पाण्डव-सेनाके सैनिकोंको आदेश दे दिया कि नारायणास्त्रसे बचनेका एकमात्र उपाय यही है कि अपने-अपने वाहनोंसे नीचे उतरकर शस्त्र डाल दो। सब लोगोंने ऐसा ही किया, परंतु भीमसेन गरजते हुए आगे बढ़े। उन्होंने अर्जुनको सम्बोधन करते हुए कहा—'तुम गाण्डीवको मत डाल देना, नहीं तो चन्द्रमाके समान तुम्हें कलङ्क लग जायगा।' अर्जुनने कहा—

भीम नारायणास्त्रे मे गोषु च ब्राह्मणेषु च।
एतेषु गाण्डिवं न्यस्यमेतद्धि व्रतमुत्तमम्॥
(द्रोण० १९९। ५३)

'भैया भीमसेन! नारायणास्त्र, गौ और ब्राह्मण— इनके सामने गाण्डीवको नीचे डाल दिया जाय, यही मेरा उत्तम व्रत है।' पश्चात् देखते-देखते भीमसेन तथा उनका रथ, घोड़े और सारथि—ये सभी अश्वत्थामाके अस्त्रसे आच्छादित हो आगकी लपटोंके भीतर आते हुए दीख पड़े। संजय कहते हैं—

ततश्चकृषतुर्भीमं सर्वशस्त्रायुधानि च।
नारायणास्त्रशान्त्यर्थं नरनारायणौ बलात्॥
(द्रोण० २००। १३)

'तब नर-नारायण अर्थात् अर्जुन और श्रीकृष्णने अपने रथसे उतरकर शीघ्र आगे बढ़कर शस्त्रास्त्रसे युक्त भीमसेनको रथसे नीचे उतार लिया, और तब वह नारायणास्त्र अपने-आप शान्त हो गया।' यहाँ संजयने पुनः 'नर-नारायण' शब्दका प्रयोग किया है। कारण यह है कि यदि भगवान् वासुदेवने उपाय न बताया होता तो अश्वत्थामाके द्वारा प्रयोग किये गये नारायणास्त्रसे सारी पाण्डवसेना नष्ट हो जाती। प्रायः यह देखनेमें आता है कि महाभारतमें जहाँ कहीं भगवत्ता दृष्टिगोचर होती है, वहीं 'नर-नारायण' का स्मरण कराके अर्जुन और भगवान् वासुदेवके देवत्वका ग्रन्थकार स्मरण करा देते हैं। पुनः जब अश्वत्थामाने नारायणास्त्रको विफल होता देखकर पाण्डवसेनापर आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया और उस अस्त्रके द्वारा भयानक संहार प्रारम्भ हो गया, तब अर्जुनने उसके शमनके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया, जिससे आग्नेयास्त्र शमन हो गया। यह देखकर अश्वत्थामाको बड़ा दुःख हुआ, और रथसे कूदकर 'धिक्कार है! धिक्कार है!' कहता हुआ वह रणभूमिसे भागा। अचानक उसको वहाँ महर्षि व्यास आते हुए दिखलायी दिये। उनको प्रणाम करके द्रोण-पुत्रने गद्गद स्वरसे पूछा—

भो भो माया यदृच्छा वा न विद्मः किमिदं भवेत्।
अस्त्रं त्विदं कथं मिथ्या मम कश्च व्यतिक्रमः॥
(द्रोण० २०१। ५०)

'महर्षे! यह माया है या यदृच्छा, मेरी समझमें नहीं आता। यह अस्त्र मिथ्या कैसे हो गया? मुझसे क्या भूल हो गयी?' मैंने तो सर्वसंहारक अस्त्रका प्रयोग किया था, उससे श्रीकृष्ण और अर्जुन कैसे बच गये?

व्यासजीने अश्वत्थामाके इस प्रश्नका उत्तर देते समय पुनः नर-नारायण-तत्त्वपर प्रकाश डालते हुए कहा—"द्रोणपुत्र! सुनो, हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज आदिदेव, जगन्नाथ, नारायण हैं। वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। वे भगवान् किसी कार्यवश धर्मके पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए। उस सूर्यके समान तेजस्वी नारायणने हिमालय पर्वतपर खड़े होकर दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये ६६ हजार वर्षोंतक केवल वायु पीकर घोर तप किया। उनके तपः-तेजसे द्युलोक और भूलोकके बीचका अन्तरिक्ष देदीप्यमान हो उठा। जब वे उस तपसे साक्षात् ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो गये, तब उनके सामने भगवान् शंकरका आविर्भाव हुआ। भगवान् नारायणने उनकी स्तुति की, उस स्तुतिसे प्रसन्न होकर शंकरजीने उन्हें वरदान दिया—

मत्प्रसादान्मनुष्येषु देवगन्धर्वयोनिषु।
अप्रमेयबलात्मा त्वं नारायण भविष्यसि॥
(द्रोण० २०१। ८०)

न च त्वां प्रसहिष्यन्ति देवासुरमहोरगाः।
न पिशाचा न गन्धर्वा न यक्षा न च राक्षसाः॥
न सुपर्णास्तथा नागा न च विश्वे वियोनिजाः।
न कश्चित्त्वां च देवोऽपि समरेषु विजेष्यति॥
(द्रो० २०१। ८०-८२)

'नारायण ! तुम मेरे अनुग्रहसे मनुष्यों, देवताओं तथा गन्धर्वोंमें असीम बल-पराक्रमसे युक्त होओगे। देवता, असुर, नाग, पिशाच, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि समस्त प्राणी युद्धमें तुमको जीत नहीं सकेंगे।

"द्रोणकुमार ! वे ही नारायण श्रीकृष्णके रूपमें अपनी मायासे विचरण कर रहे हैं। तथा नारायणके ही तपसे उत्पन्न महामुनि 'नर' उनके समान ही शक्तिशाली हैं। वे नर ही अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण हैं।' इस प्रकार द्रोणपर्वको भी महर्षि वेदव्यासने श्रीमुखद्वारा ही नारायणकी कथासे मण्डित कर दिया है। इसके साथ ही द्रोणपर्वके अध्याय २०२ में शंकरजीकी महिमा विस्तारपूर्वक वर्णित हुई है।

[कर्णपर्व]

कर्णपर्वके सोलहवें अध्यायमें जब अर्जुनने संशप्तकोंका विनाश कर दिया है, तब देवता उनपर सुमन वृष्टि करते हैं और आकाशवाणी होती है—

चन्द्राग्न्यनिलसूर्याणां कान्तिदीप्तिबलद्युतीः।
यौ सदा बिभ्रतुर्वीराविमौ तौ केशवार्जुनौ॥
ब्रह्मेशानाविवाजय्यौ वीरावेकरथे स्थितौ।
सर्वभूतवरौ वीरौ नरनारायणाविमौ॥
(कर्ण० १६। १८-१९)

'जो सदा चन्द्रमाकी कान्ति, अग्निकी दीप्ति, वायुका बल तथा सूर्यकी द्युति धारण करते हैं, एक ही रथमें विराजमान वे दोनों वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन ब्रह्मा और शंकरके समान सर्वथा अजेय हैं। ये सर्वभूतोंमें श्रेष्ठ वीर नर-नारायण हैं।' इस अत्यन्त आश्चर्यजनक वाणीको सुनकर भी द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रणभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुनपर धावा बोल दिया। भगवान् वासुदेवने देखा कि अश्वत्थामा निरन्तर आक्रमण करता जा रहा है और अर्जुन उसको गुरुपुत्र समझकर केवल रक्षात्मक युद्ध कर रहा है; तब वे अर्जुनको उत्साहित करते हुए बोले—'पार्थ ! आज मैं अद्भुत बात देख रहा हूँ, आज द्रोणकुमार रणमें तुमसे आगे बढ़ता जा रहा है। क्या तुम्हारे हाथमें गाण्डीव नहीं है ?

गुरुपुत्र इति ह्येनं मानयन् भरतर्षभ।
उपेक्षां मा कृथाः पार्थ नायं कालो ह्युपेक्षितुम्॥

'भरतश्रेष्ठ ! यह मेरा गुरु-पुत्र है, इस प्रकार उसको सम्मान देते हुए उसकी उपेक्षा न करो। पार्थ ! यह उपेक्षा करनेका समय नहीं है।'

अर्जुन नर थे। नरका यह स्वभाव ही है कि वह संसारमें मोहवश होकर कर्तव्यको भूल जाता है। महाभारतके युद्धमें ऐसा अनेक बार देखा गया है कि अर्जुन-जैसा वीर मोहके वश होकर कर्तव्यकी अवहेलना कर बैठता है। कर्तव्यकी अवहेलना करनेसे जीवनमें निश्चयपूर्वक पराजयका सामना करना पड़ता है। परंतु जिसके सखा भगवान् वासुदेव हैं, उसका पराजय कैसे होता। भगवान् जो उसे प्रमादसे मुक्त करते रहते थे। अर्जुनको भी गुरु-पुत्रके मोहमें पड़कर प्रमाद करनेसे भगवान्ने बार-बार मना किया। अन्तमें अर्जुनने आवेशमें आकर अश्वत्थामाको पराजित कर दिया।

बड़ोंकी हत्या तथा आत्महत्याका आदर्श

युधिष्ठिरके ऊपर अचानक कौरव-सेनाके सेनापति कर्णने आक्रमण करके उनको घायल कर दिया, और वे अपने शिविरमें विश्राम करनेके लिये चले गये। उधर संशप्तकोंकी सेनाके साथ युद्ध करते समय अर्जुनको इसका समाचार मिला और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे युधिष्ठिरको देखनेके लिये शिविरमें जानेकी इच्छा प्रकट की। शिविरमें युधिष्ठिर शय्यापर पड़े थे। अङ्ग-अङ्गमें बाणोंके चुभ जानेके कारण उन्हें बड़ी व्यथा हो रही थी। उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन एक साथ वहाँ जा पहुँचे। उन दोनोंको आते देखकर युधिष्ठिरको भ्रम हो गया कि अर्जुन कर्णको मारकर आ रहा है और वे प्रसन्न होकर दोनोंकी अभ्यर्थना करने लगे। परंतु जब उनको पता लगा कि अभी कर्ण मारा नहीं गया है, तब वे बोले—

धिगस्तु मज्जीवितमद्य कृष्ण
योऽहं वशं सूतपुत्रस्य जातः॥
मध्ये कुरूणां सुहृदां च मध्ये
ये चाप्यन्ये योद्धुकामाः समेताः।
(कर्ण० ६८। २०-२१)

'कृष्ण ! मैं कौरवों, सुहृदों तथा जो लोग युद्धकी इच्छासे एकत्र हुए हैं, उन सबके बीचमें

आज सूतपुत्र कर्णके अधीन हो गया। मेरे जीवनको धिक्कार है।' और—

धिग् गाण्डीवं धिक् च ते बाहुवीर्य-
मसंख्येयान् बाणगणांश्च धिक् ते।
धिक् ते केतुं केसरिणः सुतस्य
कृशानुदत्तं च रथं च धिक् ते॥
(कर्ण० ६८। ३०)

'धिक्कार है तुम्हारे इस गाण्डीव धनुषको, धिक्कार है तुम्हारी भुजाओंके पराक्रमको, धिक्कार है तुम्हारे असंख्य बाणोंको, धिक्कार है हनूमान्‌जीके द्वारा चिह्नित तुम्हारी ध्वजाको तथा धिक्कार है अग्निके द्वारा प्रदत्त तुम्हारे इस रथको।' अर्जुन! यदि तुम कर्णको नहीं मार सकते तो पाण्डव-सेनामें किसी दूसरेको यह अपना गाण्डीव धनुष दे दो।'

युधिष्ठिरके इतना कहते ही अर्जुनने आवेशमें आकर तलवार खींच ली। उन्होंने कहा—'माधव! मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे गाण्डीव दूसरेको देनेकी बात कहेगा, उसका मैं सिर उतार लूँगा।' श्रीकृष्णने कहा—'अरे! तुम यह क्या पागलपन करने जा रहे हो? बड़ोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती। उनके मुँहपर उनकी निन्दा—अपमान कर देना ही उनकी हत्या करना है। अतः—

त्वमित्यत्रभवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम्।
त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत॥
(कर्ण० ६९। ८३)

"पार्थ! महाराज युधिष्ठिरको आज 'तुम' कह दो। हे भारत! 'तुम' कहनेसे गुरुजनकी निश्चय ही मौत हो जाती है।"

भगवान् वासुदेवके यों कहनेपर अर्जुन 'तुम' तथा निन्दायुक्त कठोर वाक्य कह-कहकर महाराज युधिष्ठिरकी भर्त्सना करने लगे और इस प्रकार भ्रातृ-वधके महापापसे वे बच गये। परंतु अपने इस व्यवहारसे वे बहुत दुखी हो गये और उनको बड़ा पश्चात्ताप होने लगा। उन्हें इतनी आत्मग्लानि हुई कि उन्होंने प्रायश्चित्तस्वरूप आत्मघात करनेके लिये फिर तलवार निकाल ली। तब भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें फिर समझाकर कहा कि अपने मुँहसे अपने गुण वर्णन करना ही आत्मघात है। अतएव तुम वही करो। अर्जुनने वही किया और यों भगवान्‌ने उनको आत्मघात-से भी बचा लिया पश्चात् उन्होंने प्रतिज्ञा की कि 'कर्णको बिना मारे आज मैं युद्धस्थलसे नहीं लौटूँगा।'

भगवान् वासुदेवकी इस लीलासे यह शिक्षा मिलती है कि गृह-कलह पराजय और विपत्तिका मूल है। बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि इसको बढ़ने न दे और चतुराईसे इसको समाप्त कर दे। साथ ही इससे यह भी शिक्षा मिलती है कि बड़ोंका अपमान ही उनकी हत्या करना है तथा अपने मुँह अपनी बड़ाई करना ही आत्महत्या करना है।

कर्ण-वध

अब कर्ण और अर्जुनका निर्णयात्मक युद्ध प्रारम्भ हो गया। कर्ण वीर और महत्त्वाकाङ्क्षी था; परंतु उस-के सारथि शल्य थे, जो बराबर अर्जुन और श्रीकृष्णकी प्रशंसा करके उसे हतोत्साह करनेकी चेष्टा करते रहते थे; और इधर अर्जुनके सारथि भगवान् वासुदेव बराबर अर्जुनको प्रोत्साहित करते थे तथापि कर्णके प्रहारके सामने अर्जुनके प्रहार हल्के पड़ते थे। समुद्रमें चलने-वाले ज्वार-भाटेके समान उस समय कौरव और पाण्डव-सेनाकी स्थिति हो रही थी। जब कर्ण बाणवर्षा करता, तब कौरवसेना आगे बढ़ती थी और पाण्डवसेना पीछे भागने लगती थी; और जब अर्जुन शर-संधान करता तब पाण्डव-सेना आगे बढ़ती और कौरव-सेना पीछे भागती। इन दोनों महाधनुर्धरोंका युद्ध देखनेके लिये आकाशमें देवतालोग उपस्थित थे। अन्तमें जब कर्णने देखा कि बहुत पराक्रम दिखलानेपर भी युद्धमें वह अर्जुन-को नीचा नहीं दिखा पा रहा है, तब उसने उस सर्पमुख बाणको निकाला, जिसे उसने अर्जुनको मारनेके लिये रख छोड़ा था तथा जिसकी पूजा वह नित्य किया करता था। उस बाणका प्रयोग करते देखकर इन्द्रसहित सारे लोकपाल हाहाकार कर उठे। परंतु—

तं प्रेक्ष्य दीप्तं युधि माधवस्तु
त्वरान्वितं सत्वरयैव लीलया।

पदा विनिष्पिष्य रथोत्तमं स
प्रावेशयत् पृथिवीं किंचिदेव ॥
(कर्ण० ९० । २९)

ततः शरः सोऽभ्यहनत् किरीटं
तस्येन्द्रदत्तं सुदृढं च धीमतः ।
अथार्जुनस्योत्तमगात्रभूषणं
धरावियद्द्योसलिलेषु विश्रुतम् ॥
(कर्ण० ९० । ३२)

'उस प्रज्वलित बाणको बड़े वेगसे आते देख भगवान् श्रीकृष्णने युद्धभूमिमें आसानीसे अपने श्रेष्ठ रथ-को पैरसे दबाकर कुछ पृथ्वीमें धँसा दिया । तब इन्द्रका दिया हुआ वह सुदृढ किरीट जो भूतल, आकाश, द्युलोक तथा वरुणलोकमें भी प्रसिद्ध था तथा अर्जुनके सिरको विभूषित कर रहा था, उससे वह शर टकरा गया ।' और सूतपुत्र कर्णका प्रयत्न सफल न हुआ । भगवान् वासुदेवकी इस रथ हाँकनेकी कलासे उनका अनुपम कृतित्व सिद्ध होता है । महाभारतकी सारी लड़ाईमें ऐसा कौशल किसी भी पुरुषने कहीं नहीं दिखलाया ।

अन्तमें कर्णका भी अन्तसमय आ गया, उसके रथका पहिया पृथिवीमें धँस गया और उसके रथकी गति रुक गयी । वह उतरकर पहिया उठाने गया । और धर्मकी दुहाई देते हुए उसने अर्जुनको प्रहार न करनेके लिये कहा । तब भगवान् वासुदेवने उसे फटकारना प्रारम्भ किया और कहा कि 'इस समय तुम्हें धर्मकी बात याद आ रही है ? कौरव-सभामें द्रौपदीका अपमान करते समय, युधिष्ठिरको जुएमें धोखा देकर हराते समय, भीमसेनको विष दिलाते समय, पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें जलाते समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?' तदनन्तर भगवान्के आदेशसे अर्जुनने पहिया उठाते समय ही अञ्जलिक नामक बाणसे कर्णका सिर काट दिया ।

शल्य-पर्व

कर्णके मरनेके बाद शल्य कौरवसेनाके सेनाध्यक्ष बनाये गये । भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको सम्बोधन करते हुए कहा कि 'आप शल्यको साधारण न समझें । वे भीष्म, द्रोण और कर्णके समान या उनसे भी बढ़कर पराक्रमी हैं ।

तस्याद्य न प्रपश्यामि प्रतियोद्धारमाहवे ।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र शार्दूलसमविक्रमम् ॥
(शल्य० ७ । ३३)

'पुरुषसिंह ! आपका पराक्रम सिंहके समान है । आज मैं आपके सिवा किसी दूसरेको नहीं पाता, जो युद्धमें शल्यके सामने लड़ सके ।'

इस प्रकार उत्साहपूर्ण वचनोंसे भगवान्ने युधिष्ठिर-को पूर्ण उत्साहसे भर दिया । वस्तुतः शल्य साधारण वीर नहीं थे । इसके सिवा शत्रुपक्षमें दुर्योधन, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा-जैसे महाधनुर्धर अभी शेष थे, तथा कौरव-सेनामें ग्यारह हजार रथ, दस हजार सात सौ हाथी, दो लाख घोड़े और तीन करोड़ पैदल थे; परंतु पाण्डव-सेनामें केवल छः हजार रथ, छः हजार हाथी, दस हजार घोड़े और दो करोड़ पैदल थे । इस प्रकार सैनिक बल कौरवोंका बढ़ा-चढ़ा था । अतएव यह समझकर कि कहीं पाण्डव अपनी विजयको देखकर शिथिलप्रयत्न न हो जायँ, श्रीभगवान्ने युधिष्ठिरमें उत्साह भरना आवश्यक समझा । भगवान् वासुदेव बोले—

द्रोणभीष्मार्णवं तीर्त्वा कर्णपातालसम्भवम् ।
मा निमज्जस्व सगणः शल्यमासाद्य गोष्पदम् ॥
(शल्य० ७ । ४०)

'राजन् ! भीष्म, द्रोण और कर्णरूपी महासागर-को पार करके आप अपने गणके साथ कहीं शल्यरूपी गोष्पदमें न डूब जायँ ।' ये मेरे मामा हैं यह सोचकर उनके ऊपर आपको दया नहीं करनी चाहिये । आप क्षत्रियधर्मको देखते हुए मद्रराज शल्यको मार डालें ।'

भगवान् वासुदेवके उत्साहित करनेपर धर्मराज युद्ध-में पूर्ण पराक्रम प्रदर्शित करनेके लिये संनद्ध हो गये । उनको संनद्ध देखकर शेष पाण्डव महारथी भी उत्साहसे भर गये । कौरव तो अब भी अपनी सैन्यशक्तिको पाण्डवोंकी शक्तिकी अपेक्षा बड़ी देखकर पूरी ताकतसे पाण्डवसेनापर आक्रमणकी तैयारीमें थे । भगवान्ने युधिष्ठिरमें युद्धके लिये उत्साह भरकर मानो उन्हें विजय-बूटी पिला दी । जब युद्धक्षेत्रमें दोनों सेनाएँ उतरीं, तब पाण्डव कौरवोंकी अपेक्षा कम उत्साहित न थे । बड़ा भयानक युद्ध हुआ, अन्तमें भगवान् वासुदेवके वाक्यको स्मरण

करके युधिष्ठिरने क्रुद्ध होकर एक शक्तिके प्रहारसे शल्यका वध कर डाला और जोशमें आकर वे कौरव-सेनाका संहार करने लगे। कौरवोंकी सेनाका पैर उखड़ गया और पाञ्चाल और पाण्डव उनका पीछा करने लगे।

दुर्योधन-वध

शल्यके वधके उपरान्त दुर्योधन खिन्न होकर द्वैपायन-सरोवरमें जाकर जलस्तम्भन करके जलके भीतर छिप गया। भगवान् वासुदेवके साथ पाण्डव उस सरोवरपर पहुँचे और युधिष्ठिरने उसे युद्धके लिये ललकारा। भीमके साथ गदायुद्धके लिये संनद्ध होकर वह पानीसे बाहर निकला। भीमसेन और दुर्योधनका गदायुद्ध प्रारम्भ हो गया। दोनों एक दूसरेपर घातक प्रहार करने लगे। दुर्योधन इस युद्ध-कलामें अद्वितीय था। भगवान्ने अर्जुनसे कहा—

उपदेशोऽनयोस्तुल्यो भीमस्तु बलवत्तरः।
कृती यत्नपरस्त्वेष धार्तराष्ट्रो वृकोदरात्॥
भीमसेनस्तु धर्मेण युध्यमानो न जेष्यति।
अन्यायेन तु युद्ध्यन् वै हन्यादेव सुयोधनम्॥
(शल्य० ५८। ३-४)

'अर्जुन! इन दोनोंको गदायुद्धकी शिक्षा एक-सी मिली है, परंतु भीमसेन बलमें अधिक है और दुर्योधन उसकी अपेक्षा अभ्यास और प्रयत्नमें बढ़ा हुआ है। अतएव भीम धर्मपूर्वक युद्ध करके उसको न जीत सकेगा, वह अन्यायपूर्वक युद्ध करके ही दुर्योधनका वध करे।'

तदनन्तर अर्जुनने भीमसेनके देखते हुए अपनी जङ्घा ठोककर दुर्योधनकी जङ्घेपर प्रहार करनेका इशारा किया और भीमसेनने वैसा ही करके उसे पछाड़ दिया। इस प्रकार युद्धका अन्त हो गया और पाण्डव विजयी हुए। भगवान्ने युद्धारम्भके पहले ही कह दिया था—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।

'ये शत्रुपक्षके वीर मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। अर्जुन! तू निमित्तमात्र बन जा।' वस्तुतः मारने और जिलानेवाले तो भगवान् वासुदेव ही हैं। उन्होंने ही अर्जुनको प्रोत्साहित करके भीष्मका वध कराया था—

जहि भीष्मं स्थिरो भूत्वा शृणु चेदं वचो मम।
× × ×
ज्यायांसमपि चेद् वृद्धं गुणैरपि समन्वितम्।
आततायिनमायान्तं हन्याद् घातकमात्मनः।
(भीष्म० १०७। १००-१०१)

'अर्जुन! तुम मेरी बात सुनो, स्थिर होकर भीष्मको मार डालो। देखो, नीतिकार बृहस्पतिने भी कहा है कि बड़े-से-बड़ा गुरुजन, वृद्ध, सर्वगुणयुक्त पुरुष भी यदि शस्त्र लेकर मारनेके लिये सामने उद्यत हो तो उस आततायीको मार डालना चाहिये।'

भगवान् वासुदेवने ही 'अश्वत्थामा मारा गया'—यह छलयुक्त उद्घोष कराकर द्रोणवधका रास्ता साफ कर दिया। उन्होंने ही अर्जुनसे कहा था—

एको हि योगोऽस्य भवेद् वधाय
छिद्रे ह्येनं स्वप्रमत्तः प्रमत्तम्।
कृच्छ्रं प्राप्तं रथचक्रे विमग्ने
हन्याः पूर्वं त्वं तु संज्ञां विचार्य॥
(द्रोण० १८०। ३१)

'कर्णके वधका एक ही योग है; छिद्र प्राप्त होनेपर जब वह असावधान हो, उसके रथका चक्र धँस जानेपर वह संकटमें पड़ जाय, तब मेरे संकेतको पाकर तुम उसे मार डालो।' और जब उसके रथका चक्र जमीनमें धँस गया और कर्ण उसको सँभालनेके लिये उतरा, तब श्रीकृष्णने कहा—

छिन्ध्यस्य मूर्धानमरेः शरेण
न यावदारोहति वै रथं वृषः॥

'पार्थ! जबतक कर्ण रथपर नहीं चढ़ता, तबतक शरसे इसका सिर काट लो।' और युधिष्ठिरको उत्साहित करते हुए उन्होंने कहा—

यच्च ते तपसो वीर्यं यच्च क्षात्रं बलं तव।
तद् दर्शय रणे सर्वं जहि चैनं महारथम्॥

'राजन्! आपके पास जो तपोबल, क्षात्रबल है, उसे आज युद्धमें प्रदर्शित करके महारथी शल्यको मार डालिये।' इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः मारनेवाले भगवान् वासुदेव ही हैं और जिलानेवाले भी वे ही

हैं। अश्वत्थामाके नारायणास्त्रसे उन्होंने सारी पाण्डव-सेनाकी रक्षा की, कर्णके सर्पमुख बाणसे अर्जुनको बचाया और नाना प्रकारसे महाभारतके युद्धमें स्थान-स्थानपर पाण्डवोंको मृत्युके मुखसे बचानेके लिये विभिन्न नीतियोंका प्रयोग किया। महाभारतको पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि नरके द्वारा युद्धकी प्रगति विजयकी ओर होती है, तथापि मुख्यतः नारायण ही सब कुछ करते हैं। वस्तुतः जो इस अखिल विश्वमें सृष्टि, पालन और संहारकी क्रीडा करता है, उसीके पालन और संहारकी क्रीडाका एकतम दृष्टान्त महाभारत है। और सच्ची बात तो यह है कि विभिन्न प्रकारोंसे सम्पूर्ण महाभारतमें भगवान् श्रीकृष्णकी ही महान् महिमाका गान किया गया है। मानो सारा महाभारत उन्हींके स्तवनसे भरा है।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! राज्याभिषेकके पश्चात् राज्य पाकर परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने पवित्र भावसे हाथ जोड़कर कमलनयन दशार्हवंशी श्रीकृष्णसे कहा—"यदुसिंह श्रीकृष्ण! आपकी ही कृपा, नीति, बल, बुद्धि और पराक्रमसे मुझे पुनः अपने बाप-दादोंका यह राज्य प्राप्त हुआ है। शत्रुओंका दमन करनेवाले कमलनयन! आपको बारंबार नमस्कार है। अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले द्विज एकमात्र आपको ही अन्तर्यामी पुरुष एवं उपासना करनेवाले भक्तोंका प्रतिपालक बताते हैं। साथ ही वे नाना प्रकारके नामोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व आपकी लीलामयी सृष्टि है। आप इस विश्वके आत्मा हैं। आपसे ही इस जगत्की उत्पत्ति हुई है। आप ही व्यापक होनेके कारण 'विष्णु', विजयी होनेसे 'जिष्णु', दुःख और पाप हर लेनेसे 'हरि' अपनी ओर आकृष्ट करनेके कारण 'कृष्ण', विकुण्ठ धामके अधिपति होनेसे 'वैकुण्ठ' तथा क्षर-अक्षर पुरुषसे उत्तम होनेके कारण 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आपको नमस्कार है।

आप पुराणपुरुष परमात्माने ही सात प्रकारसे अदितिके गर्भमें अवतार लिया है। आप ही पृश्निगर्भके नामसे प्रसिद्ध हैं। विद्वान्लोग तीनों युगोंमें प्रकट होनेके कारण आपको 'त्रियुग' कहते हैं। आपकी कीर्ति परम पवित्र है। आप सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक हैं। घृत ही जिसकी ज्वाला है, वह यज्ञपुरुष आप ही हैं। आप ही हंस (विशुद्ध परमात्मा) कहे जाते हैं। त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर और आप एक ही हैं। आप सर्वव्यापी होनेके साथ ही दामोदर (यशोदा मैयाके द्वारा बँध जानेवाले नटवर-नागर) भी हैं। वराह, अग्नि, बृहद्भानु (सूर्य), वृषभ (धर्म), गरुडध्वज, अनीकसाह (शत्रुसेनाका वेग सह सकनेवाले), पुरुष (अन्तर्यामी), शिपिविष्ट (सबके शरीरमें आत्मारूपसे प्रविष्ट) और उरुक्रम (वामन)—ये सभी आपके ही नाम और रूप हैं। सबसे श्रेष्ठ, भयंकर सेनापति, सत्यस्वरूप, अन्नदाता तथा कार्तिकेय भी आप ही हैं। आप स्वयं कभी युद्धसे विचलित न होकर शत्रुओंको पीछे हटा देते हैं। संस्कारसम्पन्न द्विज और संस्कारशून्य वर्णसंकर भी आपके ही स्वरूप हैं। आप भोगोंकी वर्षा करनेवाले वृष (धर्म) हैं। कृष्णधर्म (यज्ञस्वरूप) और सबके आदिकारण आप ही हैं। वृषदर्भ (इन्द्रके दर्पका दलन करनेवाले) और वृषाकपि (हरि-हर) भी आप ही हैं। आप ही सिन्धु (समुद्र), विधर्म (निर्गुण परमात्मा), त्रिककुप् (ऊपर-नीचे और मध्य—ये तीन दिशाएँ), त्रिधामा (सूर्य, चन्द्र और अग्नि—ये त्रिविध तेज) तथा वैकण्ठधामसे नीचे अवतीर्ण होनेवाले हैं। आप सम्राट्, विराट्, स्वराट् और देवराज इन्द्र हैं। यह संसार आपसे ही प्रकट हुआ है।

आप सर्वत्र व्यापक, नित्य सत्तारूप और निराकार परमात्मा हैं। आप ही कृष्ण (सबको अपनी ओर खींचनेवाले) और कृष्णवर्त्मा (अग्नि) हैं। आपको ही लोग अभीष्ट- साधक, अश्विनीकुमारोंके पिता सूर्य, कपिलमुनि, वामन, यज्ञ, ध्रुव, गरुड़ तथा यज्ञसेन कहते हैं। आप अपने मस्तकपर मोरका पंख धारण करते हैं। आप ही पूर्वकालमें राजा नहुष होकर प्रकट हुए थे। आप सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त करनेवाले महेश्वर तथा एक ही पैरसे आकाशको नाप लेनेवाले विराट् हैं। आप ही पुनर्वसु नक्षत्रके रूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। सुबभ्रु (अत्यन्त पिङ्गल वर्ण), रुक्मयज्ञ (सुवर्णकी दक्षिणासे भरपूर यज्ञ), सुषेण (सुन्दर सेनासे सम्पन्न) तथा

दुन्दुभिस्वरूप हैं। आप ही गभस्तिनेमि (कालचक्र), श्रीपद्म, पुष्कर, पुष्पधारी, ऋभु, विभु, सर्वथा सूक्ष्म और सदाचारस्वरूप कहलाते हैं। आप ही जल-निधि समुद्र, आप ही ब्रह्मा तथा आप ही पवित्र धाम एवं धामके ज्ञाता हैं। केशव! विद्वान् पुरुष आपको ही हिरण्यगर्भ, स्वधा और स्वाहा आदि नामोंसे पुकारते हैं। श्रीकृष्ण! आप ही इस जगत्के आदिकारण हैं और आप ही इसके प्रलयस्थान। कल्पके आरम्भमें आप ही इस विश्वकी सृष्टि करते हैं। विश्वके कारण! यह सम्पूर्ण विश्व आपके ही अधीन है। हाथोंमें धनुष, चक्र और खड्ग धारण करनेवाले परमात्मन्! आपको नमस्कार है।'' इस प्रकार जब धर्मराज युधिष्ठिरने सभामें यदुकुलशिरोमणि कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की, तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर भरतभूषण ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरका उत्तम वचनोंद्वारा अभिनन्दन किया। जो धर्मराज युधिष्ठिरद्वारा वर्णित भगवान् श्रीकृष्णके इन सौ नामोंका पाठ या श्रवण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

(शान्तिपर्व ४३। १-१७)

युधिष्ठिरने भीष्मजीसे कहा—''महाप्राज्ञ पितामह! मैं कमलनयन, अच्युत, सबके कर्ता, नित्यसिद्ध, सर्वव्यापी, सब भूतोंकी उत्पत्ति तथा प्रलयके स्थान, अपराजित, नारायण, हृषीकेश, गोविन्द, केशव आदि नामोंसे प्रसिद्ध श्रीकृष्णके स्वरूपका तात्त्विक विवेचन सुनना चाहता हूँ।' तब भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! मैंने इस विषयका विवेचन जमदग्निनन्दन परशुराम, देवर्षि नारद तथा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीसे सुना है। तात! असित, देवल, महातपस्वी वाल्मीकि और महर्षि मार्कण्डेयजी भी इन भगवान् गोविन्दके विषयमें बड़ी अद्भुत बातें कहा करते हैं। भरतश्रेष्ठ! भगवान् श्रीकृष्ण सबके ईश्वर और प्रभु हैं। श्रुतिमें 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (पुरुष—श्रीकृष्ण ही यह सब कुछ हैं) इत्यादि वचनोंद्वारा इन्हीं सर्वव्यापी श्रीकृष्णकी महिमाका नाना प्रकारसे निरूपण किया गया है। महाबाहु युधिष्ठिर! जगत्में ब्राह्मण शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णके जिन माहात्म्योंको जानते हैं, उन्हें बताता हूँ; सुनो। नरेन्द्र! पुराणवेत्ता पुरुष गोविन्दकी जिन-जिन लीलाओं तथा चरित्रोंका वर्णन करते हैं, उनका मैं यहाँ वर्णन करूँगा। सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा महात्मा पुरुषोत्तमने आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँच महाभूतोंकी रचना की है। सर्वभूतेश्वर, प्रभु, महात्मा पुरुषोत्तमने इस पृथ्वीकी सृष्टि करके जलमें ही अपना निवासस्थान बनाया। उसमें शयन करते हुए सर्वतेजोमय पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने मनसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंके अग्रज तथा आश्रय संकर्षणको उत्पन्न किया, यह हमने सुना है। वे संकर्षण ही समस्त भूतोंको धारण करते हैं तथा वे ही भूत और भविष्यके भी आधार हैं।

उन महाबाहु महात्मा संकर्षणका प्रादुर्भाव होनेके पश्चात् श्रीहरिकी नाभिसे एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, जो सूर्यके समान प्रकाशमान था। तात! उस कमलसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंके पितामह देवस्वरूप भगवान् ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उन महाबाहु महात्मा ब्रह्माजीकी भी उत्पत्ति हो जानेपर वहाँ तमोगुणसे मधु नामक महान् असुर प्रकट हुआ, जो असुरोंका पूर्वज था। उसका स्वभाव बड़ा ही उग्र था। वह सदा ही भयानक कर्म करनेवाला था। भयंकर कर्म करनेका निश्चय लेकर आये हुए उस असुरको पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीका हित करनेके लिये मार डाला। तात! उस मधुका वध करनेके कारण ही सम्पूर्ण देवता, दानव और मानव इन सर्वसात्वतशिरोमणि श्रीकृष्णको मधुसूदन कहते हैं।

ब्रह्माजीने सात मानसपुत्रोंको उत्पन्न किया, जिनमें दक्ष प्रजापति सातवें थे (ये ही सबसे प्रथम उत्पन्न हुए थे)। शेष छः पुत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु। तात! इन छः पुत्रोंमें सबसे बड़े थे मरीचि। उन्होंने अपने मनसे ही ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ कश्यप नामक श्रेष्ठ पुत्रको जन्म दिया, जो बड़े ही तेजस्वी हैं। भरतश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने दक्षको अपने अँगूठेसे उत्पन्न किया था। वे मरीचिसे भी बड़े थे। इसीलिये प्रजापतिके पदपर दक्ष प्रतिष्ठित हुए। भरतनन्दन! प्रजापति दक्षके पहले तेरह कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जिनमें दिति सबसे बड़ी थी। तात! सम्पूर्ण धर्मोंके विशेषज्ञ, पुण्यकीर्ति, महायशस्वी मरीचिनन्दन

कश्यप उन सब कन्याओंके पति हुए। तदनन्तर धर्मके ज्ञाता महाभाग प्रजापति दक्षने दस कन्याएँ और उत्पन्न कीं, जो पूर्वोक्त तेरह कन्याओंसे छोटी थीं। उन सबका विवाह उन्होंने धर्मके साथ कर दिया। भरतनन्दन! धर्मके वसु, अमित तेजस्वी रुद्र, विश्वेदेव, साध्य तथा मरुद्गण—ये बहुत-से पुत्र हुए। तत्पश्चात् दक्षके अन्य सत्ताईस कन्याएँ हुईं, जो पूर्वोक्त कन्याओंसे भी छोटी थीं। महाभाग सोम उन सबके पति हुए। इन सबके अतिरिक्त भी दक्षके बहुत-सी कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जिन्होंने गन्धर्वों, अश्वों, पक्षियों, गौओं, किम्पुरुषों, मत्स्यों, उद्भिज्जों और वनस्पतियोंको जन्म दिया। अदितिने देवताओंमें श्रेष्ठ महाबली आदित्योंको उत्पन्न किया। उन आदित्योंमें सर्वव्यापी भगवान् गोविन्द भी वामनरूपसे प्रकट हुए। उनके विक्रमसे अर्थात् विराट्‌रूप धारणकर तीन पैंडमें त्रिलोकीको नाप लेनेके कारण देवताओंकी श्रीवृद्धि हुई, दानव पराजित हुए तथा दैत्यों और असुरोंकी प्रजा भी पराभवको प्राप्त हुई। दनुने दानवोंको जन्म दिया, जिनमें विप्रचित्ति आदि दानव प्रमुख थे। दिति समस्त असुरों—महान् शक्तिशाली दैत्योंकी जननी हुई।

इन्हीं श्रीमधुसूदनने दिन-रात, ऋतुके अनुसार काल, पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण आदि समस्त काल-विभागकी व्यवस्था की। उन्होंने ही अपने मनके संकल्पसे मेघों, स्थावर-जङ्गम-प्राणियों तथा समस्त पदार्थोंसहित महान् तेजसे संयुक्त समूची पृथ्वीकी सृष्टि की। युधिष्ठिर! तदनन्तर महाभाग श्रीकृष्णने पुनः सैकड़ों श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको मुखसे ही उत्पन्न किया। भरतश्रेष्ठ! इन केशवने सैकड़ों क्षत्रियोंको अपनी दोनों भुजाओंसे सैकड़ों वैश्योंको अपनी जाँघोंसे तथा सैकड़ों शूद्रोंको दोनों पैरोंसे उत्पन्न किया। इस प्रकार इन महातपस्वी श्रीहरिने चारों वर्णोंको उत्पन्न करके स्वयं ही धाताको सम्पूर्ण भूतोंका अध्यक्ष बनाया। वे ही वेदविद्याको धारण करनेवाले अमिततेजस्वी ब्रह्मा हुए। फिर श्रीहरिने भूतों और मातृगणोंके अध्यक्ष विरूपाक्ष (रुद्र) की रचना की। सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा श्रीहरिने पापियोंको दण्ड देनेवाले तथा पितरोंके समवर्ती यमराजको और सम्पूर्ण निधियोंके पालक धनाध्यक्ष कुबेरको उत्पन्न किया। इसी प्रकार उन्होंने जल-जन्तुओंके स्वामी जलेश्वर वरुणकी सृष्टि की। उन्हीं भगवान्‌ने इन्द्रको सम्पूर्ण देवताओंका अध्यक्ष बनाया। पहले मनुष्योंको जितने दिनोंतक शरीर धारण करनेकी इच्छा होती, उतने दिनोंतक वे जीवित रहते थे। उन्हें यमराजका कोई भय नहीं होता था। भरतश्रेष्ठ! पहलेके लोगोंमें मैथुन-धर्मकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी। इन सबको संकल्पसे ही संतान पैदा होती थी।

तदनन्तर त्रेतायुगका समय आनेपर स्पर्श करनेमात्रसे संतानकी उत्पत्ति होने लगी। नरेश्वर! उस समयके लोगोंमें भी मैथुन-धर्मका प्रचार नहीं हुआ था। नरेश्वर! द्वापर युगमें प्रजाके मनमें मैथुन-धर्मका सूत्रपात हुआ। राजन्! उसी तरह कलियुगमें भी लोग मैथुन-धर्मको प्राप्त होने लगे। तात कुन्तीनन्दन! ये भगवान् श्रीकृष्ण ही भूतनाथ एवं सबके अध्यक्ष कहे जाते हैं। अब जो नरकका दर्शन करनेवाले हैं, उनका वर्णन करता हूँ; सुनो। नरेश्वर! दक्षिण भारतमें जन्म लेनेवाले सभी आन्ध्र, गुह, पुलिन्द, शबर, चूचुक और मद्रक—ये सब-के-सब म्लेच्छ हैं। तात! अब उत्तरभारतमें जन्म लेनेवाले म्लेच्छोंका वर्णन करूँगा। यौन, काम्बोज, गान्धार, किरात और बर्बर—ये सब-के-सब पापाचारी होकर इस सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं। नरेश्वर! ये सब-के-सब चाण्डाल, कौए और गीधोंके समान आचार-विचारवाले हैं। ये सत्ययुगमें इस पृथ्वीपर नहीं विचरण करते। भरतश्रेष्ठ! त्रेतासे वे लोग बढ़ने लगे थे। तदनन्तर त्रेता और द्वापरका महाघोर संध्याकाल उपस्थित होनेपर राजालोग एक-दूसरेसे टक्कर लेकर युद्धमें आसक्त हुए। कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्णने इस लोकको उत्पन्न किया है।

(शान्ति० २०७। ३–४६½)

भीष्मजीने फिर कहा—

तपःस्वरूपो महादेवः कृष्णो देवकिनन्दनः।
तस्य प्रसादाद् दुःखस्य नाशं प्राप्स्यसि मानद॥
एकः कर्ता स कृष्णश्च ज्ञानिनां परमा गतिः।
इदमाश्रित्य देवेन्द्रो देवा रुद्रास्तथाश्विनौ॥
स्वे स्वे पदे बिबिशिरे भुक्तिमुक्तिविदो जनाः॥

श्रूयतामस्य सद्भावः सम्यग्ज्ञानं यथा तव।
भूतानामन्तरात्मासौ स नित्यपदसंवृतः॥
(पृ० ४९५०)

'सबको मान देनेवाले नरेश ! महान् देवता भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण तपस्यारूप ही हैं । उन्हींकी कृपासे तुम्हारे सारे दुःखोंका नाश हो जायगा । एकमात्र जगत्स्रष्टा श्रीकृष्ण ज्ञानियोंकी परम गति हैं। तपस्यारूप इन श्रीकृष्णका आश्रय लेकर देवराज इन्द्र, अन्यान्य देवता, रुद्रगण, दोनों अश्विनीकुमार तथा भोग और मोक्षके तत्त्वको जाननेवाले महर्षि अपने-अपने पदपर प्रतिष्ठित रहते हैं । वे सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं तथा नित्य वैकुण्ठधाममें अपनी योगमायासे आवृत होकर निवास करते हैं । उनकी सत्ता और महत्ताको तुम श्रवण करो, जिससे तुम्हें श्रीकृष्ण-तत्त्वका ज्ञान हो जाय।'

× × ×

तस्माद् व्रज हृषीकेशं कृष्णं देवकिनन्दनम्॥
एतमाराध्य गोविन्दं गता मुक्तिं महर्षयः।
एष कर्ता विकर्ता च सर्वकारणकारणम्॥
(पृ० ४९५१)

'अतः युधिष्ठिर ! तुम भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी शरणमें जाओ । इन भगवान् गोविन्दकी आराधना करके कितने ही महर्षि मुक्तिको प्राप्त हो गये हैं । ये ही जगत्के रचयिता, संहारकर्ता और समस्त कारणोंके भी कारण हैं ।'

गुरु-शिष्य-संवाद

एक परम मेधावी समाहितचित्त अधिकारी शिष्यके पूछनेपर श्रेष्ठतम विद्वान् परम महर्षि गुरुने कहा—

शृणु शिष्य महाप्राज्ञ ब्रह्मगुह्यमिदं परम्।
अध्यात्मं सर्वविद्यानामागमानां च यद्वसु॥
वासुदेवः परमिदं विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम्।
सत्यं ज्ञानमथो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम्॥
पुरुषं सनातनं विष्णुं यं तं वेदविदो विदुः।
सर्गप्रलयकर्तारमव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम्॥
तदिदं ब्रह्म वार्ष्णेयमितिहासं शृणुष्व मे।
ब्राह्मणो ब्राह्मणैः श्राव्यो राजन्यः क्षत्रियैस्तथा॥
वैश्यो वैश्यैस्तथा श्राव्यः शूद्रः शूद्रैर्महामनाः।
माहात्म्यं देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः॥

अर्हस्त्वमसि कल्याणं वार्ष्णेयं शृणु यत्परम्।
कालचक्रमनाद्यन्तं भावाभावस्वलक्षणम्॥
त्रैलोक्यं सर्वभूतेशे चक्रवत्परिवर्तते।
यत्तदक्षरमव्यक्तममृतं ब्रह्म शाश्वतम्॥
वदन्ति पुरुषव्याघ्र केशवं पुरुषर्षभम्॥
पितॄन् देवानृषींश्चैव तथा वै यक्षराक्षसान्।
नागासुरमनुष्यांश्च सृजते परमोऽव्ययः॥
(शान्ति० २१० । ८-१५)

'वत्स ! सुनो । महामते ! तुमने जो बात पूछी है, वह वेदोंका उत्तम एवं गूढ़ रहस्य है । यही अध्यात्मतत्त्व है तथा यही समस्त विद्याओं और शास्त्रोंका सर्वस्व है । सम्पूर्ण वेदका मुख जो प्रणव है, वह तथा सत्य, ज्ञान, यज्ञ, तितिक्षा, इन्द्रिय-संयम, सरलता और परमतत्त्व—यह सब कुछ वासुदेव ही है । वेदज्ञ जन उसीको सनातन पुरुष और विष्णु भी मानते हैं । वही संसारकी सृष्टि और प्रलय करने-वाला अव्यक्त एवं सनातन ब्रह्म है । वही ब्रह्म वृष्णि-कुलमें श्रीकृष्णरूपसे अवतीर्ण हुआ है, इस कथाको तुम मुझसे सुनो । ब्राह्मण ब्राह्मणको, क्षत्रिय क्षत्रियको, वैश्य वैश्यको तथा शूद्र महामनस्वी शूद्रको अमिततेजस्वी देवाधिदेव विष्णुका माहात्म्य सुनायें । तुम भी यह सब सुननेके योग्य अधिकारी हो; अतः भगवान् श्रीकृष्णका जो कल्याणमय उत्कृष्ट माहात्म्य है, उसे सुनो । यह सृष्टि-प्रलयरूप जो अनादि, अनन्त कालचक्र है, वह श्रीकृष्णका ही स्वरूप है । सर्वभूतेश्वर श्रीकृष्णमें ये तीनों लोक चक्रकी भाँति घूम रहे हैं । पुरुषसिंह ! पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको ही अक्षर, अव्यक्त, अमृत एवं सनातन परब्रह्म कहते हैं । ये अविनाशी परमात्मा श्रीकृष्ण ही पितर, देवता, ऋषि, यक्ष, राक्षस, नाग, असुर और मनुष्य आदिकी रचना करते हैं ।'

अर्जुनके द्वारा विनयपूर्वक पूछे जानेपर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रभावका वर्णन करते हुए अपने नामोंकी व्युत्पत्ति और महिमा उन्हें इस प्रकार सुनायी—

'अर्जुन ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, उपनिषद्, पुराण, ज्यौतिष, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र

तथा आयुर्वेदमें महर्षियोंने मेरे बहुतसे नाम कहे हैं। उनमें कुछ नाम तो गुणोंके अनुसार हैं और कुछ कर्मोंसे हुए हैं। निष्पाप अर्जुन ! तुम पहले एकाग्रचित्त होकर मेरे कर्मजनित नामोंकी व्याख्या सुनो। तात ! मैं तुमसे उन नामोंकी व्युत्पत्ति कहता हूँ, क्योंकि पूर्वकालसे ही तुम मेरे आधे शरीर माने गये हो। जो समस्त देहधारियोंके उत्कृष्ट आत्मा हैं, उन महायशस्वी, निर्गुण-सगुणरूप विश्वात्मा भगवान् नारायण-देवको नमस्कार है। जिनके प्रसादसे ब्रह्मा और क्रोधसे रुद्र प्रकट हुए हैं, वे श्रीहरि ही सम्पूर्ण चराचर जगत्की उत्पत्तिके कारण हैं।

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अठारह गुणोंवाला (प्रीति, प्रकाश, उत्कर्ष, हल्कापन, सुख, कृपणताका अभाव, रोषका अभाव, संतोष, श्रद्धा, क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, सरलता, समता, सत्य तथा दोष-दृष्टिका अभाव—ये सत्त्वके अठारह गुण हैं।) जो सत्त्व है अर्थात् आदिपुरुष है, वही मेरी पराप्रकृति है। पृथ्वी और आकाशकी आत्मस्वरूपा वह योगबलसे समस्त लोकोंको धारण करनेवाली है। वही ऋता (कर्म-फलभूत गतिस्वरूपा), सत्या (त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूपा), अमर, अजेय तथा सम्पूर्ण लोकोंकी आत्मा है। उसीसे सृष्टि-प्रलय आदि सम्पूर्ण विकार प्रकट होते हैं। वही तप, यज्ञ और यजमान है; वही पुरातन विराट् पुरुष है, उसे ही अनिरुद्ध कहा गया है। उसी-से लोकोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं। जब प्रलयकी रात व्यतीत हुई थी, उस समय उन अमिततेजस्वी अनिरुद्धकी कृपासे एक कमल प्रकट हुआ। कमल-नयन अर्जुन ! उसी कमलसे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। वे ब्रह्मा भगवान् अनिरुद्धके प्रसादसे ही उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्माका दिन बीतनेपर क्रोधके आवेशमें आये हुए उन देवशिरोमणिके ललाटसे उनके पुत्ररूपमें संहारकारी रुद्र प्रकट हुए। ये दोनों श्रेष्ठ देवता—ब्रह्मा और रुद्र क्रमशः भगवान्के प्रसाद और क्रोधसे प्रकट हुए हैं तथा उन्हीं-के बताये हुए मार्गका आश्रय ले सृष्टि और संहारका कार्य पूर्ण करते हैं। समस्त प्राणियोंको वर देनेवाले वे दोनों देवता सृष्टि और प्रलयके निमित्तमात्र हैं। (वास्तवमें तो वह सब कुछ भगवान्की इच्छासे ही होता है।)

इनमेंसे संहारकारी रुद्रके कपर्दी (जटा-जूटधारी), जटिल, मुण्ड, श्मशान-गृहका सेवन करनेवाले, उग्र व्रतका आचरण करनेवाले, रुद्र, योगी, परम दारुण, दक्षयज्ञ-विध्वंसक तथा भगनेत्रहारी आदि अनेक नाम हैं। पाण्डुनन्दन ! इन भगवान् रुद्रको नारायण-स्वरूप ही जानना चाहिये। पार्थ ! प्रत्येक युगमें उन देवाधिदेव महेश्वरकी पूजा करनेसे सर्व-समर्थ भगवान् नारायणकी ही पूजा होती है। पाण्डुकुमार ! मैं सम्पूर्ण जगत्का आत्मा हूँ। इसलिये मैं पहले अपने आत्मारूप रुद्रकी ही पूजा करता हूँ। यदि मैं वरदाता भगवान् रुद्रकी पूजा न करूँ तो दूसरा कोई भी उन आत्मरूप शंकरका पूजन नहीं करेगा, ऐसी मेरी धारणा है। मेरे किये हुए कार्यको प्रमाण या आदर्श मानकर सब लोग उसका अनुसरण करते हैं। जिनकी पूजनीयता वेद-शास्त्रोंद्वारा प्रमाणित है, उन्हीं देवताओंकी पूजा करनी चाहिये—यह सोचकर ही मैं रुद्रदेवकी पूजा करता हूँ। जो रुद्रको जानता है, वह मुझे जानता है। जो उनका अनुगामी है, वह मेरा भी अनुगामी है।

कुन्तीनन्दन ! रुद्र और नारायण दोनों एक रूप ही हैं, जो दो स्वरूप धारण करके भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें स्थित हो संसारमें यज्ञ आदि सब कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले अर्जुन ! मुझे दूसरा कोई वर नहीं दे सकता, यही सोचकर मैंने पुत्र-प्राप्तिके लिये स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप पुराण-पुरुष जगदीश्वर रुद्रकी आराधना की थी। विष्णु अपने आत्मस्वरूप रुद्रके सिवा किसी दूसरे देवताको प्रणाम नहीं करते; इसलिये मैं रुद्रका भजन करता हूँ। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा ऋषियों-सहित सम्पूर्ण देवता सुरश्रेष्ठ नारायण-देव श्रीहरिकी अर्चना करते हैं। भरतनन्दन ! भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंमें होनेवाले समस्त पुरुषोंके भगवान् विष्णु ही अग्रगण्य हैं; अतः सबको सदा उन्हींकी सेवा-पूजा करनी चाहिये। कुन्तीकुमार ! तुम हव्यदाता विष्णुको नमस्कार करो, शरणदाता श्रीहरिको शीश झुकाओ, वरदाता विष्णुकी वन्दना करो तथा हव्यकव्य-

भोक्ता भगवान्‌को प्रणाम करो ।

तुमने मुझसे सुना है कि आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके मनुष्य मेरे भक्त हैं । इनमें जो एकान्ततः मेरा ही भजन करते हैं, दूसरे देवताओंको अपना आराध्य नहीं मानते हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं। निष्काम-भावसे समस्त कर्म करनेवाले उन भक्तोंकी परमगति मैं ही हूँ । जो शेष तीन प्रकारके भक्त हैं, वे फलकी इच्छा रखनेवाले माने गये हैं । अतः वे सभी नीचे गिरनेवाले होते हैं । वे पुण्यभोगके अनन्तर स्वर्गादि लोकोंसे च्युत हो जाते हैं; परंतु ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ फल (भगवत्प्राप्ति) का भागी होता है । ज्ञानी भक्त ब्रह्मा, शिव तथा दूसरे देवताओंकी निष्काम-भावसे सेवा करते हुए भी अन्तमें मुझ परमात्माको ही प्राप्त होते हैं । पार्थ ! यह मैंने तुमसे भक्तोंका अन्तर बतलाया है ।

कुन्तीनन्दन ! तुम और मैं दोनों ही नर-नारायण नामक ऋषि हैं और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये हमने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है । भारत ! मैं अध्यात्म-योगोंको जानता हूँ तथा मैं कौन हूँ और कहाँसे आया हूँ—इस बातका भी मुझे ज्ञान है । लौकिक अभ्युदयका साधक प्रवृत्तिधर्म और निःश्रेयस प्रदान करनेवाला निवृत्तिधर्म भी मुझसे अज्ञात नहीं है । एकमात्र मैं सनातन पुरुष ही सम्पूर्ण मनुष्योंका सुविख्यात आश्रयभूत नारायण हूँ ।

"नरसे उत्पन्न होनेके कारण जलको 'नार' कहा गया है । वह नार (जल) पहले मेरा अयन (निवास-स्थान) था; इसीलिये मैं 'नारायण' कहलाता हूँ । (जो सबमें व्याप्त हो अथवा जो किसीका निवास-स्थान हो, उसे 'वासु' कहते हैं ।) मैं ही सूर्यरूप धारण करके अपनी किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करता हूँ तथा मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका वास-स्थान हूँ; इसलिये मेरा नाम 'वासुदेव' है । भारत ! मैं सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति और उत्पत्तिका स्थान हूँ । पार्थ ! मैंने आकाश और पृथ्वीको व्याप्त कर रखा है । मेरी क्रान्ति सबसे बढ़कर है । भरतनन्दन ! समस्त प्राणी अन्तकालमें जिस ब्रह्मको पानेकी इच्छा करते हैं, वह भी मैं ही हूँ । कुन्तीकुमार ! मैं सबका अतिक्रमण करके स्थित हूँ। इन सभी कारणोंसे मेरा नाम 'विष्णु' पड़ा है ।* मनुष्य दम (इन्द्रिय-संयम) के द्वारा सिद्धि पानेकी इच्छा करते हुए मुझे पाना चाहते हैं । तथा दमके द्वारा ही वे पृथ्वी, स्वर्ग एवं मध्यवर्ती लोकोंमें ऊँची स्थिति पानेकी अभिलाषा करते हैं; इसलिये मैं 'दामोदर' कहलाता हूँ (दम एव दामः तेन उदीर्यति—उन्नतिं प्राप्नोति यस्मात् स दामोदरः—यह 'दामोदर' शब्दकी व्युत्पत्ति है ।) अन्न, वेद, जल और अमृतको पृश्नि कहते हैं । ये सदा मेरे गर्भमें रहते हैं, इसलिये मेरा नाम 'पृश्निगर्भ' है । जब त्रित मुनि अपने भाइयोंद्वारा कुएँमें गिरा दिये गये, उस समय ऋषियोंने मुझसे इस प्रकार प्रार्थना की— 'पृश्निगर्भ ! आप एकत और द्वितके द्वारा गिराये हुए त्रितको डूबनेसे बचाइये ।' उस समय मेरे 'पृश्निगर्भ' नामका बारंबार कीर्तन करनेसे ब्रह्माजीके आदिपुत्र ऋषिप्रवर त्रित उस कुएँसे बाहर हो गये । जगत्‌को तपानेवाले सूर्यकी तथा अग्नि और चन्द्रमाकी जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे सब मेरा केश कहलाती हैं । उस केशसे युक्त होनेके कारण सर्वज्ञ द्विजश्रेष्ठ मुझे 'केशव' कहते हैं । अर्जुन ! इस प्रकार मेरा 'केशव' नाम सम्पूर्ण देवताओं और महात्मा ऋषियोंके लिये वर-दायक है । अग्नि सोमके साथ संयुक्त हो एक योनिको प्राप्त हुए, इसलिये सम्पूर्ण चराचर जगत् अग्नि-सोममय है । पुराणमें यह कहा गया है कि अग्नि और सोम एकयोनि हैं तथा सम्पूर्ण देवताओंके मुख अग्नि हैं । एकयोनि होनेके कारण ये एक-दूसरेको आनन्द प्रदान करते और समस्त लोकोंको धारण करते हैं ।

(शान्ति० ३४१ । ८–५१)

भगवान्‌ने आगे चलकर फिर कहा—

अब मैं अपने नामोंकी व्याख्या करूँगा । तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो । जगत्‌को मोद और ताप प्रदान

---

* 'विच्छ गतौ' (तुदादि), 'विच्छ दीप्तौ' (चुरादि), 'विषु सेचने' (भ्वादि), 'विप्लृ व्याप्तौ' (जुहोत्यादि), 'विश प्रवेशने' (तुदादि), 'ष्णु प्रस्रवणे' (अदादि)—इन सभी धातुओंसे 'विष्णु' शब्दकी सिद्धि होती है । अतः गति, दीप्ति, सेचन, व्याप्ति, प्रवेश तथा प्रस्रवण—ये सभी अर्थ 'विष्णु' शब्दमें निहित हैं ।

करनेके कारण चन्द्रमा और सूर्य हर्षदायक होते हैं। पाण्डुनन्दन ! अग्नि और सोमद्वारा किये गये इन कर्मोंद्वारा मैं विश्वभावन वरदायक ईश्वर ही 'हृषीकेश'* कहलाता हूँ, यज्ञमें, 'इलोपहूता सह दिवा' आदि मन्त्रसे आवाहन करनेपर मैं अपना भाग हरण (स्वीकार) करता हूँ, तथा मेरे शरीरका रंग भी हरित (श्याम)है; इसलिये लोग मुझे 'हरि' कहते हैं। प्राणियोंके सारका नाम है धाम और ऋतका अर्थ है सत्य, ऐसा विद्वानोंने विचार किया है। इसीलिये ब्राह्मणोंने तत्काल मेरा नाम 'ऋतधामा' रख दिया था। मैंने पूर्वकालमें नष्ट होकर रसातलमें गयी हुई पृथ्वीको पुनः वराहरूप धारण करके प्राप्त किया था, इसलिये देवताओंने अपनी वाणीद्वारा 'गोविन्द' कहकर मेरी स्तुति की थी (गां विन्दति इति गोविन्दः—जो पृथ्वीको प्राप्त करे, उसका नाम गोविन्द है।) मेरे 'शिपिविष्ट' नामकी व्याख्या इस प्रकार है। रोमहीन प्राणीको 'शिपि' कहते हैं—तथा 'विष्टि'का अर्थ है व्यापक। मैंने निराकाररूपसे समस्त जगत्‌को व्याप्त कर रखा है, इसलिये मुझे 'शिपिविष्ट' कहते हैं। यास्कमुनिने शान्तचित्त होकर अनेक यज्ञोंमें 'शिपिविष्ट' कहकर मेरी महिमाका गान किया है, अतः मैं इस गुह्य नामको धारण करता हूँ। उदारचेता यास्कमुनिने 'शिपिविष्ट' नामसे मेरी स्तुति करके मेरी ही कृपासे पाताललोकमें नष्ट हुए निरुक्तशास्त्रको पुनः प्राप्त किया था। मैंने न तो पहले कभी जन्म लिया है, न अब जन्म लेता हूँ और न आगे कभी जन्म लूँगा। मैं समस्त प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला क्षेत्रज्ञ आत्मा हूँ। इसीलिये मेरा नाम 'अज' है। मैंने कभी ओछी या अश्लील बात मुँहसे नहीं निकाली है। सत्यस्वरूपा ब्रह्मपुत्री सरस्वती देवी मेरी वाणी हैं। कुन्तीकुमार ! सत् और असत्‌को भी मैंने अपने भीतर ही प्रविष्ट कर रखा है; इसलिये मेरे नाभिकमलरूप ब्रह्मलोकमें रहनेवाले ऋषिगण मुझे 'सत्य' कहते हैं। धनंजय ! मैं पहले कभी सत्त्वसे च्युत नहीं हुआ हूँ। सत्त्वको मुझसे ही उत्पन्न हुआ समझो। मेरा वह पुरातन सत्त्व इस अवतारकालमें भी विद्यमान है। सत्त्वके कारण ही मैं पापसे रहित हो निष्कामकर्ममें लगा रहता हूँ। भगवत्प्राप्त पुरुषोंके सात्त्वतज्ञान (पाञ्चरात्रादि वैष्णवतन्त्र) से मेरे स्वरूपका बोध होता है। इन सब कारणोंसे लोग मुझे 'सात्त्वत' कहते हैं।

पृथापुत्र अर्जुन ! मैं काले लोहेका विशाल फाल बनकर इस पृथ्वीको जोतता हूँ तथा मेरे शरीरका रंग भी काला है, इसलिये मैं 'कृष्ण' कहलाता हूँ†। मैंने भूमिको जलके साथ, आकाशको वायुके साथ और वायुको तेजके साथ संयुक्त किया है। इसलिये (विगता कुण्ठा पञ्चानां भूतानां मेलने असामर्थ्यं यस्य सः विकुण्ठः, विकुण्ठ एव वैकुण्ठः—पाँचों भूतोंको मिलानेमें जिनकी शक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती, वे भगवान् वैकुण्ठ हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार) मैं 'वैकुण्ठ' कहलाता हूँ। परम शान्तिमय जो ब्रह्म है, वही परम धर्म कहा गया है। उससे पहले मैं कभी च्युत नहीं हुआ हूँ।' इसलिये लोग मुझे 'अच्युत' कहते हैं। ('अधः' का अर्थ है पृथ्वी, 'अक्ष' का अर्थ है आकाश, और 'ज' का अर्थ है—इनको धारण करनेवाला) पृथ्वी और आकाश दोनों सर्वतोमुखी एवं प्रसिद्ध हैं। उनको अनायास ही धारण करनेके कारण लोग मुझे 'अधोक्षज' कहते हैं। वेदोंके शब्द और अर्थपर विचार करनेवाले वेदवेत्ता विद्वान् प्राग्वंश (यज्ञशालाके एक भाग) में बैठकर अधोक्षज नामसे मेरी महिमाका गान करते हैं। इसलिये भी मेरा नाम 'अधोक्षज' है। जिनके अनुग्रहसे जीव अधोगतिमें पड़कर क्षीण नहीं होता, उन भगवान्‌को दूसरे लोग इसी व्युत्पत्तिके अनुसार 'अधोक्षज' कहते हैं। महर्षिलोग 'अधोक्षज' शब्दको पृथक्-पृथक् तीन पदोंका एक समुदाय मानते हैं। 'अ' का अर्थ है—लय-स्थान, 'धोक्ष' का अर्थ है पालन-स्थान और 'ज' का अर्थ है—उत्पत्ति-स्थान। उत्पत्ति, स्थिति और लयके स्थान एकमात्र नारायण ही हैं; अतः उन भगवान्

---

* सूर्य और चन्द्रमा ही अग्नि एवं सोम हैं। वे जगत्‌को हर्ष प्रदान करनेके कारण 'हृषी' कहलाते हैं। वे ही भगवान्‌के केश अर्थात् किरणें हैं, इसलिये भगवान्‌का नाम हृषीकेश' है।

† 'कृष्ण' नामकी दूसरी व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है—'कृष' नाम है सत्‌का और 'ण' कहते हैं आनन्दको। इन दोनोंसे उपलक्षित सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दर गोलोकविहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्ण कहलाते हैं।

नारायणको छोड़कर संसारमें दूसरा कोई 'अधोक्षज' नहीं कहला सकता।

प्राणियोंके प्राणोंकी पुष्टि करनेवाला घृत मेरे स्वरूपभूत अग्निदेवकी अर्चिष् अर्थात् ज्वालाको जगानेवाला है; इसलिये शान्तचित्त वेदज्ञ विद्वानोंने मुझे 'घृतार्चि' कहा है। शरीरमें तीन धातु विख्यात हैं—वात, पित्त और कफ। वे सब-के-सब कर्म-जन्य माने गये हैं। इनके समुदायको 'त्रिधातु' कहते हैं। जीव इन धातुओंके रहनेसे जीवन धारण करते हैं और उनके क्षीण हो जानेपर क्षीण हो जाते हैं। इसलिये आयुर्वेदके विद्वान् मुझे 'त्रिधातु' कहते हैं। भरतनन्दन! भगवान् धर्म सम्पूर्ण लोकोंमें वृषके नामसे विख्यात हैं। वैदिक शब्दार्थ-बोधक कोषमें 'वृष'का अर्थ धर्म बताया गया है; अतः उत्तम धर्मस्वरूप मुझ वासुदेवको 'वृष' समझो। 'कपि' शब्दका अर्थ वराह एवं श्रेष्ठ है और 'वृष' कहते हैं धर्मको। मैं धर्म और श्रेष्ठ वराहरूपधारी हूँ, इसलिये प्रजापति कश्यप मुझे 'वृषाकपि' कहते हैं। मैं जगत्का साक्षी और सर्वव्यापी ईश्वर हूँ। देवता तथा असुर भी मेरे आदि, मध्य और अन्तका कभी पता नहीं पाते; इसलिये मैं 'अनादि', 'अमध्य' और 'अनन्त' कहलाता हूँ। धनंजय! मैं यहाँ पवित्र एवं श्रवण करने योग्य वचनोंको ही सुनता हूँ और पापपूर्ण बातोंको कभी ग्रहण नहीं करता इसलिये मेरा नाम 'शुचिश्रवा' है।

पूर्वकालमें मैंने एक सींगवाले वराहका रूप धारण करके इस पृथ्वीको पानीसे बाहर निकाला और सारे जगत्का आनन्द बढ़ाया; इसलिये मैं 'एकशृङ्ग' कहलाता हूँ। इसी प्रकार वराहरूप धारण करनेपर मेरे शरीरमें तीन ककुद् (ऊँचे स्थान) थे; इसलिये शरीरके मापसे मैं 'त्रिककुद्' नामसे विख्यात हुआ। कपिलमुनि-के द्वारा प्रतिपादित सांख्यशास्त्रका विचार करनेवाले विद्वानोंने जिन्हें विरिञ्चि कहा है, वे सर्वलोकस्रष्टा प्रजापति 'विरिञ्चि' मैं ही हूँ; क्योंकि मैं ही सबको चेतना प्रदान करता हूँ। तत्त्वका निश्चय करनेवाले सांख्यशास्त्रके आचार्योंने मुझे आदित्य-मण्डलमें स्थित, विद्याशक्तिके साहचर्यसे सम्पन्न सनातन देवता 'कपिल' कहा है। वेदोंमें जिनकी स्तुति की गयी है तथा इस जगत्में योगिजन सदा जिनकी पूजा और स्मरण करते हैं, वह तेजस्वी 'हिरण्यगर्भ' मैं ही हूँ। वेदके विद्वान् मुझे ही इक्कीस हजार ऋचाओंसे युक्त 'ऋग्वेद' और एक हजार शाखाओंवाला 'सामवेद' कहते हैं। आरण्यकोंमें ब्राह्मणलोग मेरा ही गान करते हैं। वे मेरे परम भक्त दुर्लभ हैं। जिस यजुर्वेदकी ५६+८+३७= १०१ शाखाएँ उपलब्ध हैं, उस यजुर्वेदमें भी मेरा ही गान किया गया है। अथर्ववेदी ब्राह्मण मुझे ही कृत्याओं—आभिचारिक प्रयोगोंसे सम्पन्न पञ्चकल्पात्मक 'अथर्ववेद' मानते हैं। वेदोंमें जो भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, उन शाखाओंमें जितने गीत हैं तथा उन गीतोंमें स्वर और वर्णके उच्चारण करनेकी जितनी रीतियाँ हैं, उन सबको मेरी बनायी हुई ही समझो। कुन्ती-नन्दन! सबको वर देनेवाले जो हयग्रीव प्रकट होते हैं, उनके रूपमें मैं ही अवतीर्ण होता हूँ। मैं ही उत्तर भागमें वेद-मन्त्रोंके क्रम-विभाग और अक्षर-विभागका ज्ञाता हूँ।*

महात्मा पाञ्चालने वामदेवके बताये हुए ध्यान-मार्गसे मेरी आराधना करके मुझ सनातन पुरुषके ही कृपाप्रसादसे वेदका क्रमविभाग प्राप्त किया था। बाभ्रव्य-गोत्रमें उत्पन्न हुए वे महर्षि गालव भगवान् नारायणसे वर एवं परम उत्तम योग पाकर वेदके क्रम-विभाग एवं शिक्षाका प्रणयन करके सबसे पहले क्रम-विभागके पारंगत विद्वान् हुए थे। कण्डरीक-कुलमें उत्पन्न हुए प्रतापी राजा ब्रह्मदत्तने सात जन्मोंके जन्म-मृत्यु-सम्बन्धी दुःखोंका बार-बार स्मरण करके तीव्रतम वैराग्यके कारण शीघ्र ही योगजनित ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया था। कुरुश्रेष्ठ! कुन्तीकुमार! पूर्वकालमें किसी कारणवश मैं धर्मके पुत्ररूपसे प्रसिद्ध हुआ था; इसीलिये मुझे 'धर्मज' कहा गया है। पहले नर और नारायणने जब धर्ममय रथपर आरूढ़ हो गन्धमादन पर्वतपर अक्षय तप किया था, उसी समय प्रजापति दक्षका यज्ञ

* वेदमन्त्रके दो-दो पदोंका उच्चारण करके पहले-पहलेको छोड़ते जाना और उत्तरोत्तर पदोंको मिलाकर दो-दो पदोंका एक साथ पाठ करते रहना क्रमविभाग कहलाता है। जैसे—'अग्निमीळे पुरोहितम्' इस मन्त्रका क्रमपाठ इस प्रकार है—'अग्निमीले, ईले पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य' इत्यादि। अक्षरविभागका अर्थ है पदविभाग—एक-एक पदको अलग-अलग करके पढ़ना। यथा 'अग्निम् ईले पुरोहितम्' इत्यादि।

आरम्भ हुआ । भारत ! उस यज्ञमें दक्षने रुद्रके लिये भाग नहीं दिया था, इसलिये दधीचिके कहनेसे रुद्र-देवने दक्षके यज्ञका विध्वंस कर डाला । रुद्रने क्रोध-पूर्वक अपने प्रज्वलित त्रिशूलका बारंबार प्रयोग किया । वह त्रिशूल दक्षके विस्तृत यज्ञको भस्म करके सहसा बदरिकाश्रममें हम दोनों (नर और नारायण) के निकट आ पहुँचा । पार्थ ! उस समय नारायणकी छातीमें वह त्रिशूल बड़े वेगसे जा लगा । उससे निकलते हुए तेज-की लपेटमें आकर नारायणके केश मूँजके समान रंग-वाले हो गये । इससे मेरा नाम 'मुञ्जकेश' हो गया । तब महात्मा नारायणने हुंकार-ध्वनिके द्वारा उस त्रिशूल-को पीछे हटा दिया । नारायणके हुंकारसे प्रतिहत हो-कर वह शंकरजीके हाथमें चला गया । यह देख रुद्र तपस्यामें लगे हुए उन ऋषियोंपर टूट पड़े । तब विश्वात्मा नारायणने अपने हाथसे उन आक्रमणकारी रुद्रदेवका गला पकड़ लिया । इसीसे कण्ठ नीला हो जानेके कारण वे 'नीलकण्ठ' के नामसे प्रसिद्ध हुए । इसी समय रुद्रका विनाश करनेके लिये नरने एक सींक निकाली और उसे मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके शीघ्र ही छोड़ दिया । वह सींक एक बहुत बड़े परशुके रूपमें परिणत हो गयी । नरका चलाया हुआ वह परशु सहसा रुद्रके द्वारा खण्डित कर दिया गया । मेरे परशु-का खण्डन हो जानेसे मैं 'खण्डपरशु' कहलाया ।

(शान्ति० ३४१ । ६७ से ११६ तक)

[अनुशासनपर्व]

ऋषय ऊचुः

पिनाकिन् भगनेत्रघ्न सर्वलोकनमस्कृत ।
माहात्म्यं वासुदेवस्य श्रोतुमिच्छामि शंकर ॥

ईश्वर उवाच

पितामहादपि वरः शाश्वतः पुरुषो हरिः ।
कृष्णो जाम्बूनदाभासो व्यभ्रे सूर्य इवोदितः ॥
दशबाहुर्महातेजा देवतारिनिषूदनः ।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः ॥
ब्रह्मा तस्योदरभवस्तस्याहं च शिरोभवः ।
शिरोरुहेभ्यो ज्योतींषि रोमभ्यश्च सुरासुराः ॥
ऋषयो देहसम्भूतास्तस्य लोकाश्च शाश्वताः ।
पितामहगृहं साक्षात् सर्वदेवगृहं च सः ॥
सोऽस्याःपृथिव्याः कृत्स्नायाः स्रष्टा त्रिभुवनेश्वरः ।
संहर्ता चैव भूतानां स्थावरस्य चरस्य च ॥
स हि देववरः साक्षाद् देवनाथः परंतपः ।
सर्वज्ञः सर्वसंश्लिष्टः सर्वगः सर्वतोमुखः ॥
परमात्मा हृषीकेशः सर्वव्यापी महेश्वरः ।
न तस्मात् परमं भूतं त्रिषु लोकेषु किंचन ॥
सनातनो वै मधुहा गोविन्द इति विश्रुतः ।
स सर्वान् पार्थिवान् संख्ये घातयिष्यति मानदः ॥
सुरकार्यार्थमुत्पन्नो मानुषं वपुरास्थितः ।
न हि देवगणाः सक्तास्त्रिविक्रमविनाकृताः ॥
भुवने देवकार्याणि कर्तुं नायकवर्जिताः ।
नायकः सर्वभूतानां सर्वदेवनमस्कृतः ॥
एतस्य देवनाथस्य देवकार्यपरस्य च ।
ब्रह्मभूतस्य सततं ब्रह्मर्षिशरणस्य च ॥
ब्रह्मा वसति गर्भस्थः शरीरे सुखसंस्थितः ।
शर्वः सुखं संश्रितश्च शरीरे सुखसंस्थितः ॥
सर्वाः सुखं संश्रिताश्च शरीरे तस्य देवताः ।
स देवः पुण्डरीकाक्षः श्रीगर्भः श्रीसहोषितः ॥
शार्ङ्गचक्रायुधः खड्गी सर्वनागरिपुध्वजः ।
उत्तमेन स शीलेन दमेन च शमेन च ॥

ऋषियोंकी प्रार्थनापर श्रीशंकरके द्वारा श्रीकृष्णका माहात्म्य-कथन

पराक्रमेण वीर्येण वपुषा दर्शनेन च ।
आरोहेण प्रमाणेन धैर्येणार्जवसम्पदा ॥
आनृशंस्येन रूपेण बलेन च समन्वितः ।
अस्त्रैः समुदितः सर्वैर्दिव्यैरद्भुतदर्शनैः ॥
योगमायः सहस्राक्षो निरपायो महामनाः ।
वीरो मित्रजनश्लाघी ज्ञातिबन्धुजनप्रियः ॥
क्षमावांश्चानहंवादी ब्रह्मण्यो ब्रह्मनायकः ।
भयहर्ता भयार्तानां मित्राणां नन्दिवर्धनः ॥
शरण्यः सर्वभूतानां दीनानां पालने रतः ।
श्रुतवानर्थसम्पन्नः सर्वभूतनमस्कृतः ॥
समाश्रितानां वरदः शत्रूणामपि धर्मवित् ।
नीतिज्ञो नीतिसम्पन्नो ब्रह्मवादी जितेन्द्रियः ॥
भवार्थमिह देवानां बुद्ध्या परमया युतः ।
प्राजापत्ये शुभे मार्गे मानवे धर्मसंस्कृते ॥
समुत्पत्स्यति गोविन्दो मनोर्वंशे महात्मनः ।
अङ्गो नाम मनोः पुत्रो अन्तर्धामा ततः परः ॥

(अनु० १४७ । १—२३)

ऋषियोंने कहा—भगदेवताके नेत्रोंका विनाश करने-वाले पिनाकधारी विश्ववन्दित भगवान् शंकर ! अब

हम वासुदेव (श्रीकृष्ण) का माहात्म्य सुनना चाहते हैं। महेश्वरने कहा—'मुनिवरो ! भगवान् सनातन पुरुष श्रीकृष्ण ब्रह्माजीसे भी श्रेष्ठ हैं। वे श्रीहरि जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान श्यामकान्तिसे युक्त हैं। वे बिना बादलके आकाशमें उदित सूर्यके समान तेजस्वी हैं। उनकी भुजाएँ दस हैं। वे महान् तेजस्वी हैं। देवद्रोहियोंका नाश करनेवाले श्रीवत्सभूषित भगवान् हृषीकेश सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित होते हैं। ब्रह्माजी उनके उदरसे और मैं उनके मस्तकसे प्रकट हुआ हूँ। उनके सिरके केशोंसे नक्षत्रों और ताराओंका प्रादुर्भाव हुआ है। रोमावलियोंसे देवता और असुर प्रकट हुए हैं। समस्त ऋषि और सनातन लोक उनके श्रीविग्रहसे उत्पन्न हुए हैं। वे श्रीहरि स्वयं ही सम्पूर्ण देवताओंके गृह और ब्रह्माजीके भी निवासस्थान हैं। इस सम्पूर्ण पृथ्वीके स्रष्टा और तीनों लोकोंके स्वामी भी वे ही हैं। वे ही चराचर प्राणियोंका संहार भी करते हैं। वे देवताओंमें श्रेष्ठ, देवताओंके रक्षक, शत्रुओंको संताप देनेवाले, सर्वज्ञ, सबमें ओतप्रोत, सर्वव्यापक तथा सब ओर मुखवाले हैं। वे ही परमात्मा, इन्द्रियोंके प्रेरक और सर्वव्यापी महेश्वर हैं। तीनों लोकोंमें उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। वे ही सनातन, मधुसूदन और गोविन्द आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं।

सज्जनोंको आदर देनेवाले वे भगवान् श्रीकृष्ण महाभारत-युद्धमें समस्त राजाओंका संहार करायेंगे। वे देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये पृथ्वीपर मानव-शरीर धारण करके प्रकट हुए हैं। उन भगवान् त्रिविक्रम-की शक्ति और सहायताके बिना सम्पूर्ण देवता भी कोई कार्य नहीं कर सकते। संसारमें नेताके बिना देवता अपना कोई भी कार्य करनेमें असमर्थ हैं और ये भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण प्राणियोंके नेता हैं। इसलिये समस्त देवता उनके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं। देवताओंकी रक्षा और उनके कार्यसाधनमें संलग्न रहनेवाले वे भगवान् वासुदेव ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही ब्रह्मर्षियोंको सदा शरण देते हैं। ब्रह्माजी उनके शरीरके भीतर अर्थात् उनके गर्भमें बड़े सुखके साथ रहते हैं। सदा सुखी रहनेवाला मैं शिव भी उनके श्रीविग्रहके भीतर सुखपूर्वक निवास करता हूँ। सम्पूर्ण देवता उनके श्रीविग्रहमें सुखपूर्वक निवास करते हैं। उन कमलनयन श्रीहरि अपने गर्भ (वक्षःस्थल) में लक्ष्मीको निवास दे रखा है। लक्ष्मीके साथ ही वे रहते हैं। शार्ङ्गधनुष, सुदर्शनचक्र और नन्दक नामक खड्ग उनके आयुध हैं। उनकी ध्वजामें सम्पूर्ण नागोंके शत्रु गरुड़का चिह्न सुशोभित है। वे उत्तम शील, शम, दम, पराक्रम, वीरता, सुन्दर शरीर, उत्तम दर्शन, सुडौल आकृति, धैर्य, सरलता, कोमलता, रूप और बल आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं। सब प्रकारके दिव्य और अद्भुत अस्त्र-शस्त्र उनके पास सदा विद्यमान रहते हैं। वे योगमायासे सम्पन्न और हजारों नेत्रोंवाले हैं। उनका हृदय विशाल है।

वे अविनाशी, वीर, मित्रजनोंके प्रशंसक, ज्ञाति एवं बन्धु-बान्धवोंके प्रेमी, क्षमाशील, अहंकाररहित, ब्राह्मणभक्त, वेदोंका उद्धार करनेवाले, भयातुर पुरुषोंका भय दूर करनेवाले और मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले हैं। वे समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले, दीन-दुखियोंके पालनमें तत्पर, शास्त्रज्ञानसम्पन्न, धनवान्, सर्वभूतवन्दित, शरणमें आये हुए शत्रुओंको भी वर देनेवाले, धर्मज्ञ, नीतिज्ञ, नीतिमान्, वेदोंके वक्ता और जितेन्द्रिय हैं। परम बुद्धिसे सम्पन्न भगवान् गोविन्द यहाँ देवताओंकी उन्नतिके लिये प्रजापतिके शुभ मार्गपर स्थित हो मनुके धर्म-संस्कृत कुलमें अवतार लेंगे। महात्मा मनुके वंशमें मनुपुत्र अङ्ग नामक राजा होंगे। उनसे अन्तर्धामा नामवाले पुत्रका जन्म होगा।

तं भवन्तः समासाद्य वाङ्माल्यैरर्हणैर्वरैः।
अर्चयन्तु यथान्यायं ब्रह्माणमिव शाश्वतम्॥
यो हि मां द्रष्टुमिच्छेत ब्रह्माणं च पितामहम्।
द्रष्टव्यस्तेन भगवान् वासुदेवः प्रतापवान्॥
दृष्टे तस्मिन्नहं दृष्टो न मेऽत्रास्ति विचारणा।
पितामहो वा देवेश इति वित्त तपोधनाः॥
स यस्य पुण्डरीकाक्षः प्रीतियुक्तो भविष्यति।
तस्य देवगणः प्रीतो ब्रह्मपूर्वो भविष्यति॥
यश्च तं मानवे लोके संश्रयिष्यति केशवम्।
तस्य कीर्तिर्जयश्चैव स्वर्गश्चैव भविष्यति॥
धर्माणां देशिकः साक्षात् स भविष्यति धर्मभाक्।
धर्मवद्भिः स देवेशो नमस्कार्यः सदोद्यतैः॥

धर्म एव परो हि स्यात् तस्मिन्नभ्यर्चिते विभौ ।
स हि देवो महातेजाः प्रजाहितचिकीर्षया ॥
धर्मार्थं पुरुषव्याघ्र ऋषिकोटीः ससर्ज ह ।
ताः सृष्टास्तेन विभुना पर्वते गन्धमादने ॥
सनत्कुमारप्रमुखास्तिष्ठन्ति तपसान्विताः ।
तस्मात् स वाग्मी धर्मज्ञो नमस्यो द्विजपुंगवाः ॥
दिवि श्रेष्ठो हि भगवान् हरिर्नारायणः प्रभुः ।
वन्दितो हि स वन्देत मानितो मानयीत च ।
अर्हितश्चार्हयेन्नित्यं पूजितः प्रतिपूजयेत् ॥
दृष्टः पश्येदहरहः संश्रितः प्रतिसंश्रयेत् ।
अर्चितश्चार्चयेन्नित्यं स देवो द्विजसत्तमाः ॥
एतत् तस्यानवद्यस्य विष्णोर्वै परमं व्रतम् ।
आदिदेवस्य महतः सज्जनाचरितं सदा ॥
भुवनेऽभ्यर्चितो नित्यं देवैरपि सनातनः ।
अभयेनानुरूपेण युज्यन्ते तमनुव्रताः ॥
कर्मणा मनसा वाचा स नमस्यो द्विजैः सदा ।
यत्नवद्भिरुपस्थाय द्रष्टव्यो देवकीसुतः ॥
एष वोऽभिहितो मार्गो मया वै मुनिसत्तमाः ।
तं दृष्ट्वा सर्वशो देवं दृष्टाः स्युः सुरसत्तमाः ॥
महावराहं तं देवं सर्वलोकपितामहम् ।
अहं चैव नमस्यामि नित्यमेव जगत्पतिम् ॥
तत्र च त्रितयं दृष्टं भविष्यति न संशयः ।
समस्ता हि वयं देवास्तस्य देहे वसामहे ॥
(अनु० १४७ । ३७--५३)

'आपलोग उन्हीं भगवान्‌की शरण लेकर अपनी वाङ्मयी मालाओं तथा श्रेष्ठ पूजनोपचारोंसे सनातन ब्रह्माकी भाँति उनका यथोचित पूजन करें । जो मेरा और पितामह ब्रह्माजीका दर्शन करना चाहता है, उसे प्रतापी भगवान् वासुदेवका दर्शन करना चाहिये । तपोधनो ! उनका दर्शन हो जानेपर मेरा ही दर्शन हो गया । अथवा उनके दर्शनसे देवेश्वर ब्रह्माजीका दर्शन हो गया---ऐसा समझो । इस विषयमें मुझे कोई विचार नहीं करना है अर्थात् संदेह नहीं है । जिसपर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे, उसके ऊपर ब्रह्मा आदि देवताओंका समुदाय प्रसन्न हो जायगा । मानवलोकमें जो भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेगा, उसे कीर्ति, विजय तथा उत्तम स्वर्गकी प्राप्ति होगी । इतना ही नहीं, वह धर्मोंका उपदेश देनेवाला साक्षात् धर्माचार्य एवं धर्म-फलका भागी होगा । अतः धर्मात्मा पुरुषोंको चाहिये कि वे सदा उत्साहित रहकर देवेश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करें । उन सर्वव्यापी परमेश्वरकी पूजा करनेसे परमधर्मकी सिद्धि होगी । वे महान् तेजस्वी देवता हैं । उन पुरुषसिंह श्रीकृष्णने प्रजाका हित करनेकी इच्छासे धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये करोड़ों ऋषियोंकी सृष्टि की है । भगवान्‌के उत्पन्न किये हुए वे सनत्कुमार आदि ऋषि गन्धमादन पर्वतपर सदा तपस्यामें संलग्न रहते हैं । अतः द्विजवरो ! उन प्रवचनकुशल, धर्मज्ञ वासुदेवको सदा प्रणाम करना चाहिये ।

वे भगवान्नारायण हरि देवलोकमें सबसे श्रेष्ठ हैं । जो उनकी वन्दना करता है, उसकी वे भी वन्दना करते हैं । जो उनका आदर करता है, उसका वे भी आदर करते हैं । इसी प्रकार अर्चित होनेपर वे भी अर्चना करते और पूजित या प्रशंसित होनेपर वे भी पूजा या प्रशंसा करते हैं । श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! जो प्रतिदिन उनका दर्शन करता है, उसकी ओर वे भी कृपादृष्टि करते हैं । जो उनका आश्रय लेता है, उसके हृदयमें वे भी आश्रय लेते हैं तथा जो उनकी पूजा करता है, उसकी वे भी सदा पूजा करते हैं । उन प्रशंसनीय आदि देवता भगवान् महा-विष्णुका यह उत्तम व्रत है, जिसका साधु पुरुष सदा आचरण करते आये हैं । वे सनातन देवता हैं, अतः इस त्रिभुवनमें देवता भी सदा उन्हींकी पूजा करते हैं । जो उनके अनन्य भक्त हैं, वे अपने भजनके अनुरूप ही निर्भयपद प्राप्त करते हैं । द्विजोंको चाहिये कि वे मन, वाणी और कर्मसे सदा उन भगवान्‌को प्रणाम करें और यत्नपूर्वक उपासना करके उन देवकीनन्दनका दर्शन करें । मुनिवरो ! यह मैंने आपलोगोंको उत्तम मार्ग बता दिया है । उन भगवान् वासुदेवका सब प्रकारसे दर्शन कर लेनेपर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवताओंका दर्शन करना हो जायगा । मैं भी महावराहरूप धारण करनेवाले उन सर्वलोकपितामह जगदीश्वरको नित्य प्रणाम करता हूँ । हम सब देवता उनके श्रीविग्रहमें निवास करते हैं । अतः उनका दर्शन करनेसे तीनों देवताओं (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) का दर्शन हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ।

एष वोऽनुग्रहः प्रोक्तो मया पुण्यस्तपोधनाः ।
यद् भवन्तो यदुश्रेष्ठं पूजयेयुः प्रयत्नतः ॥
(अनु० १४७ । ६२)

तपोधनो ! आपलोगोंपर अनुग्रह करके मैंने भगवान्‌का पवित्र माहात्म्य इसलिये बताया है कि आप प्रयत्नपूर्वक उन यदुकुलतिलक श्रीकृष्णकी पूजा करें ।

भीष्मपितामहके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका कथन

इन श्रीकृष्णका जो स्वरूप है और जो इनका पुरातन बल है, उसे ठीक-ठीक मैं जानता हूँ । कौरवराज ! भगवान् श्रीकृष्ण अप्रमेय हैं, अतः तुम्हारे मनमें संदेह होनेपर ये ही तुम्हें धर्मका उपदेश करेंगे । श्रीकृष्णने ही इस पृथ्वी, आकाश और स्वर्गकी सृष्टि की है । इन्हींके शरीरसे पृथ्वीका प्रादुर्भाव हुआ है । ये ही भयंकर बलवाले वराहके रूपमें प्रकट हुए थे तथा इन्हीं पुराण-पुरुषने पर्वतों और दिशाओंको उत्पन्न किया है । अन्तरिक्ष, स्वर्ग, चारों दिशाएँ तथा चारों कोण—ये सब भगवान् श्रीकृष्णसे नीचे हैं । इन्हींसे सृष्टिकी परम्परा प्रचलित हुई है तथा इन्होंने ही इस प्राचीन विश्वका निर्माण किया है । कुन्तीनन्दन ! सृष्टिके आरम्भमें इनकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ और उसीके भीतर अमित-तेजस्वी ब्रह्माजी स्वतः प्रकट हुए, जिन्होंने उस घोर अन्धकारका नाश किया, जो समुद्रको भी डाँट बताता हुआ सब ओर व्याप्त हो रहा था (अर्थात् जो अगाध और अपार था) । पार्थ ! सत्ययुगमें श्रीकृष्ण सम्पूर्ण धर्मरूपसे विराजमान थे, त्रेतामें पूर्णज्ञान या विवेकरूपमें स्थित थे, द्वापरमें बलरूपसे स्थित हुए और कलियुगमें अधर्मरूपसे इस पृथ्वीपर आयेंगे (अर्थात् उस समय अधर्म ही बलवान् होगा) । इन्होंने ही प्राचीन कालमें दैत्योंका संहार किया और ये ही दैत्यसम्राट् बलिके रूपमें प्रकट हुए । इन भूतभावन प्रभुके ही भूत और भविष्य स्वरूप भी हैं । तथा ये ही इस सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करनेवाले हैं । जब धर्मका ह्रास होने लगता है, तब ये शुद्ध अन्तःकरणवाले श्रीकृष्ण देवताओं तथा मनुष्योंके कुलमें अवतार लेकर स्वयं धर्ममें स्थित हो उसका आचरण करते हुए उसकी स्थापना तथा पर और अपर लोकोंकी रक्षा करते हैं । कुन्तीनन्दन ! ये त्याज्यवस्तुका त्याग करके, असुरोंका वध करनेके लिये स्वयं कारण बनते हैं । कार्य, अकार्य और कारण—सब इन्हींके स्वरूप हैं । ये नारायणदेव ही भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें किये जानेवाले कर्मरूप हैं । तुम इन्हींको राहु, चन्द्रमा और इन्द्र समझो । श्रीकृष्ण ही विश्वकर्मा, विश्वरूप, विश्वभोक्ता, विश्व-विधाता और विश्वविजेता हैं । वे ही एक हाथमें त्रिशूल और दूसरे हाथमें रक्तसे भरा खप्पर लिये विकराल रूप धारण करते हैं । अपने नाना प्रकारके कर्मोंसे जगत्‌में विख्यात हुए श्रीकृष्णकी ही सब लोग स्तुति करते हैं । सैकड़ों गन्धर्व, अप्सराएँ तथा देवता सदा इनकी सेवामें उपस्थित रहते हैं । राक्षस भी इनसे सम्मति लिया करते हैं । एकमात्र ये ही धनके रक्षक और विजयके अभिलाषी हैं । यज्ञमें स्तोतालोग इन्हींकी स्तुति करते हैं । सामगान करनेवाले विद्वान् रथन्तर साममें इन्हींके गुण गाते हैं । वेदवेत्ता ब्राह्मण वेदके मन्त्रोंसे इन्हींका स्तवन करते हैं और यजुर्वेदी अध्वर्यु यज्ञमें इन्हींको हविष्यका भाग देते हैं । भारत ! इन्होंने ही पूर्वकालमें ब्रह्मरूप पुरातन गुहामें प्रवेश करके इस पृथ्वीका जलमें प्रलय होना देखा है । इन सृष्टिकर्म करनेवाले श्रीकृष्णने दैत्यों, दानवों तथा नागोंको विक्षुब्ध करके इस पृथ्वीका रसातलसे उद्धार किया है । व्रजकी रक्षाके लिये गोवर्द्धन पर्वत उठानेके समय इन्द्र आदि देवताओंने इनकी स्तुति की थी । भरतनन्दन ! ये एकमात्र श्रीकृष्ण ही समस्त पशुओं (जीवों) के अधिपति हैं । इनको नाना प्रकारके भोजन अर्पित किये जाते हैं । युद्धमें ये ही विजय दिलानेवाले माने जाते हैं । पृथ्वी, आकाश और स्वर्गलोक—सभी इन सनातन पुरुष श्रीकृष्णके वशमें रहते हैं । इन्होंने कुम्भमें देवताओं (मित्र और वरुण) का वीर्य स्थापित किया था, जिससे महर्षि वशिष्ठकी

उत्पत्ति हुई बतायी जाती है। ये ही सर्वत्र विचरनेवाले वायु हैं, तीव्रगामी अश्व हैं, सर्वव्यापी हैं, अंशुमाली सूर्य और आदि देवता हैं। इन्होंने ही समस्त असुरोंपर विजय पायी तथा इन्होंने ही अपने तीन पदोंसे तीनों लोकोंको नाप लिया था। ये श्रीकृष्ण सम्पूर्ण देवताओं, पितरों और मनुष्योंके आत्मा हैं। इन्हींको यज्ञवेत्ताओंका यज्ञ कहा गया है। ये ही दिन और रातका विभाग करते हुए सूर्यरूपमें उदित होते हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन इन्हींके दो मार्ग हैं। इन्हींके ऊपर-नीचे तथा अगल-बगलमें पृथ्वीको प्रकाशित करनेवाली किरणें फैलती हैं। वेदवेत्ता ब्राह्मण इन्हींकी सेवा करते हैं और इन्हींके प्रकाशका सहारा लेकर सूर्यदेव प्रकाशित होते हैं। ये यज्ञकर्ता श्रीकृष्ण प्रत्येक मासमें यज्ञ करते हैं। प्रत्येक यज्ञमें वेदज्ञ ब्राह्मण इन्हींके गुण गाते हैं। ये ही तीन नाभियों, तीन धामों और सात अश्वोंसे युक्त इस संवत्सर-चक्रको धारण करते हैं। वीर कुन्तीनन्दन! ये महातेजस्वी और सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले सर्वसिंह श्रीकृष्ण अकेले ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करते हैं। तुम इन श्रीकृष्णको ही अन्धकारनाशक सूर्य और समस्त कार्योंका कर्ता समझो। इन्हीं महात्मा वासुदेवने एक बार अग्निस्वरूप होकर खाण्डववनकी सूखी लकड़ियोंमें व्याप्त हो पूर्णतः तृप्तिका अनुभव किया था। ये सर्वव्यापी प्रभु ही राक्षसों और नागोंको जीतकर सबको अग्निमें ही होम देते हैं। इन्होंने ही अर्जुनको श्वेत अश्व प्रदान किया था। इन्होंने ही समस्त अश्वोंकी सृष्टि की थी। ये ही संसाररूपी रथको बाँधनेवाले बन्धन हैं। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ही इस रथके चक्र हैं। ऊर्ध्व, मध्य और अधः—तीन प्रकारकी जिसकी गति है; काल, अदृष्ट, इच्छा और संकल्प—ये चार जिसके घोड़े हैं; सफेद, काला और लाल रंगका—त्रिविध कर्म ही जिसकी नाभि है, वह संसार-रथ इन श्रीकृष्णके ही अधिकारमें है। पाँचों भूतोंके आश्रयरूप श्रीकृष्णने ही आकाशकी सृष्टि की है। इन्होंने ही पृथ्वी, स्वर्गलोक और अन्तरिक्षकी रचना की है, अत्यन्त प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी इन हृषीकेशने ही वन और पर्वतोंको उत्पन्न किया है। इन्हीं वासुदेवने वज्रका प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए इन्द्रको मार डालनेकी इच्छासे कितनी ही सरिताओंको लाँघकर उन्हें परास्त किया था। वे ही महेन्द्ररूप हैं। ब्राह्मण बड़े-बड़े यज्ञोंमें सहस्रों पुरानी ऋचाओं-द्वारा एकमात्र इन्हींकी स्तुति करते हैं। राजन्! इन श्रीकृष्णके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो अपने घरमें महातेजस्वी दुर्वासाको ठहरा सके। इनको ही अद्वितीय पुरातन ऋषि कहते हैं। ये ही विश्वनिर्माता हैं और अपने स्वरूपसे ही अनेकों पदार्थोंकी सृष्टि करते रहते हैं। ये देवताओंके देवता होकर भी वेदोंका अध्ययन करते और प्राचीन विधियोंका आश्रय लेते हैं। लौकिक और वैदिक कर्मका जो फल है, वह सब श्रीकृष्ण ही हैं, ऐसा विश्वास करो। ये ही सम्पूर्ण लोकोंकी शुक्ल ज्योति हैं तथा तीनों लोक, तीनों लोकपाल, त्रिविध अग्नि, तीनों व्याहृतियाँ और सम्पूर्ण देवता भी ये देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ही हैं। संवत्सर, ऋतु, पक्ष, दिन-रात, कला, काष्ठा, मात्रा, मुहूर्त, लव और क्षण—इन सबको श्रीकृष्णका ही स्वरूप समझो। पार्थ! चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, अमावास्या, पौर्णमासी, नक्षत्रयोग तथा ऋतु—इन सबकी उत्पत्ति श्रीकृष्णसे ही हुई है। रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, प्रजापति, देवमाता अदिति और सप्तर्षि—ये सब-के-सब श्रीकृष्णसे ही प्रकट हुए हैं। विश्वरूप श्रीकृष्ण ही वायुरूप धारण करके संसारको चेष्टा प्रदान करते हैं, अग्निरूप होकर सबको भस्म करते हैं, जलका रूप धारण करके जगत्‌को डुबाते हैं और ब्रह्मा होकर सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करते हैं। ये स्वयं वेद्यस्वरूप होकर भी वेदवेद्य तत्त्वको जाननेका प्रयत्न करते हैं, विधिरूप होकर भी विहित कर्मोंका आश्रय लेते हैं। ये ही धर्म, वेद और बलमें स्थित हैं। तुम यह विश्वास करो कि सारा चराचर जगत् श्रीकृष्णका ही स्वरूप है। ये विश्वरूपधारी श्रीकृष्ण परम ज्योतिर्मय सूर्यका रूप धारण करके पूर्व दिशामें

प्रकट होते हैं, जिनकी प्रभासे सारा जगत् प्रकाशित होता है। ये समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं। इन्होंने पूर्वकालमें पहले जलकी सृष्टि करके फिर सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न किया था। ऋतु, नाना प्रकारके उत्पात, अनेकानेक अद्भुत पदार्थ, मेघ, बिजली, ऐरावत और सम्पूर्ण चराचर जगत्की उत्पत्ति इन्हींसे हुई है। तुम इन्हींको समस्त विश्वका आत्मा—विष्णु समझो। ये विश्वके निवासस्थान और निर्गुण हैं। इन्हींको वासुदेव, जीवभूत संकर्षण, प्रद्युम्न और चौथा अनिरुद्ध कहते हैं। ये आत्मयोनि परमात्मा सबको अपनी आज्ञाके अधीन रखते हैं। कुन्तीकुमार! ये देवता, असुर, मनुष्य, पितर और तिर्यग्रूपसे पाँच प्रकारके संसारकी सृष्टि करनेकी इच्छा रखकर पञ्चभूतोंसे युक्त जगत्के प्रेरक होकर सबको अपने अधीन रखते हैं। उन्होंने ही क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशकी सृष्टि की है। इन्होंने जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणियोंसे युक्त इस चराचर जगत्की सृष्टि करके चतुर्विध भूत-समुदाय और कर्म—इन पाँचोंकी बीजरूपा भूमिका निर्माण किया। ये ही आकाशस्वरूप बनकर इस पृथ्वीपर प्रचुर जलकी वर्षा करते हैं। राजन्! इन्होंने ही इस विश्वको उत्पन्न किया है और ये ही आत्मयोनि श्रीकृष्ण अपनी ही शक्तिसे सबको जीवन प्रदान करते हैं। देवता, असुर, मनुष्यलोक, ऋषि, पितर, प्रजा और संक्षेपतः सम्पूर्ण प्राणियोंको इन्हींसे जीवन मिलता है। ये भगवान् भूतनाथ ही सदा विधिपूर्वक समस्त भूतोंकी सृष्टिकी इच्छा रखते हैं। शुभ-अशुभ और स्थावर-जङ्गमरूप यह सारा जगत् श्रीकृष्णसे उत्पन्न हुआ है, इस बातपर विश्वास करो। भूत, भविष्य और वर्तमान—सब श्रीकृष्णका ही स्वरूप है, यह तुम्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। प्राणियोंका अन्तकाल आनेपर साक्षात् श्रीकृष्ण ही मृत्युरूप बन जाते हैं। ये धर्मके सनातन रक्षक हैं। जो बात बीत चुकी है तथा जिसका अभी कोई पता नहीं है, वे सब श्रीकृष्णसे ही प्रकट होते हैं—यह निश्चितरूपसे जान लो। तीनों लोकोंमें जो कुछ भी उत्तम, पवित्र तथा शुभ या अशुभ वस्तु है, वह सब अचिन्त्य भगवान् श्रीकृष्णका ही स्वरूप है; श्रीकृष्णसे भिन्न कोई वस्तु है, यह सोचना अपनी विपरीत बुद्धिका ही परिचय देना है। भगवान् श्रीकृष्णकी ऐसी ही महिमा है। बल्कि ये इससे भी अधिक प्रभावशाली हैं। ये ही परम पुरुष अविनाशी नारायण हैं। ये ही स्थावर-जङ्गमरूप जगत्के आदि, मध्य और अन्त हैं तथा संसारमें जन्म लेनेकी इच्छावाले प्राणियोंकी उत्पत्तिके कारण भी ये ही हैं। इन्हींको अविकारी परमात्मा कहते हैं।

(अनु० १५८। ६-४६)

धर्मराज युधिष्ठिरके पूछनेपर भगवान्के द्वारा अपनी स्वरूप-महिमाका कथन

इदं मे मानुषं जन्म कृतमात्मनि मायया।
धर्मसंस्थापनार्थाय दुष्टानां नाशनाय च॥
मानुष्यं भावमापन्नं ये मां गृह्णन्त्यवज्ञया।
संसारान्तर्हि ते मूढास्तिर्यग्योनिष्वनेकशः॥
ये च मां सर्वभूतस्थं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा।
मद्भक्तांस्तान् सदा युक्तान् मत्समीपं नयाम्यहम्॥
मद्भक्ता न विनश्यन्ति मद्भक्ता वीतकल्मषाः।
मद्भक्तानां तु मानुष्ये सफलं जन्म पाण्डव॥
अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन।
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
जन्मान्तरसहस्रेषु तपसा भावितात्मनाम्।
भक्तिरुत्पद्यते तात मनुष्याणां न संशयः॥
यच्च रूपं परं गुह्यं कूटस्थमचलं ध्रुवम्।
न दृश्यते तथा देवैर्मद्भक्तैर्दृश्यते यथा॥
अपरं यच्च मे रूपं प्रादुर्भावेषु दृश्यते।
तदर्चयन्ति सर्वार्थैः सर्वभूतानि पाण्डव॥
कल्पकोटिसहस्रेषु व्यतीतेष्वागतेषु च।
दर्शयामीह तद् रूपं यच्च पश्यन्ति मे सुराः॥
स्थित्युत्पत्त्यप्ययकरं यो मां ज्ञात्वा प्रपद्यते।
अनुगृह्णाम्यहं तं वै संसारान्मोचयामि च॥

अहमादिर्हि देवानां सृष्टा ब्रह्मादयो मया ।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य जगत् सर्वं सृजाम्यहम् ॥
तमोमूलोऽहमव्यक्तो रजोमध्ये प्रतिष्ठितः ।
ऊर्ध्वं सत्त्वं विना लोभं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यंतः ॥
मूर्द्धानं मे विद्धि दिवं चन्द्रादित्यौ च लोचने ।
गावोऽग्निर्ब्राह्मणो वक्त्रं मारुतः श्वसनं च मे ॥
दिशो मे बाहवश्चाष्टौ नक्षत्राणि च भूषणम् ।
अन्तरिक्षमुरो विद्धि सर्वभूतावकाशकम् ॥
मार्गौ मेघानिलाभ्यां तु यन्ममोदरमव्ययम् ।
पृथिवीमण्डलं यद् वै द्वीपार्णववनैर्युतम् ॥
सर्वसंधारणोपेतं पादौ मम युधिष्ठिर ।
स्थितो ह्येकगुणः खेऽहं द्विगुणश्चास्मि मारुते ॥
त्रिगुणोऽग्नौ स्थितोऽहं वै सलिले च चतुर्गुणः ।
शब्दाद्या ये गुणाः पञ्च महाभूतेषु पञ्चसु ॥
तन्मात्रासंस्थितः सोऽहं पृथिव्यां पञ्चधा स्थितः ।
अहं सहस्रशीर्षस्तु सहस्रवदनेक्षणः ॥
सहस्रबाहूदरधृक् सहस्रोरुसहस्रपात् ।
धृत्वोर्वीं सर्वतः सम्यगत्यतिष्ठं दशाङ्गुलम् ॥
सर्वभूतात्मभूतस्थः सर्वव्यापी ततोऽस्म्यहम् ।
अचिन्त्योऽहमनन्तोऽहमजरोऽहमजो ह्यहम् ॥
अनाद्योऽहमवध्योऽहमप्रमेयोऽहमव्ययः ।
निर्गुणोऽहं निगूढात्मा निर्द्वन्द्वो निर्ममो नृप ॥
निष्कलो निर्विकारोऽहं निदानममृतस्य तु ।
सुधा चाहं स्वधा चाहं स्वाहा चाहं नराधिप ॥
तेजसा तपसा चाहं भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
स्नेहपाशैर्गुणैर्बद्ध्वा धारयाम्यात्ममायया ॥
चातुराश्रमधर्मोऽहं चातुर्होत्रफलाशनः ।
चतुर्मूर्तिश्चतुर्यज्ञश्चतुराश्रमभावनः ॥
संहृत्याहं जगत् सर्वं कृत्वा वै गर्भमात्मनः ।
शयामि दिव्ययोगेन प्रलयेषु युधिष्ठिर ॥
सहस्रयुगपर्यन्तां ब्राह्मीं रात्रिं महार्णवे ।
स्थित्वा सृजामि भूतानि जङ्गमानि स्थिराणि च ॥
कल्पे कल्पे च भूतानि संहरामि सृजामि च ।
न च मां तानि जानन्ति मायया मोहितानि मे ॥
मम चैवान्धकारस्य मार्गितव्यस्य नित्यशः ।
प्रशान्तस्येव दीपस्य गतिर्नैवोपलभ्यते ॥
न तदस्ति क्वचिद् राजन् यत्राहं न प्रतिष्ठितः ।
न च तद् विद्यते भूतं मयि यत्र प्रतिष्ठितम् ॥
यावन्मात्रं भवेद् भूतं स्थूलं सूक्ष्ममिदं जगत् ।
जीवभूतो ह्यहं तस्मिंस्तावन्मात्रं प्रतिष्ठितः ॥
किं चात्र बहुनोक्तेन सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
यद् भूतं यद् भविष्यच्च तत् सर्वमहमेव तु ॥
मया सृष्टानि भूतानि मन्मयानि च भारत ।
मामेव न विजानन्ति मायया मोहितानि वै ॥
एवं सर्वं जगदिदं सदेवासुरमानुषम् ।
मत्तः प्रभवते राजन् मय्येव प्रविलीयते ॥

(पृ० ६३०८)

'इस समय धर्मकी स्थापना और दुष्टोंका विनाश करनेके लिये मैंने अपनी मायासे मानव-शरीरमें अवतार धारण किया है। जो लोग मुझे केवल मनुष्य-शरीरमें ही समझकर मेरी अवहेलना करते हैं, वे मूर्ख हैं और संसारके भीतर बारंबार तिर्यग्योनियोंमें भटकते रहते हैं। इसके विपरीत जो ज्ञानदृष्टिसे मुझे सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित देखते हैं, वे सदा मुझमें मन लगाये रहनेवाले मेरे भक्त हैं; ऐसे भक्तोंको मैं परमधाममें अपने पास बुला लेता हूँ। पाण्डुपुत्र ! मेरे भक्तोंका नाश नहीं होता, वे निष्पाप होते हैं। मनुष्योंमें उन्हींका जन्म सफल है, जो मेरे भक्त हैं। पाण्डुनन्दन ! पापोंमें अभिरत रहनेवाले मनुष्य भी यदि मेरे भक्त हो जायँ तो वे सारे पापोंसे वैसे ही मुक्त हो जाते हैं, जैसे जलसे कमलका पत्ता निर्लिप्त रहता है। हजारों जन्मोंतक तपस्या करनेसे जब मनुष्योंका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उनमें निस्संदेह भक्तिका उदय होता है। मेरा जो अत्यन्त गोपनीय कूटस्थ, अचल और अविनाशी परस्वरूप है, उसका मेरे भक्तोंको जैसा अनुभव होता है, वैसा देवताओंको भी नहीं होता। पाण्डव ! जो मेरा अपरस्वरूप है, वह अवतार लेनेपर दृष्टिगोचर होता है। संसारके समस्त जीव सब प्रकारके पदार्थोंसे उसकी पूजा करते हैं। बीते हुए तथा आनेवाले हजारों और करोड़ों कल्पोंमें मैं भक्तोंको उसी रूपसे दर्शन देता हूँ, जिस वैष्णव-

रूपको देवगण देखते हैं। जो मनुष्य मुझे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहारका कारण समझकर मेरी शरण लेता है, उसके ऊपर कृपा करके मैं उसे संसार-बन्धनसे मुक्त कर देता हूँ। मैं ही देवताओंका आदि हूँ। ब्रह्मा आदि देवताओंकी मैंने ही सृष्टि की है। मैं ही अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण संसारकी सृष्टि करता हूँ। मैं अव्यक्त परमेश्वर ही तमोगुणका आधार, रजोगुणके भीतर स्थित और उत्कृष्ट सत्त्वगुणमें भी व्याप्त हूँ। मुझे लोभ नहीं है। ब्रह्मासे लेकर छोटेसे कीड़ेतक सबमें मैं व्याप्त हो रहा हूँ। द्युलोकको मेरा मस्तक समझो। सूर्य और चन्द्रमा मेरी आँखें हैं। गौ, अग्नि और ब्राह्मण मेरे मुख हैं और वायु मेरी साँस है। आठ दिशाएँ मेरी बाहें, नक्षत्र मेरे आभूषण और सम्पूर्ण भूतोंको अवकाश देनेवाला अन्तरिक्ष मेरा वक्षःस्थल है। बादलों और हवाके चलनेका जो मार्ग है, उसे मेरा अविनाशी उदर समझो। युधिष्ठिर ! द्वीप, समुद्र और जंगलोंसे भरा हुआ यह सबको धारण करनेवाला भूमण्डल मेरे दोनों पैरोंके स्थानमें हैं। आकाशमें मैं एक गुणवाला हूँ, वायुमें दो गुणवाला हूँ, अग्निमें तीन गुणवाला हूँ, जलमें चार गुणवाला हूँ और पृथ्वीमें पाँच गुणोंसे स्थित हूँ। वही मैं तन्मात्रारूप पञ्चमहाभूतोंमें शब्दादि पाँच गुणोंसे स्थित हूँ। मेरे हजारों मस्तक, हजारों मुख, हजारों नेत्र, हजारों भुजाएँ, हजारों उदर, हजारों ऊरु और हजारों पैर हैं। मैं पृथ्वीको सब ओरसे धारण करके नाभिसे दस अंगुल ऊँचे सबके हृदयमें विराजमान हूँ। मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मारूपसे स्थित हूँ, इसलिये सर्वव्यापी कहलाता हूँ। राजन् ! मैं अचिन्त्य, अनन्त, अजर, अजन्मा, अनादि, अवध्य, अप्रमेय, अव्यय, निर्गुण, गुह्यस्वरूप, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कल, निर्विकार और मोक्षका आदि कारण हूँ। नरेश्वर ! सुधा, स्वधा और स्वाहा भी मैं ही हूँ। मैंने ही अपने तेज और तपसे चार प्रकारके प्राणिसमुदायको स्नेहपाशरूप रज्जुसे बाँधकर अपनी मायासे धारण कर रखा है। मैं चारों आश्रमोंका धर्म, चार प्रकारके होताओंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञका फल भोगनेवाला, चतुर्व्यूह एवं चतुर्यज्ञरूपमें स्थित और चारों आश्रमोंको प्रकट करनेवाला हूँ। युधिष्ठिर ! प्रलयकालमें समस्त जगत्‌का संहार करके उसे अपने उदरमें स्थापित कर दिव्य योगका आश्रय ले मैं एकार्णवके जलमें शयन करता हूँ। एक हजार युगोंतक रहनेवाली ब्रह्माकी रात पूर्ण होनेतक महार्णवमें शयन करनेके पश्चात् मैं (पुनः) स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि करता हूँ। (इस प्रकार) प्रत्येक कल्पमें मेरे द्वारा जीवोंकी सृष्टि और संहारका कार्य होता है, किंतु मेरी मायासे मोहित होनेके कारण वे जीव मुझे नहीं जान पाते। प्रलयकालमें जब दीपकके शान्त होनेकी भाँति समस्त व्यक्त सृष्टि लुप्त हो जाती है, तब खोज करने योग्य मुझ अदृश्यस्वरूपकी गतिका उनको पता नहीं लगता। राजन् ! कहीं कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें मेरा निवास न हो तथा कोई ऐसा जीव नहीं है, जो मुझमें स्थित न हो। जो कुछ भी स्थूल-सूक्ष्मरूप यह जगत् हो चुका है और होनेवाला है, उस सबमें उसी प्रकार मैं ही जीवरूपसे स्थित हूँ। अधिक कहनेसे क्या लाभ, मैं तुमसे यह सच्ची बात बता रहा हूँ कि भूत और भविष्य जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ। भरतनन्दन ! सम्पूर्ण भूत मुझसे ही उत्पन्न होते हैं और मेरे ही स्वरूप हैं। फिर भी वे मेरी मायासे मोहित रहनेके कारण मुझे नहीं जान पाते। राजन् ! इस प्रकार देवता, असुर और मनुष्योंसहित समस्त संसारका मुझसे ही जन्म और मुझमें ही लय होता है।

भीष्मपितामहने देह-परित्यागके समय प्रार्थना की—

भीष्म उवाच

भगवन् देवदेवेश सुरासुरनमस्कृत।
त्रिविक्रम नमस्तुभ्यं शङ्खचक्रगदाधर ॥
वासुदेवो हिरण्यात्मा पुरुषः सविता विराट्।
जीवभूतोऽनुरूपस्त्वं परमात्मा सनातनः ॥
त्रायस्व पुण्डरीकाक्ष पुरुषोत्तम नित्यशः।
अनुजानीहि मां कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥
रक्ष्याश्च ते पाण्डवेया भवान् येषां परायणम्।
उक्तवानस्मि दुर्बुद्धिं मन्दं दुर्योधनं तदा ॥
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।
वासुदेवेन तीर्थेन पुत्र संशाम्य पाण्डवैः ॥

संधानस्य परः कालस्त्वेति च पुनः पुनः।
न च मे तद्वचो मूढः कृतवान् स सुमन्दधीः।
घातयित्वेह पृथिवीं ततः स निधनं गतः॥
त्वां तु जानाम्यहं देवं पुराणमृषिसत्तमम्।
नरेण सहितं देव बदर्यां सुचिरोषितम्॥
तथा मे नारदः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः।
नरनारायणावेतौ सम्भूतौ मनुजेष्विति॥
स मां त्वमनुजानीहि कृष्ण मोक्ष्ये कलेवरम्।
त्वयाहं समनुज्ञातो गच्छेयं परमां गतिम्॥
(अनु० १६७। ३७–४५)

भीष्मजी बोले—भगवन्! देवदेवेश्वर! देवता और असुर—सभी आपके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं। अपने तीन पगोंसे त्रिलोकीको नापनेवाले तथा शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले नारायणदेव! आपको नमस्कार है। आप वासुदेव, हिरण्यात्मा, पुरुष, सविता, विराट, अनुरूप, जीवात्मा और सनातन परमात्मा हैं। कमलनयन श्रीकृष्ण! पुरुषोत्तम! वैकुण्ठ! आप सदा मेरा उद्धार करें। अब मुझे जानेकी आज्ञा दें। प्रभो! आप ही जिनके परम आश्रय हैं, उन पाण्डवोंकी सदा आपको रक्षा करनी चाहिये। मैंने दुर्बुद्धि एवं मन्द दुर्योधनसे कहा था कि 'जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं धर्म है; और जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी जय होगी।' इसलिये बेटा दुर्योधन! तुम भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। यह संधिके लिये बहुत उत्तम अवसर आया है।' इस प्रकार बार-बार कहनेपर भी उस मन्दबुद्धि मूढ़ने मेरी वह बात नहीं मानी और सारी पृथ्वीके वीरोंका नाश कराकर अन्तमें वह स्वयं भी कालके गालमें चला गया। देव! मैं आपको जानता हूँ। आप वे ही पुरातन ऋषिश्रेष्ठ नारायण हैं, जो नरके साथ चिरकालतक बदरिकाश्रममें निवास करते रहे हैं। देवर्षि नारद तथा महातपस्वी व्यासजीने भी मुझसे कहा था कि ये श्रीकृष्ण और अर्जुन साक्षात् भगवान् नारायण और नर हैं, जो मानव-शरीरमें अवतीर्ण हुए हैं। श्रीकृष्ण! अब आप आज्ञा दीजिये, मैं इस शरीरका परित्याग करूँगा। आपकी आज्ञा मिलनेपर मुझे परम गतिकी प्राप्ति होगी।

मौसलपर्व

भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम पधारनेके समयका वर्णन इस प्रकार आता है—

देवोऽपि सन् देहविमोक्षहेतो-
र्निमित्तमैच्छत् सकलार्थतत्त्ववित्।
स संनिरुद्धेन्द्रियवाङ्मनास्तु
शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः॥
जराथ तं देशमुपाजगाम
लुब्धस्तदानीं मृगलिप्सुरुग्रः।
स केशवं योगयुक्तं शयानं
मृगासक्तो लुब्धकः सायकेन॥
जराविध्यत् पादतले त्वरावां-
स्तं चाभितस्तज्जिघृक्षुर्जगाम।
अथापश्यत् पुरुषं योगयुक्तं
पीताम्बरं लुब्धकोऽनेकबाहुम्॥
मत्वाऽऽत्मानं त्वपराद्धं स तस्य
पादौ जरा जगृहे शङ्कितात्मा।
आश्वासयंस्तं महात्मा तदानीं
गच्छन्नूर्ध्वं रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या॥
दिवं प्राप्तं वासवोऽथाश्विनौ च
रुद्रादित्या वसवश्चाथ विश्वे।
प्रत्युद्ययुर्मुनयश्चापि सिद्धा
गन्धर्वमुख्याश्च सहाप्सरोभिः॥
ततो राजन् भगवानुग्रतेजा
नारायणः प्रभवश्चाव्ययश्च।
योगाचार्यो रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या
स्थानं प्राप स्वं महात्माप्रमेयम्॥
ततो देवैर्ऋषिभिश्चापि कृष्णः
समागतश्चारणैश्चैव राजन्।
गन्धर्वाग्र्यैरप्सरोभिर्वराभिः
सिद्धैः साध्यैश्चानतैः पूज्यमानः॥
तं वै देवाः प्रत्यनन्दन्त राजन्
मुनिश्रेष्ठा ऋग्भिरानर्चुरीशम्।
तं गन्धर्वाश्चापि तस्थुः स्तुवन्तः
प्रीत्या चैनं पुरुहूतोऽभ्यनन्दत्॥
(मौ० अ० ४। २१–२८)

'भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण अर्थोंके तत्त्ववेत्ता और अविनाशी देव हैं, तो भी उस समय उन्होंने देहमोक्ष

या ऐहलौकिक लीलाका संवरण करनेके लिये किसी निमित्तके प्राप्त होनेकी इच्छा की । फिर वे मन, वाणी और इन्द्रियोंका निरोध करके महायोग (समाधि) का आश्रय ले पृथ्वीपर लेट गये । उसी समय 'जरा' नामक एक भयंकर व्याध मृगोंको मार ले जानेकी इच्छासे उस स्थानपर आया । उस समय श्रीकृष्ण योगयुक्त होकर लेट रहे थे । मृगोंमें आसक्त हुए उस व्याधने श्रीकृष्णको भी मृग ही समझा और बड़ी उतावलीके साथ बाण मारकर उनके पैरके तलवेमें घाव कर दिया । फिर उस मृगको पकड़नेके लिये वह जब निकट आया, तब योगमें स्थित, चार भुजावाले, पीताम्बरधारी पुरुष भगवान् श्रीकृष्णपर उसकी दृष्टि पड़ी । अब तो जरा अपनेको अपराधी मानकर मन-ही-मन बहुत डर गया । उसने भगवान् श्रीकृष्णके दोनों पैर पकड़ लिये । तब महात्मा श्रीकृष्णने उसे आश्वासन दिया और अपनी कान्तिसे पृथ्वी एवं आकाशको व्याप्त करते हुए वे ऊर्ध्वलोकमें (अपने परम धाममें) चले गये । अन्तरिक्षमें पहुँचनेपर इन्द्र, अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य, वसु, विश्वेदेव, मुनि, सिद्ध तथा अप्सराओंसहित मुख्य-मुख्य गन्धर्वोंने आगे बढ़कर भगवान्का स्वागत किया । राजन् ! तत्पश्चात् जगत्की उत्पत्तिके कारणरूप उग्रतेजस्वी, अविनाशी, योगाचार्य महात्मा भगवान् नारायण अपनी प्रभासे पृथ्वी और आकाशको प्रकाशमान करते हुए अपने अप्रमेय धामको प्राप्त हो गये । नरेश्वर ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ गन्धर्वों, सुन्दरी अप्सराओं, सिद्धों और साध्योंद्वारा विनीतभावसे पूजित हो देवताओं, ऋषियों तथा चारणोंसे भी मिले । राजन् ! देवताओंने भगवान्का अभिनन्दन किया । श्रेष्ठ महर्षियोंने ऋग्वेदकी ऋचाओंद्वारा उनकी पूजा की । गन्धर्व स्तुति करते हुए खड़े रहे तथा इन्द्रने भी बड़े प्रेमसे उनका अभिनन्दन किया ।

अन्तिम निवेदन

उपर्युक्त उद्धरणोंके साथ जब महाभारतपर दृष्टिपात किया जाता है, तब यह स्पष्ट पता लगता है कि इसमें सच्चिदानन्दघन-विग्रह परात्पर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा, उनकी भक्तवत्सलता तथा उनकी प्राप्ति तथा प्रीतिके साधनभूत धर्मोंका ही वर्णन है । युधिष्ठिर और दुर्योधन दैवी तथा आसुरी सम्पत्तिके मूर्तिमान् प्रतीक हैं। दैवी सम्पत्ति भगवान्के आश्रयमें रहती है । इसलिये दैवी सम्पदासम्पन्न भक्त पुरुषके योगक्षेमका वहन स्वयं भगवान् करते हैं, यह बात महाभारतमें पद-पदपर प्रत्यक्ष दिखलायी देती है । भगवान् श्रीकृष्ण सदा ही पाण्डवोंके साथ रहते हैं और उनके प्रति अपार वत्सलताका व्यवहार करते हैं । अतः हम सबको महाभारतके उपदेशोंसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि——

(१) श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, सारे अवतारोंके मूल अवतारी हैं । सगुण-निर्गुण, सविशेष-निर्विशेष, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, सर्वमय——सर्वातीत सब उन्हींके रूप हैं । वे सब कुछ हैं ।

(२) सब आश्रयोंका त्याग करके एकमात्र उन्हींकी शरण ग्रहण करनी चाहिये ।

(३) उनकी शरण ग्रहण करके नित्य उनके अनुकूल आचरणरूप धर्मका सेवन, तथा प्रतिकूल आचरणरूप अधर्मका त्याग करना चाहिये ।

(४) धर्मराज युधिष्ठिरका आदर्श सामने रखकर वैसा बननेका प्रयत्न करना चाहिये; दुर्योधनके आदर्शका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

(५) भगवान् श्रीकृष्णकी सहज सुहृदतापर विश्वास करके जीवनको प्रत्येक परिस्थितिमें शान्त, सुखमय बना लेना चाहिये ।

भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करके हरिहरसुभाषितका निम्नलिखित श्लोक लिखकर यह लेख समाप्त किया जाता है——

भारताख्यं सरो भाति व्यासवागमृतैर्वृतम् ।
यत्र क्षत्रकुलाब्जेषु हंसीयति हरेर्यशः ॥

'व्यासदेवकी वाणीरूपी अमृतसे पूर्ण यह महाभारत नामक सरोवर सुशोभित हो रहा है । इसमें क्षत्रियकुलरूपी कमलसमूहोंमें श्रीकृष्णका उज्ज्वल यश हंसके समान क्रीड़ा कर रहा है ।'

महाभारतके जीवनको उन्नत बनानेवाले कुछ शिक्षाप्रद प्रसङ्ग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

महाभारतका भारतीय साहित्यमें बहुत उच्च स्थान है। इसे पञ्चम वेद भी कहते हैं। इसका विद्वानोंमें वेदोंका-सा आदर है। इसमें गुरु-भक्ति, माता-पिताकी सेवा, पातिव्रत्यधर्म, तीर्थों और यज्ञ, दान, तप, व्रत, उपवास एवं सेवा आदिका माहात्म्य, वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, दानधर्म, श्राद्धधर्म, मोक्षधर्म तथा मोक्ष-प्राप्तिके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार और निष्काम-कर्म आदिका बहुत ही विशद वर्णन है। श्रीमद्भगवद्गीता-जैसा अनुपम ग्रन्थ, जिसे सारा संसार आदरकी दृष्टिसे देखता है और जिसे हम विश्व-साहित्यका सर्वोत्तम ग्रन्थ कहें तो भी अत्युक्ति न होगी, इस महाभारतमें ही है।* इसलिये ऐसे परमोपयोगी महाभारत ग्रन्थका अध्ययन प्रत्येक माता, बहिन और भाईको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परतासे करना चाहिये।

वैसे तो महाभारतमें अनेक शिक्षाप्रद उपदेश और आख्यान भरे हुए हैं, किंतु यहाँ पाठकोंके लिये महाभारतके साररूपमें कुछ चुने हुए शिक्षाप्रद प्रसङ्ग उपस्थित किये जाते हैं।

मनुष्यके कल्याणमें श्रद्धा ही प्रधान हेतु है। ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंके प्रति भक्ति एवं उनके वचनोंमें तथा परलोक और आत्माके अस्तित्वमें विश्वास होना श्रद्धा है। ईश्वर, महात्मा और गुरुजनोंकी आज्ञाका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सकामभावसे पालन करनेपर इहलोक और परलोकमें कामनाकी सिद्धि होती है तथा निष्कामभावसे करनेपर परम गतिकी प्राप्ति होती है। इस सम्बन्धमें महाभारतमें कई उदाहरण मिलते हैं। हमलोगोंको उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

गुरुभक्त आरुणि, उपमन्यु और वेद—ये तीनों महर्षि आयोदधौम्यके शिष्य थे। एक दिन गुरुजीने आरुणिको खेतमें क्यारियोंकी टूटी हुई मेड़ बाँधकर जल रोकनेको कहा। गुरुकी आज्ञा पाकर आरुणि खेतमें जाकर मेड़की जगह स्वयं ही लेट गया। उसके बहुत समयतक न लौटनेपर गुरु स्वयं खेतमें गये। जब उन्हें उसके इस प्रयत्नका पता लगा, तब वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कृपापूर्वक आशीर्वाद दिया कि 'तुमने मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणके भागी होगे एवं सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारी बुद्धिमें स्वतः प्रकाशित हो जायँगे।' इस प्रकार गुरुकी कृपासे उन्हें बिना ही पढ़े सम्पूर्ण वेद और शास्त्रोंका ज्ञान होकर कल्याणकी प्राप्ति हो गयी। (महा० आदि० अ० ३)

गुरुभक्त उपमन्युने गुरुकी आज्ञा पाकर भिक्षा और दूधका भी त्याग कर दिया। किंतु एक दिन क्षुधासे पीड़ित हो वे आकके पत्तोंके भक्षणसे अंधे हो जानेपर कुएँमें गिर गये। जब उपमन्यु घर नहीं लौटे, तब महर्षि आयोदधौम्य वनमें गये। जब उन्हें अपने शिष्यके अंधे होकर कुएँमें गिरनेका पता लगा, तब उन्होंने उसे अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करनेका आदेश दिया। उनकी स्तुतिसे प्रकट हुए अश्विनीकुमारोंके द्वारा उनको पूए दिये जानेपर भी उन्होंने गुरुजीको निवेदन किये बिना खाना स्वीकार नहीं किया। इस प्रकारकी गुरुभक्तिकी दृढ़ता देखकर अश्विनीकुमार बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे दाँत सुवर्णमय हो जायँगे, तुम्हारी आँखे ठीक हो जायँगी और तुम कल्याणके भागी होओगे। जब उपमन्युको आँखें मिल गयीं, तब उन्होंने गुरुजीके पास जाकर उनको प्रणाम किया। गुरुजी उनपर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'जैसा अश्विनीकुमारोंने कहा है, उसी प्रकार तुम कल्याणके भागी होओगे और तुम्हें सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र स्वतः स्फुरित हो जायँगे।' अतएव उपमन्युको भी गुरुकृपासे समस्त शास्त्रोंका ज्ञान होकर कल्याण प्राप्त हो गया। (महा० आदि० अ० ३)

* महाभारत भीष्मपर्वके अ० २५ से ४२ तक गीता है। 'मासिक महाभारत'के दूसरे वर्षके २ रे अङ्कमें गीताके प्रत्येक श्लोककी प्रधान-प्रधान स्थलोंमें कुछ विस्तृत व्याख्या टिप्पणियोंके रूपमें दी गयी है। यह अङ्क २)में अलग भी मिलता है।

महाराज द्रुपद

आचार्य आयोदधौम्यके एक तीसरे शिष्य थे वेद। वे भी बड़े ही गुरु-भक्त थे। उन्होंने दीर्घ कालतक गुरुजीकी सेवा की। गुरुजी उन्हें बैलकी तरह सदा भारी बोझ ढोनेमें लगाये रखते थे, किंतु वेद सरदी-गरमी तथा भूख-प्यासका कष्ट सहन करते हुए सभी अवस्थाओंमें गुरुके अनुकूल ही रहते थे। इससे गुरुजी उनपर बहुत संतुष्ट हुए। अतः गुरुजीकी कृपासे उन्हें सर्वज्ञता और श्रेयकी प्राप्ति हो गयी। (महा० आदि० अ० ३)

इन्हीं ब्रह्मवेत्ता आचार्य वेदके एक शिष्य थे उत्तङ्क। गुरु-भक्त उत्तङ्कने गुरुजीकी धर्मपूर्वक बड़ी सेवा की। उत्तङ्कने गुरुपत्नीकी आज्ञा पाकर अत्यन्त दुष्कर प्रयत्नपूर्वक राजा पौष्यकी पत्नीसे दो दिव्य कुण्डल लाकर गुरुपत्नीको गुरु-दक्षिणाके रूपमें दिये। इनके धर्म-मर्यादापूर्वक गुरु-सेवा-व्रतसे प्रसन्न होकर गुरुजीने इनको सम्पूर्णकामनापूर्तिका और कल्याणभागी होनेका आशीर्वाद दिया। (महा० आदि० अ० ३)

उत्तङ्कके चरित्रमें एक और विशेष बात ध्यान देने-योग्य है। जब वे राजा पौष्यके आदेशसे उनकी रानीसे कुण्डल माँगने अन्तःपुरमें गये, तब उन्हें रानीके दर्शन नहीं हुए। वे राजा पौष्यके पास आकर उन्हें उलाहना देने लगे। तब राजा पौष्यने एक क्षण विचार करके उन्हें उत्तर दिया कि आप निश्चय ही जूँठे मुँह हैं। स्मरण तो कीजिये। क्योंकि मेरी स्त्री पतिव्रता होनेके कारण उच्छिष्ट-अपवित्र मनुष्यके द्वारा नहीं देखी जा सकतीं। आप उच्छिष्ट होनेके कारण अपवित्र हैं, इसलिये वे आपकी दृष्टिमें नहीं आ रही हैं।* यह सुनकर उत्तङ्कने विधिपूर्वक आचमन करके पवित्र हो अन्तःपुरमें प्रवेश किया, तब उन्हें रानीका दर्शन हुआ। (महाभारत आदि० अ० ३)

इन्हीं उत्तङ्क ऋषिने गुरुसेवाके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्णसे वार्तालाप करके और उनसे अध्यात्मतत्त्व तथा उनके प्रभावको सुनकर भगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन प्राप्त कर लिया (महा० आश्वमेधिक० अ० ५४-५५)।

गुरुभक्त एकलव्य भीलने द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी प्रतिमा बनाकर और उसीकी श्रद्धापूर्वक उपासना करके धनुर्विद्याका अभ्यास कर लिया। गुरुभक्तिके प्रभावसे वह धनुर्विद्यामें ऐसा प्रवीण हो गया कि उसने अर्जुनको भी आश्चर्यमें डाल दिया (महा० आदि० अ० १३१)।

महाराज द्रुपदकी भगवान् शिवमें बड़ी ही अनुपम श्रद्धा थी। उन्होंने संतानकी प्राप्तिके लिये घोर तपस्या करके भगवान् शंकरको संतुष्ट कर लिया (तब भगवान् शंकरने उनको कन्याप्राप्तिका वर दिया। इसपर राजा द्रुपदने) कहा—'भगवन्! मैं पुत्र चाहता हूँ; अतः मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो।' इसपर श्रीमहादेवजीने कहा—'राजन्! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी। मैंने जो कुछ कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता।' इस वरदानके फलस्वरूप जब उन्हें कन्या प्राप्त हुई, तब भगवान् शिवके वचनोंपर श्रद्धा होनेके कारण राजा द्रुपदने अपनी लड़कीको लड़का ही घोषित किया और लड़केके समान ही उसके जातकर्मादि संस्कार कराकर पुरुष-जैसा ही 'शिखण्डी' नाम रखा। इतना ही नहीं, उसका विवाह भी दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी पुत्रीके साथ कर दिया। फिर उनकी श्रद्धाके बलसे शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८-१९२)।

पूर्वजन्ममें एक ऋषिकन्याके रूपमें द्रौपदीने पतिकी प्राप्तिके लिये भगवान् शिवकी बड़ी ही श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उपासना की थी। उसने उस समय बड़ी भारी तपस्या की। उससे संतुष्ट हुए शिवजीसे वर माँगते समय उसने पाँच बार पति देनेको कहा था। अतः उसके प्रभावसे उस ऋषिकन्याको दूसरे जन्ममें पाण्डवोंके रूपमें पाँच पति प्राप्त हुए। (महा० आदि० अ० १६८, १९६)।

अपने पिता महर्षि जमदग्निकी आज्ञासे श्रीपरशुरामजीने अपनी माताका, उनके किसी मानस अपराधके कारण सिर काट डाला। इससे महातपस्वी जमदग्नि उनपर बहुत प्रसन्न

---

* स एवमुक्तः पौष्यः क्षणमात्रं विमृश्योत्तङ्कं प्रत्युवाच—'नियतं भवानुच्छिष्टः स्मर तावन्न हि सा क्षत्रिया उच्छिष्टेनाशुचिना शक्या द्रष्टुं पतिव्रतात्वात् सैषा नाशुचेर्दर्शनमुपैतीति। (महा० आदि० अ० ३। १०७)

हुए और उनसे वर माँगनेको कहा। तब परशुरामजी बोले—'पिताजी ! मेरी माता जीवित हो उठें, उन्हें मेरे द्वारा मारे जानेकी बात याद न रहे और वह मानस-पाप उनका स्पर्श न कर सके तथा मेरे चारों भाई स्वस्थ हो जायँ, युद्धमें मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं बड़ी आयु प्राप्त करूँ।' महर्षि जमदग्निने परशुरामजीकी सेवा और आज्ञापालनसे प्रसन्न हो वरदान देकर उनकी वे सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं (महा० वन० अ० ११६)।

इसी प्रकार अपने पिता महर्षि गौतमकी आज्ञा-पालन करनेके लिये चिरकारी तैयार तो हो गया, किंतु देरतक सोच-विचारकर कार्य करनेके कारण वह प्रशंसाका पात्र बन गया और अन्तमें पिताके साथ ही स्वर्गमें चला गया (महा० शान्ति० अ० २६६)।

राजा पूरुने अपने पिता महाराज ययातिकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपनी युवावस्था उन्हें देकर उनकी वृद्धावस्था स्वयं ले ली। इससे महाराज ययाति प्रसन्न हो गये और पूरुको यह वर देकर कि 'तुम्हारे राज्यमें सारी प्रजा समस्त कामनाओंसे सम्पन्न होगी' उनका राज्याभिषेक कर दिया (महा० आदि० अ० ८४-८५)।

श्रीभीष्मपितामहने अपने पिता राजा शंतनुको सुख पहुँचाने और उनकी सेवा करनेके उद्देश्यसे आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत-पालनकी प्रतिज्ञा करके स्त्रीका और राज्यका भी परित्याग कर दिया। इसके प्रभावसे उन्हें पितासे इच्छामृत्युका वर प्राप्त हुआ (महा० आदि० अ० १००)। वे बड़े ही शूरवीर, सदाचारी और ईश्वर-भक्त थे। उन्होंने अपने भाई विचित्रवीर्यके विवाहके लिये स्वयंवरमें समस्त राजाओंको पराजित करके काशिराजकी तीन कन्याओंका हरण किया और अम्बाके लिये अपने साथ युद्ध करनेवाले अपने गुरु परशुरामजीको भी युद्धमें छका दिया (महा० उद्योग० अ० १७३ से १८५)। पाण्डव भी इनकी कृपासे ही इनके वधका उपाय जानकर इनको मार सके थे (महा० भीष्म० अ० १०७)। इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति करके उनको अपनी ओर इतना आकर्षित कर लिया कि भगवान् श्रीकृष्णको भी बदलेमें उनका ध्यान करना पड़ा (महा० शान्ति० अ० ४६)। भीष्म ऐसे सदाचारी, शास्त्रज्ञ और धर्मवेत्ता थे कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उनकी प्रशंसा की और कहा कि भीष्म धर्मके प्रचुर भंडार हैं, वे सम्पूर्ण वेदों और इतिहास-पुराणोंमें कथित समस्त धर्मोंके ज्ञाता हैं, धर्मके सम्बन्धमें संदेहग्रस्त विषयोंका समाधान करनेवाला भीष्मके समान दूसरा कोई भूमण्डलमें नहीं है (महा० शान्ति० अ० ५०)। उस समय बाणोंसे बिंधे होनेके कारण पाण्डवोंको उपदेश देनेमें भीष्मने अपनी असमर्थता प्रकट की। इसपर भगवान् श्रीकृष्णने उनपर प्रसन्न होकर उनको वरदान दिया, जिससे वे पीड़ारहित हो गये। साथ ही उनके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो गये एवं उनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, दान आदि धर्मों और मोक्ष-धर्मोंका उपदेश देनेकी शक्ति आ गयी (महा० शान्ति० अ० ५२)। उस समय पाण्डवोंके द्वारा मारकर घायल कर दिये जानेपर भी इन्होंने प्राणत्याग न करके रणभूमिमें शरशय्यापर पड़े हुए ही भक्ति, ज्ञान, सदाचार एवं धर्म आदिका ऐसा अनुपम उपदेश दिया, जिससे शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व भरे हुए हैं। इस प्रकार महात्मा भीष्मने पितृभक्ति और ब्रह्मचर्यव्रतके पालनसे शूरवीरता, सदाचार, ईश्वर-भक्ति पाकर अन्तमें उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त की (महा० अनुशासन० १६८)।

महाराज युधिष्ठिरने माता कुन्तीकी ऐसी आज्ञाका भी पूर्णतया पालन किया, जो लोकसे विरुद्ध और कठिन-से-कठिन थी। जब भीमसेन और अर्जुनने मातासे भिक्षा लानेकी बात निवेदन की, तब माता कुन्तीने अनजानमें यह आज्ञा दे दी कि सब भाई मिलकर भिक्षाका उपभोग करो। किंतु जब कुन्तीने उन्हें द्रौपदीको लाये देखा, तब उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने युधिष्ठिरसे कहा—'अब मेरी यह बात सत्य कैसे होगी ?' महाराज युधिष्ठिरने उन्हें आश्वासन दिया कि 'आपके वचनको हम सत्य करेंगे। द्रौपदी हम सब भाइयोंकी पत्नी होगी और हम पाँचों ही इसका पाणिग्रहण करेंगे।' इसपर राजा द्रुपदके यहाँ बड़ा वाद-विवाद उपस्थित हो गया। परंतु युधिष्ठिर अपने निश्चयसे नहीं टले। अन्तमें श्रीवेदव्यास-

जी वहाँ अकस्मात् प्रकट हो गये और उन्होंने द्रौपदीके पूर्वजन्मकी कथा कहकर और पाण्डवोंके धर्मात्मा होनेका परिचय देकर द्रुपदको समझा दिया एवं उन्हें दिव्य दृष्टि देकर पाण्डवोंके दिव्य रूपोंका दर्शन करा दिया। तब राजा द्रुपदने द्रौपदीका पाँचों पाण्डवोंके साथ विवाह कर दिया। (महा० आदि० अ० १९० से १९७) माता कुन्तीकी ऐसी कठोर आज्ञाका पालन करनेसे महाराज युधिष्ठिर धर्मराज कहलाये।

धर्मव्याध माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालनके प्रभावसे दिव्यदृष्टिसम्पन्न और बड़ा भारी धर्मज्ञ हो गया था। उसने कौशिक-जैसे महातपस्वी ऋषिको भी धर्मका उपदेश किया, उसने बड़े ही विस्तारसे धर्मके सूक्ष्म रहस्य बतलाये और अन्तमें उनसे यही कहा कि माता-पिताको संतुष्ट न करनेके कारण आपका यह धर्म और व्रत व्यर्थ हो गया है, अतः आप शीघ्र जाकर उन दोनोंको प्रसन्न कीजिये। यह सुनकर कौशिक ऋषिने भी घर जाकर माता-पिताकी सेवा की और वे भी प्रशंसाके पात्र बन गये। (महा० वन० अ० २०७ से २१६)

माता, पिता और गुरुजनोंकी सेवा तथा आज्ञा-पालनकी महिमा और फलका वर्णन करते हुए श्रीभीष्मजीने युधिष्ठिरसे कहा—'तात युधिष्ठिर! मुझे तो माता-पिता तथा गुरुजनोंकी पूजा ही अधिक महत्त्वकी वस्तु जान पड़ती है। इस लोकमें इनकी सेवा-पूजाके कार्यमें संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त करता है। भलीभाँति पूजित हुए माता-पिता और गुरुजन जिस कामके लिये आज्ञा दें, वह धर्मके अनुकूल हो या विरुद्ध—उसका पालन करना ही चाहिये। जो उनकी आज्ञाके पालनमें संलग्न है, उसके लिये दूसरे किसी धर्मके आचरणकी आवश्यकता नहीं है। जिस कार्यके लिये वे आज्ञा दें, वही धर्म है—ऐसा धर्मात्माओंका निश्चय है। ये माता-पिता और गुरुजन ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा ये ही तीनों अग्नियाँ हैं। पिता गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिणाग्नि मानी गयी है और गुरु आहवनीय अग्निका स्वरूप है। लौकिक अग्नियोंसे माता-पिता आदि त्रिविध अग्नियोंका गौरव अधिक है। राजन्! यदि तुम इनकी सेवामें कोई भूल नहीं करोगे तो तुम तीनों लोकोंको जीत लोगे।'*

जिस प्रकार माता, पिता, गुरुजन और महात्माओंकी सेवा और आज्ञापालनसे मनुष्यका इहलोक और परलोकमें परम हित होता है, उसी प्रकार संध्योपासन, गायत्री-जप और वेद-शास्त्रोंके अध्ययनसे भी मनुष्यका इहलोक और परलोकमें महान् कल्याण होता है।

महातपस्वी जरत्कारु मुनिने इच्छा न रहते हुए भी पितरोंके उद्धारके उद्देश्यसे ही विवाह किया था। वे प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व श्रद्धापूर्वक नियमसे संध्योपासना किया करते थे। उसके प्रभावसे भगवान् सूर्य भी उनके दिये हुए अर्घ्यको ग्रहण करनेके पश्चात् ही अस्ताचलको जाते थे। एक दिनकी बात है, जब वे पत्नीकी गोदमें सोये हुए थे, उनके सोते समय ही सूर्यको अस्ताचल जाते देख, पतिके धर्मका लोप न हो—इसलिये पत्नीने उनको जगा दिया। इसपर उन्होंने उससे कहा—'सुन्दरि! सूर्यमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि मैं सोता रहूँ और वे अस्त हो जायँ—यह मेरे हृदयमें निश्चय है।'† यह कितने भारी प्रभावकी बात है! (महा० आदि० अ० ४५-४७)।

---

* मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।
इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते॥
यच्च तेऽभ्यनुजानीयुः कर्म तात सुपूजिताः।
धर्माधर्मविरुद्धं वा तत् कर्तव्यं युधिष्ठिर॥
न च तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्।
यं च तेऽभ्यनुजानीयुः स धर्म इति निश्चयः॥
एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि।
(महा० शान्ति० अ० १०८। ३-८)

† शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः॥
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते।
(महा० आदि० अ० ४७। २५-२६)

द्वापरयुगके अन्ततक तो यही प्रणाली रही कि प्रातःकाल संध्या-गायत्री करके अपना अन्य कार्य आरम्भ करना और सायंकालके पूर्व अन्य कर्मोंसे निवृत्त होकर संध्योपासन करना । और तो क्या, युद्ध-जैसा कार्य भी बहुत-से सैनिकगण नित्यकर्म करके ही आरम्भ करते थे । अभिमन्यु-जैसे महारथीके मरनेपर जब मरणाशौच लगा हुआ था, तब भी राजा युधिष्ठिर आदिने नित्यकर्मका त्याग नहीं किया, बल्कि विधिपूर्वक गायत्रीजप और अग्निहोत्र करके ब्राह्मणोंको दान दिया (महा० द्रोण० अ० ८२) ।

सायंकाल होनेपर भी वे अन्य कार्योंको बंद करके संध्योपासन किया करते थे । महाभारत, शान्तिपर्वके ५८ वें अध्यायमें वर्णन आता है कि शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्मसे राजधर्मोपदेश सुनते-सुनते जब सायंकाल होने लगा, तब भगवान् श्रीकृष्ण, कृपाचार्य और राजा युधिष्ठिरने वहाँसे जाकर दृषद्वती नदीमें स्नान, संध्या और गायत्री-जप आदि किया और फिर वे हस्तिनापुर गये ।

महर्षि पिप्पलादके पुत्र कौशिक मुनिने एक हजार वर्षोंतक बहुत ही संयम-नियमपूर्वक गायत्रीका जप किया । इससे उनपर सावित्रीदेवी प्रसन्न हो गयीं । कौशिक ब्राह्मणने सावित्रीदेवीको प्रणाम किया और उनके कहनेपर उनसे यही वर माँगा कि मेरा मन सदा गायत्री-जपमें ही लगा रहे और गायत्री-जप करनेकी मेरी इच्छा बराबर बढ़ती रहे । सावित्री देवीने 'तथास्तु' कहकर यह भी वर दिया कि तुम्हें निर्दोष ब्रह्मपदकी प्राप्ति होगी । वे फिर जपमें संलग्न हो गये । उनकी जपमें ऐसी उत्तम निष्ठा देखकर धर्म बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उनको प्रत्यक्ष दर्शन दिया तथा उन्हें स्वर्गमें चलनेका आग्रह किया; पर उन्होंने शरीर त्यागकर स्वर्ग जाना स्वीकार नहीं किया । तब उनके पास स्वयं यम, काल और मृत्यु आये । इसी समय राजा इक्ष्वाकु भी तीर्थयात्रा करते हुए वहाँ आ पहुँचे । उन्होंने उन जापक ब्राह्मणको धन-दान ग्रहण करनेका बहुत आग्रह किया । किंतु जापक ब्राह्मणने कहा—'मैं निवृत्तिपरायण ब्राह्मण हूँ, अतः दान नहीं लूँगा । आपको जो अभीष्ट हो, वह मुझसे माँग लें । बताइये, मैं आपको क्या दूँ ?' राजा इक्ष्वाकुने सौ वर्षोंके जपका फल देनेको कहा । जापक ब्राह्मण जपका फल देनेको तैयार हो गये । किंतु राजा इक्ष्वाकुने लेना नहीं चाहा । बहुत देरतक आपसमें वाद-विवाद चलता रहा । अन्तमें धर्मने निर्णय करके आदेश दिया कि आप दोनों ही समान फलके भागी हों । तब गायत्री-जापकने दोनोंके समान फलके भागी होने और साथ-साथ चलनेकी बात स्वीकार कर ली । फिर वे ध्यानस्थ होकर बैठ गये । उस समय उनके ब्रह्मरन्ध्रका भेदन करके एक ज्योति निकली और वह ब्रह्मामें प्रविष्ट हो गयी । राजा इक्ष्वाकु भी उन्हींकी भाँति ब्रह्माजीमें प्रविष्ट हो गये । इस प्रकार गायत्रीजपके प्रभावसे उनको सायुज्यमुक्ति होकर ऐसी परम उत्तम गति प्राप्त हुई, जिसे देखनेके लिये वहाँ देवता, लोकपाल, ऋषि-महर्षि, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, ब्रह्मा, शेषनाग और भगवान् विष्णु भी पधारे (महा० शान्ति० अ० १९९-२००) ।

जिस प्रकार पुरुष माता, पिता और गुरुकी भक्तिसे इस लोक और परलोकमें कल्याण प्राप्त करता है, उसी प्रकार स्त्री भी केवल पातिव्रत्य-धर्मके पालनसे ही सब कुछ प्राप्त कर सकती है ।

वनपर्वके २०६ वें अध्यायमें एक कथा आती है । एक बड़ी ही साध्वी पतिव्रता स्त्री थी । वह पतिको देवता मानती और उनके विचारके अनुकूल चलती थी । उसका मन कभी परपुरुषकी ओर नहीं जाता था । वह मन, वाणी और क्रियासे पतिके ही परायण थी । वह सर्वभावसे पतिसेवामें ही संलग्न रहती थी । सदाचारका पालन करती, बाहर-भीतरसे पवित्र रहती, घरके काम-काजको कुशलतापूर्वक करती और कुटुम्बके सभी लोगोंका हित चाहती थी । पतिके लिये जो हितकर कार्य जान पड़ता, उसमें वह सदा लगी रहती थी । देवताओंकी पूजा, अतिथियोंके सत्कार, सेवकोंके भरण-पोषण और सास-ससुरकी सेवामें भी सदा तत्पर रहती थी । अपने मन और इन्द्रियोंपर पूर्ण संयम रखती थी ।

एक दिनकी बात है, उसके घरपर महातपस्वी कौशिक मुनि, जिनकी क्रोधयुक्त दृष्टि पड़नेसे वृक्षपर बैठी हुई बगुली निष्प्राण होकर पृथ्वीपर गिर गयी थी,

भिक्षाके लिये आये। दरवाजेपर पहुँचकर उन्होंने आवाज दी—'भिक्षा दें।' पतिव्रता स्त्री बर्तन माँज रही थी, अतः उसने भीतरसे उत्तर दिया—'ठहरिये, अभी लाती हूँ।' ज्यों ही वह बर्तन साफ करके निवृत्त हुई, त्यों ही भूखसे पीड़ित हुए उसके पति सहसा घरपर आ गये। तब वह पतिकी सेवामें लग गयी। कुछ देर बाद उसे ब्राह्मणको भिक्षा देनेकी बात याद आयी, तब वह अपनी भूलके लिये लज्जित हुई भिक्षा लेकर बाहर निकली। उसे देखकर कौशिकने कहा—'सुन्दरी! तुम्हारा यह कैसा बर्ताव है? तुम्हें इतना विलम्ब करना था तो 'ठहरो' कहकर मुझे रोक क्यों लिया? मुझे जाने क्यों नहीं दिया?' स्त्रीने कहा—'विद्वन्! क्षमा करें। मेरे पतिदेव भूखे और थके हुए घरपर आये थे। मैं उन्हींकी सेवामें लग गयी।' कौशिक बोले—'तुमने पतिको ही सबसे बड़ा बना दिया। क्या तू ब्राह्मणोंके प्रभावको नहीं जानती? वे अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। वे चाहें तो पृथ्वीको भी भस्म कर सकते हैं।' पतिव्रताने कहा—'ब्रह्मन्! मैं ब्राह्मणोंके तेज और महत्त्वको जानती हूँ। महात्मा ब्राह्मणोंके क्रोध और कृपा दोनों महान् होते हैं। मेरे द्वारा जो अपराध बन गया है, उसे कृपया क्षमा करें। तपोधन! क्रोध न करें। मैं वह बगुली नहीं हूँ जो आपकी क्रोधभरी दृष्टिसे जल जाऊँगी। मुझे तो पति-सेवासे जो धर्म प्राप्त होता है, वही अधिक पसंद है। मैं साधारणरूपसे ही पतिसेवारूप धर्मका पालन करती हूँ। उसीके प्रभावसे मुझे आपके कारण बगुलीके जलनेकी बात ज्ञात हो गयी है।' यह कहकर पतिव्रता स्त्रीने कौशिक मुनिसे कुछ धर्मकी बातें कहीं और अन्तमें बतलाया कि धर्मका स्वरूप सूक्ष्म होता है। आप भी धर्मज्ञ, स्वाध्यायपरायण और पवित्र हैं; किंतु आपको धर्मका यथार्थ ज्ञान नहीं है। अतः यदि आप परम धर्मको जानना चाहें तो मिथिलापुरीमें धर्मव्याधके पास जाकर पूछिये। और मेरे मुखसे कोई अनुचित बात निकल गयी हो तो स्त्रियोंको अदण्डनीय समझकर मुझे क्षमा कीजिये।' पतिव्रताकी बातें सुनकर कौशिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उसकी प्रशंसा करते हुए अपने घर लौट गये और फिर धर्मव्याधके पास गये।

हमलोगोंको इस कथापर ध्यान देना चाहिये। पातिव्रत्यका कैसा अद्भुत प्रभाव है! पतिव्रता स्त्रीको पातिव्रत्यके प्रभावसे भूत, भविष्य, वर्तमान—सबका ज्ञान हो जाता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है!

पतिव्रता सावित्रीका आदर्श चरित्र संसारमें प्रसिद्ध ही है। सावित्री मद्रदेशके राजा अश्वपतिकी पुत्री थी। सावित्रीके तेजके कारण जब किसीको भी उससे विवाह करनेका साहस नहीं हुआ, तब राजाने सावित्रीको स्वयं ही अपने गुणोंके अनुरूप वर ढूँढ लेनेको कहा। पिताकी आज्ञासे सावित्रीने अनेक वनों और तीर्थोंमें भ्रमण किया। तीर्थाटन करती हुई वह एक तपोवनमें गयी, वहाँ शाल्व देशके राजा द्युमत्सेनके पुत्र सत्यवान्को देखकर उसने मन-ही-मन उनका वरण कर लिया। लौटकर पिताके घर आयी तो उसने पिताके साथ ही श्रीनारदजीको बैठे देखकर उनको प्रणाम किया। श्रीनारदजीके पूछनेपर सावित्रीने बतलाया कि मैंने मन-ही-मन सत्यवान्को पतिरूपमें वरण किया है। तब राजा अश्वपतिने नारदजीसे सत्यवान्के गुणोंके विषयमें पूछा। इसपर नारदजीने कहा—'सत्यवान् बड़ा ही ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, दानी, उदार, प्रियदर्शन, रूपवान्, बलवान्, जितेन्द्रिय, शूरवीर, अदोषदर्शी, लज्जाशील और कान्तिमान् है।' फिर राजाके द्वारा उसके दोष पूछे जानेपर नारदजीने उसमें एक ही दोष बतलाया कि आजसे बारहवाँ महीना पूर्ण होनेपर उसकी मृत्यु हो जायगी, जिससे उसके सारे गुण छिप जायँगे। यह सुनकर राजा अश्वपतिने सावित्रीसे कहा—बेटी! तू कोई दूसरा वर चुन ले; क्योंकि श्रीनारदजीके वचनानुसार सत्यवान्की आयु अब एक सालकी ही है।' इसपर सावित्रीने पितासे स्पष्ट कह दिया—''पिताजी! भाइयोंमें धनका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है तथा श्रेष्ठ दाता 'मैं दूँगा' यह कहकर एक ही बार वचनदान करता है। ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं। अतः सत्यवान् चाहे दीर्घायु हों या अल्पायु, गुणवान् हों या गुणहीन, मैंने उनको एक

बार अपना पति चुन लिया । अब मैं दूसरे किसी पुरुषका वरण नहीं कर सकती । पहले मनके द्वारा निश्चय करके फिर वाणीद्वारा कहा जाता है । तत्पश्चात् उसे कार्यरूपमें परिणत किया जाता है, अतः इस विषयमें मेरा मन ही प्रमाण है । *

सावित्रीका निश्चय सुनकर श्रीनारदजीने उसका विवाह सत्यवान्के साथ करनेकी अनुमति दे दी । राजा अश्वपति ब्राह्मणों, ऋत्विजों, पुरोहितोंको और विवाहकी सारी सामग्री तथा सावित्रीको साथ लेकर राजा द्युमत्सेन-के आश्रमपर गये । वहाँ उनसे अनुनय-विनय करके सत्यवान्के साथ अपनी पुत्री सावित्रीका विधिपूर्वक विवाह कर दिया । सावित्री अपने सास-ससुर और पति-की तन-मनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवा करती रही । वह अपनी सेवाओंसे तीनोंको संतुष्ट रखती थी । किंतु श्रीनारदजीके वचनोंका स्मरण उसे सदा बना रहता था । उसने गणना करके एक दिन जान लिया कि आजसे चौथे दिन पतिदेवकी मृत्यु है; तब उसने तीन रातका कठोर व्रत धारण किया । चौथे दिन जब सत्यवान्की मृत्यु होनेवाली थी, वे कंधेपर कुल्हाड़ी रखकर फल-फूल, समिधा आदि लेने वनकी ओर चले, उस समय पतिव्रता सावित्रीने पतिसे अनुनय-विनय करके वनमें साथ चलनेकी अनुमति प्राप्त कर ली; किंतु सत्यवान्ने कहा—'तुम मेरे माता-पितासे पूछ लो, जिससे मुझे दोषका भागी न होना पड़े ।' सावित्रीने सास-ससुरसे भी प्रणामपूर्वक अनुनय-विनय करके पतिके साथ वनमें जानेकी आज्ञा प्राप्त कर ली और पतिके साथ वनमें चली गयी ।

वनमें पहुँचकर दोनोंने फल एकत्र करके एक काठ-की टोकरी भर ली । इसके बाद जब सत्यवान् लकड़ी काटने लगा, तब उसके सिरमें भयानक पीड़ा होने लगी । सावित्री अपने पतिदेवको गोदमें सुलाकर बैठ गयी । थोड़ी ही देरमें, सत्यवान्का प्राण लेनेके लिये उसने यमराजको आये देखा । सावित्रीके पूछनेपर यमराजने अपना परिचय दे दिया । तब सावित्री बोली—'भगवन् ! मैंने तो सुना है कि मनुष्योंको ले जानेके लिये आपके दूत आया करते हैं । यहाँ आप स्वयं कैसे आये ?' यमराजने कहा—'यह सत्यवान् धर्मात्मा और गुणोंका समुद्र है । अतः यह मेरे दूतोंद्वारा ले जाये जाने योग्य नहीं है । इसलिये मैं स्वयं आया हूँ ।' यह कहकर यमराजने सत्यवान्के शरीरसे जीवको पाशमें बाँधकर निकाल लिया और उसे लेकर वे दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये । सत्यवान् निष्प्राण हो गये । यह देख सावित्री दुःखसे आतुर हो यमराजके पीछे-पीछे चल पड़ी । यमराजने कहा—अब तू लौट जा; तुझे जहाँतक आना चाहिये था, वहाँतक तू आ चुकी । सावित्री बोली—जहाँ मेरे पति ले जाये जाते हैं अथवा ये स्वयं जहाँ जा रहे हैं, वहीं मुझे भी जाना चाहिये—यही सनातन धर्म है । तपस्या, गुरु-भक्ति, पतिप्रेम, पातिव्रत्य-पालन तथा आपकी कृपासे मेरी गति कहीं भी नहीं रुक सकती ।'* तत्पश्चात् सावित्री-ने संत-महात्माओंके दयालु स्वभाव और गुणोंका वर्णन करके यमराजकी बड़ी प्रशंसा की । इससे यमराजने प्रसन्न होकर वर माँगनेको कहा । सावित्रीने क्रमशः ये चार वर माँगे—१. मेरे श्वशुरके नेत्र नष्ट हो गये हैं, वे नेत्रयुक्त हो जायँ; २. मेरे श्वशुरका राज्य शत्रुओंने छीन लिया, वह उन्हें वापस मिल जाय; ३. मेरे पिताके सौ पुत्र हों और ४. मेरे भी सौ पुत्र हों ।' यमराज वर देकर जाने लगे । फिर भी सावित्री-ने पीछा नहीं छोड़ा । तब यमराज बोले—'सावित्री ! तू बहुत दूर आ गयी, थक गयी होगी । अतः लौट जा ।'

---

* सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते ।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः ॥
(महा० वन० अ० २९४ । २६, २७, २८)

* यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति ।
मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥
तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद् व्रतेन च ।
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः ॥
(महा० वन० अ० २९७ । २१-२२)

फिर भी सावित्री नहीं लौटी। सावित्री बोली—'महाराज! आपने मुझको सौ पुत्र होनेका वर दिया है, वह मेरे पतिके बिना सफल नहीं हो सकता। अतः मेरे पति सत्यवान् जीवित हो जायँ।' इसपर यमराजने सत्यवान्की चार सौ वर्षकी आयु बढ़ाकर उनको छोड़ दिया। सावित्री सत्यवान्को लेकर आश्रमपर लौट आयी (महा० वन० अ० २९३ से २९७)।

सावित्रीने पातिव्रत्य-धर्मके प्रभावसे यमराजको भी जीत लिया और उनसे चार वरदान प्राप्त करके अपने मरे हुए पतिको पुनः प्राप्त कर लिया।

राजा नलकी धर्मपत्नी दमयन्ती बड़ी उच्च कोटिकी पतिव्रता थी। उसने हंसोंके द्वारा राजा नलके गुण सुनकर मन-ही-मन उनको अपना पति वरण कर लिया था। इस कारण उसने इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम—इन देवताओंको भी छोड़कर राजा नलके साथ ही विवाह किया। राजा नल एक दिन लघुशङ्का करनेके पश्चात् केवल हाथ-मुँह धोकर और आचमन करके ही संध्योपासन करने बैठ गये, पैरोंको नहीं धोया। उनमें यह छिद्र देखकर उनके भीतर कलियुग प्रवेश कर गया।* इस कारण राजा नल अपने भाई पुष्करके साथ जूआ खेलनेके समय राज्य आदिको हारने लगे। दमयन्तीके अनुरोध करनेपर भी वे जूएसे निवृत्त नहीं हुए। तब दमयन्तीने निरुपाय होकर अपने पुत्र इन्द्रसेन और पुत्री इन्द्रसेनाको अपने नैहर कुण्डिनपुर भेज दिया। सब कुछ हार जानेपर राजा नल वनमें चले गये। पतिव्रता दमयन्ती भी उनके पीछे हो ली। मार्गमें नलने उसको भी नैहर चली जानेके लिये संकेत किया; किंतु दमयन्ती पतिको छोड़कर बिना बुलाये पिताके घर नहीं गयी। अन्तमें रात्रिके समय वनमें राजा नल दमयन्तीको अकेली छोड़कर आगे चल दिये और राजा ऋतुपर्णके यहाँ पहुँचकर बाहुक नामसे अश्वाध्यक्षका कार्य करने लगे।

इधर पतिके अकेली छोड़कर चले जानेपर दमयन्तीने बहुत विलाप किया और वह विरह-व्याकुल हो उन्हें खोजने लगी। खोजते समय वनमें एक अजगरने उसको ग्रस लिया। यह देख एक व्याधने अजगरको मारकर दमयन्तीको उससे छुड़ा दिया। व्याधके पूछनेपर दमयन्तीने उसे अपना परिचय दे दिया। व्याध दमयन्तीके सौन्दर्यको देखकर काममोहित हो गया, वह दमयन्तीसे अपने अनुकूल होनेके लिये बहुत मीठी-मीठी बातें कहने लगा। उसके दूषित मनोभावको जानकर दमयन्ती जोशमें भर गयी और उसने अपने पातिव्रत्य-धर्मके प्रभावसे उस अश्लील भाववाले व्याधको शाप दे डाला, जिससे वह जले हुए वृक्षकी भाँति प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा।

तदनन्तर दमयन्ती चेदिराजके भवनमें जाकर राजमाता अपनी मौसीके यहाँ दासीका कार्य करने लगी; किंतु उसने राजमातासे इस शर्तके साथ रहना स्वीकार किया कि मैं किसीका जूठा नहीं खाऊँगी, किसीके पैर नहीं धोऊँगी और किसी भी दूसरे पुरुषसे किसी तरह भी वार्तालाप नहीं करूँगी।* यदि कोई पुरुष मुझे प्राप्त करना चाहे तो उसे आप प्राण-दण्ड दें। मैं अपने पतिकी खोजके लिये केवल ब्राह्मणोंसे मिल सकती हूँ।' यह शर्त करके वह वहाँ रहने लगी।

उस समय उसकी खोजके लिये उसके पिता भीमके द्वारा भेजे हुए ब्राह्मणोंमेंसे एक सुदेव नामक ब्राह्मणने वहाँ पहुँचकर उससे भेंट की। सुदेवने दमयन्तीको पहचान लिया। उसने दमयन्तीसे उसके वियोगमें उसके माता-पिताके दुखी होनेका हाल कहा। फिर राजमाताके पूछनेपर सुदेवने दमयन्तीका सारा परिचय कह सुनाया। दमयन्तीको जान लेनेपर राजमाताको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। जब दमयन्तीने पिताके घर जानेकी आज्ञा माँगी, तब उसने दमयन्तीसे ठहरनेके लिये आग्रह किया; किंतु दमयन्ती मौसीसे अनुरोधपूर्वक आज्ञा लेकर माता-पिताके

---

* कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य संध्यामन्वास्त नैषधः।
अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत्॥
(महा० वन० अ० ५९। ३)

* उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्यां पादधावनम्।
न चाहं पुरुषानन्यान् प्रभाषेयं कथंचन॥
(महा० वन० अ० ६५। ६८)

पास चली गयी, इससे माता-पिता बड़े प्रसन्न हुए। दमयन्ती भी माता-पिता और पुत्र-पुत्रीसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुई। किंतु उसे नलके वियोगका बड़ा भारी दुःख था, अतः उसने मातासे प्रार्थना की—'मैं अपने पतिके बिना प्राण धारण नहीं कर सकती, अतः मेरे पतिका पता लगानेका आप प्रयत्न करें। वे पहलेसे ही नलकी खोजमें प्रयत्नशील थे। दमयन्तीके कहनेपर उन्होंने विशेष रूपसे खोज करायी। बहुत-से ब्राह्मण इधर-उधर भेजे गये।

तदनन्तर ब्राह्मणोंके द्वारा बाहुक नामधारी नलका समाचार पाकर दमयन्तीने सुदेवको राजा ऋतुपर्णके यहाँ संदेश देकर भेजा कि 'भीमकुमारी दमयन्ती पुनः स्वयंवर करेगी। कल ही वह स्वयंवर होगा।' यह सुनकर राजा ऋतुपर्ण दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिये अपने अश्वाध्यक्ष बाहुक नामधारी नलकी सहायतासे कुण्डिनपुर पहुँचे।

राजा नलके कुण्डिनपुर पहुँचनेपर दमयन्ती अपनी दासी केशिनीके द्वारा उनकी परीक्षा करके इस निर्णयपर पहुँच गयी कि ये राजा नल ही हैं। तब उसने उनको अपने महलमें बुलाकर उनसे भेंट की। उस समय राजा नलने दमयन्तीसे कहा—'कोई भी स्त्री अपने अनुरक्त पतिको त्यागकर दूसरे पुरुषका वरण कैसे कर सकती है, जैसा कि तुम करने जा रही हो?' इसपर दमयन्तीने उनसे क्षमा-प्रार्थना की कि मैंने यह पुनः स्वयंवरकी बात आपकी प्राप्तिके लिये ही कहलायी थी, इसलिये आप मुझे क्षमा करें।

तत्पश्चात् राजा नलने अपने श्वशुर भीमकी सहायतासे अपने देशमें जाकर पुष्करके साथ पुनः जूआ खेला और उसे हराकर अपना राज्य वापस प्राप्त कर लिया (महा० वन० अ० ५२ से ७८)।

दमयन्तीके इस चरित्रसे प्रत्येक स्त्रीको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी पतिका सङ्ग न छोड़े, आपत्तिकाल पड़नेपर भी बिना बुलाये माता-पिताके भी घरपर न जाय, अपने आरामकी लालसासे स्वजनोंको भी अपना परिचय न देकर दुःख ही सहती रहे एवं पतिके वियोगमें जीना भी पसंद न करे।

इसी प्रकार देवी गान्धारी भी बड़ी ही पतिव्रतपरायणा थीं। उन्होंने जब सुना कि मेरे पति धृतराष्ट्र अंधे हैं और माता-पिता मेरा विवाह उन्हींके साथ करना चाहते हैं, तब उन्होंने एक रेशमी वस्त्र लेकर उसके कई तह करके उसीसे अपनी आँखें बाँध लीं। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं सदा पतिके अनुकूल रहूँगी। उत्तम व्रतका पालन करनेवाली पतिपरायणा गान्धारीने अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार और सद्व्यवहारोंसे समस्त कौरवों और गुरुजनोंको प्रसन्न कर लिया। वे ऐसी उच्च कोटिकी पतिव्रता थीं कि उन्होंने कभी दूसरे पुरुषोंका नामतक नहीं लिया (महा० आदि० अ० १०९)।

पतिव्रता गान्धारीके पातिव्रत्यके प्रभावकी अनेक घटनाएँ महाभारतमें मिलती हैं। जब राजा धृतराष्ट्र और गान्धारी अपने जामाता, कुटुम्बीजनों और पुत्रोंके शोकमें व्याकुल हुए उनके अन्त्येष्टि-संस्कारके लिये हस्तिनापुरसे गङ्गातटपर चले गये, तब राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों और श्रीकृष्णके साथ उनके दर्शनके लिये उनके पास गये। महाराज धृतराष्ट्रसे मिलकर जब युधिष्ठिर देवी गान्धारीके चरणोंमें सिर झुकाने लगे, उस समय धर्मको जाननेवाली दूरदर्शिनी देवी गान्धारीने पट्टीके भीतरसे ही राजा युधिष्ठिरके पैरोंकी अङ्गुलियोंके अग्रभाग देख लिये, इससे युधिष्ठिरके नख काले पड़ गये। यह देख अर्जुन भयभीत हो भगवान् श्रीकृष्णके पीछे जाकर छिप गये (महा० स्त्री० अ० १५)।

इतना ही नहीं, देवी गान्धारीने श्रीकृष्णको उपालम्भ देते हुए कहा कि 'श्रीकृष्ण! तुम शक्तिशाली थे। तुममें दोनों पक्षोंसे अपनी बात मनवा लेनेकी सामर्थ्य थी। फिर भी तुमने स्वेच्छासे कुरुकुलके नाशकी उपेक्षा कर दी—यह तुम्हारा महान् दोष है। अतः मैं अपने पति-सेवाके दुर्लभ तपोबलसे तुम्हें शाप देती हूँ कि आजसे छत्तीसवाँ वर्ष उपस्थित होनेपर तुम्हारे कुटुम्बी, मन्त्री और पुत्र—सभी आपसमें लड़कर मर जायँगे।' भगवान् श्रीकृष्णने मुस्कराते हुए स्वीकार किया कि मैं

जानता हूँ, यह बात इसी तरह होनेवाली है। (महा० स्त्री० अ० २५ । ३७—५०)

पातिव्रत्यका कैसा अद्भुत प्रभाव है! उसके प्रभावसे गान्धारी भगवान् श्रीकृष्णको भी शाप देनेमें समर्थ हो गयीं।

ऊपर कुछ चुनी हुई पतिव्रताओंके चरित्रोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है। इनके सिवा और भी बहुत-सी पतिव्रताओंके चरित्र महाभारतमें मिलते हैं। स्त्रियोंको इनके आदर्श चरित्रोंसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। वनपर्वके २३३ और २३४ वें अध्यायोंमें देवी द्रौपदीने सत्यभामाके प्रति और अनुशासनपर्वके १२३ वें अध्यायमें सर्वज्ञा शाण्डिलीने केकयराजपुत्री सुमनासे पतिव्रता स्त्रीके कर्तव्यकी बहुत ही सुन्दर शिक्षाएँ दी हैं, उनको पढ़कर उनके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

इसी प्रकार महाभारतमें मनुष्यके लिये शारीरिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, भौतिक, नैतिक, व्यावहारिक, धार्मिक, आध्यात्मिक आदि उन्नतिके सम्बन्धमें भी अनेक उपदेश, संवाद और आख्यान भरे हुए हैं। हमलोगोंको उनपर ध्यान देकर उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

शारीरिक उन्नतिके लिये भगवान् श्रीकृष्णने जो सात्त्विक आहार * और शारीरिक तप † बतलाया है, उसके अनुसार हमें अपना जीवन बनाना चाहिये।

ऐन्द्रियिक उन्नतिके लिये हमें भगवान् श्रीकृष्णके बतलाये हुए वाणीके तपको आचरणमें लाना चाहिये*। जब मनुष्यमें वाणीके तपकी सिद्धि हो जाती है, तब उसकी वाणी सफल हो जाती है। वह जो कुछ कह देता है, वह बात वैसी ही हो जाती है। एक समयकी बात है, राजा परीक्षित् शिकार खेलते हुए एक गहन वनमें चले गये। वहाँ उन्होंने बाणसे एक हिंसक पशुको बींध डाला और उसके भागनेपर बहुत दूरतक उसका पीछा किया। इससे उन्हें बड़ी थकावट आ गयी, तब वे शमीक मुनिके पास आये। मुनि मौन-व्रत धारण किये हुए थे। अतः उन्होंने पशुके विषयमें राजाके पूछनेपर भी कोई उत्तर नहीं दिया। तब राजाने कुपित होकर धनुषकी नोकसे एक मरे हुए साँपको उठाया और मुनिके कंधेपर डाल दिया, किंतु मुनिने तब भी उनकी उपेक्षा कर दी। इधर मुनिपुत्र शृङ्गी आचार्यकी आज्ञा प्राप्तकर घर लौट रहे थे; उनको जब अपने मित्र कृशसे राजा परीक्षित्के इस व्यवहारका पता लगा, तब वे बड़े रोषमें भर गये और उन्होंने आचमन करके हाथमें जल लेकर परीक्षित्को इस प्रकार शाप दिया—'जिस पापात्मा नरेशने मेरे बूढ़े पिताके कंधेपर मरा साँप रख दिया है, उस परीक्षित्को आजसे सात रातके बाद प्रचण्ड तेजस्वी पन्नगेश्वर तक्षक नामक विषैला नाग अत्यन्त कोपमें भरकर मेरे वाक्य-बलसे प्रेरित हो† यमलोक पहुँचा देगा (महा० आदि० अ० ४१)।' शृङ्गी ऋषिके इसी कठोर शापके फलस्वरूप राजा

* सात्त्विक आहारका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
(महा० भीष्म० अ० ४१ । ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय लगनेवाले ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

† शारीरिक तपके लक्षण भगवान्ने यों बतलाये हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
(महा० भीष्म० अ० ४१ । १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

* वाणीका तप इस प्रकार बताया गया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(महा० भीष्म० अ० ४१ । १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेदशास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

† तं पापमतिसंक्रुद्धस्तक्षकः पन्नगेश्वरः ।
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ॥
सप्तरात्रादितो नेता यमस्य सदनं प्रति ।
(महा० आदि० अ० ४१ । १३-१४)

परीक्षित्‌को तक्षक नागने डँसा, जिससे उनकी मृत्यु हो गयी । यह है एक सत्यवादी तपस्वी मुनिकुमारकी वाणीका प्रभाव ।

मानसिक उन्नतिके लिये हमें भगवान् श्रीकृष्णके बताये हुए मानसिक तपका* अनुष्ठान करना चाहिये ।

बौद्रिक उन्नतिके लिये हमलोगोंको भगवान् श्रीकृष्णकथित सात्त्विक ज्ञान† और सात्त्विक बुद्धिके ‡ लक्षणोंको अपनाना चाहिये ।

भौतिक उन्नतिके लिये हमें महाभारत-कालके भौतिक विज्ञानके प्रभावकी ओर दृष्टि डालनी चाहिये । उस समय भौतिक उन्नति आजकलके वैज्ञानिक आविष्कारों-से बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी ।

मार्तिकावत देशके राजा शाल्वके पास एक ऐसा नगराकार विशाल आकाशचारी विमान था, जो चालकके इच्छानुसार चलता था । राजा शाल्वने उसी 'सौभ' नामक विमानपर बैठकर द्वारकापुरीपर आक्रमण किया था । वह उसमें व्यूहरचनापूर्वक विराजमान था और उसीमें बैठा हुआ युद्ध कर रहा था । फिर भगवान् श्रीकृष्णने मार्तिकावतक देशमें जाकर समुद्रतटपर युद्धमें उस विमानके साथ ही राजा शाल्वको नष्ट कर दिया (महा० वन० अ० १४ से २२) ।

अश्वत्थामाको नारायणास्त्र, ब्रह्मास्त्र आदि अनेक दिव्य अस्त्रोंका ज्ञान था । जब द्रोणाचार्यके वधका वृत्तान्त सुनकर वे अत्यन्त कुपित हो गये, तब उन्होंने नारायणास्त्रका प्रयोग करके सारी पाण्डवसेनामें हलचल मचा दी । सब भयभीत हो गये । उस समय उसका निवारण कोई भी नहीं कर सका । तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'योद्धाओ ! अपने अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर और सवारियोंसे उतरकर उसके शरण हो जाओ । भगवान् नारायणने इस अस्त्रके निवारणका यही उपाय निश्चित किया है । भूमिपर निहत्थे खड़े हुए तुमलोगोंको यह अस्त्र नहीं मारेगा ।' योद्धाओंने ऐसा ही किया । जब सब रथसे उतर गये और शस्त्रास्त्र भूमिपर रख दिये गये, तब वह अस्त्र शान्त हो गया । इस प्रकार श्रीकृष्णके उपाय बतलानेपर उन सबका उस अस्त्रसे परित्राण हो गया (महा० द्रोण० अ० १९९-२००) ।

इसी प्रकार अश्वत्थामाने गङ्गातटपर भीमके द्वारा ललकारे जानेपर पाण्डवोंके वधके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया । उसका निवारण करनेके लिये अर्जुनने भी ब्रह्मास्त्रका प्रयोग कर दिया । उससे सारा आकाश आगकी प्रचण्ड ज्वालाओंसे व्याप्त हो गया । पृथ्वी हिलने लगी । सब प्राणी भयभीत हो गये । अन्तमें श्रीवेदव्यासजीकी आज्ञासे अर्जुनने अपने ब्रह्मास्त्रका उपसंहार कर लिया और अश्वत्थामाने उत्तराके गर्भस्थ वंशजपर उस ब्रह्मास्त्रको छोड़ दिया (महा० सौप्तिक० अ० १३, १४, १५) ।

अर्जुनके सम्मोहनास्त्रका भी बड़ा भारी प्रभाव था, जिसके द्वारा उन्होंने सभी कौरव महारथियोंको मोहित कर दिया था (महा० विराट० अ० ६६) । वीर अर्जुनको अद्भुत बाण-विद्या प्राप्त थी, उन्होंने भीष्मजीके आदेशसे बाणशय्यापर सोये हुए उनको तीन बाण मारकर उसीका तकिया दिया और फिर दिव्यास्त्रके द्वारा उनके मुखमें दिव्य गन्ध और दिव्य रससे युक्त

---

* मानसिक तपका स्वरूप यह है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥
(महा० भीष्म० अ० ४१ । १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

†-‡ भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
(महा० भीष्म० अ० ४२ । २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित—समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान ।'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
(महा० भीष्म० अ० ४२ । ३०)

'हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ।'

शीतल जलकी धारा गिराकर उन्हें तृप्त कर दिया। (महा० भीष्म० अ० १२०-१२१) । इतना ही नहीं, जयद्रथवधके दिन भयंकर संग्राममें जब अर्जुनके घोड़े थक गये, तब अर्जुनने युद्ध करते हुए शत्रुओंके बीच बाणोंके द्वारा पृथ्वीपर आघात करके एक सरोवर उत्पन्न कर दिया तथा वहाँ एक बाणोंका ही घर बना दिया। अर्जुनका यह अपूर्व कार्य देखकर सब साधुवाद देने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ रथके घोड़ोंको खोलकर नहलाया, पानी पिलाया और घास-दाने खिलाये। जब उनकी थकावट दूर हो गयी, तब उनको रथमें जोतकर वे अर्जुनसहित उसपर आरूढ़ हो आगे बढ़े (महा० द्रोण० अ० ९९-१००)।

जयद्रथवधके समय अर्जुनने जयद्रथका सिर काटकर उसे बाणद्वारा सायंकालीन संध्योपासना करते हुए उसके पिता वृद्धक्षत्रकी गोदमें डाल दिया (महा० द्रोण० अ० १४६)।

उस समय मन्त्रविद्याका बल भी बड़ा ही विचित्र था। जब तक्षक नाग राजा परीक्षित्को डसनेके लिये जा रहा था, तब मार्गमें उसकी काश्यप नामक ब्राह्मणसे भेंट हुई, जो अपने मन्त्रबलसे परीक्षित्को सर्पविषसे रहित करके जीवित करनेके लिये जा रहे थे। तक्षकको जब यह ज्ञात हुआ, तब उसने उसकी परीक्षा लेनेके लिये एक वटवृक्षको डँसकर भस्म कर दिया और काश्यपसे कहा—'तुम्हारे पास मन्त्रबल है तो तुम उससे इस वृक्षको सजीव कर दो।' तब उन सौभाग्यशाली विद्वान् द्विजश्रेष्ठ काश्यपने भस्मराशिके रूपमें विद्यमान उस वृक्षको मन्त्र-विद्याके बलसे जीवित कर दिया।* इसपर तक्षकने उन्हें धन देकर लौटा दिया (महा० आदि० अ० ४३)।

श्रीवेदव्यासजी महाराजमें तो यह वैज्ञानिक शक्ति बहुत ही अधिक विकसित थी। वे चाहे जिसे दिव्य दृष्टि दे देते थे, जिससे उसकी इन्द्रियाँ दिव्य हो जाती थीं। उन्होंने राजा द्रुपदको दिव्यदृष्टि प्रदान करके पाण्डवोंके दिव्य रूपोंके दर्शन करा दिये (महा० आदि० अ० १९६)। इसी प्रकार संजयको भी उन्होंने दिव्यदृष्टि दे दी थी। उस दिव्यदृष्टिके प्रभावसे संजयने महाभारत-युद्धका सारा वृत्तान्त जानकर राजा धृतराष्ट्रको सुना दिया। प्रकट-अप्रकट, दिनमें होनेवाली या रातमें होनेवाली अथवा मनमें सोची गयी सारी बातें संजयने प्रत्यक्ष जान लीं। उन्हें सर्वज्ञता प्राप्त हो गयी। एवं संजयको कोई हथियार नहीं काट सका। उन्हें परिश्रम या थकावट भी नहीं हुई और वे युद्धसे जीवित बच गये, क्योंकि श्रीवेदव्यासजीने उनको ऐसा ही वरदान दिया था। (महा० भीष्म० अ० २)।

इतना ही नहीं, जब मृत पुत्रों और बान्धवोंके शोकसे दुखी हुई गान्धारी आदि स्त्रियोंने व्यासजीसे अपने मरे हुए पुत्रों आदिके दर्शन करानेका अनुरोध किया, तब वेदव्यासजीने गङ्गातटपर जाकर कुरुक्षेत्रके युद्धमें अठारह अक्षौहिणी सेनाके मरे हुए सैनिकोंका आवाहन किया, जिससे वे सब योद्धागण जलसे प्रकट हो गये। जिस वीरका युद्धके समय जैसा वेष, जैसी ध्वजा और जैसा वाहन था, वह उसीसे युक्त देखा गया। वे सभी दिव्य वस्त्र धारण किये हुए थे। सबके कानोंमें चमकीले कुण्डल थे। उस समय वे वैर, अहंकार, क्रोध और मात्सर्यको छोड़ चुके थे।* उन परलोकसे आये हुए अपने पिताओं, भाइयों, पतियों और पुत्रोंसे मिलकर वहाँ एकत्र हुई सब स्त्रियाँ बहुत प्रसन्न हुईं। उनका दुःख दूर हो गया। फिर श्रीवेदव्यासजीके विसर्जन कर देनेपर वे सब गङ्गाजीमें गोता लगाकर अदृश्य हो गये। श्रीवेदव्यासजीकी आज्ञासे जो स्त्रियाँ अपने पतिलोकको जाना चाहती थीं, वे भी गङ्गाजीमें गोता लगाकर अपने पतियोंके साथ चली गयीं। इस रोमाञ्चकारी दृश्यको वहाँ उपस्थित सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखा (महा० आश्रम० अ० ३२-३३)।

---

* ततः स भगवान् विद्वान् काश्यपो द्विजसत्तमः।
भस्मराशिकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत्॥
(महा० आदि० अ० ४३।९)

* यस्य वीरस्य यो वेषो यो ध्वजो यच्च वाहनम्।
तेन तेन व्यदृश्यन्त समुपेता नराधिपाः॥
दिव्याम्बरधराः सर्वे सर्वे भ्राजिष्णुकुण्डलाः।
निर्वैरा निरहंकारा विगतक्रोधमत्सराः॥
(महा० आश्रम० अ० ३२। १४-१५। ९

यही नहीं, जब श्रीवैशम्पायनजी जनमेजयसे यह आख्यान कह रहे थे, तब जनमेजयने प्रार्थना की कि यदि श्रीवेदव्यासजी मेरे मृत पिताका मुझे दर्शन करा दें तो मैं आपकी बातपर श्रद्धा कर सकता हूँ। इसपर श्रीवेदव्यासजीने उसी रूप और अवस्थामें राजा परीक्षित्-को बुलाकर जनमेजयको उनका दर्शन करा दिया (महा० आश्रम० अ० ३५)। उस समय ऐसी विलक्षण भौतिक उन्नति थी।

नैतिक उन्नतिके लिये श्रीविदुरजीने धृतराष्ट्रके प्रति जो नीतिका उपदेश उद्योगपर्वके ३३ वें अध्यायसे ४० वें अध्यायतक दिया है, उसका अध्ययन करके उसके अनुसार हमें अपना जीवन बनाकर सबके साथ यथोचित न्यायपूर्ण बर्ताव करना चाहिये।

श्रीविदुरजीने द्रौपदीके चीरहरणके समय भक्त प्रह्लादके न्यायका एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया था। भक्त प्रह्लादका वह न्याय हम सब लोगोंके लिये अनुकरणीय है। एक समयकी बात है, केशिनी नामकी एक कन्याको लेकर अङ्गिरापुत्र सुधन्वा और प्रह्लादपुत्र विरोचनमें परस्पर विवाद हो गया। वे दोनों ही उसको पानेकी इच्छासे 'मैं श्रेष्ठ हूँ', 'मैं श्रेष्ठ हूँ' यों कहने लगे। अन्तमें उन दोनोंने अपनी बात सत्य करनेके लिये प्राणोंकी बाजी लगा दी और उन्होंने श्रेष्ठताके प्रश्नको लेकर दैत्यराज प्रह्लादके पास जाकर पूछा—'हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? आप इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दें, झूठ न बोलें।' यह सुनकर प्रह्लाद इस विषयमें कुछ पूछनेके लिये महातेजस्वी कश्यपजीके पास गये और पूछा कि जो प्रश्नका उत्तर ही न दे अथवा असत्य उत्तर दे तो उसे परलोकमें क्या गति प्राप्त होती है ?' इसपर कश्यपजीने कहा—'प्रह्लाद ! जो जानते हुए भी काम, क्रोध या भयसे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देता, वह अपने ऊपर वरुणदेवताके सहस्रों पाश डाल लेता है। एवं जो लोग धर्मविषयक प्रश्न पूछनेवालेको झूठा उत्तर देते हैं, वे अपने इष्टापूर्त धर्मका तो नाश करते ही हैं, आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंके पुण्योंको भी नष्ट कर डालते हैं।' कश्यपजीकी बात सुनकर प्रह्लादजीने अपने पुत्रसे कहा—'विरोचन ! सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, उसके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और सुधन्वाकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ हैं। अब यह सुधन्वा ही तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है।' *

ऐसा न्यायपूर्ण निर्णय सुनते ही सुधन्वाने यह आशीर्वाद दिया—'दैत्यराज ! तुम पुत्रस्नेहकी परवा न करके जो धर्मपर डटे रहे, इससे प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे पुत्रको वर देता हूँ कि यह सौ वर्षोंतक जीवित रहे।' कितना सुन्दर न्याय है !

व्यावहारिक उन्नतिके लिये हमें तुलाधार वैश्यकी व्यापार-नीतिका अनुसरण करना चाहिये। वे बड़ी सत्यता और समतापूर्वक वैश्य-धर्मका पालन करते थे। उनको इस सत्यव्यवहारके कारण ही तीनों कालोंका ज्ञान हो गया था। प्राचीन कालकी बात है, जाजलि नामके एक महान् तपस्वी ब्राह्मण थे। उन्होंने समुद्रके तटपर जाकर बड़ी भारी तपस्या की। उनकी जटाओंमें एक पक्षीके जोड़ेने घोंसला बना लिया और विश्वस्त होनेके कारण उन्होंने उसीमें अंडे दे दिये। जब उनसे बच्चे पैदा होकर उनके पंख निकल आये, तब वे बाहर जाने-आने लगे। यह देख जाजलि ऋषिको बहुत प्रसन्नता हुई। जब पक्षी उड़कर चले गये और एक मासतक वापस नहीं लौटे, तब जाजलिने घोंसलेको सिरसे नीचे गिरा दिया। उस समय वे अपनेको महान् धर्मात्मा समझने लगे और ताल ठोंककर कहने लगे—मैंने धर्मको प्राप्त कर लिया। इतनेमें ही आकाशवाणी हुई—'जाजले ! तुम धर्ममें काशीपुरीके तुलाधार वैश्यके समान नहीं हो।' यह सुनकर जाजलि काशीपुरीमें तुलाधारके पास आये तो उनको सौदा बेचते देखा। तुलाधार जाजलि ऋषिको आते देख तुरंत उठकर खड़े हो गये और उन्होंने उनका आदर-सत्कार करके कहा—'ब्रह्मन् ! आप मेरे पास आ रहे हैं—यह मुझे पहले ही ज्ञात हो गया था। आपके सिरपर पक्षियोंके अंडे देने, उनसे बच्चा पैदा होने, उनका आपके द्वारा पालन किये जाने और उससे आपके अपनेको बहुत बड़ा माननेपर आकाशवाणी

* श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव॥
(महा० सभा० अ० ६८। ८९)

होनेकी बात भी मुझे ज्ञात है ।' तब जाजलि बोले—'वैश्यपुत्र ! तुम तो सब प्रकारके रस, गन्ध, वनस्पति, ओषधि, मूल और फल आदि बेचा करते हो; तुम्हें यह ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ?' तुलाधारने उत्तरमें कहा—'जाजले ! जिसमें किसी भी प्राणीके साथ द्रोह (हिंसा) न करना पड़े अथवा कम-से-कम द्रोह (हिंसा) करनेसे काम चल जाय,ऐसी जीवन-वृत्ति ही परम धर्म है । मैं उसीसे जीवननिर्वाह करता हूँ । विप्रर्षे ! मेरे यहाँ मदिरा नहीं बेची जाती । उसे छोड़कर बहुत-से पीनेयोग्य रसोंको दूसरोंसे खरीदकर बेचता हूँ । मैं छल-कपट और असत्यसे रहित होकर माल खरीदता-बेचता हूँ । मैं न किसीसे अनुरोध करता हूँ, न विरोध ही करता हूँ । न कहीं मेरा द्वेष है और न किसीसे मैं कुछ कामना करता हूँ । समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा समभाव है । जाजले ! यही मेरा व्रत और नियम है, इसपर दृष्टिपात करो । मुने ! मेरी तराजू सब मनुष्योंके लिये सम है—सबके लिये बराबर तौलती है ।' * तदनन्तर तुलाधारने महर्षि जाजलिको धर्मकी बहुत-सी गूढ़ बातें बतलायीं और कहा—'ब्रह्मन् ! मैंने धर्मके जिस मार्गका दर्शन कराया है, उसपर सज्जन पुरुष चलते हैं या दुर्जन—इस बातको अच्छी तरह जाँचकर प्रत्यक्ष कर लें । तब आपको इसकी यथार्थताका ज्ञान होगा । देखिये, आकाशमें ये आपके सिरपर उत्पन्न हुए पक्षी उड़ रहे हैं; इनको बुलाकर इनसे प्रश्न कीजिये ।' तब जाजलिने उन पक्षियोंको बुलाया । उनका धर्मयुक्त वचन सुनकर वे पक्षी वहाँ आये और मनुष्यके समान स्पष्ट वाणीमें बोलने लगे । उन्होंने जाजलिसे श्रद्धाकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा—'अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पापसे छुटकारा दिलानेवाली है । जैसे साँप अपने पुराने केंचुलको छोड़ देता है, उसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष पापका परित्याग कर देता है । श्रद्धा होनेके साथ-ही-साथ पापोंसे निवृत्त हो जाना समस्त पवित्रताओंसे बढ़कर है । जिसके शीलसम्बन्धी दोष दूर हो गये हैं, वह श्रद्धालु पुरुष सदा पवित्र ही है । उसे तपस्यासे क्या लेना है । आचार-व्यवहार अथवा आत्मचिन्तनद्वारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना है । यह पुरुष श्रद्धामय है; जिसकी जैसी—सात्त्विकी, राजसी या तामसी—श्रद्धा होती है, वह पुरुष वैसा ही—सात्त्विक, राजस या तामस है । अतः महाप्राज्ञ जाजले ! आप इसपर श्रद्धा करें । तत्पश्चात् इसके अनुसार आचरण करनेसे आपको परम गतिकी प्राप्ति होगी । श्रद्धा करनेवाला श्रद्धालु पुरुष साक्षात् धर्मका स्वरूप है । जाजले ! जो श्रद्धापूर्वक अपने धर्मपर स्थित है, वही सबसे श्रेष्ठ माना गया है ।*

तदनन्तर थोड़े ही समयमें न्याययुक्त सत्य व्यवहार करनेवाले तुलाधार वैश्य और महातपस्वी जाजलि ऋषि दोनों ही परम धाममें चले गये ।

धार्मिक उन्नतिके लिये हमें भगवान् श्रीकृष्णके कहे हुए दैवी सम्पदा† के लक्षणोंको धारण करना चाहिये ।

---

* अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥
रसांश्च तांस्तान् विप्रर्षे मद्यवर्ज्यान् बहूनहम् ।
क्रीत्वा वै प्रतिविक्रीणे परहस्तादमायया ॥
नानुरुद्धये निरुद्धये वा न द्वेष्मि न च कामये ।
समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य मे जाजले व्रतम् ।
तुला मे सर्वभूतेषु समा तिष्ठति जाजले ॥
(महा० शान्ति० अ० २६२ । ६, ८, १०)

* अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी ।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम् ॥
ज्यायसी या पवित्राणां निवृत्तिः श्रद्धया सह ।
निवृत्तशीलदोषो यः श्रद्धावान् पूत एव सः ॥
किं तस्य तपसा कार्यं किं वृत्तेन किमात्मना ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत् परम् ।
श्रद्धावाञ्श्रद्दधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले ॥
स्ववर्त्मनि स्थितश्चैव गरीयानेव जाजले ।
(महा० शान्ति० अ० २६४ । १५, १६, १७, १९)

† दैवी सम्पदाके लक्षणोंका वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
(महा० भीष्म० अ० ४० । १-३)
भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता,

महाराज युधिष्ठिर परम धर्मात्मा थे। उनमें धर्मके सारे लक्षण थे। इसीलिये वे धर्मराजके नामसे प्रसिद्ध थे। उनके जीवनमें धर्मपालनकी अनेक आदर्श घटनाएँ हैं, उनमेंसे कुछका दिग्दर्शन इस 'महाभारत' मासिकपत्रके १० वें अङ्कमें कराया जा चुका है। हमलोगोंको उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। इसके सिवा महाराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए वनपर्वके ३१३ वें अध्यायमें धर्मका बहुत सुन्दर उपदेश दिया है, उसके अनुसार अपना जीवन धर्ममय बनाना चाहिये।

पूर्वकालमें भारतमें धार्मिक उन्नति यहाँतक पहुँच गयी थी कि धर्मके लिये लोग अपने प्राणोंकी भी परवा नहीं करते थे। इस सम्बन्धमें महर्षि दधीचकी कथा ध्यान देनेयोग्य है। जब वृत्रासुरने देवताओंपर आक्रमण किया, तब इन्द्र आदि समस्त देवता ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—'आपलोग दधीच ऋषिके पास जाकर उनसे उनके शरीरकी अस्थियाँ माँगकर उससे वज्र निर्माण करें, उस वज्रसे आपलोग वृत्रासुरको मार सकेंगे।' तब वे सब देवता दधीच ऋषिके पास गये और उनको प्रणाम करके उनसे उन्होंने उनके शरीरकी अस्थियाँ माँगीं। महर्षि दधीचने कहा—'देवगण! जिससे आपलोगोंका हित हो, मैं वही करूँगा। अपने इस शरीरको मैं स्वयं ही त्यागे देता हूँ।' यों कहकर महर्षि दधीचने अपने शरीरका त्याग कर दिया। तब देवताओंने महर्षिके निर्जीव शरीरसे हड्डियाँ ले लीं और उनसे अत्यन्त भयंकर वज्रका निर्माण किया। (महा० वन० अ० १००)। फिर इन्द्रने वृत्रासुरसे युद्ध करके उस वज्रके द्वारा उसका वध कर डाला।

शिबिदेशके प्रतापी राजा उशीनर बड़े धर्मात्मा पुरुष हो गये हैं। एक समयकी बात है, उशीनरका महत्त्व जाननेके लिये अग्नि कबूतरका और इन्द्र बाज पक्षीका रूप धारण करके उनकी राजसभामें गये। कबूतर बाजसे भयभीत हो राजा उशीनरकी गोदमें चला गया और बोला कि राजन्! मुझ शरणागतकी रक्षा करो। इतनेमें ही बाज पक्षीने आकर कहा—'महाराज! यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। इसे मुझको दे दें।' उशीनर बोले—'इसे मैं कैसे दे सकता हूँ? यह भयभीत है और मेरी शरणमें आया है; शरणागतकी रक्षा करना मेरा परमधर्म है।' इसपर बाजने कहा—'आप मुझे अपना भक्ष्य न देंगे तो मैं और मेरे स्त्री-बच्चे सब भूखसे मर जायँगे। इस तरह आप इस एक कबूतरकी तो रक्षा कर रहे हैं, पर दूसरे बहुत-से भूखे प्राणियोंकी रक्षा नहीं कर रहे हैं।' राजाने कहा—'मैं शिबिदेशका राज्य तथा और भी जिस वस्तुकी तुम्हें इच्छा हो, वह सब दे सकता हूँ, किंतु शरणकी इच्छासे मेरे पास आये हुए इस पक्षीको नहीं त्याग सकता।' तब बाजने कहा—'महाराज! यदि आप कबूतरकी रक्षा करना ही चाहते हैं तो इस कबूतरके बराबरका अपने शरीरका मांस तौलकर मुझे दे दीजिये, उसीसे मेरी तृप्ति हो जायगी।' इसपर उशीनरने कहा—'बाज! तुम जो मेरा मांस माँग रहे हो, यह मैं अपने ऊपर तुम्हारी बड़ी कृपा मानता हूँ।' यह कहकर उन्होंने तराजू मँगाया। वे उसके एक पलड़ेमें कबूतरको बैठाकर दूसरेमें अपना मांस काट-काटकर रखने लगे; किंतु सारा मांस काट-काटकर रख देनेपर भी जब वह कबूतरवाला पलड़ा नहीं उठा, तब राजा स्वयं ही मांसवाले पलड़ेमें बैठ गये और वह पलड़ा झुक गया।

तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको किंचिन्मात्र भी कभी कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

राजाकी विजय हो गयी। यह देख कबूतर और बाज क्रमशः अग्नि और इन्द्रके रूपमें प्रकट हो गये एवं राजा उशीनरको वर देकर देवलोकमें चले गये। तत्पश्चात् राजा उशीनर भी धर्मपालनके प्रभावसे स्वर्गमें चले गये (महा० वन० अ० १३१ तथा अनुशासन० अ० ३२)। लगभग इसीसे मिलती-जुलती कथा राजा उशीनरके पुत्र शिविकी भी मिलती है (महा० वन० अ० १९७)।

महर्षि दधीच और राजा उशीनरका धर्मपालन बहुत ही उच्चकोटिका है। इनसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि मनुष्य अपना प्राण त्यागकर भी दूसरोंका हित करे।

प्राचीन कालमें भारतमें धर्मके पालनमें इतनी तत्परता थी कि किसीसे अपराध हो जाता तो वह स्वयं राजाके पास जाकर दण्ड ले लिया करता था। इस विषयमें महाभारत, शान्तिपर्वके २३ वें अध्यायमें एक कथा है। शङ्ख और लिखित दो भाई थे। इनमें शङ्ख बड़े थे और लिखित छोटे। बाहुदा नदीके तटपर उन दोनोंके अलग-अलग बगीचे थे। एक दिन लिखित बड़े भाई शङ्खके बगीचेमें गये। उस समय शङ्ख बाहर गये हुए थे। लिखित शङ्खकी अनुपस्थितिमें शङ्खके बगीचेसे फल तोड़कर खाने लगे। इतनेमें ही शङ्ख वहाँ आ गये। उनके पूछनेपर लिखितने बता दिया कि मैंने ये फल यहींसे तोड़कर लिये हैं। तब शङ्खने कहा—'तुमने मुझसे बिना पूछे स्वयं ही फल ले लिये, यह चोरी है। अतः राजाके पास जाकर उनसे इसका दण्ड लो।' बड़े भाईकी आज्ञा पाकर लिखित राजा सुद्युम्नके पास गये और उन्होंने इस चोरीका दण्ड देनेके लिये उनसे कहा। इसपर राजा सुद्युम्न बोले—'विप्रवर! यदि आप दण्ड देनेमें राजाको प्रमाण मानते हैं तो उसका क्षमा करनेका भी अधिकार है। आप पवित्र कार्य करनेवाले और महान् व्रतधारी हैं, मैं आपके इस अपराधको क्षमा करके आपको जानेकी आज्ञा देता हूँ।' लिखितने राजासे दण्ड देनेके लिये ही पुनः कहा। तब राजाने लिखितके दोनों हाथ कटवा दिये। उस समय दण्ड देनेकी यही प्रथा थी कि जिस अङ्गसे अपराध किया गया हो, उसी अङ्गका छेदन कर दिया जाय। दण्ड पाकर लिखित बड़े भाई शङ्खके पास आये। उनके दुःखको देखकर शङ्खने कहा—'अब तुम बाहुदा नदीमें जाकर देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण करो। भविष्यमें कभी अधर्ममें मन न लगाना।' लिखितने बाहुदा नदीमें जाकर स्नान किया और वे तर्पण करनेकी चेष्टा करने लगे। इतनेमें ही उनके दो नये सुन्दर हाथ आ गये। बड़े भाई शङ्खका यह अद्भुत प्रभाव देखकर वे उनके पास आये और उन्होंने दोनों हाथ दिखाकर प्रार्थना की—'जब आपका ऐसा प्रभाव है, तब आपने पहले ही मुझे दण्ड देकर पवित्र क्यों नहीं कर दिया?' शङ्खने उत्तर दिया—'मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा दण्ड देनेका अधिकार नहीं है। दुखीपर दया करना मनुष्यका कर्तव्य है।'

विचार करना चाहिये, धर्मकी कितनी सूक्ष्म गति है। उन्होंने धर्मकी मर्यादाका पालन करनेके लिये कितना आश्चर्यजनक कार्य किया! इससे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि भाईके बगीचेसे भी बिना अनुमतिके कोई वस्तु लेना चोरी है; अतः प्रथम तो चोरी करे ही नहीं और यदि चोरी हो जाय तो राजासे उसका दण्ड ले ले या प्रायश्चित्त कर ले। इसी प्रकार अन्य किसी पापके बन जानेपर स्वयं उसका प्रायश्चित्त कर ले।

इन सब आदर्श चरित्रोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको धर्मपालनमें तत्पर रहना चाहिये। जो जिस आश्रम या वर्णमें है, उसके लिये उसी आश्रम या वर्णके धर्मोंका शास्त्र-विधिके अनुसार निष्कामभावसे पालन करना उचित है। महाभारतमें आश्रमों और वर्णोंके धर्मोंका बड़े विस्तारके साथ जगह-जगह वर्णन आया है (महा० वन० अ० १५०, शान्ति० अ० ६०, ६३, १८९, १९१, १९२, २४२ से २४५, २९६; अनुशासन० अ० ९३, १०४, १४१; आश्वमेधिक० ४५, ४६, ९२ इत्यादि)। यहाँ तो इस विषयमें संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

आश्रमधर्म

द्विजके बालकको चाहिये कि ब्रह्मचर्यका पालन

करते हुए गुरु या गुरुपुत्रकी सेवामें अपनी आयुके चौथाई भाग अर्थात् पचीस वर्षोंतक रहे। वहाँ रहते हुए किसीके दोष न देखे। ऐसा करनेवाला ब्रह्मचारी धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल होता है। वह गुरुके सोनेके पश्चात् नीचे आसनपर सोये और उनके जागनेसे पहले ही उठ जाय। गुरुके घरमें एक शिष्य या दासके करनेयोग्य जो कुछ भी कार्य हो, उसे वह करे। अपनी उन्नति चाहनेवाले ब्रह्मचारीको गुरुकी सेवाका सारा कार्य समाप्त करके उनके पास बैठकर अध्ययन करना चाहिये। वह सबके प्रति सदा उदार रहे और किसीपर कोई दोष न लगाये। गुरुके बुलानेपर झट उनकी सेवामें उपस्थित हो जाय। (महा० शान्ति० अ० २४२)।

ब्रह्मचारीको बाहर-भीतरकी शुद्धि, वैदिक संस्कार तथा व्रत-नियमोंका पालन करते हुए अपने मन-इन्द्रियोंको वशमें रखना चाहिये। सुबह और शाम दोनों संध्याओंके समय संध्योपासना और सूर्योपस्थान करके अग्निहोत्र करना चाहिये। तन्द्रा और आलस्यका त्याग करे। प्रतिदिन गुरुको प्रणाम करे और वेदोंके अभ्यास और श्रवणसे अपनी अन्तरात्माको पवित्र करे। सबेरे-शाम और दोपहर—तीनों समय स्नान करे। ब्रह्मचर्यका पालन, अग्निकी उपासना और गुरुकी सेवा करे। प्रतिदिन भिक्षा माँगकर लाये। भिक्षामें जो कुछ प्राप्त हो, वह सब गुरुको अर्पण कर दे। अपनी अन्तरात्माको भी गुरुके चरणोंमें निछावर कर दे। गुरुजी जो कुछ कहें, जिसके लिये संकेत करें और जिस कार्यके निमित्त स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा दें, उसीके अनुकूल आचरण करे। गुरुकृपासे प्राप्त स्वाध्यायमें तत्पर रहे।*

जब वेदसम्बन्धी व्रत और उपवास करते हुए आयुका एक चौथाई भाग व्यतीत हो जाय, तब गुरुको दक्षिणा देकर विधिपूर्वक समावर्तन-संस्कार सम्पन्न करे। फिर गुरुजनोंकी अनुमतिसे धर्मपूर्वक सुयोग्य पत्नीका पाणिग्रहण करके उसके साथ अग्निकी स्थापना करके अग्निहोत्रादिका अनुष्ठान करता हुआ आयुके द्वितीय भाग अर्थात् पचास वर्षकी अवस्थातक गृहस्थधर्मका पालन करे। गृहस्थको उचित है कि सबेरे और शाम—दो ही समय भोजन करे, बीचमें न खाय। ऋतुकालके सिवा अन्य समयमें स्त्रीको अपनी शय्यापर न बुलाये। उसके घरपर आया हुआ कोई ब्राह्मण अतिथि आदर-सत्कार और भोजन पाये बिना न रह जाय। गृहस्थको सदा विघस और अमृत अन्नका भोजन करना चाहिये। यज्ञसे बचा हुआ भोजन हविष्यके समान अमृत माना गया है। कुटुम्बमें भरण-पोषणके योग्य जितने लोग हैं, उनको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नका जो भोजन करता है, उसे विघसाशी (विघस अन्न भोजन करनेवाला) कहते हैं। क्योंकि पोष्यवर्गसे बचे हुए अन्नको विघस तथा पञ्चमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेवसे बचे हुए अन्नको अमृत कहते हैं।* गृहस्थ पुरुष सदा अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करे। इन्द्रियोंका संयम करके जितेन्द्रिय बने। किसीके गुणोंमें दोष न देखे। वह ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, जाति-भाई, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, माता-पिता, कुटुम्बकी स्त्री, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री तथा सेवकसमूहके साथ कभी विवाद न करे। जो इन सबके साथ वाद-विवाद त्याग देता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है (महा० शान्ति० अ० २४२-२४३)।

---

* सम्यग् यत्र शौचसंस्कारनियमव्रतविनियतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्निदैवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्र्यालस्ये गुरोरभिवादनवेदाभ्यासश्रवणपवित्रीकृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषानित्यभिक्षाभैक्ष्यादिसर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरुवचननिर्देशानुष्ठानाप्रतिकूलो गुरुप्रसादलब्धस्वाध्यायतत्परः स्यात् (महा० शान्ति० अ० १९१ । ८)।

* न भुञ्जीतान्तरा काले नानृतावाह्वयेत् स्त्रियम्।
नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत् कश्चिदपूजितः॥
विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः।
अमृतं यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम्॥
भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम्।
विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम्॥
(महा० शान्ति० अ० २४३ । ७, १२, १३)

गृहस्थ-आश्रम अन्य तीनों आश्रमोंका मूल है। * क्योंकि उसीसे सबका भरण-पोषण होता है।

गृहस्थ सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहे, स्वच्छ वस्त्र पहने, उत्तम व्रतका पालन करे, शौच-संतोष आदि नियमों और सत्य-अहिंसा आदि यमोंके पालनपूर्वक यथाशक्ति दान करता रहे तथा सदा शिष्टपुरुषोंके साथ निवास करे। †

गृहस्थके लिये अतिथि-सेवा सबसे बढ़कर कर्तव्य है। धर्मराज युधिष्ठिरने अतिथि-सत्कारके सम्बन्धमें बतलाया है कि कम-से-कम आसनके लिये तृण (कुश), बैठनेके लिये स्थान, तीसरा जल और चौथी मधुर वाणी—सत्पुरुषोंके घरोंमें इन चार वस्तुओंका अभाव कभी नहीं होता। वास्तवमें तो रोग आदिसे पीड़ित मनुष्यको सोनेके लिये शय्या, थके हुएको बैठनेके लिये आसन, प्यासेको पानी और भूखेको भोजन तो देना ही चाहिये। जो अपने घरपर आ जाय, उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे, मनसे उसके प्रति उत्तम भाव रखे, उससे मीठे वचन बोले और उठकर उसके लिये आसन दे। यह गृहस्थका सनातन धर्म है। अतिथिको आते देख उठकर उसकी अगवानी और यथोचित रीतिसे आदर-सत्कार करे। ‡

अतिथि-सेवाका माहात्म्य अश्वमेध-यज्ञसे भी अधिक बतलाया गया है। महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञमें ब्राह्मणों, सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों और दीन-दरिद्रों आदिके तृप्त होनेपर जब युधिष्ठिरके यज्ञ और दानकी भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी, उस समय एक नेवला वहाँ आया और वह मनुष्यकी बोलीमें कहने लगा—'राजाओ! आपका यह यज्ञ कुरुक्षेत्रनिवासी उञ्छवृत्तिधारी उदारचेता ब्राह्मणके सेरभर सत्तूदानके बराबर भी नहीं हुआ है।' नेवलेकी बात सुनकर ब्राह्मणोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर ब्राह्मणोंके पूछनेपर नेवलेने बतलाया—"कुरुक्षेत्रमें एक उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले ब्राह्मण रहते थे। वे कबूतरके समान अन्नके दाने चुनकर लाते और उससे कुटुम्बका पालन करते थे। एक समय वहाँ भयंकर अकाल पड़ा। अतः खेतोंमें कहीं भूमिपर पड़े दाने न मिलनेके कारण वे कई दिनोंतक भूखे ही रहे। फिर कुछ दिनोंके बाद उन्हें सेरभर जौ मिले। उन्होंने उसका सत्तू बनाकर चार भागोंमें विभक्त कर लिया। एक पाव स्त्रीके लिये, एक पाव पुत्रके लिये, एक पाव पुत्रवधूके लिये और एक पाव अपने लिये रखकर वे भोजन करनेको तैयार हुए। उसी समय एक ब्राह्मण अतिथि आ गये। वे चारों अतिथिको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अतिथिको प्रणाम करके उनसे कुशल-मङ्गल पूछा और वे उन्हें कुटीपर ले आये। वहाँ उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणने उनसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! आपके लिये ये अर्घ्य, पाद्य और आसन प्रस्तुत हैं तथा न्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ यह परम पवित्र सत्तू आपकी सेवामें निवेदित है। मैंने प्रसन्नतापूर्वक इसे आपको समर्पण किया है, आप इसे स्वीकार करें।' ब्राह्मणके यों कहनेपर अतिथिने उनके हिस्सेका एक पाव सत्तू लेकर खा लिया; किंतु उनकी तृप्ति नहीं हुई। तब ब्राह्मणकी पत्नीने आग्रह करके पतिके द्वारा अपने हिस्सेका सत्तू भी अतिथि ब्राह्मणको दिलवा दिया। फिर भी उनकी तृप्ति न होनेपर उनके पुत्रने भी अपने हिस्सेका सत्तू पिताके न चाहनेपर भी पिताके द्वारा अतिथिको दिलवा दिया। इससे भी तृप्ति न होनेपर पुत्रवधूने भी आग्रहपूर्वक अपने हिस्सेका सत्तू श्वशुरके द्वारा अतिथिको दिलवा दिया। इससे वे अतिथि ब्राह्मण उन उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणपर बहुत संतुष्ट हुए। वे अतिथि साक्षात् धर्मराज ही थे। वे

---

* गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः॥
(महा० आश्व० ४५। १३)

† नित्यं यज्ञोपवीती स्याच्छुक्लवासाः शुचिव्रतः।
नियतो यमदानाभ्यां सदा शिष्टैश्च संविशेत्॥
(महा० आश्व० ४५। १९)

‡ तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम्॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषिताम्।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः।
प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम्॥
(महा० वन० २। ५४—५६)

अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये और उन सबको विमानमें बैठाकर दिव्य-लोकको ले गये।

"उन अतिथि ब्राह्मणके भोजन कर चुकनेपर वहाँ जूठे हाथ धोनेसे गिरे हुए जलके कीचड़में मैं लोटा, जिससे मेरा सिर और आधा शरीर सुवर्णमय हो गया। मैंने जब राजा युधिष्ठिरके यज्ञकी प्रशंसा सुनी, तब शेष आधे शरीरको भी सोनेका बनानेकी इच्छासे यहाँ आकर कीचड़में लोटा; पर कुछ नहीं हुआ। इसीलिये मैंने कहा था कि यह यज्ञ उस अतिथिसेवाव्रती ब्राह्मणके सेरभर सत्तू-दानके समान भी नहीं है।" इतना कहकर वह नेवला अन्तर्धान हो गया (महा० आश्व० अ० ९०)।

इन सत्तू-दान करनेवाले ब्राह्मणके इस अतिथि-सेवा-कार्यसे यह शिक्षा मिलती है कि धर्म चाहनेवाले गृहस्थ मनुष्यको स्वयं भूखा रहकर भी अतिथि-सेवा करनी चाहिये।

गृहस्थ मनुष्यको चाहिये कि जब उसके सिरके बाल सफेद दिखायी दें, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जायँ और पुत्रको भी पुत्रकी प्राप्ति हो जाय, तब अपनी आयुका तीसरा भाग अर्थात् इक्यावनवेंसे पचहत्तरवें वर्षतक व्यतीत करनेके लिये वनमें जाय और वानप्रस्थाश्रममें रहे। वानप्रस्थी पुरुष नियमके साथ रहे, नियमानुकूल भोजन करे। दिनके छठे भाग अर्थात् तीसरे पहरमें एक बार अन्न ग्रहण करे और प्रमादसे बचा रहे। एवं गृहस्थाश्रमकी ही भाँति अग्निहोत्र, वैसी ही गो-सेवा और उसी प्रकार यज्ञके सम्पूर्ण अङ्गोंका सम्पादन करना वानप्रस्थका धर्म है। वनवासी मुनि बिना जोती हुई पृथ्वीसे पैदा हुआ धान, जौ, नीवार (तिन्नीके चावल) तथा विघस (अतिथियों-को देनेसे बचे हुए)अन्नसे जीवन-निर्वाह करे। वानप्रस्थी भी पञ्चमहायज्ञोंमें हविष्य वितरण करे। वानप्रस्थी पुरुष वर्षाके समय खुले आकाशके नीचे और सर्दीमें पानीके भीतर खड़े रहें, गर्मीमें पञ्चाग्निसे शरीरको तपायें और सदा स्वल्प भोजन करें।*

यदि कोई अतिथि आ जाय तो फल-मूलकी भिक्षा देकर उसका सत्कार करे। कभी आलस्य न करे। जो कुछ भोजन अपने पास हो, उसीमेंसे अतिथिको भिक्षा दे। इन्द्रियोंका संयम करे, सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे, क्षमाशील बने और दाढ़ी-मूँछ एवं सिरके बालोंको धारण किये रहे। समयपर अग्निहोत्र और वेदोंका स्वाध्याय करे तथा सत्यधर्मका पालन करे।*

इस प्रकार वानप्रस्थकी अवधि पूरी कर लेनेके बाद जब आयुका चौथा भाग शेष रह जाय, तब संन्यास-आश्रम ग्रहण करे। जो ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देकर संन्यासी हो जाता है, वह मरनेके पश्चात् तेजोमय लोकोंमें जाता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है।†

संन्यासीको चाहिये कि वह सिद्धि प्राप्त करनेके लिये किसीको साथ न लेकर अकेला ही विचरता रहे। जो सर्वत्र परमात्माका अनुभव करता हुआ एकाकी विचरता रहता है, वह न तो स्वयं किसीका त्याग करता है और न दूसरे ही उसका त्याग करते हैं। संन्यासी कभी न तो अग्निकी स्थापना करे और न घर ही बनाकर रहे, केवल भिक्षा लेनेके लिये ही गाँवमें जाय।‡

---

* गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदा श्रयेत्॥
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत्।
नियतो नियताहारः षष्ठभुक्तोऽप्रमत्तवान्।
तदग्निहोत्रं ता गावो यज्ञाङ्गानि च सर्वशः॥
अफालकृष्टं व्रीहियवं नीवारं विघसानि च।
हवींषि सम्प्रयच्छेत मखेष्वत्रापि पञ्चसु॥
अभ्रावकाशा वर्षासु हेमन्ते जलसंश्रयाः।
ग्रीष्मे च पञ्चतपसः शश्वच्च मितभोजनाः॥
(महा० शान्ति० २४४। ४-७, १०)

* समूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम्।
यद् भक्ष्यं स्यात् ततो दद्याद् भिक्षां नित्यमतन्द्रितः॥
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशश्मश्रु च धारयन्।
जुह्वन् स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः॥
(महा० आश्व० ४६। १३, १५)

† चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् द्विजः।
लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते॥
(महा० शान्ति० २४४। २३, २८)

‡ एक एव चरेद् धर्मं सिद्ध्यर्थमसहायवान्॥
एकश्चरति यः पश्यन् न जहाति न हीयते।
अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्॥
(महा० शान्ति० २४५। ४-५)

संन्यासीके लिये भिक्षाकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—बिना याचना किये, बिना संकल्पके दैवात् जो अन्न प्राप्त हो जाय, उसीसे जीवननिर्वाह करे। प्रातःकालका नित्य कर्म करनेके बाद जब गृहस्थोंके यहाँ रसोई-घरसे धुआँ निकलना बंद हो जाय, घरके सब लोग खा-पी चुकें और बर्तन धो-माँजकर रख दिये गये हों, उस समय मोक्षधर्मके ज्ञाता संन्यासीको भिक्षा माँगनी चाहिये। भिक्षा मिल जानेपर हर्ष और न मिलनेपर विषाद न करे। अधिक भिक्षाका संग्रह न करे। जितनेसे प्राणयात्राका निर्वाह हो, उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिये।* वह दूसरे दिनके लिये अन्नका संग्रह न करे। चित्तवृत्तियोंको एकाग्र करके मौन भावसे रहे। हल्का और नियमानुकूल भोजन करे तथा दिन-रातमें केवल एक ही बार भोजन करे।†

संन्यासी भिक्षा-पात्र और कमण्डलु रखे। वृक्षकी जड़में सोये या निवास करे। जो देखनेमें सुन्दर न हो, ऐसा वस्त्र धारण करे। किसीको साथ न रखे और सभी प्राणियोंकी उपेक्षा कर दे। ये सब भिक्षुकके लक्षण हैं। जिसे सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त है और जिसकी ओरसे किसी भी प्राणीको कोई भय नहीं है, उस मोह-मुक्त पुरुषको किसीसे भी भय नहीं होता। ऐसे संन्यासी-को रोष और मोह छू नहीं सकते। वह मिट्टीके ढेले और सोनेको समान समझता है; अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—इन पाँचों कोशोंका अभिमान त्याग देता है और संधि-विग्रह तथा निन्दा-स्तुतिसे रहित हो जाता है। उसकी दृष्टिमें न कोई प्रिय होता है न अप्रिय। वह संन्यासी उदासीनकी भाँति सर्वत्र विचरता रहता है।*

अपने पास किसी वस्तुका संग्रह न करना, कर्मोंके आरम्भ या आयोजनसे दूर रहना, सब ओरसे पवित्रता और सरलता रखना, सर्वत्र भिक्षासे निर्वाह करना, सब स्थानोंमें सबसे अलग रहना, सदा ध्यानमें तत्पर रहना, दोषोंसे शुद्ध होना, सबपर क्षमा और दयाभाव रखना, एवं बुद्धिको तात्त्विक चिन्तनमें लगाये रखना—ये सब संन्यासीके लिये धर्मकार्य हैं।†

वर्ण-धर्म

वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ और दान ब्राह्मणका धर्म है, यह शास्त्रका निर्णय है। वेदोंको पढ़ाना, यजमानका यज्ञ कराना और दान लेना—ये उसकी जीविकाके कर्म हैं। सत्य, मनोनिग्रह, तप और शौचाचारका पालन—यह उसका सनातन धर्म है। उपर्युक्त यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना—इन छः कर्मोंका आश्रय लेनेवाला ब्राह्मण धर्म-का भागी होता है। इनमें भी सदा स्वाध्यायशील होना ब्राह्मणका मुख्य धर्म है, यज्ञ करना सनातन धर्म है और अपनी शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक दान देना उसके लिये प्रशंसनीय धर्म है।‡

---

* अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया।
कृत्वा प्राह्णे चरेद् भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने॥
वृत्ते शरावसम्पाते भैक्ष्यं लिप्सेत मोक्षवित्।
लाभेन न च हृष्येत नालाभे विमना भवेत्।
न चातिभिक्षां भिक्षेत केवलं प्राणयात्रिकः॥
(महा० आश्व० ४६। १९-२०)

† अश्वस्तनविधाता स्यान्मुनिर्भावसमाहितः।
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता॥
(महा० शान्ति० २४५। ६)

* कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम्॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो भूतानामभयं ततः।
तस्य मोहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥
अरोषमोहः समलोष्टकाञ्चनः प्रहीणकोशो गतसंधिविग्रहः।
अपेतनिन्दास्तुतिरप्रियाप्रियश्चरन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः॥
(महा० शान्ति० २४५। ७, १७, ३६)

† आकिंचन्यमनारम्भः सर्वतः शौचमार्जवम्।
सर्वत्र भैक्षचर्या च सर्वत्रैव विवासनम्॥
सदा ध्यानपरत्वं च दोषशुद्धिः क्षमा दया।
तत्त्वानुगतबुद्धित्वं तस्य धर्मविधिर्भवेत्॥
(महा० अनुशासन० १४१। दा० पा०)

‡ स्वाध्यायो यजनं दानं तस्य धर्म इति स्थितिः।
कर्माण्यध्यापनं चैव याजनं च प्रतिग्रहः॥
सत्यं शान्तिः तपः शौचं तस्य धर्मः सनातनः॥
(महा० अनुशासन० १४१। दा० पा०)

क्षत्रियका सबसे पहला धर्म है प्रजाका पालन करना। प्रजाकी आयके छठे भागका उपभोग करनेवाला राजा धर्मका फल पाता है। एवं इन्द्रियसंयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीत-धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्यका सम्पादन, सेवकोंका भरण-पोषण, आरम्भ किये हुए कर्मको सफल बनाना, अपराधके अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान करना, व्यवहारमें न्यायकी रक्षा करना और सत्यभाषणमें अनुरक्ति—ये सब कर्म राजाके लिये परम धर्म हैं। *

पशुओंका पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, सन्मार्गका आश्रय लेकर सदाचारका पालन, अतिथि-सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणोंका स्वागत-सत्कार और त्याग—ये सब वैश्योंके सनातन धर्म हैं। †

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन द्विजातियोंका मुख्य धर्म है सत्य (सत्य-भाषण, सत्यव्यवहार, सद्भाव)। यह धर्मका एक प्रधान लक्षण है। यज्ञ, स्वाध्याय और दान—ये तीन द्विजमात्रके लिये सामान्य धर्म हैं। ‡

शूद्रका परम धर्म है—नित्य तीनों वर्णोंकी सेवा करना। जो शूद्र सत्यवादी, जितेन्द्रिय और घरपर आये हुए अतिथिकी सेवा करनेवाला है, वह महान् तपका संचय कर लेता है; उसका सेवारूप धर्म उसके लिये कठोर तप है। *

ये सब वर्णोंके पृथक्-पृथक् विशेष धर्म बतलाये गये हैं। इनके सिवा सभी वर्णोंके लिये साधारण धर्म इस प्रकार बतलाये गये हैं—

क्रूरताका अभाव (दया), अहिंसा, अप्रमाद (कर्तव्यपरायणता), देवता, पितर, मनुष्य आदिको उनके भाग समर्पित करना, श्राद्धकर्म, अतिथि-सत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी ही पत्नीमें संतुष्ट रहना, पवित्रता रखना, कभी किसीके दोष न देखना, आत्मज्ञान तथा सहनशीलता—ये सभी वर्णोंके सामान्य धर्म हैं। †

इसी प्रकार गो-रक्षा सर्वसाधारणका परम धर्म है; क्योंकि गौ धार्मिक और आर्थिक—सभी दृष्टियोंसे इहलोक और परलोकमें सब प्रकारसे सबके लिये परम हितकारी और सर्वश्रेष्ठ पशु है। गौएँ सम्पूर्ण प्राणियोंकी माता हैं। वे सबको सुख देनेवाली हैं। जो अपने अभ्युदयकी इच्छा रखता हो, उसे गौओंको सदा दाहिने करके चलना चाहिये। ‡ गौमें सब देवता विराजमान हैं (महा० आश्वमेधिक० अ० ९२)। गौके दूध, दही, घीसे मनुष्य, देवता, पितर, ऋषि—सबकी तृप्ति होती है। इनके बिना यज्ञ तो किसी तरह भी नहीं हो सकता।

यजनं याजनं चैव तथा दानप्रतिग्रहौ।
अध्यापनं चाध्ययनं षट्कर्मा धर्मभाग् द्विजः॥
नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो धर्मो यज्ञः सनातनः।
दानं प्रशस्यते चास्य यथाशक्ति यथाविधि॥
(महा० अनुशासन० १४१। ६८-६९)

* क्षत्रियस्य स्मृतो धर्मः प्रजापालनमादितः।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते॥
तस्य राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥
यज्ञोपवीतधरणं यज्ञो धर्मक्रियास्तथा।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता॥
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुर्क्रियाः।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा॥
(महा० अनुशासन० १४१। ४७, ४९, ५१)

† वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः॥
(महा० अनुशासन० १४१। ५४-५५)

‡ द्विजातीनामृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकलक्षणः।
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः॥
(महा० वन० १५०। ३४)

* शूद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु।
स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
शुश्रूषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत्॥
(महा० अनुशासन० १४१। ५७-५८)

† आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप॥
(महा० शान्ति० २९६। २३-२४)

‡ मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः।
वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः॥
(महा० अनु० ६९। ७)

गौके ये सब पदार्थ मानव-जीवन-रक्षाके लिये परमोपयोगी हैं। दूध, दही, घीकी तो बात ही क्या, गौके गोबर, गोमूत्र भी स्वास्थ्यके लिये परम हितकर और पवित्र हैं। इसीलिये कहा गया है कि मनुष्य प्रतिदिन शरीरमें गोबर लगाकर स्नान करे। सूखे हुए गोबरपर बैठे। उसपर थूक न फेंके, मल-मूत्र न छोड़े तथा गौके तिरस्कारसे बचता रहे।* यही नहीं, गोबर-गोमूत्रमें तो लक्ष्मीका निवास बतलाया गया है (महा० अनुशासन० अ० ८२।२४)। एवं गोबर-गोमूत्रको खेतीके लिये सबसे बढ़कर खाद माना गया है। गौका बछड़ा (बैल) खेतीके लिये जितना उपयोगी है, उतना दूसरा कोई पशु नहीं है तथा दानोंमें भी गोदानकी सबसे बढ़कर महिमा कही गयी है। गोदानसे बढ़कर कोई पवित्र दान नहीं है। गोदानके फलसे श्रेष्ठ दूसरा कोई फल नहीं है तथा संसारमें गौसे बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट प्राणी नहीं है।† अतः गौ हमलोगोंके लिये सब प्रकारसे परम हितकारक प्राणी है। गौ शुद्ध, सरल, निरामिषभोजी तथा उत्तम गुणोंसे युक्त होनेके कारण पशुओंमें सात्त्विक है। सभी दृष्टियोंसे गौकी बड़ी भारी महिमा है। (गोमहिमाका वर्णन महाभारतके अनुशासनपर्वके ६९ वें से ८३ वें अध्यायतक बहुत विस्तारसे किया गया है, वहाँ देखना चाहिये।)

इसलिये हमलोगोंको तन-मन-धनसे सब प्रकारसे गौओंकी रक्षा करनी चाहिये।

पाण्डव जब इन्द्रप्रस्थमें राज्य करते थे, उन दिनों एक दिन लुटेरे किसी ब्राह्मणकी गौएँ लेकर भाग गये। अर्जुनने जब ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी, तब वे भाइयोंके साथ की हुई शर्तका उल्लङ्घन करके भी चुपचाप युधिष्ठिरके कमरेमें जाकर शस्त्र ले आये और लुटेरोंका पीछा करके ब्राह्मणकी गौएँ लौटा लाये। इस प्रकार अर्जुनने गोधनकी रक्षा करके युधिष्ठिरके मना करनेपर भी शर्त-भङ्ग करनेके प्रायश्चित्तरूपमें बारह वर्ष-का वनवास स्वीकार किया (महा० आदि० अ० २१२)।

राजा नहुष एक बार बड़े धर्मसंकटमें पड़ गये। उन्होंने च्यवन ऋषिके बदलेमें मल्लाहोंको राज्यतक देना स्वीकार कर लिया, तब भी च्यवन ऋषिने कहा कि मेरा मूल्य नहीं आया। इसपर राजाने वहाँ पधारे हुए मुनि गविजके निर्णयानुसार ब्राह्मण और गौको समान समझकर गौसे ऋषिका मूल्य आँक दिया। तब च्यवन ऋषि उठ गये और बोले—अब तुमने यथार्थमें मुझको मोल ले लिया। इस प्रकार उन्होंने गौका इतना आदर किया कि राज्यसे भी बढ़कर गौका मूल्य ऋषिके बराबर बतलाकर मछली पकड़नेवाले मल्लाहोंको ऋषिके मूल्यमें एक गौ दी गयी (महा० अनुशासन० अ० ५१)।

महाभारतमें तीर्थोंकी महिमा भी जगह-जगह आयी है (महा० वन० अ० ८२ से ९०, १२५, १२९, १३०, १३५, १४५; अनुशासन० अ० २५-२६)। तीर्थोंमें श्रीगङ्गा सबसे बढ़कर हैं। गङ्गा परम पवित्र और इहलोक तथा परलोकमें कल्याण करनेवाली हैं। गङ्गा-जलमें ऐसी शक्ति है कि इसके बहुत वर्षोंतक पड़े रहनेपर भी इसमें कीड़े नहीं पड़ते। अतएव यह स्वास्थ्यके लिये भी परम हितकर है। इसके पान करनेसे अनेक रोग दूर होते हैं। शास्त्रोंमें गङ्गाजलको अमृतके तुल्य बताया गया है। गङ्गाजल सदा ही पवित्र करनेवाला है, पर अन्तकालमें तो यह पापीको भी मुक्त कर देता है।

महर्षि पुलस्त्यने भीष्मजीसे गङ्गाकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि गङ्गाका नाम लिया जाय तो वह सारे पापोंको धो-बहाकर पवित्र कर देती है, दर्शन करनेपर कल्याण प्रदान करती है तथा स्नान और जलपान करनेपर वह मनुष्यकी सात पीढ़ियोंको पावन बना देती है। गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं, भगवान् विष्णुसे बढ़कर कोई देवता नहीं और ब्राह्मणोंसे उत्तम कोई वर्ण नहीं है—ऐसा ब्रह्माजीका कथन है।*

---

* गोमयेन सदा स्नायात् करीषे चापि संविशेत्।
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि प्रतिघातं च वर्जयेत्॥
(महा० अनु० ७८।१९)

† नातः पुण्यतरं दानं नातः पुण्यतरं फलम्।
नातो विशिष्टं लोकेषु भूतं भवितुमर्हति॥
(महा० अनु० ८०।१३)

* पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥
न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात् परः।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः॥
(महा० वन० ८५।९३, ९६)

इसी प्रकार एक शिलवृत्तिवाले ब्राह्मणसे किसी सिद्ध पुरुषने बतलाया कि 'ब्रह्मन्! वे ही देश, जनपद, आश्रम और पर्वत पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके बीचसे होकर सरिताओंमें उत्तम भागीरथी गङ्गा बहती हैं। द्विजश्रेष्ठ! जैसे आगमें डाली हुई रूई तुरंत जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार गङ्गामें गोता लगानेवाले मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे देवताओंको अमृत, पितरोंको स्वधा और नागोंको सुधा तृप्त करती है, उसी प्रकार मनुष्योंके लिये गङ्गाजल ही पूर्ण तृप्तिका साधन है। जो पुरुष गङ्गाका माहात्म्य सुनता, उनके तटपर जानेकी अभिलाषा रखता, उनका दर्शन करता, जल पीता, स्पर्श करता तथा उनके भीतर गोते लगाता है, उसके दोनों कुलोंका भगवती गङ्गा विशेषरूपसे उद्धार कर देती हैं। गङ्गा अपने दर्शन, स्पर्श, जलपान तथा अपने गङ्गा नामके कीर्तनसे सैकड़ों और हजारों पापियोंको तार देती हैं। जो श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित तथा संयतचित्त मनुष्य प्राण निकलते समय मन-ही-मन गङ्गाका स्मरण करता है, वह परम उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।*

इस प्रकार श्रीगङ्गाकी बड़ी भारी महिमा बतायी गयी है (महा० वन० अ० ८५, अनुशासन० अ० २६)।

ये सब धार्मिक उन्नतिके अन्तर्गत हैं।

आध्यात्मिक उन्नतिके लिये भगवान् श्रीकृष्णने भीष्मपर्वके ३७ वें अध्यायके ७ वेंसे ११ वें श्लोकतक 'ज्ञान' के नामसे जो उपदेश दिया है, उसे विशेषरूपसे अपनाना चाहिये।† इसके सिवा उद्योगपर्वमें ४१ वेंसे ४६ वें अध्यायतक श्रीसनत्सुजात ऋषिने राजा धृतराष्ट्रके प्रति बड़ा ही सुन्दर अध्यात्मज्ञानका उपदेश किया है। शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें तो अध्यात्म-ज्ञानका विषय जगह-जगह आया है, उसमें भी शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उसका विशेषरूपसे वर्णन है; उसका अध्ययन और मनन करना चाहिये।

माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवा, पातिव्रत्यधर्म, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, अध्ययनाध्यापन, स्वाध्याय, प्रजापालन, वाणिज्य, गोरक्षा, सेवा, परोपकार आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उनको अपने अधिकारके अनुसार फल और आसक्तिको त्यागकर निष्कामभावसे ईश्वरकी पूजा समझकर करनेसे वे मनुष्यको पवित्र करके उसके आत्माका उद्धार कर देते हैं। श्रीभगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(महा० भीष्म० ४२।५)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने योग्य नहीं हैं; बल्कि वह तो अवश्यकर्तव्य है। क्योंकि

---

* ते देशास्ते जनपदास्तेऽऽश्रमास्ते च पर्वताः।
येषां भागीरथी गङ्गा मध्येनैति सरिद्वरा॥
अग्नौ प्रास्तं प्रधूयेत यथा तूलं द्विजोत्तम।
तथा गङ्गावगाढस्य सर्वपापं प्रधूयते॥
यथा सुराणाममृतं पितॄणां च यथा स्वधा।
सुधा यथा च नागानां तथा गङ्गाजलं नृणाम्॥
श्रुताभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टावगाहिता॥
गङ्गा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः।
दर्शनात् स्पर्शनात् पानात् तथा गङ्गेति कीर्तनात्॥
पुनात्यपुण्यान् पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः॥
उत्क्रामद्भिश्च यः प्राणैः प्रयतः शिष्टसम्मतः।
चिन्तयेन्मनसा गङ्गां स गतिं परमां लभेत्॥
(महा० अनु० २६।२६,४२,४९,६३,६४,७०)

† अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी कभी किंचिन्मात्र भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्ति-सहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव; ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना, मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना, अध्यात्मज्ञान-में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब 'ज्ञान' है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—ऐसी बात कही गयी है।'

सात्त्विक यज्ञ*, सात्त्विक दान† और सात्त्विक तप‡—ये तीनों ही कर्म विवेकी पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(महा० भीष्म० ४२। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

सम्पादकका निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

जिन सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, अचिन्त्यानन्तगुणगणसम्पन्न, निखिलरसामृतसिन्धु सच्चिदानन्दघन वासुदेव भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा तथा प्रेरणासे इस महाभारतका महान् कार्य प्रारम्भ हुआ था, उन्हीं अनन्तप्रेमाधार भगवान्की कृपासे आज यह सुसम्पन्न हो रहा है। यह तीसरे वर्षका बारहवाँ अङ्क इस महाभारतका अन्तिम अङ्क है।

महाभारतमें बहुत पाठभेद मिलते हैं। दक्षिण और उत्तरकी प्रतियोंमें सहस्रों श्लोकोंका तथा कथाओंका अन्तर है। इन सारे पाठभेदोंको देखकर एक सुनिश्चित पाठ प्रस्तुत करना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी महान् कार्यके लिये पूना भांडारकर संस्थानकी ओरसे वर्षोंसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न हो रहा है; परंतु यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वारा निर्णीत पाठ सर्वसम्मत पाठ होगा। अवश्य ही उनका सद्भावयुक्त प्रयास अत्यन्त आदरणीय है और उस पाठनिर्णयसे हमें बड़ी सहायता प्राप्त हुई है; इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

महर्षि वेदव्यासरचित महाभारत लाख श्लोकोंका ग्रन्थ था, यह बात अब प्रायः अधिकांश विद्वान् मान गये हैं। भारतसरकारकी ओरसे Inscriptionum Indicarum नामक एक पुस्तकमाला प्रकाशित हो रही है, इसमें प्राचीन ताम्रपट और शिलालेख आदि छप रहे हैं। इसकी तीसरी पुस्तकमें उच्चकल्पके महाराज सर्वनाथका संवत् १४७ का एक लेख है, जिसमें स्पष्ट लिखा है कि 'व्यासकृत महाभारतकी श्लोकसंख्या एक लाख है।' इससे भी यही सिद्ध है कि प्राचीन कालसे ही एक लाख श्लोकोंका महाभारत प्रचलित रहा है। दक्षिणमें एक लाख श्लोकोंकी एक 'लक्षालंकार' नामक महाभारतकी अति प्राचीन टीका भी थी। उसके कुछ अंश मिले हैं। पूरी टीका उपलब्ध नहीं है। नीलकण्ठजीने भी अपनी टीकामें दाक्षिणात्य पाठके नालायनीय प्रसङ्गका उल्लेख किया है।

गीताप्रेसके इस महाभारतमें मुख्यतः श्रीनीलकण्ठके अनुसार पाठ लेनेपर भी दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी समझे गये अंशोंको सम्मिलित किया गया है और इसीके अनुसार यथास्थान उसके श्लोक अर्थसहित दिये गये हैं। परंतु उन श्लोकोंमें वहाँ न तो मूलमें श्लोकसंख्या दी गयी है, न अर्थमें ही। अध्यायके अन्तमें दाक्षिणात्य पाठके श्लोकोंकी संख्या अलग लिखकर उस अध्यायकी पूरी श्लोकसंख्या बता दी गयी है और इसी प्रकार पर्वके अन्तमें दाक्षिणात्य अधिक पाठके श्लोकोंकी संख्या बताकर उस पर्वकी पूरी श्लोकसंख्या दे दी गयी है। इसके अतिरिक्त महाभारतके पूर्व-प्रकाशित अन्यान्य संस्करणोंसे भी पाठनिर्णयमें सहायता ली गयी है तथा अच्छा प्रतीत होनेपर उनके मूलपाठ या पाठान्तरको भी ग्रहण किया गया है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यह पाठ पूर्णतया नीलकण्ठी टीकाका ही पाठ है।

---

* अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ (महा० भीष्म० ४१। ११)
'जो शास्त्रविधिसे नियत है तथा यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनका समाधान करके फलको न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक है।'

† दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ (महा० भीष्म० ४१। २०)
'दान देना ही कर्तव्य है—इस भावसे जो दान देश तथा काल और पात्रके प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।'

‡ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ (महा० भीष्म० ४१। १७)
'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस कायिक, वाचिक और मानसिक—तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।'

गीताप्रेसके इस महाभारतमें अनुष्टुप् छन्दके हिसाबसे तथा 'उवाच' जोड़कर कुल श्लोकसंख्या १००२१७ है। इसमें उत्तरभारतीय पाठकी ८६६००, दाक्षिणात्य पाठकी ६५८४ और 'उवाच' की ७०३३ है।

इस विशाल ग्रन्थके हिंदी-भाषान्तरका प्रायः सारा कार्य गीताप्रेसके प्रसिद्ध तथा सिद्धहस्त भाषान्तरकार संस्कृत-हिंदी दोनों भाषाओंके सफल लेखक तथा कवि परम विद्वान् पण्डितप्रवर श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री महोदयने किया है। इसीसे अनुवादकी भाषा सरल होनेके साथ ही परम मधुर बन सकी है। भारतके बड़े-बड़े धुरंधर विद्वानोंने इस अनुवादकी बड़ी प्रशंसा की है।

आदिपर्व तथा कुछ अन्य पर्वोंके कुछ अनुवादको हमारे आदरणीय प्रेमी विद्वान् स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजने भी कृपापूर्वक देखा है, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

इसके अतिरिक्त पाठनिर्णय तथा अनुवाद देखनेका प्रायः सारा कार्य हमारे परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने समय-समयपर गीताके महान् विद्वान् और वक्ता स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज और भाई श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, ब० श्रीघनश्यामदासजी जालान, भाई श्रीवासुदेवजी काबरा आदिको साथ रखकर किया है। पूज्य श्रीगोयन्दकाजी तथा इन महानुभावोंने इतनी लगनसे अधिक-से-अधिक समय देकर नियमितरूपसे कार्य न किया होता तो इस विशाल ग्रन्थका इस रूपमें प्रकाशित होना सम्भव नहीं था। सत्य तथ्य तो यह है कि मेरा नाम तो सम्पादकके स्थानपर केवल नाममात्रके लिये ही है। सम्पादनका समस्त कार्य तो वस्तुतः पूज्य श्रीजयदयालजीने ही किया है।

इसमें प्रकाशित चित्रोंमें कुछ पुराने चित्रोंके अतिरिक्त शेष सभी चित्र हमारे कलाकार श्रीजगन्नाथ चित्रकारके बनाये हुए हैं।

महाभारत ग्रन्थ तो वस्तुतः तृतीय वर्षकी नवम संख्याके पृष्ठ ६५०९ में समाप्त हो गया था। इसके बाद पाठकोंके विशेष आग्रहसे महाभारत-श्रवण-विधि, महाभारत-माहात्म्य तथा सब पर्वोंकी पूरी विषय-सूची उसी अङ्कमें दी गयी।

साथ ही संक्षिप्त परिचयसहित 'महाभारतकी नामानुक्रमणिका'का कार्य भी प्रारम्भ किया गया। यह नामानुक्रमणिका ५१ फार्म अर्थात् ४०९ पृष्ठमें समाप्त हुई है। पहले सोचा गया था कि लगभग ४५ फार्ममें यह पूरी हो जायगी; परंतु ४५ में नहीं हो सकी, इसीसे इस द्वादश संख्यामें नियमित २५ फार्मके स्थानपर ३० फार्म जा रहे हैं। यह नामानुक्रमणिका यद्यपि सबके कामकी नहीं है, फिर भी विद्वानों तथा महाभारतके अन्वेषकोंके लिये बड़े ही कामकी चीज है। एक बड़े विद्वान् महानुभावने तो लिखा है कि "यह 'अनुक्रमणिका' कल्पवृक्षका काम देगी।" हिंदीमें इतनी विशद कोई अनुक्रमणिका नहीं थी, इसके निर्माणमें बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ा है और हमारे विद्वान् पं० रामनारायणदत्तजी शास्त्री, पं० रामाधारजी शुक्ल तथा अन्य विद्वानोंने इस परिश्रमको स्वीकारकर बड़ा ही उपकार किया है। हम इनके कृतज्ञ हैं।

इसके अतिरिक्त हमारे बहुत-से मान्य महानुभावोंके अनुरोधके अनुसार संख्या १०-११-१२ में महाभारत-सम्बन्धी कुछ बड़े ही उपयोगी लेख प्रकाशित किये गये हैं। बड़ी भूमिका किन्हीं विद्वान्से लिखवानेका विचार था, पर वह नहीं लिखायी जा सकी—इसका हमें खेद है। पर साथ ही यह हर्ष है कि इन लेखोंमें बहुतसे ज्ञातव्य ऐसे विषय आ गये हैं, जो बृहद् भूमिकामें आते। उन लेखोंको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये, यह विनीत प्रार्थना है। महाभारत-कालीन मानचित्र नहीं दिये जा सके—इसका भी हमें खेद है।

इस महान् ग्रन्थके सम्पादन, संशोधन, मुद्रण, प्रूफ-संशोधन आदिमें प्रमाद तथा भ्रमवश बहुत-सी भूलें रही होंगी। उनके लिये हम पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी भूलोंको कृपया बतायें। पाठ-निर्णय तो हमारी धारणाके अनुसार किया गया है; परंतु मुद्रणादिकी भूलें तो, दूसरा संस्करण हुआ तो उसमें अवश्य ही सुधारी जा सकती हैं। जो महानुभाव ऐसी भूल बतायेंगे उनके हम कृतज्ञ होंगे।

इस कार्यमें हमें अन्यान्य जिन महानुभावोंसे जो कुछ भी सहायता मिली है, उन सबके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। वास्तवमें भगवान्का कार्य भगवान्की कृपाशक्तिसे ही पूर्ण हुआ है। हम तो इसमें केवल निमित्तमात्र हैं।

तीन वर्षोंमें प्रकाशित इस सम्पूर्ण ग्रन्थकी कुल पृष्ठ-संख्या ७४४६, चित्र-संख्या बहुरंगे ८५ तथा सादे २४३, लाइन ५६४ कुल ८९२ हैं। इनके अतिरिक्त ३६ मुखपृष्ठोंके तिरंगे चित्र एवं पृष्ठ अलग हैं।

सर्वनियन्ता सर्व-उरप्रेरक भगवान् श्रीकृष्णके पावन चरणोंमें अनन्त कोटि नमस्कार।

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

रजि० सं० ए० ८५४

॥ श्रीहरिः ॥

प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे सादर निवेदन

१–'महाभारत' का यह तीसरे वर्षका बारहवाँ अर्थात् अन्तिम अङ्क है। इसके पश्चात् चौथा वर्ष प्रारम्भ होगा जिसमें हरिवंशपुराण तथा जैमिनीय अश्वमेधपर्व देनेका विचार है।

२–विविध प्रकारकी उलझनोंमें पड़े हुए आजके व्यग्र जगत्को—आसक्ति-कामना, द्वेष-द्रोह, असंतोष-अशान्ति आदिकी भीषण आगमें झुलसते हुए मानव-प्राणीको 'महाभारत'में प्रकाशित छोटी-बड़ी सच्ची प्रेरणाप्रद घटनाओंके द्वारा वह यथार्थ समाधान प्राप्त होता है, जिससे उसकी सारी उलझनें सुलझ जाती हैं और त्याग-वैराग्य, समता-संतोष तथा आत्मीयता-अनुरागका वह मधुर शीतल सुधा-सलिल-रस-प्रवाह मिलता है, जिससे कामना-वासना तथा असंतोष-अशान्तिकी प्रचण्ड अग्नि सदाके लिये सहज ही शान्त हो जाती है। इसमें एक-एक कथा ऐसी प्रेरणाप्रद है कि ध्यानपूर्वक पढ़नेपर जीवनमें सहज ही सुन्दर परिवर्तन हो सकता है।

३–चौथे वर्षमें प्रतिमास कम-से-कम १४४ पृष्ठ तथा १ बहुरंगा और ४ सादे चित्र होंगे।

४–चौथे वर्षका वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित १५) है। यदि किसी कारणवश डाकखर्च बढ़ गया तो वार्षिक मूल्य कुछ बढ़ाया जा सकता है।

५–जिन ग्राहकोंके चंदेके रुपये अङ्क निकलनेतक नहीं मिलेंगे, उनको वी० पी० द्वारा प्रथम अङ्क भेज दिया जायगा।

६–सभी पुराने ग्राहकोंको चौथे वर्ष भी ग्राहक रहना चाहिये, अन्यथा बिना हरिवंशके उनका महाभारत अधूरा रहेगा। यदि किसी विशेष कारणवश किसीको ग्राहक न रहना हो तो कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

७–जिन नये ग्राहकोंको अबतकके पुराने महाभारतके तीनों वर्षोंके अङ्क लेने हों, वे तीन सालका चंदा ६०) अधिक भेजनेकी कृपा करेंगे।

८–महाभारतका नया वर्ष नवम्बरसे आरम्भ होता है; परंतु नामानुक्रमणिकाके जटिल कार्यमें बहुत समय लग गया, इससे १२ वीं संख्याके प्रकाशनमें बड़ी देर हो गयी तथा इस कार्यमें लगे रहनेके कारण हरिवंशपुराणके अनुवादका कार्य नहीं हो सका। अतएव चतुर्थ वर्षके महाभारतका वर्षारम्भ 'जनवरी'से करना निश्चय किया गया। तदनुसार चतुर्थ वर्षका प्रथम अङ्क जनवरीमें प्रकाशित होगा। जिन पाठकोंने चंदा भेज दिया है और हरिवंशपुराण शीघ्र पढ़नेके लिये समुत्सुक हैं, उनको इससे कुछ खेद अवश्य होगा, पर हमारी विवशताको देखकर वे सभी महानुभाव हमें क्षमा करेंगे और धैर्य रक्खेंगे। यह हमारी उनसे विनीत प्रार्थना है।

व्यवस्थापक—'मासिक महाभारत', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)